उपनिषत्-श्रीः

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

उपनिषत्-श्रीः

(Upaniṣat-śrīḥ)

उपनिषत्-श्रीः

(Upaniṣat-śrīḥ)

सम्पादिका

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

आर्य कन्या डिग्री कालेज

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

इलाहाबाद

संरक्षक :
नन्द कुमार मिश्र, प्रधान आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
पं० मूलचन्द अवस्थी, प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
सालिगराम साहू, प्रधान, आर्य समाज चौक, इलाहाबाद
लाल बहादुर शर्मा, पूर्व-प्रधान, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
हीरा लाल शर्मा, पूर्व-प्रधान, आर्य समाज चौक, इलाहाबाद
डॉ० कोमल भटनागर, पूर्व प्रचार्या

प्रकाशक :
डॉ० माया रानी श्रीवास्तव, प्राचार्या
आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
दूरभाष : 413069

संस्करण : 15 अगस्त, 2001

आर्य गरिमा विशेषाङ्क

मुद्रक :
शिव गोविन्द पाण्डेय

मुद्रक :
सुलेख मुद्रणालय
148 हीवेट रोड, इलाहाबाद
दूरभाष : (0532) 413713

प्ररोचना

भारत सदा से अध्यात्म प्रधान देश रहा है। भारतीय जीवन में तपस्या और आध्यात्मिक चिन्तन का लक्ष्य सृष्टि के रचनाकाल से ही सर्वोपरि रहा है। अध्यात्मज्ञान के अभ्यास-दर्शन-भावना का क्रम इस देश में अनवरत रूप से चलता रहा है। भारतीय मस्तिष्क प्राचीनतम परम्पराओं से ही सर्वोपरि ब्रह्म, जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष और मनुष्य का विश्वात्मा के साथ सम्बन्ध आदि प्रश्नों के समाधान में प्रयत्नशील है। भारतीय संस्कृति युगों के मन्थन की देन है। पुरातन के प्रति श्रद्धा भारतीय संस्कृति की अनन्यतम राष्ट्रीय विशेषता है। युगों से चली आ रही आध्यात्मिक परम्पराओं के प्रति आग्रहपूर्ण भक्ति प्रत्येक भारतीय के हृदय में विद्यमान है।

उपनिषद् भारतीय आध्यात्मिकता के प्राचीनतम प्रमाण हैं। चिन्तन की अपूर्व विधाओं को, अद्वितीय रहस्यों को प्रकाश में लाकर वे विश्व के समक्ष उद्घाटित करते हैं। दार्शनिक विचारधारा को देखने और परखने के लिए उपनिषद् ऐसे गवाक्ष हैं जिनमें से ज्ञान, कर्म और भक्ति की: सत्, चित् और आनन्द की रश्मियाँ सतत प्रवाहित रहती हैं। वे ग्रन्थ मानव जीवन के गूढ़तम तथ्यों को प्रकाशित कर आत्मिक शान्ति देने वाले अनूठे शास्त्र हैं, मनुष्य के ज्ञानपथ और जीवनपथ—दोनों को पाथेय प्रदान कर ब्रह्मांश से आलोकित कर देने वाले अनुपम साहित्यांश हैं। युग सञ्चेतना के प्राणदायक तत्त्वों को स्वयं में निहित किए उपनिषद् जीवन निर्माण की अपूर्व सामर्थ्य से युक्त हैं। मनुष्य के अन्दर जो कुछ अन्धकारमय है उसे आलोकित करने का और जो कुछ निर्बल है उसे सबल बनाने का एकमात्र उपाय उपनिषद् ही हैं।

ब्रह्ममधु का अन्वेषण उपनिषदों का प्रतिपाद्य होने पर भी प्रतिपादन के आयाम स्वानुभूति आधारित हैं। दर्शना एवं वर्णना-काव्य की उभयविध शक्तियों से सम्पन्न ऋषियों ने ब्रह्मानुभूति के गहनतम तत्त्व को आत्मसात् कर उपनिषद् दर्शन को अभिव्यक्ति दी है। आचार्य भट्टतौत ने कहा भी है—नानृषि कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्। श्रेयनिष्ठ दर्शन की इस विवेचना ने जातिभेद, लिङ्गभेद से परे रहकर मानवमात्र को कृतकृत्य किया है, जीवन को उन्नत बनाने वाले विचारों को शाश्वत स्वर दिया है, जागतिक विचारधारा को सत्यपिहित करने का प्रयास किया है। अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् दोनों के ज्ञान-विज्ञान का सुव्यवस्थित संश्लेषण प्रस्तुत

किया है। सत्य का, सत्य के अन्वेष्टा से साक्षात्कार कराया है। यही कारण है कि उपनिषदों के सन्देश देश-काल, व्यक्ति की सीमा से परे आज भी उतने ही प्रासङ्गिक और उपयोगी हैं जितने अपने उद्‌भव काल में।

वस्तुतः वेदों की समष्टि यज्ञपरक है, अग्नि में अरणि तथा हविः की आहुति देना यज्ञ का भौतिक अथवा साङ्केतिक रूप है। सत्-रजस्-तमस् से आवृत शुद्धाशुद्ध जीवन में, अशुद्ध अंश का त्याग तथा शुद्ध अंश की वृद्धि—यह यज्ञ का आन्तरिक रहस्य है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—पञ्चकोशों की पूर्व-पूर्व में क्रमशः आहुति देते हुए ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् को कार्यान्वित करते हुए आत्मसमर्पण के माध्यम से पूर्णात्मा में प्रतिष्ठा-यज्ञ का विशुद्ध रूप है। यह चरम आहुति ही पूर्णाहुति है, इस पूर्णाहुति को धारण करने का सामर्थ्य लौकिक अथवा अलौकिक अग्नियों में नहीं, चैतन्य अग्नि ही उस दिव्य अमृताहुति को धारण कर सकती है।

उपनिषदों ने वेदों के इसी सन्देश को मुखरित करते हुए घोषणा की थी कि पूर्णता की प्राप्ति सत्य अर्थों में धार्मिक जीवन स्वीकार करने एवं विश्वात्मा का आभ्यन्तर दृष्टि से साक्षात्कार करने से ही सम्भव है। पूर्णता आभ्यन्तर है, बाह्य एवं यान्त्रिक नहीं। मनुष्य को धुले वस्त्र पहना कर निर्मल नहीं बनाया जा सकता है। क्रियाकलापों के आडम्बर से ओत-प्रोत जीवन निरर्थक है, निःसार है। समग्र यज्ञ मनुष्य के आत्मिक ज्ञान की लक्ष्य सिद्धि को लेकर किये जाते हैं। यह जीवन स्वयं एक यज्ञ है। आत्म-नियन्त्रण, ऋजुता, उदारता, विनय, अहिंसा और अमृत वाणी—ये उसकी आहुतियाँ हैं।

अवान्तरकाल में कृष्ण द्वैपायन ने कृष्ण वासुदेव के माध्यम से कर्ममय तथा ज्ञानमय जीवन का सामञ्जस्य स्थापित करके उपनिषदों के इसी सन्देश को गीता बना दिया था—सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। उपनिषदों की शिक्षाएँ अत्यधिक परिष्कृत और उच्चस्तरीय होने पर भी केवल अन्तःकक्षीय थीं—गुरु और शिष्य के मध्य—गीता ने उन शिक्षाओं को (भागवत धर्म के प्रभाव में) दीप्ति पूर्ण माधुर्य के साथ व्याख्यायित करके अन्तःप्रवेशिनी शक्ति से सम्पन्न कर दिया जिससे वे सर्वप्रिय और सार्वजनीन हो गीता-गेय हो गईं—सर्वोपनिषदो गावः - - - - दुग्धं गीतामृतं महत्।

मानव का अन्तिम लक्ष्य है मोक्ष—स्वयं को पहचानना। उपनिषदों के ऋषियों ने मानव को संसार से बाँध रखने वाली पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठ कर निःस्वार्थ, निष्ठापूर्ण जीवन को ग्रहण करने का उपदेश दिया है। जो अज्ञानी है, माया-मोह में आलिप्त है, मनन शक्ति से शून्य है, अपवित्र आचरण वाला है, वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता है और संसार में संसरण करता रहता है। इसके विपरीत, ज्ञानी, मननशक्ति सम्पन्न तथा पवित्र आचरण वाला उस परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से पुनर्जन्म सम्भव नहीं। ऐसा मुमुक्षु साधक असत् से

सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर प्रयाण कर मन को अद्वितीय आनन्द से प्रेरित कर लेने में समर्थ होता है।

उपनिषदों का वैराग्य जगत् का त्याग नहीं, जगत् के प्रति अनुराग का त्याग है। वैराग्य आसक्ति का विरोधी है, भोग का नहीं। वैराग्य अथवा संन्यास का अर्थ यह नहीं कि जगत् के प्रति हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं। अपने दायित्त्वों का निर्वाह करते हुए निर्लिप्त भाव से जगत् को स्वीकार करते हुए जीवन बिताना चाहिए—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मोक्ष की प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है। ये आसक्ति रहित कर्म स्वयं मुक्ति नहीं देते, वे मन को निर्मल, हृदय को शुद्ध और बुद्धि को विवेक सम्पन्न करते हैं, जो मुक्ति की निकटतम स्थिति है। माया के बन्धन काट कर, तप की साधना में निरत रहने के लिए न एकान्तवास की आवश्यकता है, न वनवास की और न ही सांसारिक पदार्थों के सर्वथा त्याग की। आवश्यकता है शुभ तथा अशुभ—दोनों प्रकार की विचार तरङ्गों को सर्वथा निःशेष कर देने की, ऐसे कोरे मन से मुक्ति की प्राप्ति सहज-सरल होती है। तब न कुछ पाना शेष रहता है, न कुछ करना, न कुछ जानना। यदि कोई कुछ करता भी है तो लोकसंग्रह के लिए, जीवन निर्वाह के लिए नहीं। आधिभौतिक श्रेय को साध्य न माना जाए तो आध्यात्मिक श्रेय का पथ सदा प्रशस्त रहेगा—ततो मे श्रियमावह।

श्रेय और प्रेय का सानुपातिक समन्वय ही आत्मानुभूति का सुगम उपाय है। आत्मानुभूति की प्रक्रिया में व्यक्ति बाह्याभ्यन्तर का समवाय स्वीकार करते हुए क्रमशः निष्काम तथा पूर्णकाम हो जाता है। मानवीय प्रेम दैवीय प्रेम की प्रतिच्छाया बन जाता है, दैवीय तत्त्व अभिव्यक्त होकर मुमुक्षु को पाप-पुण्य के परे ले जाता है, उस सीमा तक जहाँ उसने अद्वैत के साथ तादात्म्य प्राप्त किया है। ईश्वरीय रचना का अङ्ग बन कर वह दिव्य पुरुष मानवीय गुणों की स्थापना में सहायक होता है। सत्य-दया-करुणा-आत्मसंयम आदि सद्गुण उसमें सहज रूप से अभिव्यक्त होते हैं। सद्गुणों का आश्रयी संसार के ताप से परितप्त नहीं होता है क्योंकि सद्गुण ब्रह्म के प्रतिरूप हैं। इस जगत् में जितना अस्तित्व है, जितने रूप हैं वे एक के ही प्रतिबिम्ब हैं, एक की ही छाया हैं। उस 'एक' का साक्षात् कर लेने वाला 'अहम्' की सीमा के पार जाकर ईश्वर के समकक्ष स्थापित हो जाता है। दिव्यता की यह उच्चतम स्थिति मन और इन्द्रियों से अतीत है—तत्र नो वाग्गच्छति नो मनः। इसी आह्लादक स्थिति को प्राप्त कर बूँद समुद्र में समा जाती है, इसी अमरत्व को प्राप्त कर सर्वस्व परम तत्त्व में विलीन हो जाता है।

मानव आज सङ्क्रान्ति के जिस चतुष्पथ से गुज़र रहा है, उसके लिए ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो पूर्ण, यथार्थ और वैज्ञानिक हो, जो एक श्रेष्ठ संस्कृति का विकास कर सके, जो समाज को आदर्श की प्रेरणा दे सके, जो ऋत के पालन को बाध्य कर सके, जो उन्नत आचार का प्रणेता बन सके, जो सत्य के पालन का सामर्थ्य दे सके, जो भद्र और अभद्र में

विवेक-बुद्धि जागृत कर सके, जो बाह्याडम्बर से मानव को सचेत कर सके और जो कर सके मुक्ति की चिर-सञ्चित अभिलाषा को पूर्ण—उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म और दर्शन इन कसौटियों पर खरे हैं।

अन्तिम सत्य को जानने की जिज्ञासा लेकर नचिकेता यम के द्वार पहुँचा था, मार्ग की सारी बाधाओं को पारकर उसने सत्य की पराकाष्ठा को पा लिया था। उपनिषत्-श्रीः की साहित्यिक यात्रा में नचिकेता सी अज्ञ बुद्धि और ज्ञान की जिज्ञासा से अनुपूरित मैं जिस बिन्दु से चली थी, घूम-फिरकर वहीं आ खड़ी हुई हूँ, कारण—उपनिषदों के ऋषियों के भावों की गहराई में उतरे बिना उपनिषदों के पार जाना असम्भव है। कारण—नहीं है मेरे नचिकेता मन में नचिकेता जैसी सरलता, निश्छल श्रद्धा, लक्ष्य प्राप्ति की अडिग आकांक्षा और सारे संसार को ठुकरा देने का धैर्य। अतः मैं शून्य थी, शून्य ही रह गई; जहाँ से चली थी, वहीं खड़ी रह गई। यात्रा चलने से पूरी होती है, निरन्तर कदम उठाने से पूरी होती है लेकिन—मैं बौड़ी बूड़न डरी रही किनारे बैठ।

सन्तोष मात्र इतना है कि उपनिषत्-श्रीः के माध्यम से काल क्षितिज की सीमा में विलीन हुए उन स्वनामधन्य ऋषियों को सारस्वत अर्घ्य दे सकी, अर्घ्य के माध्यम से उदारचेता ऋषियों के माङ्गलिक चिन्तन को आज के परिवेशानुकूल नए आयामों में प्रस्तुत कर सकी। कृति काल निरपेक्ष होती है किन्तु कर्त्ता काल के निरवच्छिन्न प्रवाह में प्रवहमानः उपनिषत्-श्रीः का एक-एक पृष्ठ, पृष्ठ की एक-एक पंक्ति, पंक्ति का एक-एक शब्द और शब्द का एक-एक वर्ण ऋषियों की गहनतम अनुभूतियों को हृदयङ्गम करा सके, मनोनिग्रह से ब्रह्मत्व की उपलब्धि तक की गुत्थियों को सुलझा सके, प्रणव की यथार्थता को उद्‌भासित कर सके तो मेरा सौभाग्य।

उपनिषदों के मर्मज्ञ, महाविद्यालय के प्रबन्धक पं० मूलचन्द अवस्थी की सदिच्छा और सत्प्रेरणा मेरे रचना पथ की पाथेय बनी और मेरे निर्बल हाथों से उनका उपनिषद्-श्रीः का स्वप्न साकार हुआ। उपनिषदों के ऋषियों के दृष्टिकोण का चिन्तन-मनन कर, अपने प्रवचनों से जनसामान्य को उनका रसास्वादन कराने वाले सम्मान्य पं० अवस्थी जी के लिए यह कार्य भले ही सुकर हो, मेरे लिए तो दुष्कर था। कहाँ तो शान्तम्-शिवम्-अद्वैतम् की सुगन्ध से सुवासित वे ऋषि और कहाँ नन्हा सा टिमटिमाता दीपक लिए मैं। उपनिषत्-श्रीः की आयोजना को मैं निरन्तर अस्वीकार करती रही तथापि आत्मीयता के अधिकार तले मुझे स्वीकृति देनी ही पड़ी और एक कठिन किन्तु शुभ कार्य का मङ्गल समारम्भ हो गया, मेरा पहला कदम उठ गया। इस सन्दर्भ में महाविद्यालय की पूर्व प्राचार्या डॉ० कोमल भटनागर का नाम स्मृति पथ पर बार-बार दस्तक दे रहा है। अध्ययन के प्रति मेरी निष्ठा, मेरा अध्यवसाय उनके भी प्रयासों का, प्रोत्साहन का प्रतिफल है। मेरा प्रत्येक नवीन प्रकाशन उन्हें गर्वित-आह्लादित

करता था। मेरी योग्यता में यह उनका विश्वास ही था कि उपनिषत्-श्रीः के सम्पादन का गुरुतर दायित्व उन्होंने मुझे सौंपा-पूर्ण मनोयोग से मैंने इस दायित्व के वहन की चेष्टा की है। मेरा अहोभाग्य कि मेरे आग्रह पर सौहार्दपूरित विज्ञ विद्वानों के उपनिषद् सम्बन्धी विविध विषयों के विश्लेषक लेख आते रहे और मेरे कदम रास्ता तय करते रहे। गुरुओं, अग्रजों एवं मित्रों का ग्रन्थ संरचना में सहयोग मिलता रहा और उपनिषत्-श्रीः रूप वाग्ध्वर का शिव सङ्कल्प पूर्ण हुआ–सभी सम्मान्य सुधी जनों के प्रति मेरी सादर प्रणति।

ग्रन्थ का प्रकाशन सरल नहीं, निश्चित रूप से कठिन और अर्थसाध्य कार्य है तथापि प्रबन्ध तन्त्र के सौजन्य से विख्यात वैज्ञानिक, आर्य समाज के प्रखर विद्वान् तथा परिव्राजक दिवङ्गत स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती की स्मृति में सन् 1997 में प्रकाशित वेदश्रीः, सारे सुखों को भारत माँ के चरणों में न्यौछावर कर देने वाले क्रान्तिकारियों तथा अमर सेनानियों की रक्तरञ्जित गाथाओं को समेटे सन् 1998 में प्रकाशित स्वातन्त्र्यश्रीः और अब आत्मदीपो भव का सन्देश देने वाला ग्रन्थ उपनिषत्-श्रीः - - - एक लघु महाविद्यालय और तीन मूल्यवान् किन्तु निर्मूल्य ग्रन्थ - - - पीछे मुड़ कर देखती हूँ तो सहसा विश्वास नहीं होता। बलवती अभिलाषा है कि महाविद्यालय का भविष्य भी साहित्य से जुड़ कर संस्था में शैक्षिक वातावरण की निर्मिति करने में सफल हो, इन छोटे-छोटे दियों की निर्धूम ज्योति महाविद्यालय को यशःप्रकाश से आपूरित करती रहे–निर्धूम ज्योति–उपनिषत्-श्रीः की निर्धूम ज्योति आपके अन्तर्मन को ब्रह्मास्वादसहोदर आलोक से आपूरित करे, ऐसी विनत निवेदना के साथ–

जनवरी 2001 उर्मिला श्रीवास्तव

विषयानुक्रमणिका

उपनिषदों का सामान्य परिचय

उपनिषदों में दर्शन

उपनिषदें और उनका प्रतिपाद्य

उपनिषदों में भारतीय संस्कृति

उपनिषत्कालीन समाज

उपनिषदों में काव्यत्व

उपनिषदों का व्यावहारिक पक्ष

उपनिषदों में विज्ञान

प्रकीर्ण

परिशिष्ट

उपोद्घात

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ★

किसी न किसी प्रकार की इच्छा से प्रेरित होकर उसकी पूर्त्यर्थ मनुष्य की समस्त क्रियाएं होती हैं। ऐसा करके जिस लक्ष्य की प्राप्ति उसे अभीष्ट हो, वही उसकी समस्त प्रवृत्तियों के मूल में प्रायोजक तत्त्व के रूप में वर्तमान रहता है। शास्त्र जीवात्मा के दो प्रयोजनों का निर्देश करता है—एक भोग और दूसरा अपवर्ग। जिसे सांख्य ने भोग और अपवर्ग कहा है, वैशेषिक ने उसे अभ्युदय और निःश्रेयस के नाम से अभिहित किया है।

'अभ्युदय' का अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्तमान जीवन में भौतिक साधनों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य है। विद्वानों ने इसका अर्थ तत्त्वज्ञान भी किया है। तत्त्वज्ञान और सुख में नित्य सम्बन्ध होने से दोनों अर्थों का सामञ्जस्य हो जाता है। भविष्यत् का आधार वर्तमान है। अतः जन्मान्तर की चिन्ता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना आवश्यक है। तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जान कर ही ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणों की उपलब्धि एवं उनका समुचित उपयोग सम्भव है। द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान से अभ्युदय सिद्धि का यही अर्थ है।

द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक होते हुए भी अपने स्वरूप में 'श्वोभावाः'—क्षणभंगुर अर्थात् नश्वर हैं। निश्चय ही सृष्टि सत् है, किन्तु उससे भी बड़ा एक और सत् है जो शाश्वत् है और जिसकी सत्ता से सृष्टि में सब कुछ हो रहा है। पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है। द्रव्यादि जड़ पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं, एक आत्मतत्त्व ही इनसे भिन्न अविनाशी है—ऐसा जान कर वह देह और उसकी वासनाओं से सदा के लिये लिप्त न होकर जन्म-जन्मान्तर के रूप में आवर्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस् के मार्ग में प्रवृत्त करता है।

गीता (13/11) में **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं एतज्ज्ञानम्**—तत्त्वज्ञान के विषयों (प्रकृति, पुरुष व जीवात्मा) के साक्षात्कार को 'ज्ञान' कहा है। जीव की अल्पज्ञता यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि में बाधक है। स्वरूप से अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा परमेश्वर की तरह सब कुछ तो नहीं जान सकता, परन्तु बहुत कुछ जान लेता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में जिस एक के जान लेने पर सब जान लिया जाता है, वह ब्रह्म कहां है? के उत्तर में कहा

★ प्रिंसिपल व फेलो, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, पंजाब (भू० पू०)

है—**तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्** (बृहद्० 5/14/4) अर्थात् वह सत्य में प्रतिष्ठित है। 'सत्यम्' शब्द तीन अक्षरों—स+ति+यम्—से बना है (बृहद० 5/5/1)। ये तीनों अक्षर क्रमशः जीव, प्रकृति और ईश्वर के वाचक हैं। इस प्रकार 'सत्यम्' ब्रह्म का ही अपर नाम है—**सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म** (बृहद० 5/4/1) इस प्रकार ब्रह्म को जान लेना तत्त्वज्ञान के तीनों विषयों को जान लेना है। उस परम ब्रह्म को जानने के लिए साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने जिस विद्या का विस्तार किया उसे ब्रह्म विद्या के नाम से अभिहित किया। ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपनिषद् कहलाये।

समस्त उपनिषद् किसी एक ऋषि की रचना नहीं है। **ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्**—अनेक ऋषियों को भिन्न-भिन्न काल में जिन आध्यात्मिक विचारों का स्फुरण हुआ वे ही भिन्न-भिन्न उपनिषदों में वर्णित हैं। प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद् व ब्रह्मसूत्र) में उपनिषद् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उपनिषद् रूपी गौओं से गीतामृतरूपी दुग्ध का दोहन तो प्रसिद्ध ही है। ब्रह्मसूत्र में जो कुछ कहा गया है, उसका मूल भी उपनिषदों में उपलब्ध है। वस्तुतः भारतीय-दर्शन की विभिन्न पद्धतियाँ उपनिषदों की ज्ञानधारा के पावन पीयूष को पाकर ही पल्लवित हुई हैं इसलिये उपनिषद् आध्यात्मचिन्तकों की अक्षयनिधि हैं।

'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'सद्' धातु से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण (नाश), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (अन्त)। इसलिये उपनिषद् का अर्थ हुआ—वह ज्ञान जिससे अविद्या का नाश होकर आत्मज्ञान की प्राप्ति और दुःख का अन्त होता है।[1]

कुछ विद्वानों के अनुसार 'सद्' धातु से 'नि' उपसर्ग लगाकर 'निषीदति' आदि प्रयोगों के आधार पर जिज्ञासुओं का ब्रह्मवित् गुरुओं के पास (उप) बैठकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करना भी उपनिषद् शब्द से अभिप्रेत है।[2]

इस अर्थ में भी उपनिषद् एक रहस्य तत्त्व की ओर संकेत करने वाला साहित्य है जिससे जिज्ञासु की अविद्या का नाश होकर उसे विद्या या ज्ञान की प्राप्ति होती है और इस प्रकार उसके त्रिविध दुःखों का उन्मूलन हो जाता है।

उपनिषद् निश्चय ही मनुष्यकृत है, जबकि वेद ईश्वरोक्त होने से अपौरुषेय है। अतएव उपनिषदों का वेदों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। वेद पद वाच्य ग्रन्थों में चार मन्त्र संहिताओं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद—का ही समावेश होता है। वेद की महत्ता के कारण ही लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद के नाम से अभिहित किया है।

जब हम यह जानना चाहते हैं कि वह कौन सा वाक्य समूह है जो आदिकाल से आज तक ईश्वर प्रदत्त अर्थात् अपौरुषेय नाम से प्रसिद्ध रहा है तो समस्त वैदिक वाङ्मय एक स्वर से कहता है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद की अन्तःसाक्षी (ऋक् 20/90/9 यजुः 31/8 व 34/5, अथर्व० 1/10/23, 10/7/20 व 19/6/15) तो प्रमाण है ही, मनुस्मृति, ब्राह्मणग्रन्थ, रामायण, महाभारत, पुराण आदि समस्त परवर्ती साहित्य भी केवल मन्त्र संहिताओं को ही वेद कहता है। इतना ही नहीं, स्वयं उपनिषद् भी अपने आप को वेद न कह कर केवल मन्त्र-संहिताओं के वेद होने की घोषणा करते हैं, जैसा कि इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है—

1. **ऋग्यजु:सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदा:।** नृसिंह पूर्वतापनी उपनिषद्

2. **स तया वाचा तेनात्मनेपदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि।** बृहद० 1/2/5

3. **एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस:।** बृहद० 3/4/10

4. **अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्।** छान्दोग्य०

5. **ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम् चतुर्थम्।** छान्दोग्य० 7/1/2

6. **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद:।** मुण्डक० 2/2/5

यही कारण है कि ऋग्वेदादि संहिताओं के वेदत्व प्रतिपादनार्थ कभी किसी ने प्रयास नहीं किया। शब्द का जो स्वाभाविक अर्थ होता है वह किसी को बताना नहीं पड़ता। संहिताओं का अध्येता या श्रोता अनायास ही कहता है—मैं ऋग्वेद या यजुर्वेद आदि का अध्ययन-अध्यापन कर रहा हूँ परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों या उपनिषद् आदि का अध्येता साधारणतया ब्राह्मण या उपनिषद् के अध्ययन की बात कहता है, अथवा नामर्निदेशपुर:सर ऐतरेय ब्राह्मण या कठोपनिषद् आदि के अध्ययन की बात कहता है। वह शतपथ वेद, ऐतरेय वेद अथवा कठवेद, छान्दोग्यवेद आदि का अध्ययन कर रहा है—ऐसा कभी नहीं कहता। अत: वेद का स्वाभाविक एवं अपरिभाषित वाच्यार्थ मन्त्र संहिता ही है, उपनिषदादि ग्रन्थ नहीं।

निस्सन्देह उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रमुख ग्रन्थ हैं किन्तु उन्हें उसका आदि मूल मानना भूल होगी। समस्त विद्याओं की भांति ब्रह्मविद्या का आदि मूल भी ईश्वरोक्त वेद हैं। वेद के विषय में भगवान् मनु **'सर्वज्ञानमयो हि स:'** तथा **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** जैसे उद्घोष करते नहीं अघाते। सायणाचार्य जैसे विद्वान् भी तैत्तिरीय संहिता भाष्य के उपोद्घात में कहते हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

अर्थात्—प्रत्यक्ष वा अनुमान से जो नहीं जाना जाता वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेद का वेदत्व है।

मुण्डकोपनिषद् (1/1/4, 5) में कहा है—**द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह्यस्मद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**

मुण्डकोपनिषद् के इस वचन में वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ बताकर वेद की निन्दा की गई प्रतीत होती है। उधर छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक के आरम्भ में नारद और सनत्कुमार का संवाद आया है। नारद कहता है—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्।
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्।।

उपनिषदों में वेद निन्दापरक प्रतीयमान वचनों में ये वाक्य सबसे प्रबल माने जाते हैं किन्तु तनिक गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह शंका परिहृत हो जाती है। उपनिषदों का परा विद्या के ग्रन्थ होना निर्विवाद है। उनमें अपरा विद्या के लिये कोई स्थान नहीं है। अतः अपरा विद्या के लिये निर्देश आवश्यक था। वह यहां कर दिया गया। ईश्वरीय ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में समस्त ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भण्डार वेद केवल परा विद्या के ग्रन्थ न होकर अपरा विद्या के भी हैं। वेदों में जहाँ ब्रह्म विद्या का मूल है वहाँ वे मनुष्य के लौकिक अथवा भौतिक जीवन के लिये अपेक्षित इतर ज्ञान का भी आदिस्रोत हैं। मुण्डकोपनिषद् के उक्त वचन का इतना ही अभिप्राय है। साधन से साध्य का स्थान ऊँचा होता है। शब्द साधन है, अर्थ साध्य। इसलिये शब्द से अर्थ का महत्त्व अधिक है। जो शब्द किसी अर्थ का बोध न कराये वह निरर्थक अथवा व्यर्थ कहा जाता है। जब शब्द अर्थबोध कराने का साधन है तो साध्य अर्थ अथवा अर्थबोध हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ की अपेक्षा से शब्द रूप वेद अवर ठहरता है। इसी तत्त्व को सामने रखकर मुण्डकोपनिषद् में कहा—परा **यया तदक्षरमधिगम्यते।** परा विद्या वह है जिससे अविनाशी ब्रह्म का बोध या उसकी प्राप्ति होती है अर्थात् वेद ने शब्दों द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया है, उस अर्थ को जिस विद्या से जाना जाता है, उसका नाम परा विद्या है। यह बात तो उपनिषद् की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट शब्दों में स्वयं वेद ने कही है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।। ऋग्वेद 1/164/39

अर्थात् सम्पूर्ण ऋचाएं उस परम व्यापक अविनाशी परमेश्वर का ज्ञान कराती हैं जिसमें चराचरादि स्थित है। जिसने उसे नहीं जाना वह वेद से क्या करेगा? अर्थात् उसके लिये वेद पढ़ना व्यर्थ है। जब नारद ने यह कहा था कि मैं ऋग्वेदादि को पढ़कर मन्त्रवित् तो हो गया हूँ किन्तु आत्मवित् नहीं तो उसने ठीक वही बात कही थी जो उपर्युक्त मन्त्र में स्वयं वेद ने कही है। ब्रह्मवित् होने के लिये मात्र शब्द ज्ञान पर्याप्त नहीं है। शब्द के माध्यम से आगे लक्ष्य की ओर बढ़े बिना सिद्धि नहीं होगी।

उपनिषदें स्वयं वेद को बहुत ऊँचा स्थान देती हैं और अपने वेद मूलक होने की घोषणा करती हैं। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि उपनिषद् उसी अध्यात्म ज्ञान का उपदेश करती है जिसका प्रतिपादन वेद करते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।। कठो० 2/25

यजुर्वेद के जिस 40वें अध्याय को वेदान्त का आधार माना जाता है, उसमें 'ओ३म् स्मर' का आदेश किया है। उपनिषदों में प्रायः ओङ्कार की उपासना का विधान है। माण्डूक्योपनिषद् (जिस पर लिखी गौडपादाचार्य की कारिकाओं के आधार पर शंकराचार्य ने अपना वेदान्त का महल खड़ा किया है) तो है ही सारी 'ओ३म्' की मात्राओं की व्याख्या। छान्दोग्योपनिषद् उस ओ३म् का ही व्याख्यान है जिसके विषय में कहा गया है—

ओमित्येकाक्षरमुद्गीथमुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपाख्यानम्। छान्दो० 1/2/2

अर्थात् यह अक्षर उद्गीथ है, उस उद्गीथ की उपासना करे। गायक उच्च स्वर से ओम का ही गायन करता है। यह सब उसी का व्याख्यान है और कठोपनिषद् के अनुसार यह उद्गीथ वही पद है जिसका वेद बार-बार उपदेश करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली के 11वें अनुवाक में कहा है—**वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।** अर्थात् वेद पढ़ा कर आचार्य शिष्य को उपदेश करता है। अपने दीक्षान्त भाषण की समाप्ति पर भी आचार्य कहता है—'**एषा वेदोपनिषत्**' अर्थात् यह उपदेश वेद की उपनिषद्=रहस्य=सार है। ऐतरेय उपनिषद् अ० 3 में भी उपदेश की समाप्ति पर ऋषि कहते हैं—**वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म प्राणीस्थः।**

केनोपनिषद् 7.8 के अन्त में लिखा है—**उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वावत उपनिषदमब्रूमेति। तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।**

अर्थात् जब शिष्य ने अनुरोध किया—'भगवन् उपनिषद् का उपदेश कीजिये।' तो गुरु बोले—'तुझे हमने उपनिषद् का उपदेश कर दिया—ब्रह्म सम्बन्धी उपनिषद् का उपदेश दे दिया। इस प्रकार जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है उसकी प्रतिष्ठा-नींव तीन बातों पर होती है—तप, दम और कर्म। वेद वेदांग उस ब्रह्म विद्या का आयतन—अर्थात् मूल है।

उपनिषद् वेद को ब्रह्म विद्या का आकर ग्रन्थ बताकर चुप नहीं रह जाते, वरन् यत्र-तत्र अनेकत्र वेद मन्त्रों को ज्यों का त्यों उद्धृत कर अपने कथन को पुष्ट करते चलते हैं, यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति।।

ऋग्वेद के पहले मण्डल के 164वें सूक्त का यह 20वां मन्त्र मुण्डकोपनिषद् के तृतीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में ज्यों का त्यों उद्धृत है। इससे अगले मन्त्र में इसी वेद मन्त्र की व्याख्या है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (4/6) में भी यह मन्त्र इसी प्रकार आवृत है। वहीं यजुर्वेद के 32वें अध्याय के तीसरे मन्त्र का **न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः** यह भाग उद्धृत है।

सारांश यह है कि वेदों और उपनिषदों का उपजीव्य-उपजीवक, आश्रय-आश्रित, व्याख्येय-व्याख्या सम्बन्ध है। व्याख्यान की गम्भीरता, व्याख्येय अथवा मूल की गम्भीरता को प्रकट करती है। अतः उपनिषदों की रहस्यात्मकता वेद के गाम्भीर्य की द्योतक है।

यह सभी जानते और मानते हैं कि बृहदारण्यक् उपनिषद् ईशोपनिषद् की एक स्वतन्त्र व्याख्या है। शेष उपनिषदों को भी न्यूनाधिक उसी की व्याख्या माना जाता है। इस प्रकार ईशोपनिषद् के ब्रह्मविद्या का मूल होने और वेद के ईशोपनिषद् का मूल होने से अन्ततः वेद ही ब्रह्मविद्या के मूल ग्रन्थ हैं।

वैदिक वाङ्मय के इतिहास में एक ऐसा समय आया जब वेद के तीन भाग माने जाने लगे—1. संहिता (मन्त्र) भाग, 2. ब्राह्मण भाग, 3. उपनिषद् भाग। यह कहा जाता था कि ब्राह्मण ग्रन्थ, यज्ञ यागों के प्रतिपादक हैं और मन्त्र उन यज्ञों में पढ़े जाने के लिए हैं। अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का प्रयोजन यज्ञों का सम्पादन

करना है। तीसरा उपनिषद् भाग ज्ञान और उपासना का उपदेष्टा है। इसका एकमात्र कारण था—वेदार्थ से अनभिज्ञता। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब मन्त्रों को अनर्थक मानने वाले·कौत्स के चेले थे। ईसा की 14वीं शताब्दी में राजा बुक्क के आदेश से सायणाचार्य ने वेदों का भाष्य किया। सायण के मस्तिष्क में यह विचार घर किये बैठा था कि समस्त वेद यज्ञ के विधायक हैं और वह भी हिंसामय यज्ञ के। यज्ञ के लिये सैकड़ों स्थानों पर प्रयुक्त 'अध्वर' जैसे शब्द भी उसके पूर्वाग्रह को न हटा सके। उधर उपनिषद् में निर्विवाद रूप से विशुद्ध आत्मविद्या का उपदेश था। अत: शान्ति के अभिलाषी मुमुक्षुजनों का संहिता तथा ब्राह्मण भाग से विमुख होकर उपनिषदों की ओर प्रवृत्त होना सर्वथा स्वाभाविक था।

दर्शन और जीवन की जो रूपरेखा उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुई वह भारतीय समाज में सदा आदर्श मानी गई है। इस देश के समस्त दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक आधार अधिकांश में उपनिषद् साहित्य रहा है। उपनिषदों की रचना जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने की उनका जीवन तप:पूत था। वे ज्ञान की खोज में निष्काम परिश्रम करते थे और समाधिस्थ हो सत्य का दर्शन कर उसे मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ अभिव्यक्त करते थे। भारतीय जीवन को अध्यात्म तथा सात्त्विकता की ओर प्रवृत्त करने का सबसे अधिक श्रेय उपनिषद् साहित्य को ही है। ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का विवेचन करते हुए जीव को प्रकृति से विमुख कर ईश्वरोन्मुख करना और उसकी प्राप्त्यर्थ आवश्यक साधनोपायों का निर्देश करना उपनिषदों का विषय है।

यह ठीक है कि उपनिषद् तर्क के नहीं, अनुभूति-साक्षात्कार के ग्रन्थ हैं। यह भी ठीक है, कि उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय एकत्व या द्वित्व नहीं है किन्तु प्रतिपाद्य न होते हुए भी वह उसका आधार अवश्य है। जब हम यह कहते हैं कि जैसे भौतिकवादी प्रकृति और शरीर को यथार्थ समझता है, वैसे ही उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है। तो हम स्पष्टत: ब्रह्म, प्रकृति तथा यथार्थ को जानने या न जानने वाले जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा मानने पर ही उपनिषद् की सार्थकता है। संसार यदि 'श्वोभाव' है—टिकने वाला नहीं है तो कुछ टिकने वाला भी अवश्य है। तभी तो 'श्वोभाव' से विमुख होकर नित्य की ओर उन्मुख होने को कहा जाता है और यह विधि-निषेधात्मक वाक्य जिसे कहे जाते हैं वह निश्चय ही नित्य ब्रह्म और नित्य किन्तु परिणामी जड़ प्रकृति दोनों से भिन्न तीसरी चेतन सत्ता है। एकत्व की स्वीकृति के साथ ही उपनिषद् की सारी शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। त्रैत की सिद्धि करना उपनिषत्कार का प्रतिपाद्य नहीं है क्योंकि वह उसे पहले से सिद्ध मानकर चलता है। तथापि उपनिषद् के ऋषि यत्र-तत्र अनेकत्र त्रिवाद का संकेत करते चलते हैं। मुण्डकोपनिषद् (3/1/1) तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् (4/6) के अन्तर्गत **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** इत्यादि, मुण्डक० (3/2) में **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न:** इत्यादि, श्वेता० (4/5) में **अजामेकाम्** इत्यादि, कठोपनिषद् (5/13) में **नित्यो नित्यानाम्** इत्यादि तथा (2/3) में **ऋतं पिबन्तौ** इत्यादि और मुण्डक० (2/2/2) में **दिव्यो ह्यमूर्त:** इत्यादि मन्त्र कुछेक उदाहरण हैं।

उपनिषदों में पठित कतिपय वाक्यों के आधार पर ब्रह्म के अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया जाता है। **ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्** (मुण्डक 2/2/11) **इदं सर्वम् यदयमात्मा** (बृहद० 2/4/6), **आत्मैवेदं सर्वम्** (छा०

7/25/2), **ब्रह्मैवेदं सर्वम्** (मु० 2/2/11) **नेह नानास्ति किञ्चन** (बृ० 4/4/19), **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छा० 3/14/1), **अहं ब्रह्मास्मि** (बृ० 1/4/10) **अयमात्मा ब्रह्म** (बृ० 2/5/19) तथा **तत्त्वमसि** (छा० 6/8/16) इत्यादि जैसे वाक्यों को उद्धृत करके कहा जाता है कि दृश्य-अदृश्य जो कुछ है सब ब्रह्म है—उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है किन्तु ब्रह्म और जगत् की आपाततः प्रतीयमान अभेद भावना के द्योतक होते हुए भी ये वाक्य वस्तुतः ब्रह्म के सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से शून्य होने के परिचायक हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का निषेध कर एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को प्रकट करने में उनका तात्पर्य नहीं है। शांकर सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो छह अनादि पदार्थों की सत्ता मानकर प्रकारान्तर से ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार कर लिया है।

वस्तुतः पूर्वापर प्रसंग को देखे बिना किसी शब्द या वाक्य के ठीक-ठीक अर्थ को नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म की सर्वात्मकता की सिद्धि में प्रस्तुत इन वाक्यों के पूर्वापर को और प्रसङ्गों को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी वाक्य वस्तुतः ब्रह्म की महिमा को प्रकट करने के लिए भी कहे गये हैं। स्थालीपुलाकन्याय से यहाँ उपर्युक्त वाक्यों में से केवल एक **ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्** स्पष्ट करते हैं—इस वाक्य का सीधा अर्थ है—हमारे सामने यह अमृत ब्रह्म ही है। मूल उपनिषद् में इस वाक्य से अव्यवहित पूर्व का सन्दर्भ है—**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्** इत्यादि। अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा आदि ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करते, अपितु वे स्वयं उससे प्रकाशित होते हैं। **इदमेव ब्रह्म पुरस्तात्**—वही ब्रह्म (जिससे सब प्रकाशित होते हैं) हमारे सामने है। वही आगे, पीछे, उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओं में व्याप्त है। ब्रह्म की व्यापकता के सन्दर्भ में 'इदम्' पद पूर्व प्रकृत ब्रह्म का परामर्शक है। उसे जगत् का पर्याय नहीं माना जा सकता। सन्दर्भों के बीच से न उठा कर उन्हें यथास्थान देखने पर ही ऐसे वाक्यों को समझा जा सकता है।

दर्शन में बुद्धि तत्त्व प्रधान होता है, काव्य में रागात्मक तत्त्व। उपनिषदों में रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलंकारिकता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामतः दर्शन और उपनिषद् में वस्तु का प्रस्तुतीकरण एक-दूसरे से भिन्न है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भाव प्रधान हो जाता है। तर्क वहाँ पर मौन नहीं तो गौण अवश्य हो जाता है। इसलिये जब एक समाधिस्थ योगी अपना चरम लक्ष्य ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है तो उस अवस्था में उसका भावुक हो जाना स्वाभाविक है। अतिशय भक्ति भावना के उद्रेक में ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य अनुभव करने की अवस्था में ऐसे उद्गार स्वतः फूट पड़ते हैं। आनन्द की तीव्र अनुभूति में भक्त का अपना अस्तित्त्व खो सा जाता है। तब परमात्मा के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। परमात्मा में वह इस प्रकार लीन हो जाता है कि वह अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझने लगता है। भावात्मक एकता के उन क्षणों में यदि वह अपने को ब्रह्म कह बैठता है तो उसे भावात्मक अभिव्यक्ति ही समझना चाहिये। ऐसे वाक्यों में शब्द के शरीर से अधिक उसकी आत्मा पर ध्यान देना चाहिये। उपनिषदों का अध्ययन करते समय अभिव्यक्ति की इस विलक्षणता को ध्यान में रखना आवश्यक है, क्योंकि वहाँ इस तरह के वाक्यों की भरमार है। कहीं-कहीं तो बीच में पड़े एकाध शब्द से बात स्पष्ट हो जाती है। जैसे **आत्मैवाभूद्विजानतः** (ईश० 7) में 'एव' **एकत्वमनुपश्यतः** (ईश० 7) में

'अनुपश्यत:', **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** (मुण्डक० 3/3/9) में 'एव' जैसे पदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा ब्रह्म जैसा हो जाता है, ब्रह्म नहीं। किन्तु अन्यत्र ऐसे स्थल भी हैं जहाँ पूर्वापर प्रसंग को भली प्रकार देखने पर ही स्पष्टीकरण हो पाता है। उपर्युक्त वाक्यों में नवीन वेदान्त के महावाक्य नाम से अभिहित कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनके आधार पर जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया जाता है। वास्तव में वे भावोद्रेक में तात्स्थ्योपाधि, तत्सह-चरितोपाधि अथवा तादात्म्य भाव से कहे गये वचनमात्र हैं।

उपनिषदों की महत्ता उनकी सार्वभौमता में है। उनका जीवन दर्शन एक सार्वभौम धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। संसार के सभी मत-मतान्तर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को उस परब्रह्म की ओर प्रेरित करना चाहते हैं जो इस समस्त चराचर जगत् का मूलाधार है किन्तु चाहने मात्र से सब कुछ नहीं हो जाता, गन्तव्य पर पहुँचने के लिये उचित मार्ग का अवलम्बन भी उतना ही आवश्यक है और इस मार्ग का पता वही दे सकता है जो स्वयं वहाँ तक 'पहुँचा हुआ' हो। उपनिषदों के ऋषियों ने जो दिशा निर्देश किया है वह कहीं से पढ़-सुनकर नहीं, अपितु स्वयं साक्षात्कार करके किया है। इसीलिये शोपनहार ने यह भविष्यवाणी की—

In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upaniṣads. They are the product of the highest wisdom (Ausgehunt der hochsten weisheit LOC. (cit II. page 428).

It has been the solace of my life, it will remain the solace of my death. (p. 425)

It is destined, sooner or later, to become the faith of the people. LOC

(cit I. Page 59)

अर्थात् संसार में ऐसा कोई अध्ययन नहीं है जो उपनिषदों के समान उपयोगी तथा उन्नति की ओर ले जाने वाला हो। वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। उन्हीं से मुझे अपने जीवन में शान्ति मिली है और उन्हीं से मुझे मृत्यु के समय भी आत्मिक शान्ति मिलेगी। एक न एक दिन उपनिषद् की शिक्षा ही मानवमात्र की शिक्षा का केन्द्र बनेगी।

संस्कृतेतर भाषाओं में उपनिषदों के अनुवाद का सूत्रपात करने का श्रेय औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह को है। अपने कश्मीर वास के दिनों में 1640 ईसवी में दाराशिकोह को उपनिषदों की जानकारी मिली। काशी से पण्डितों को बुलाकर उनकी सहायता से सन् 1657 में उसने उपनिषदों का फारसी में अनुवाद पूरा कर लिया। उन दिनों पूर्वी देशों में फारसी भाषा का अध्ययन बड़े व्यापक रूप में होता था। इतना ही नहीं, भारतीय साहित्य में रुचि रखने वाले यूरोपीय विद्वान् भी फारसी समझते थे। फिर भी यूरोप को उपनिषदों की जानकारी 1775 में तब मिली जब शुजाउद्दौला के दरबार में नियुक्त .फ्रैंच राजदूत एम० जेण्टिल (M. Gentil) ने उपनिषदों के फारसी अनुवाद की एक प्रति बर्नियर के द्वारा ज़ेन्दावस्ता की खोज करने वाले .फ्रैंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पेरो (Anquetil Du Pero) के पास भेजी। जब उसकी एक और प्रति प्राप्त हो गई तो उसने दोनों प्रतियों का मिलान करके 1801 ईसवी में उपनिषदों के आधार पर उनका .फ्रैंच तथा लैटिन में अनुवाद

किया। .फ्रैंच में अनुवाद पड़ा रह गया किन्तु लैटिन का भाषान्तर 1801—2 में 'Ouprekeat, id, est, Secretum tegendum' नाम से प्रकाशित हो गया। (M.M. History of Ancient Sanskrit Literature, Ed. 2, p. 325) परन्तु यह अनुवाद इतनी दुरूह शैली में किया गया था कि यत्न करने पर भी लोग उसे समझ नहीं सकते थे। इस भूलभुलैया से निकालने का श्रेय जर्मन के दार्शनिक विद्वान् शोपनहार को जाता है। शोपनहार ने उसे ध्यान से पढ़ा और कहा कि मेरा अपना दर्शन उपनिषदों के मूलभूत सिद्धान्तों से प्रभावित है। इतना ही नहीं, उसने अपने ग्रन्थ 'Well als wille ond Vurstelling' में लिखा—

If the reader has also received the benefit of the Vedas, the access to which by means of the Upanishads, is in my eyes, the greatest priviledge which this still young century (1818) may claim before all previous centuries....—Sacred Books of the East (U) p. 59

इसके बाद 1816-1819 में राजा राममोहन राय ने, 1874 में ई० रोअर ने तथा 1879-84 में मैक्समूलर ने उपनिषदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। जर्मन भाषा में 1882 में एफ० मिशेल (F. Mischel) ने, 1889 में प्रो० बोहट लिंक (O. Bohtlink) ने तथा 1897 में पाल डूसन (Paul Duessen) ने भी उपनिषदों के अनुवाद किये। इसी प्रकार संसार की अनेक प्रमुख भाषाओं में उपनिषदों के अनुवाद हुए और भारतीय अध्यात्मवाद का व्यापक प्रभाव सर्वत्र फैल गया।

उपनिषदों की संख्या के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। यह संख्या 200 के आस-पास बताई जाती है। वर्तमान में 108 उपनिषद् उपलब्ध हैं। इनमें कुछ उपनिषदें साम्प्रदायिक हैं। इसलिये सबकी प्रामाणिकता एक सी नहीं है। आदि शंकराचार्य से महर्षि दयानन्द तक प्रमुख आचार्यों के मतानुसार निम्नलिखित 11 उपनिषदें ऐसी हैं जो अधिक लोकप्रिय हैं और जिन्हें प्रमाण रूप में प्राय: उद्धृत किया जाता है—

1. ईश, 2. केन, 3. कठ, 4. प्रश्न, 5. मुण्डक, 6. माण्डूक्य, 7. ऐतरेय, 8. तैत्तिरीय, 9. छान्दोग्य, 10. बृहदारण्यक, 11. श्वेताश्वतर।

भिन्न-भिन्न होते हुए भी सभी उपनिषदें वस्तुत: ईशोपनिषद् का ही विस्तार है। ईशोपनिषद् यजुर्वेद की काण्व शाखा का 40वां अध्याय है। इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा अथवा उन पर आधारित ब्रह्म विद्या वेद मूलक है तथापि उनके मनुष्योक्त होने, भिन्न-भिन्न काल में अनेकों की रचना होने अथवा प्रक्षेप के कारण यदि उनमें कोई बात वेद के विपरीत प्रतीत होगी तो मीमांसाकार जैमिनी मुनि के '**विरोधे त्वनपेक्ष्यमिति**' इस वचन के अनुसार श्रुति का प्रामाण्य होने से वह मान्य नहीं होगी। काण्व तथा थोड़े से परिवर्तन के साथ माध्यन्दिन वाजसनेयी संहिता का अन्तिम अध्याय होने से इसे वेद का अन्तिम भाग अथवा वेदान्त कह दिया जाता है। माध्यन्दिन शाखीय वाजसनेयी संहिता के 40वें अध्याय में केवल 17 मन्त्र हैं जबकि काण्व शाखा में 18 मन्त्र हैं। इसके अतिरिक्त दोनों में कुछ पाठभेद भी हैं।

जिस सूक्त अथवा मन्त्र का जो देवता अर्थात् प्रतिपाद्य होता है उसके अनुसार उस सूक्त अथवा मन्त्र का नाम प्रसिद्ध हो जाता है। किसी-किसी सूक्त में प्रारम्भ से अन्त तक देवतावाचक एक ही शब्द प्रयुक्त रहता है

परन्तु कई सूक्त ऐसे भी होते हैं जहाँ एक ही देवता के वाचक अनेक नामों का प्रयोग किया होता है। जहाँ देवता का एक ही नाम रहता है वहाँ देवता का निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती परन्तु जब एक ही सूक्त में विभिन्न नामों का उपयोग किया जाता है तब उसके देवता का निर्धारण करने में अवश्य कुछ कठिनाई प्रतीत होती है। प्रस्तुत अध्याय में विशेषण, सर्वनाम आदि को छोड़कर जो मुख्य शब्द आये हैं वे ईश, आत्मन्, ओम्, अग्नि, सत्य, पुरुष, पूषा, यम और प्रजापति हैं किन्तु जैसा कि निरुक्तकार यास्काचार्य ने स्पष्ट कर दिया है—

महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवता प्रत्यङ्गानि भवन्ति।।

ये सभी नाम एक आत्मा या ब्रह्म के बोधक हैं। स्वयं वेद की घोषणा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। (ऋ० 1/164/46)
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।। (यजु० 32/1)

अर्थात्—ज्ञानी लोग एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। उसी एक को इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं। वही आदित्य, वही वायु और वही चन्द्रमा है। वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही आप और वही प्रजापति है। इन मन्त्रों में स्पष्ट कर दिया गया है कि अग्नि, आदित्य आदि नामों से सर्वत्र एक उसी प्रभु का वर्णन होता है। इतना ही नहीं, भौतिक अग्नि आदि को भी अपनी शक्ति उसी से प्राप्त होती है। वही एक आत्मा अग्नि आदि रूपों से कार्य कर रहा है। इसीलिये अग्नि के वर्णन से उसी का वर्णन होता है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।। (ऋ० 10/82/37)

जिस यजुर्वेद के 40वें अध्याय पर हम विचार कर रहे हैं। उसी के 17वें अध्याय में यह मन्त्र ज्यों का त्यों दिया है। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के प्रथम सूक्त में यह मन्त्र नाम मात्र के अन्तर के साथ पढ़ा गया है। इस मन्त्र में आये "**यः एक एव देवानां नामधः**" शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्पष्ट है कि वह अकेला ही अपने लिये सब देवों के नाम धारण करता है। इस अन्तःसाक्ष्य से भी अग्नि आदि नाम उस आत्मा के वाचक ठहरते हैं। इन सब वर्णनों का तात्पर्य यही है कि सब देवताओं के नाम एक ही आत्मतत्त्व का वर्णन करते हैं। फलतः इस अध्याय (यजु० 40) में अग्नि, पूषा, यम आदि जो भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे सब ब्रह्म, ईश, आत्मा के ही गुणबोधक पर्याय शब्द हैं। इसलिए सम्पूर्ण अध्याय एक ही आत्मा या ब्रह्म का वर्णन कर रहा है।

यजुर्वेद के इस अध्याय का देवता या प्रतिपाद्य आत्मा है। आत्मा ईश्वर तथा जीव दोनों का वाचक है। इसलिये इस अध्याय को आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है। ईशोपनिषद् इसका प्रसिद्ध नाम है। इस नाम का गूढ़ार्थ भी यही है कि इसमें ईश की विद्या=ब्रह्म विद्या का निरूपण हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता होने से इसे वाजसनेयी संहितोपनिषद् भी कह दिया जाता है।

समय-समय पर अनेक विद्वानों द्वारा उपनिषदों पर टीकाएं लिखी जाती रही हैं। इनमें सबसे पुरानी टीका शंकराचार्य की है। शंकराचार्य ने उपनिषदों के अद्वैतपरक अर्थ किये। इसके विपरीत रामानुज ने उनके विशिष्टाद्वैतपरक और माध्वाचार्य ने द्वैतपरक अर्थ किये किन्तु उपनिषदों का वास्तविक अर्थ उनके शब्दों में ही समझा जा सकता है उन पर आरोपित करके नहीं। यही मेरा प्रयास रहा है।

आकाश अनन्त है, उसका पार तो गरुड़ भी नहीं पा सकता। फिर भी **'पतन्ति खे ह्यात्मसमं पतत्रिणाः'** प्रत्येक पक्षी अपने सामर्थ्य के अनुसार उड़ान भर ही लेता है। इसी न्याय से अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार जितना कुछ और जैसा कुछ बन पड़ा उतना और वैसा कहने का साहस मैंने किया है। उसका मूल्यांकन पाठकों द्वारा ही सम्भव है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. Native philosophers devine it either from the root 'Sad' (सद्) in the sense of distruction, supposing these ancient treatises to have received their name because they were intended to destroy passion and ignorance by means of divine revelation or from the root 'Sad' (सद्) in the sense of approaching because a knowledge of Brahman comes to us by means of the upanishad or because we approach Brahman by their help.

—Sacred Books of the East Vol. I P. 79

2. Most European Scholars are agreed in deriving upanishad from the root 'Sad' (सद्) to sit down preceded by the two prepositions 'ni' (नि) down and 'upa' (उप) near, so that it would express the idea of session or assembly of pupils sitting down near their teacher to listen to his instructions.

—Sacred Books of the East Vol. I. P. 79-80

❐

उपनिषद् परिचय

डॉ० प्रेमचन्द श्रीधर ★

सन् 1775 में एंक्वैटिल डूपैरों को दारा शिकोह द्वारा फारसी में अनूदित उपनिषद् की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसने उसका फ्रेंच और लैटिन भाषा में अनुवाद किया। इस ज्ञान का अध्ययन और मनन करने के उपरान्त डूपैरों ने लिखा "यह उपनिषद् योग विद्या और ब्रह्म ज्ञान के भण्डार हैं। जैसे-जैसे मनुष्य इनका स्वाध्याय करता है, मनुष्य का हृदय शान्त होता चला जाता है। उसकी विचार शक्ति बढ़ती है, मन की विकलता घटती है और विचारों में उदारता और मन में आनन्द प्राप्त होता है।"

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक आर्थर शापन हाअर ने फ्रेंच लेखक डुपैरों का उपनिषद् का 'लैटिन' में भाष्य पढ़ा। कहते हैं कि शापन हाअर की मेज़ पर उपनिषदों की एक लैटिन प्रति रहती थी और वे 'सोने से पहले उसमें से ही अपनी प्रार्थना किया करते थे।'[1] वे लिखते हैं "(उपनिषदों के) प्रत्येक वाक्य में से गहन, मौलिक और उदात्त विचार फूटते हैं और सभी कुछ एक उच्च पवित्र और एकाग्र भावना से व्याप्त हो जाता है। समस्त संसार में उपनिषदों जैसा कल्याणकारी और आत्मा को उन्नत करने वाला कोई स्वाध्याय नहीं है। ये सर्वोच्च प्रतिभा के प्रसून हैं। देर सबेर ये मानव की आस्था का आधार बनकर रहेंगे।"[2]

उपनिषदें मानव बुद्धि की सर्वोच्च उपज हैं। इनमें लगभग अतिमानव (Superhuman) विचार हैं। संसार में सम्भवतः यह सबसे अधिक सन्तोषप्रद और उन्नत करने वाला दर्शन है। यह मेरे जीवन के लिए आश्वासन रहा है और मृत्यु के समय मेरा आश्वासन रहेगा।[3]

चन्द्र नगर के प्रधान न्यायाधीश फ्रेंच विद्वान् लुई जैकालियट ने 1926 में एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम था—''La Bible Daus India' (भारत में बाइबिल)। सन् 1927 में इसका अंग्रेज़ी अनुवाद छप गया। इसमें श्री जैकालियट ने लिखा "प्राचीन भारत भूमि! मनुष्य मात्र का जन्म स्थान! पूजनीय और जयर्थधात्री जिसको शताब्दियों के नृशंस आक्रमणों ने अभी तक विस्मृति की धूल ने नीचे दबाया हुआ है, तेरी जय हो! श्रद्धा प्रेम, कविता और विज्ञान की पितृभूमि! तेरी जय हो! क्या कभी ऐसा दिन आएगा, जब हम अपने पाश्चात्त्य देशों में तेरे अतीत काल की सी उन्नति देखेंगे?"[4]

उपनिषदें व्यवस्थित चिन्तन से अधिक आत्मिक आलोक के साधन हैं। ये हमारे आगे अमूर्त दार्शनिक

★ प्रबन्ध सम्पादक, शोध पत्रिका, अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ, नयी दिल्ली

पदार्थों का संसार नहीं, अपितु अमूल्य और अनेक प्रकार के आत्मिक अनुभव का संसार उद्घाटित करती हैं। इनके सत्यों की पुष्टि केवल तर्क बुद्धि से नहीं बल्कि निजी अनुभव से होती है। इनका लक्ष्य काल्पनिक नहीं व्यावहारिक है। ज्ञान मुक्ति का साधन है। एक विशिष्ट जीवन-प्रणाली द्वारा ज्ञान का अनुसरण ही दर्शन, ब्रह्म विद्या है। डॉ० राधाकृष्णन् जैसे महान् दार्शनिक ने भी ज्ञान को काल्पनिक नहीं, व्यावहारिक कहा है और जीवन प्रणाली में उसके अनुसरण पर बल दिया है।[5]

हमारे ज्ञान के भण्डार की विदेशी विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है परन्तु खेद का विषय है कि हम उस अनन्त ज्ञान राशि के स्वामी होते हुए भी उसका लाभ नहीं उठा सके और जो कुछ ज्ञान मिला उसे अपने जीवन में आत्मसात् न कर सके। कहते हैं ज्ञान के अपार सागर से उसकी एक बूँद को अपने जीवन में चरितार्थ कर लेना अधिक अच्छा है।

उपनिषदों के सम्बन्ध में हमें सदा एक भ्रम बना रहा है वह यह कि ये केवल आत्म ज्ञान का साधन रही हैं। इनमें केवल ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी चर्चा है। जीवन के व्यावहारिक पक्ष के लिये इनमें कुछ भी नहीं है। ऐसा कोई ज्ञान जो केवल आध्यात्मिक है और उसका व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध नहीं है, किस प्रकार मनुष्य के लिए कल्याणकारी हो सकता है?

सबसे बड़े दु:ख की बात यह है कि हमने अपने धर्म ग्रन्थों के उपदेशों पर, जो महान् तपस्वी ऋषियों और दार्शनिक चिन्तकों के महान् तप और चिन्तन से हमें प्राप्त हुए हैं, कभी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। अध्यात्म ज्ञान अर्थात् आत्मा और परमात्मा का ज्ञान हमें भाग्यवादी, निष्क्रिय, निराशावादी और संसार को स्वप्न और माया के रूप में देखने की प्रेरणा देता है, ऐसा पाश्चात्त्य चिन्तकों का विचार है, परन्तु भारतीय दर्शन इसे स्वीकार नहीं करता। वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से हम एक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसार को हेय समझकर गृहस्थ जीवन का त्याग करके, भिक्षा पात्र लेकर और भगवा वेश धारण करके जीवन काटने की शिक्षा इसमें कहीं नहीं है। इसमें सक्रिय और सत्य पर आधारित परम्पराओं को निभाते हुए सन्तुलित जीवन जीने की एक प्रेरणा है। उपनिषद् का ज्ञान भी इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। जहां कण-कण में ईश्वर के वास की बात कही है वहाँ 'भुज्जीथाः' शब्द से भोग की भी आज्ञा दी है। कौन इस सृष्टि को भोग सकता है, वही, जो जीवन भर कर्म करेगा और इस संसार को अपने निर्लिप्त कर्ममय जीवन से अधिक सौन्दर्यपूर्ण और ऐश्वर्ययुक्त बनाएगा। उपनिषद् तो स्पष्ट घोषणा कर रही है **'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति'** अर्थात् कर्म करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, परन्तु कर्म में लिप्त नहीं होना है। तभी तो सन्तों ने कहा है—

न घर त्यागो, न हर को भूल जाओ जिन्दगानी में।
रहो दुनिया में तुम ऐसे कमल रहता है, पानी में।।

महान् ऋषियों के जीवन में कर्म का उतना ही महत्त्व था, जितना त्याग का। वे गृहस्थ भी थे और कर्ममय जीवन बिताते थे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि महाभारत काल के बाद धीरे-धीरे हम अपने वैदिक ज्ञान को विस्मृत करके, उसके व्यावहारिक पक्ष की पूर्ण अवहेलना करके या तो केवल कर्मकाण्डी बन गये, या फिर एकदम नास्तिक और निष्क्रिय जीवन बिताने वाले मायावादी भगोड़े। इसका परिणाम कितना भयंकर हुआ? इस

देश का सारा ऐश्वर्य नष्ट हो गया, ज्ञान अज्ञान में, वीरता कायरता में, न्याय अन्याय में और भाव अभाव में बदल गया। जीवन से भागने के फलस्वरूप हम सैकड़ों वर्षों तक दूसरों के दास बने। चार्वाक के भोगवादी दर्शन के प्रभाव से हमने खाने-पीने और मर जाने को जीवन माना, या फिर बौद्ध दर्शन के प्रभाव के फलस्वरूप हम घर त्याग कर और संसार को दुःखों का घर स्वीकार करके भाग खड़े हुए। दोनों प्रकार से भोगने में भी और त्यागने में भी, हमने अति से काम लिया। हम मध्यमार्गी नहीं रहे। कर्म करते हुए आस्थावान् होकर त्यागपूर्वक जीवन की परिपाटी को छोड़ दिया। यही हमारे घोर पतन का कारण बना। वस्तुतः उपनिषदों में ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय हुआ है—प्रमुखतया आध्यात्मिक विचारों के सन्देशवाहक उपनिषद् इस तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं कि हम ज्ञान और कर्म से समन्वित जीवन को जीते हुए उसी वैभव और ऐश्वर्य के स्वामी बन सकें, जो कभी वैदिक काल में हमारे पूर्वजों को प्राप्त था। ज्ञान, उपासना और कर्म को अलग-अलग अङ्गों के रूप में देखना ठीक नहीं है। इसी दृष्टिकोण से ही विश्व का कल्याण हो सकता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

प्राचीन काल में वनों में स्थापित आश्रमों के शान्त वातावरण में जिज्ञासु शिष्यगण अपने गुरुओं से ज्ञान प्राप्त किया करते थे। आचार्यगण भी अधिकारी शिष्य को ही अध्यात्म ज्ञान देते थे। इसी आधार पर कुछ विद्वान् कहते हैं—'उपनिषद्' शब्द 'उप' (निकट) 'नि' (नीचे) और 'सद्' (बैठना) से मिलकर बना है अर्थात् शिष्य का नीचे गुरु के निकट बैठना।

'उपनिषद्' रहस्यमय ज्ञान है। इसमें गुप्त मन्त्र और गुह्य सिद्धान्त दिये गये हैं। इसलिए शिष्य एकान्त में धरती पर गुरु के चरणों में बैठकर इसे ग्रहण करता था। अतः 'उपनिषद्' नाम एक ऐसे रहस्य के लिए पड़ गया जो केवल कुछ परखे हुए लोगों को ही दिया जाता था।[6]

पाश्चात्त्य दार्शनिक गुरुओं में भी ऐसी ही प्रथा विद्यमान थी। प्लेटो ने स्वयं स्वीकार किया है, 'इस विश्व के पिता और स्रष्टा का पता लगाना एक टेढ़ी खीर है, और उसका पता चल जाता है तो उसकी चर्चा सब लोगों के आगे नहीं की जा सकती।'

आचार्य शंकर 'उपनिषद्' की व्युत्पत्ति 'सद्' धातु से मानते हैं 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं और क्विप् प्रत्यय है। सद् का अर्थ है—विशरण अर्थात् नाश, गति अर्थात् प्राप्ति और अवसादन अर्थात् शैथिल्य। अतः उपनिषद् शब्द का अर्थ हुआ (1) अविद्या का नाश, (2) ब्रह्म की प्राप्ति और गर्भवास, जन्म, जरा आदि का शैथिल्य कराने वाली विद्या।[7]

स्वामी चिन्मयानन्द ने लिखा है, 'उपनिषद्' का शाब्दिक अर्थ है, उस परम सत्ता को हमारे निकट लाना और उसकी सत्ता की अनुभूति कराना, वे अग्राह्य सत्य को ग्राह्य बना देती हैं। आत्मा सदैव हमारे साथ है परन्तु भ्रम के मेघों के कारण हमारी अनुभूति से परे है, यह सत्य उपनिषदों के द्वारा उद्घाटित होता है, इसलिए वे 'उपनिषद्' कहलाती हैं।[8]

श्री प्रेमनाथ एडवोकेट द्वारा अंग्रेज़ी में लिखी नौ उपनिषदों की भूमिका में डॉ॰ सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

लिखते हैं, 'उपनिषदों के परिचय से दो वस्तुओं की अनुभूति होती है। प्रथम यह कि यह शरीर आत्मा नहीं है, दूसरा यह प्रकृति परमात्मा नहीं है। यह केवल उपनिषदों की सैद्धान्तिक शिक्षा नहीं अपितु व्यावहारिक उपदेश है।[9]

सन्दर्भ सङ्केत

1 ब्लूमफील्ड, रिलीजन आफ द वेद (1908) पृ0 55

2 वही

3 "In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads. They are the product of the highest wisdom. Ausgehunt der hochsten Weisheit Loc. cit. II, page 428."
"It has been the solace of my life. It will remain the solace of my death." Loc. Cit. II. p. 425.

4 "Land of ancient India : cradle of Humānity, hail : Hail revered Motherland whom centuries of brutal invasions have not yet burried under dust of oblivion, Hail Fatherland of faith, of love, of poetry and science, may we hail a revival of thy past in our western future."—Bible in India by Jacaliat (La Bible Daus India)

5 डॉ0 राधा कृष्णन्–हिन्दी अनुवाद पृ0 20

6 'उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यम्'–केन0 4, 7 पर शंकर
वेदान्ते परमं गुह्यम्–श्वेता0 उ0 6, 22
धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्–अमरकोश

7 षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु–धातुपाठ

8 "The term upanishad literary means bringing nearest to us transcendental and make it exist for us. They make the incomprehensible truth comprehensible. The self which is ever with us, but last to us in the clouds of our misapprehensions, is unveiled and brought to our subjecture experience by these declarations, and so they are called Upaniṣads."
Swami Chinmayanand, Īśavasya Upaniṣads, p. 44)

9 The quintence of the Upanishads lies in the realisation of two things, first that the body is not the soul, second that the matter is not the God. This is not only a theoretical but practical teaching of Upaniṣads."
Prem Nath Chaddha, Nine Upaniṣads, Introduction by Dr. Satyavrata Siddhantalankar.

उपनिषच्छब्दार्थविचारः

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव ★

धर्मार्थकाममोक्षेषु यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्।।

एतत्तु सुविदितं यत् "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।" नूनं पुरुषार्थचतुष्टयानां धर्मार्थकाममोक्षाणां फलप्राप्तिर्हि प्रयोजनं मानवजीवनस्य। प्रयोजनस्यास्योपलब्धिः विद्ययैव शक्यते—"तत्र द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा (Scientific knowledge) ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति। अथ परा (Spiritual knowledge) यया तदक्षरमधिगम्यते।"[1] ऋग्वेदादयश्चत्वारोऽपि वेदाः अन्येऽपि सर्वे ग्रन्थाः कर्मकाण्डमात्रं प्रतिपादयन्तः ऐहिलौकिकामुष्मिकाभीष्टफलधर्मार्थकामान्साधयन्तः अप्रधानवृत्याऽपरा विद्येति उच्यन्ते। अपरविद्यया आत्मतत्त्वोपलब्धिः सांसारिकदुःखेभ्यश्च आत्यन्तिकीनिवृत्तिः न सम्भाव्यते। सत्यमेव कथितम्— 'देवानुद्दिश्य येन यज्ञाः अनुष्ठीयन्ते सः एतावतः महल्लोकान्न प्राप्नोति, यः आत्मानमुद्दिश्य यजते तेनैव प्राप्यते।[2] ब्रह्मविद्याऽधिगमस्यैकमात्रसाधनरूपाः मोक्षस्य श्रेष्ठोपायाः पुनरुपनिषदः एव प्रधानवृत्या पराविद्यापदेन कीर्त्यन्ते। ब्रह्मास्वादे वेद्यान्तरस्पर्शशून्यतानिवार्यापरिहार्या चास्ति। मुक्तिमभिलषन्धीरः मानवः प्रेयोमार्गं त्यक्त्वा श्रेयोमार्गं गृह्णाति, अज्ञानमार्गं विहाय ज्ञानमार्गेण प्रयाति। उपनिषदि उल्लिखितम्—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।।[3]

ज्ञानेन मानवः तां सर्वोच्चावस्थां लभते यत्राकांक्षाः सर्वाः विनश्यन्ति। तत्र न तु यज्ञाहुतयः न वा ज्ञानशून्यतपस्विजनाः अपि गच्छन्ति। यतः ज्ञानशून्यः जनः तं लोकं न प्राप्नोति न कर्मणा न तु तपसाऽपि।[4] यतो हि प्रसिद्धम् 'स्वर्गकामो यजेदिति', 'तपसा कल्मषं हन्ति' इति च। एताभ्याममृततत्त्वस्य नाशास्ति।

उपनिषच्छब्दार्थस्तु-उप-उपगम्याचार्यम्, उपलभ्य वा ब्रह्मोपदेशं, नि-निःशेषेण नितरां वा सद् अवसादयित्री ब्रह्मोपगमयित्री या परा विद्या सा उपनिषद्। कथितमस्ति—

★ रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश
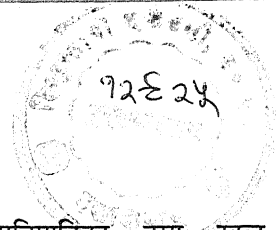
निहत्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम्।
नयत्यपास्तसंभेदमतो नोपनिषद्भवेत्।।

कर्मोपासनाज्ञानलक्षणेषु त्रिविधकाण्डेषु मुख्यत्वेन ज्ञानकाण्डस्य प्रतिपादिकाः इमाः खलु उपनिषदः ब्रह्मविद्यारहस्योद्घाटनकारिण्यः विवेकवैराग्याभ्यामविद्याध्वान्तविध्वंसकारिण्यः त्रिविधदुःखात्यन्तप्रशमकारिण्यः अखिलभवभयहारिण्यः ब्रह्मानन्दप्रदायिन्यः।

उप–नि उपसर्गपूर्वकात् विशरण–गति–अवसादनार्थकात् षद्लृधातोः क्विबन्तं रूपमुपनिषत्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इति पाणिनिः।[5] सोपसर्गः धातुः प्रायः स्वार्थं जहाति। एवमुपनिपच्छब्दस्तु अनेकार्थकः। एतत्विचित्रं यत् उप–नि पूर्वकस्य सद् धातोः प्रयोगः दुर्लभः। क्वाचित्कोऽपि प्रयोगश्चेत् उपलभ्येत तर्हि प्रकरणप्रसङ्गबलादस्य शब्दार्थः ज्ञातुं शक्यते। परं तु प्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु अस्य प्रयोगः नास्ति। अतः उप–नि पूर्वक षद् धातोरर्थस्य ज्ञानं दुष्करम्। मैक्समूलरमहोदयानुसारेण उपनिषच्छब्दस्य चत्वारः अर्थाः प्रसिद्धाः—[6]

1. गुह्या रहस्यमयी अनृता वा व्याख्या 2. अनया–व्याख्यया प्राप्तं ज्ञानम् 3. ज्ञानेनानेन प्राप्तः ज्ञानवते वर्तनीयः नियमो व्रतो वा 4. तत्प्रतिपादकाः ग्रन्थाः।

उपनिषदां भारतीयसंस्कृत्याविच्छिन्नः सम्बन्धः। आसामध्ययनेन संस्कृतेराध्यात्मिकं स्वरूपं ज्ञातं भवति। आसामुपनिषदामुदात्तचिन्तनानां धार्मिकानुभूतीनामाध्यात्मिकभावनानां प्रधानवैशिष्ट्यमस्ति रहस्यात्मकत्वम्। पाश्चात्त्यविदुषः डायसनस्य मतमस्ति यत् उपनिषच्छब्दस्य आशयः रहस्यात्मकः गुप्तो वा अर्थः अस्ति।[7] उपनिषच्छब्दस्यायमर्थः उपनिषत्सु एव अनेकेषु स्थलेषु लिखितः वर्तते। तद्यथा—

गुह्या आदेशाः छान्दो० 3, 5, 2
परमं गुह्यम् कठ० 3, 17, श्वेता० 6, 22
वेद गुह्यम्
वेदगुह्योपनिषत्सु गूढम् श्वेता० 5, 6
गुह्यतमम् मैत्री० 6, 29
इति रहस्यं नृसिंहोत्तर, 8
उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यम्—केन० 4, 7 उपरि शाङ्करभाष्यम्

वेदेषु यत् पारमार्थिकतत्त्वं गुह्यरहस्यरूपे सुरक्षितमुपनिषदृषिभिः तस्य विशदीकरणं कृतम्। उपनिषच्छब्दः ईदृशं रहस्यमभिव्यनक्ति यत् उच्चस्तरीयमसामान्यमतएव सर्वजनसंवेद्यं न। केवलं केषाञ्चित् विदुषामग्रे एव उद्घाटनीयम्, प्रयत्नेन प्रापणीयमवधानेन च आचरणीयम्—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।[8]

यतो हि गुह्यादेशाः सूक्ष्मसिद्धान्ताः वा सर्वदा गोपनीयाः। गोपनतया तस्य महत्त्वं सूच्यते। गोपनीयमिदं शास्त्रमित्युक्त्वा महर्षिभिः उपनिषच्छास्त्रस्य माहात्म्यं प्रदर्शितम्। इयं पराविद्या अनधिकारिपुरुषेभ्यः कदापि न

दातव्या इति उपनिषत्सु अपि स्पष्टमेव वर्णितम्—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।

असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया तीर्थवती तथा स्याम्।।[9]

भारतीयचिन्तनप्रणाल्याः मुख्यस्रोतः उपनिषदेव। तस्याः अर्थः अस्मादेव कारणात् कौटलीयार्थशास्त्रे वात्स्यायनकामसूत्रे च आथर्वणिकक्रियाः कृताः। अमरकोशे अस्यार्थः धार्मिकं रहस्यं दृश्यते—धर्मे रहस्युपनिषत्स्यात्। विनयपिटके प्रयुक्तः 'उपतिसा' शब्दः अभिधम्मपादे मार्गमर्थमुपदधाति। विदेहराजसभामध्ये यदा जरत्कारुगोत्री आर्तभागग्रहातिग्रहयोः विषये प्रश्नान् कुर्वन् इदमपृच्छत् यत् मृत्योरनन्तरं किञ्चिदवशिष्टं भवति न वा। तदा याज्ञवल्क्य आह—सौम्य! अस्मिन्नतिगम्भीरे विषये आवामेकान्ते विचारयावः न तु जनसम्मर्दे।[10] एतामेव ब्रह्मोपनिषदं यः वेत्ति तस्मै विवृतं सद्म भवति। एताः उपनिषदः परम्परया ब्रह्मणः मन्वादिभिः प्राप्ताः। एताः पितृणा ज्येष्ठपुत्राय प्रियशिष्याय वा दातव्याः। महार्घाः एताः उपनिषदः नान्यस्मै कस्मैचन देयाः। कामं स समुद्ररशनामुर्वी धनेन पूरयित्वा दद्यात्।[11] चैतन्निर्दिशति मनुः—

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।

आपद्यपि च घोरायां न चैनामिरिणे वपेत्।।[12]

आचार्यः पौनःपुन्येन प्रार्थितः सन् एतं परमं गुह्यं ज्ञानमुपदिशति। तथा आरफिकाः पाइथागोरियनाः अपि गोपनीयं रहस्यं न कस्मैचिदपि निवेदयन्ति।[13]

उप नि उपसर्गपूर्वकः क्रियावाची सद्धातुः अपरमपि आदधात्यर्थम् 'शिक्षाग्रहणाय गुरोः चरणयोः उपवेशनम्' परमस्मिन्नर्थेऽस्य शब्दस्य प्रयोगः न केवलं उपनिषदां कृते अपितु वेदानां कृतेऽन्यशास्त्राणां कृते चापि कर्तुं शक्यते। भारतीयसंस्कृतौ शिक्षाग्रहणाय इयं परम्पराऽपि नातिविशिष्टा। अतएवात्र उपनिषच्छब्देन ऋषयः प्राचीनपद्धतिं द्योतयितुं न प्रवृत्ताः अपितु तेषामुद्देश्यविशेषो स्यात्। यत् नितरां समीपे उपवेष्टुं समर्थाः भवन्ति साधका अनया इत्युपनिषद् अर्थात् यस्याः ब्रह्मविद्यायाः अध्ययनाध्यापनेन मनुष्यः ब्रह्मणः अतिसामीप्यमनुभवति, सा विद्या अत्र उपनिषच्छब्दवाच्या। क्षमादयाकरुणादीनां ईश्वरीयगुणानां यथायथं धारणमेव ईश्वरसान्निध्यप्रापणमस्ति, अस्मिन्नास्ति कोऽपि सन्देहः। तात्पर्यमिदमस्ति यत् उपनिषज्ज्ञानं श्वोभावस्य मर्त्यस्य जीवनं प्रति नैराश्यं समाप्य देवत्वं प्रति उन्मुखीकृत्य बोधयति—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।[14]

शब्दस्तोममहानिधौ प्रतिपादितम्—"उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति उपनिषद्" यया प्राप्यते ब्रह्मविद्या सा एव उपनिषद्। अन्ये केचिज्जनाः कथयन्ति, "उपनितरां सादयति विनाशयतीत्युपनिषद्।" या विद्या ब्रह्मसन्निकटं नीत्वा अविद्यामूलं क्लेशं नाशयेत्, सा एव उपनिषद्। यथाहि—

उपनीय तमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।

निहन्त्यविद्यां तजञ्च तस्मादुपनिषद्भवेत्।।[15]

भगवता शङ्कराचार्येण उपनिषच्छब्दस्य या व्याख्या कृता सा भारतीयपरम्परानुसारेण एव शब्दस्य

सुस्पष्टमर्थमभिव्यनक्ति, सा एव उपनिषदामभिप्रायं पूर्णतया स्पष्टं करोति, अनेकासूपनिषत्सु च समानार्थकपदेषु इयमेव व्याख्या मिलति। तन्मतेऽयं शब्दः विशेष्यरूपोऽस्ति, यस्याभिप्रायः—सा ब्रह्मविद्या या अज्ञानाद् विमुक्तये विनाशाय वा भवति। कठोपनिषदः भाष्यभूमिकायामिदं सुस्पष्टम्—

"सद्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप् प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्यतन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद्विनाशनादित्यनेनार्थं योगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।"[16]

द्वितीयस्तु ब्रह्मप्रापयित्री इयं विद्या अतएव मोक्षकामान् जनान् ब्रह्मज्ञानसन्निकटं स्थापयति लीनं करोति वा। संक्षेपतः आत्मनः ब्रह्मस्वरूपे प्रतिष्ठापकं स्थिरज्ञानमुपनिषदः। उक्तञ्च—

ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।[17]

आचार्यशङ्करः मुण्डकोपनिषद्भाष्यभूमिकायामेवमर्थं प्रस्तौति—"य इमां ब्रह्म विद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषद्, उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।"

आचार्येण तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यभूमिकायामुक्तं यत् ये जनाः विद्यामुपासते तेषां गर्भजन्मजरादीनामुच्छेदनात् उपनिषच्छब्देन विद्या एव निश्चीयते। ब्रह्मोपगमयित्री इति प्राधान्येनोपनिषदां ब्रह्मविद्यात्वं वा इयं विद्या उपनिषच्छब्देन द्योत्यते, तया एव विद्यया समवेताः ग्रन्थाः अपि उपनिषत्संज्ञां धारयन्ति—

"उपनिषदिति विद्योच्यते तच्छीलिनां गर्भजन्मजरानिशातनात्तदवसानाद् वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषव्यं वास्यां परं श्रेय इति। तदर्थत्वाद् ग्रन्थोऽप्युनिषद्"।

बृहदारण्यकोपनिषदः भाष्यं कुर्वता भगवता शङ्कराचार्येण उपनिषच्छब्दार्थः एवं प्रतिपादितः—

"उषा वा अश्वस्य इत्येवमाद्यावाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद्। तस्या इयमल्पग्रन्थावृत्तिरारभ्यते संसाराख्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैक्य विद्याप्रतिपत्तये। सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। तादर्थ्याद् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते।"

शङ्कराचार्यस्य विविधविचारसमाकलनेन निष्कर्षोऽयं प्राप्यते यत् उपनिषदः अस्माकमाध्यात्मिकदृष्टिं विस्तीर्य दार्शनिकक्षमतां वर्धयन्ति।

सम्प्रति उपनिषत्सु प्रयुक्तानामुपनिषच्छब्दानामर्थः विचार्यते। संज्ञावाचकः उपनिषच्छब्दः उपनिषत्सु बहुप्रयुक्तः। यद्यपि अर्थविषये तेषु किञ्चित्वैभिन्र्यं प्रतीयते। तद्यथा—

'उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।[18] गुरोः साङ्केतिक-भाषायामभिव्यक्तं ब्रह्मविद्यायाः रहस्यं श्रुत्वा शिष्यः पुनः जिज्ञासां करोति। गुरुः तां जिज्ञासां शान्तं करोति। अत्र उपनिषच्छब्दार्थः 'रहस्यमयी ब्रह्मविद्या' इति तु स्पष्टमेव।

'अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः'[19]। शिक्षाक्षेत्रे संहिता विशेषमहत्त्वशालिनी भवति अतएव संहितायाः उपनिषद्-दर्शनमिति निरूपणमावश्यकं वर्तते। अत्र उपनिषच्छब्दः दर्शनमित्यर्थं ददाति।

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति......एषा वेदोपनिषत्।'[20] समावर्तनसंस्कारावसरे आचार्यः शिष्याय व्यवहारमुपदिशति। इयं व्यवहारिकी शिक्षा एव वेदोपनिषदां रहस्यम्। अत्र उपनिषच्छब्दस्य वेदोपनिषदां सारः अर्थः प्रतीयते।

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।'[21] अत्र उपनिषच्छब्दप्रयोगः मनोयोगं तल्लीनतां वा अर्थं सूचयति।

'य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति।'[22] अत्र प्रयुक्तः उपनिषच्छब्दः द्वयोः स्थलयोः रहस्यार्थं प्रकटयति।

'तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते परा भविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम, तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति। तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते।'[23] अत्र सर्वेषु त्रिषु स्थलेषु उपनिषच्छब्दः 'शिक्ष विद्योपादाने' धातोः टाप्प्रत्यययोगेन निष्पन्न शिक्षेति अर्थं प्रस्तौति।

'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्।'[24] अत्र उपनिषच्छब्दः ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतं रहस्यमयज्ञानमित्यर्थमभिव्यनक्ति।

'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।'[25] अत्र बहुवचने प्रयुक्तः उपनिषच्छब्दः ग्रन्थवाची वर्तते।

'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि.....वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते।'[26] अत्रापि वैदिकसाहित्यसङ्गत्या बहुवचने गणितः उपनिषच्छब्दः ग्रन्थविशेषाय एव प्रयुक्तः। अनेन इदं सिद्ध्यति यत् तत्काले उपलब्धः कोऽपि ग्रन्थविशेषो निश्चितरूपेण उपनिषन्नाम्ना प्रसिद्ध आसीत्।

'यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क'।[27] अत्र ऋषिणा द्वयोः स्थलयोः प्रयुक्तः उपनिषच्छब्दः ब्रह्मरहस्यबोधकवार्ताः शास्त्राणि वा द्योतयति।

'य एष एतस्मिन्नमण्डले पुरुषः......तस्योपनिषदहरिति'।[28] अत्र विराट्पुरुषस्य उपनिषद् रहस्यं प्रकाशः प्रतिपादितः।

एवमुपनिषच्छब्दः उपनिषत्सु एव विभिन्नार्थेषु अभिप्रायेषु वा प्रयुक्तः वर्तते परं सर्वेषामर्थानां सिद्ध्यर्थमनिवार्यतः अपेक्षितमुपवेशनं गुरोः। गुरुकृपया एव ब्रह्मप्राप्तिः सहजा सरला च भवति—'स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्त्रा भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति विज्ञाता भवति।'[29]

प्रायः उपनिषच्छब्देन वेदान्तस्यापि अर्थः गृह्यते। वेदानां ज्ञानबीज उपनिषदां उर्वराभूमौ एव अङ्कुरितो पल्लवितो च बभूव। सत्यं वेदेषु औपनिषदिकज्ञानं समाहितमस्ति। उपनिषत्सु वेदानामन्तिमसिद्धान्तः प्रतिपादितोऽस्ति। यतो हि अयमन्तिमसिद्धान्तः अतिगूढः वर्तते अतः जनसामान्ये तस्य ग्रहणे न तु रुचिः भवति न तु शक्तिः। वस्तुतस्तु केचन विरलाः एव जनाः रुचिं सामर्थ्यञ्च विदधति। यस्मिन्भवति सः वेदार्थज्ञानानन्तरं प्रश्नोपप्रश्नान् कृत्वा गूढरहस्यान्नवगन्तुं शक्नोति। उपनिषदामियमेव ज्ञानगङ्गा वेदान्तेति कथ्यते।

उपनिषदामन्तःसाक्ष्यमपि प्रकटयति यत् उपनिषत्काले वेदान्तशब्दः उपनिषदः पर्याय आसीत्। तथाहि—

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।[30]

अत्र सायणाचार्यः अर्थं प्रस्तौति—'वेदान्ताः उपनिषद् वाक्यानि', ब्रह्मविद्याप्रतिपादकोऽयं वेदान्तशब्दः सार्थको ज्ञायते यतो हि गूढरहस्यान्नुद्घाटयति, ब्रह्मसान्निध्यं ददाति च।

'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्'[31]—भाष्यकारः अत्रापि वेदान्तशब्दस्य उपनिषद्वाक्यानि इति अर्थं करोति।

'वेदान्तो नाम उपषित्प्रमाणम्'[32] उपनिषदः अपरं नाम वेदान्तोऽस्ति। अत्र एका शङ्का जायते यत् उपनिषदः कथं वेदान्तशब्देन व्यवह्रियन्ते। समासनियमानुसारेण वेदानामन्तः वेदान्तः कथ्यते। यद्यत्र अन्तशब्दार्थः अन्तिमांशः अन्तिमखण्डः वा गृह्यते तर्हि अत्र अव्याप्तिदोषः भवति। सर्वासु उपनिषत्सु व्याप्तो न भविष्यति। यतः केवलमीशावास्योपनिषद् एव यजुर्वेदस्य अन्तिमः चतुर्दशोऽध्यायः अस्ति तदायं वेदस्य अन्तिमः भागः अभवत्, परञ्च अन्याः उपनिषदः वेदानामन्तः नास्ति अतः वक्तुं शक्यते यत् वेदान्तशब्दे प्रयुक्तस्यान्तशब्दः अन्तिमार्थे न प्रवर्तते, वस्तुतस्तु वेदानामन्तिमं प्रयोजनं ब्रह्मस्वरूपं येषु वर्णितमन्तिमतात्पर्यरूपे ज्ञानकाण्डं वर्णितम्।

त उपनिषद्ग्रन्थाः एव वेदान्तशब्देन अवबोध्याः। यतो हि उपनिषदा ज्ञानं प्राप्यते अतएव तस्या 'वेदान्त' इति नाम सार्थकमेव।

पाश्चात्त्यदार्शनिकोल्डेनबर्गस्य मतेन उपनिषच्छब्दस्य मूलार्थः पूजा अस्ति। उपनिषच्छब्दस्य सारांशः उपासनाशब्देनापि अयमेव अर्थः द्योत्यते। उपासनया उपासकोपास्यमध्ये ऐक्यं सुदृढं भवति। उपनिषत्सु उपासकोपास्यमध्येऽभिन्नता स्थापिता अस्ति अतः उपनिषदुपास्यशब्दौ समानार्थकौ स्वीक्रियेते।

हॉपकिन्समहोदयस्य विचारोऽस्ति यदयं उपनिषच्छब्दः एकस्मै उपकारकग्रन्थाय प्रयुक्तः वर्तते,[34] परं एतन्मतमपि न ग्राह्यम्।

उपर्युक्तविवेचनेन व्युत्पत्तिभिर्वा अयं निष्कर्षः निर्गच्छति यत् मनसः आत्मनश्च निरतिशयं शान्तिप्रदं उपनिषच्छब्दः वस्तुतः अतीवोज्ज्वलमर्थं प्रस्तौति। यस्याः अक्षयार्थवत्तयानुशीलनेन च मानवः

अन्तर्निहितपवित्रात्मकशक्तिमुद्घाट्य दिव्यत्वं जीवनेऽवधारयति। अतः परिभाषायामपि साधूक्तम्—

प्रवृत्तिहेतून्निः शेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः।
यतोऽवसादयेद्विद्यां तस्मादुपनिषद्भवेत्।।

अध्यात्मविद्यां सरलमार्गेण समुपदिश्य ज्ञानपिपासूनां जिज्ञासूनां च दुस्तरस्य संसारसागरस्य पारं नीत्वा उपनिषच्छब्दः स्वार्थं सार्थकं करोति। एतेन सुस्पष्टं जातं यत्—

जन्मान्तरसहस्त्रेषु यदा क्षीणास्तु किल्विषाः।
तदा पश्यन्ति योगेन संसारोच्छेदनं महत्।।[35]

सन्दर्भ-सङ्केताः

1. मुण्डकोपनिषद्, 1.1.4, 5
2. ऐतरेयब्राह्मणः, 11.2.6
3. मुण्डकोपनिषद्, 2.2.9
4. शाङ्करवेदान्तसूत्रभाष्यः
5. धातुपाठः–पाणिनिः
6. The sacred book of the East, Upaniṣads, p. 79-80
7. The philosophy of Upaniṣads, p. 10-15
8. ईशावास्योपनिषद्, 15
9. मुक्तिकोपनिषद्, 1.50
10. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.2.13
11. छान्दोग्योपनिषद्, 3.11.5
12. मनुस्मृति, 2.113
13. उपनिषदों की भूमिका, डॉ0 राधाकृष्णन्
14. भगवद्गीतोपनिषद् 11.38
15. छान्दोग्योपनिषद्भाष्यभूमिका, डॉ0 शिवशङ्करशर्मा
16. कठोपनिषद्, 3.15
17. कठोपनिषद्, 6.18
18. केनोपनिषद्, 4, 7
19. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.3
20. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.11
21. छान्दोग्योपनिषद्, 1.1.10
22. छान्दोग्योपनिषद्, 1.13.4
23. छान्दोग्योपनिषद्, 8.8.4.5

24. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.1.20
25. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.10
26. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.12
27. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.2.1
28. बृहदारण्यकोपनिषद्, 5.5.3, 4
29. छान्दोग्योपनिषद्, 7.8.1
30. मुण्डकोपनिषद्, 3.2.6
31. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.22
32. वेदान्तसारः, सदानन्दः
33. The religion and philosophy of the Vedas and Upaniṣads, Kieth, p. 492
34. Religions of India, p. 218
35. योगशिखोपनिषद्

उपनिषदों का अनुशीलन

डॉ० श्याम बहादुर वर्मा ★

उपनिषदों में ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ रूप—ज्ञान का ज्ञान—ऋषियों की कृपा से सुरक्षित है। वेदों के सहस्रों मन्त्रों का अमृततत्त्व उपनिषदों की अमृतमयी वाणी में हम सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं। आत्मतत्त्व की गंगा को मानव कल्याण के लिए वेदों के हिमालय से पृथ्वी की समतल भूमि पर लाने वाले भगीरथ हैं उपनिषद्। इसीलिए वेदों के लिए प्रयुक्त 'श्रुति' शब्द का प्रयोग उपनिषदों के लिए स्वाभाविक रूप में आचार्य शंकर आदि ने किया है। 'वेद' अर्थात् 'ज्ञान', 'उपनिषद' अर्थात् 'रहस्य'। उपनिषदों के व्याख्याता ज्ञानी योगी, वेत्ता, आचार्य और कोरे विद्वान् क्रमशः साधना-बल, परम्परा-बल और पाण्डित्य बल के आधार पर इस 'रहस्य' को समझने-समझाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें सबसे दुर्बल साधन है पाण्डित्य-बल, जो साधना-शून्य और परम्परा से अनभिज्ञ कोरे विद्वानों के पास होता है, चाहे वे यूरोप आदि के हों या भारत के। उपनिषदों के पाठक भी तीन दृष्टियों की प्रधानता वाले होते हैं—साधना में आगे बढ़नी की दृष्टि से उपनिषदों को मार्गदर्शक के रूप में देखने वाले, प्राचीन ज्ञान द्वारा परम्परा, संस्कृति को समझने और उससे अनुप्राणित होने की दृष्टि से उपनिषदों को देखने वाले और अपनी पाण्डित्य-सम्पत्ति में कुछ वृद्धि के लिए कुछ उद्धरणों को चुनने की दृष्टि से उपनिषदों को देखने वाले। इनमें निकृष्ट पाठक हैं अन्तिम प्रकार के और उत्कृष्ट हैं प्रथम व द्वितीय प्रकार के, यह स्पष्ट है।

नाम और बाह्य दर्शन

उपनिषदों के नाम भी विविध प्रकार के हैं और उनके बाह्य रूप भी। 'ईशोपनिषद्' का नाम उसके पहले मन्त्र के पहले शब्द 'ईशावास्यमिदं' के आधार पर है और वह यजुर्वेद का अन्तिम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय है। आकार भी लघु है, केवल 18 मन्त्र, सभी पद्यात्मक। 'केनोपनिषद्' का नाम भी प्रथम शब्द 'केनेषितं' के आधार पर है परन्तु वह सामवेद के तवलकार ब्राह्मण का अंश है, स्वयं 'तवलकार ब्राह्मण' 'जैमिनीय उपनिषद्' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह उपनिषद् गद्य-पद्य मिश्रित है। विशेषता यह भी है कि यह गुरु-शिष्य-संवाद के

★ वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, पी० जी० डी० ए० वी० कालेज (सान्ध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रूप में है परन्तु किसी गुरू विशेष या शिष्य विशेष का उल्लेख नहीं है। एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें 'उमा हैमवती'—लोकप्रसिद्ध पार्वती—का यश रूप में अग्नि आदि देवताओं के अहंकार को उखाड़ फेंकने और इन्द्र को ज्ञान देने का कथात्मक वर्णन भी ब्रह्मविद्या के अंश रूप में समाविष्ट है। कठोपनिषद् में नचिकेता और यम के संवाद के माध्यम से परमात्मतत्त्व का हृदयग्राही वर्णन है। केवल 2 अध्यायों और प्रत्येक में 3-3 वल्लियों वाला यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत होने से 'कठोपनिषद्' कहा गया। 'प्रश्नोपनिषद्' का नाम उसमें सुकेशा भारद्वाज आदि 6 ब्रह्मनिष्ठों के ऋषिपिप्पलाद से किये गये प्रश्नों के कारण है। यह अथर्ववेद के पिप्पलाद-शाखीय ब्राह्मण का अंश है और प्रत्येक प्रश्न एक परिच्छेद है। यह उपनिषद् गद्य-पद्य मिश्रित है। 'मुण्डकोपनिषद्' का नाम मुण्डक (संन्यासी) के आधार पर है। इसमें 'अध्याय' के अर्थ में 3 मुण्डक हैं जिनके 2-2 खंड हैं। गद्य-पद्य-मिश्रित यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध है। इसमें महाशाल (विशाल गुरुकुल) के अधिष्ठाता शौनक का ब्रह्मवेत्ता अंगिरा से जिज्ञासा—निवेदन और अंगिरा द्वारा उपदेश वर्णित है। 'माण्डूक्योपनिषद्' लघुतम उपनिषद् है—केवल 200 शब्दों में सीमित। यह गद्यात्मक है और इसमें 12 छोटे-छोटे अंश हैं जिन्हें 'मन्त्र' भी कहा जाता है। आचार्य गौड़पाद की 'माण्डूक्यकारिका' प्रसिद्ध है, उस पर तथा इस उपनिषद् पर शंकराचार्य के भाष्य भी प्रसिद्ध हैं। अथर्ववेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् का नामकरण 'माण्डूक' गोत्र वाले होने से 'माण्डूक' कहे जाने वाले किसी ऋषि के नाम पर है। 'ऐतरेयोपनिषद्' ऋग्वेदीय 'ऐतरेय आरण्यक' का अंश है, उसके दूसरे आरण्यक के अध्याय 4, 5, 6, 7 को मिलाकर बना हुआ। यह गद्यात्मक है, ऋग्वेद का एक अङ्ग (4/27/1) अवश्य इसमें उद्धृत है। रोचक बात यह है कि ब्राह्मणों का एक भाग 'आरण्यक' होने की बात 'ऐतरेय आरण्यक' में नहीं है, यह अलग कृति है। ऋग्द्वेदीय बह्वृचों का उपनिषद् होने से यह 'बह्वृचोपनिषद्' भी कहा जाता है। प्रथम शब्द 'आत्मा' होने से यह 'आत्मोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसके अध्याय 4 में तीन खण्ड हैं, अध्याय 5 और 6 में एक-एक खण्ड ही है, अध्याय 7 में केवल 'शान्तिपाठ' है—सब मिलाकर कुल 6 खण्ड होने से इसे 'आत्मषट्क' भी कहा जाता है। ऐतरेय अर्थात् महिदास ऐतरेय—एक दीर्घजीवी ऋषि—की रचना होने का श्रेय ऐतरेयोपनिषद् को प्राप्त है। कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय' शाखा के 'तैत्तिरीय आरण्यक' के 10 अध्यायों में से 7, 8, 9 को मिलाकर 'तैत्तिरीयोपनिषद्' नाम दिया गया है। दसवाँ अध्याय भी उपनिषद् माना जाता है—'याज्ञिकोपनिषद् और 'महानारायणोपनिषद्' नामों से। तैत्तिरीयोपनिषद् में तीन अध्याय प्रपाठक कहलाते हैं जिनके नाम हैं—शिक्षावल्ली, आनन्दवल्ली और भृगुवल्ली। इनमें जो छोटे-छोटे वाक्य हैं वे 'अनुवाक' कहे गये हैं। तीनों वल्लियों में क्रमशः 12, 9 और 10 अनुवाक हैं। केवल 'शिक्षावल्ली' को 'सांहती उपनिषद्' नाम से भी प्रसिद्धि मिली है और शेष दो वल्लियों को 'वारुणी उपनिषद्' नाम से। भृगुवल्ली में भृगु ऋषि को पिता वरुण द्वारा दिया गया ब्रह्मविद्या का उपदेश वर्णित है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है और 6 अध्यायों में पद्यबद्ध है। श्वेतताश्वतर ऋषि का ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी उपदेश इसमें वर्णित होना ही इसके नामकरण का आधार है। 'छान्दोग्योपनिषद्' सामवेद के 'तवलकार ब्राह्मण' का अंश है। इसका नामकरण साम गाने वाले के अर्थ में प्रयुक्त 'छन्दोग' शब्द के आधार पर है अर्थात् यह नाम सामवेदीय उपनिषद् के अर्थ में है। छान्दोग्य ब्राह्मण के 10 अध्यायों में से अन्तिम 8 अध्याय ही 'छान्दोग्योपनिषद्' हैं। शंकराचार्य ने इसे ठीक ही 'अष्टाध्यायी' कहा

है। यह गद्यात्मक और विशाल उपनिषद् है और इसके आठ अध्यायों में क्रमशः 13, 24, 19, 17, 24, 16, 26 और 15 खण्ड हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने 809 उद्धरण केवल छान्दोग्योपनिषद् से दिए हैं। ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री भी इस ग्रन्थ में पर्याप्त है। इसमें उद्गीथ विद्या, मधुविद्या आदि अनेक विधाएँ (उपासना-विधियाँ) भी वर्णित हैं। उषस्ति, श्वेतकेतु, सत्यकाम जाबाल, नारद आदि के अनेक उपाख्यानों से भी यह उपनिषद् सुसमृद्ध है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है और सौ अध्यायों वाले 'शतपथ ब्राह्मण' नामक विशाल ग्रन्थ के अन्तिम भाग आरण्यक का अन्तिम भाग है। यही एक उपनिषद् है जिसका नाम उसकी विशालता के सूचक 'बृहत्' शब्द को भी लिए है और वह किसी आरण्यक का अंश रूप है, इस सूचना को भी। उपनिषदों में सबसे विशाल 'बृहदारण्यकोपनिषद्' ही है। इसमें तीन काण्ड हैं—मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्यकाण्ड या मुनिकाण्ड और खिलकाण्ड। इसमें कुल 6 अध्याय हैं जो क्रमशः 6, 6, 9, 6, 15 और 5 ब्राह्मणों में विभाजित हैं। 'याज्ञवल्क्यकाण्ड' तृतीय और चतुर्थ अध्यायों का नाम है। जिसमें याज्ञवल्क्य मुनि छाए हुए हैं, यद्यपि द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में भी वे ही व्याप्त हैं। तत्त्वदर्शन से सम्पन्न यह उपनिषद् अजातशत्रु और गार्ग्य के संवाद के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद, जनक की विद्वत्-सभा में याज्ञवल्क्य-संवादों, प्रवाहण-श्वेतकेतु-आरुणि-संवादों प्रजापति के 'द' उपदेश की कथा तथा अनेक उपदेशकों की वंश परम्पराओं आदि के कारण अत्यन्त रोचक व महत्त्वपूर्ण है।

स्वदेशी-विदेशी भाष्यकार तथा व्याख्याकार

उपनिषदों का अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ है, भारतीय भाषाओं में अनुवाद और अर्थ-विवेचन हुआ ही है। अनेक विदेशी विद्वानों ने, अपने-अपने विशेष मनोभावों के साथ उसकी व्याख्या, समीक्षा, गवेषणा आदि करते हुए अपने जीवन के अनेकानेक वर्ष उपनिषदों को समर्पित कर अध्ययन जगत् में कीर्ति प्राप्त की है। इनमें ई० रोअर मैक्समूलर, जी० आर० एस० मीड, आर० ई० ह्यूम, डब्ल्यू० डी० व्हिट्ने, रॉसन, सर विलियम जोन्स, ई० बी० कॉवेल, ए० ई० गफ़, पाल ड्यूसाँ, ए० बी० कीथ, आर० गॉर्डन, मिलबर्न इत्यादि उल्लेखनीय हैं। भारतीय विद्वानों में से भी अनेक ने अंग्रेज़ी में उपनिषदों पर ग्रन्थ लिखे हैं, उनके अनुवाद किए हैं या उनका विवेचन किया है। इनमें एस० सीताराम शास्त्री, गंगानाथ झा, ए० महादेवन शास्त्री, एस० सी० वासु, सिद्धेश्वर वर्मा, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, आर० डी० रानडे, के० बी० राजेन्द्रगडकर, डॉ० राधाकृष्णन इत्यादि उल्लेखनीय हैं। प्राचीन आचार्यों आदि में बादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' शीर्षग्रन्थ है जो 'प्रस्थानत्रयी' का प्रथम ग्रन्थ है। उपनिषदों की उपनिषद् कही जाने वाली भगवद्गीता के लिए हमारा सिर भगवान् श्रीकृष्ण को तो झुकता ही है और साथ ही भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास के प्रति भी क्योंकि उन्होंने ही कालजयी महाभारत के भीष्मपर्व में गीता को इतनी भव्यता से प्रस्तुत किया कि यह उपदेश अमर हो गया और वेदान्त की प्रस्थानत्रयी में प्रतिष्ठित हो गया। अन्य प्राचीन योगियों, आचार्यों आदि की दृष्टि में भगवान् शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि श्रद्धेय हैं जिनके ब्रह्मसूत्र-भाष्य, उपनिषद्-भाष्य आदि खरा स्वर्ण हैं। आधुनिक काल में विवेकानन्द, अरविन्द, तिलक,

सुकुमार अषीक्कोड (मलयालम कृति 'तत्त्वमसि' के लेखक) इत्यादि मनीषियों के साथ ही रामकृष्ण संघ आदि के तथा अन्य अनेकानेक संन्यासी भी श्रद्धेय हैं—प्रभवानन्द, निखिलानन्द, रंगनाथानन्द, कैलास आश्रम के संन्यासी इत्यादि। गीता प्रेस (गोरखपुर) द्वारा उपनिषदों के शांकर भाष्य सहित अनुवाद-प्रकाशन और 'कल्याण' के 'उपनिषद् अंक' इत्यादि का योगदान भी यहाँ उल्लेखनीय है। इस सम्पूर्ण उपनिषद्-सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन कर पाना एक बड़ा काम है तथा भाग्यशाली विरले लोग ही कर सकेंगे। उपनिषदों के कठिन स्थलों पर प्राचीन आचार्यों अथवा श्री अरविन्द जैसे योगियों, साधकों तत्त्वविदों की सहायता—उनके ग्रन्थों की सहायता—अवश्य लेनी चाहिए। फिर भी अर्थ का अन्तिम निर्णय तो अपना हृदय और अपना मस्तिष्क ही करेगा।

उपनिषदों के शान्तिपाठ

प्रत्येक उपनिषद् के आरम्भ और अन्त में एक ही 'शान्तिपाठ' होता है। 'शान्तिपाठ' के मन्त्र यह भी बता देते हैं कि किस वेद से वह उपनिषद् सम्बन्धित है। उपनिषद् को पढ़ने से पहले 'ओ३म्' का उच्चारण और फिर शान्तिपाठ करने की प्राचीन परम्परा है। यह परम्परा परमशक्ति का ध्यान करके, चित्त को शान्त करने के बाद ही, उपनिषद् जैसे गम्भीर ज्ञान को आत्मसात् करने के लिए मनोवैज्ञानिक रीति से शान्तिपाठ को प्रस्तावित करती है। ऋग्वेदीय उपनिषदों का शान्तिपाठ 'ओ३म् वाङ् मे मनसि .....' है। शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषदों का शान्तिपाठ 'ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं ....' है। कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदों का शान्तिपाठ 'ओ३म् सह नाववतु .....' है। सामवेदीय उपनिषदों का शान्तिपाठ 'ओ३म् आप्यायन्तु .....' है। अथर्ववेदीय उपनिषदों का शान्तिपाठ 'ओ३म् भद्रं कर्णेभिः .....' ता 'स्वस्ति न इन्द्रो .....' मिलाकर है। शान्तिपाठ के अन्त में 'ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः' कहकर त्रिविध ताप की शान्ति की कामना करना शान्तिप्रेमी मानव को गढ़ने वाले भारत का अनादिकाल से चला आ रहा शाश्वत स्वर है। मानव-जीवन का लक्ष्य भी तो चिरशान्ति प्राप्त करना ही है।

पश्चिमी कालगणना का भ्रम

उपनिषदों के पाश्चात्त्य विवेचकों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार हर उपनिषद् का काल-निर्णय करके मिथ्या भ्रम फैलाए हैं जिनका शिकार अनेक भारतीय लेखक भी हुए हैं। यह आश्चर्य की बात है कि भारत-भूमि में जन्में डॉ० राधा कृष्णन ने भी विदेशियों के स्वर में स्वर मिलाकर गुलाम मनोवृत्ति से कहा कि ईश, कठ, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, प्राचीन उपनिषद् हैं 8वीं शती ईसापूर्व के। सभी जानते हैं कि प्राचीन उपनिषदों का समय महाभारत और व्यास के आस-पास कुछ शताब्दियों से इधर का नहीं हो सकता। प्राचीनतम 'ईशोपनिषद्' तो यजुर्वेद का ही अन्तिम अध्याय है और वेद के स्वरूप में कृष्ण द्वैपायन व्यास के बाद कोई बदल ही नहीं हुई। 3138 ई० पू० के महाभारत-युद्ध के समय विद्यमान वेदव्यासजी की ऐतिहासिकता भी जब यहूदियों और ईसाइयों की धर्मान्धता (पुरानी और नयी बायबिल की सृष्टि कल्पना की

भ्रामक तिथि के कारण) को ग्राह्य नहीं है, तो उनको समझाना व्यर्थ हो सकता है। परन्तु, तुच्छ स्वार्थों के लिए परम्परा की सत्यता जानते हुए भी विदेशियों के सामने दुम हिलाना तो आलोच्य ही है। पाश्चात्त्यों के तर्क भी कैसे विद्वतापूर्ण (= मूर्खतापूर्ण) हैं कि गद्य वाले उपनिषद् प्राचीन हैं और पद्य वाले उपनिषद् बाद के परन्तु ईश, कठ और केन पद्यात्मक होने पर भी प्राचीन मानने चाहिए। जो पाश्चात्त्य मस्तिष्क, या उनके भारतीय दास यह भी स्वीकार नहीं कर सकते कि आर्य जाति की कल्पना साम्राज्यवादी उद्देश्यों से अंग्रेज शासकों का षड्यन्त्र मात्र था, जिसका उन्हीं में से अनेक ने अब भंडाफोड़ भी कर दिया है, उनसे वेद की अत्यन्त प्राचीनता स्वीकार करा पाना और तद्नुसार ही प्राचीन भारतीय इतिहास की उन्हीं की कालगणना का अनौचित्य उन्हें स्वीकार करा पाना आज सम्भव नहीं है। जब तेजस्वी और शक्तिशाली भारत विश्व-मंच पर दिखायी देगा तथा भारतीय विद्वान् अपना सच्चा इतिहास स्वयं पढ़ेंगे और विश्व को पढ़ाएंगे तभी यह विदेशी तोता रटन्त दूर हो पायेगी।

उपनिषदों का तत्त्वज्ञान

वेदों-उपनिषदों का तत्त्वज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल की भारतीय उपलब्धि है। तब यूरोप में अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ था और भारत की संस्कृत, संस्कृति और सभ्यता ने वहाँ जो प्रकाश दिया, उसी को उन्होंने बहुत माना था। मानव-जीवन के उस उषाकाल में आत्मा, प्रकृति, परमात्मा की त्रयी का ब्रह्म के रूप में साक्षात्कार, आत्मा आदि के स्वरूप का दार्शनिक और योगज ज्ञान से वर्णन-विवेचन जीवन की ऐसी शैली और कला का आविष्कार जिसमें भौतिकता के शिखर छूने परन्तु आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते रहने की व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति बनी रहे, बढ़ती रहे। विचार जितने स्पष्ट होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति उतनी ही सरल होती है। अनुभूति जितनी गहरी होती है, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सरस और मार्मिक होती है। उपनिषदों का तत्त्वज्ञान और उनके प्रवर्तक मनीषियों की वाणी में आज भी जो मार्गदर्शन करने की शक्ति है और मार्मिकता है, वह विश्व-साहित्य का एक महान् आश्चर्य ही है। उपनिषदों में हिमालय की उत्तुंगता भी है, गंगा की आकर्षक प्रवाहमयता भी। कितनी सरलता से ईशोपनिषद् कहता है कि इस जगती में जो कुछ भी जगत् (गतिशील) है वह सब परमात्मा द्वारा व्याप्त है। उसको ध्यान में रखते हुए त्यागपूर्वक भोग करो, लालच मत करो, धन किसका है?

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

यहाँ कर्मों को करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार कर्म तुझ में लिप्त नहीं होंगे—इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

इन दो मन्त्रों में हिन्दू धर्म का तत्त्वज्ञान और जीवन-कला द्रष्टव्य है। भगवान् कृष्ण का जीवन इन्हीं दो

मन्त्रों की व्याख्या ही तो था। 125 वर्षों का कठिन संघर्षपूर्ण जीवन हँसते-गाते जीते हुए धर्मराज्य की स्थापना करने वाले परन्तु स्वयं अनासक्त रहने वाले महापुरुष का जीवन। उपनिषद्-शैली से जीने वाले भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी भी उपनिषद् बन गयी। गीता बताती है जीने की कला। जैसे नारी बाहर के सब काम करते हुए भी ध्यान अपने बच्चे में रखती है और समय मिलते ही उसके पास पहुँच जाती है, इसी प्रकार विश्व के सारे काम आसक्त व्यक्ति के समान ही नहीं, उससे भी अधिक अच्छी प्रकार से करते हुए, परन्तु पूर्ण अनासक्त रहने की कला, सौ वर्ष जीने की कामना, धन का लोभ न करते हुए भी उसका अर्जन और उपभोग करने की कला, जीने की कला और शरीर बदलना हो तो सहर्ष बदलने की कला—जिससे कर्म अपने बन्धन में न फाँस पाएँ, यही है उपनिषद् अर्थात् रहस्य।

परमात्मा कहाँ है? कुछ अज्ञानी कहते हैं पाँचवें आसमान पर और दूसरे अज्ञानी कहते हैं—नहीं, सातवें आसमान पर। ईशोपनिषद् बताता है—वह अचल है और मन से भी अधिक तेज़ गति वाला है, वह दूर भी है, अत्यन्त समीप भी है, वह समस्त जगत् के भीतर परिपूर्ण है और बाहर भी है—**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**। सभी प्राणियों में, सृष्टि के कण-कण में व्याप्त परमात्मा को अपने अन्दर देखना, सब कुछ परमात्मा ही है, ऐसा देखने की स्थिति प्राप्त हो गयी तब न मोह रहेगा, न शोक क्योंकि यह एकत्व की अनुभूति है—**एकत्वमनुपश्यतः**। मानव-एकता का यही शाश्वत अधिष्ठान है जो मानव-एकता को भी आगे बढ़ाकर अखिल ब्रह्माण्ड की एकता तक ले जाता है और अन्त में सम्पूर्ण चैतन्य और प्रकृति की एकता 'ब्रह्म' के अनुभव में अनुभूत होती है। रामकृष्ण परमहंस और रामतीर्थ ने इसी ज्ञान और अनुभव को प्रत्यक्ष करके दिखाया था। जीवात्मा और परमात्मा को एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखाभाव रखने वाले दो पक्षियों के समान जानना—**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**—और यह भी कि वे जिस वृक्ष पर बैठे हैं उसका फल स्वाद लेकर खाने और न खाने का ही अन्तर रखते हैं सिखाता है उपनिषद् और आदमी पर कहर ढाने वाले, ईर्ष्यालु परमात्मा की कल्पना देता रहा है यूरोप और अरब। कितनी भव्यता है उपनिषदों के तत्त्वज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति में।

प्रश्न है-कैसे प्राप्त करें परमात्म ज्ञान? उपनिषद् कहता है सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य से क्षीणदोष होकर शरीर के भीतर ही अर्थात् हृदय में विराजमान ज्योतिर्मय और शुभ्र परमात्मा का दर्शन किया जा सकता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयी हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

बलहीन, प्रमादी या कुतपी व्यक्ति उस परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रवचन, मेधा, विद्वता आदि से भी परमात्म ज्ञान नहीं होता—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार अथवा आत्मा का स्वरूप ज्ञान करने को उपनिषद् प्रोत्साहित करते हैं, किसी सन्त, फ़कीर, पीर, पैगम्बर, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध या राम, कृष्ण पर निर्भर होकर गिड़गिड़ाते हुए जीने को

नहीं कहते। वह समस्त ज्योतियों की ज्योति परमात्मा साक्षात् दर्शन-योग्य है क्योंकि उसका दर्शन होने पर—
भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

चैतन्य आत्मा, चैतन्य परमात्मा और चैतन्य परमात्मा की महाशक्ति प्रकृति जो जड़ पर शासन करती है और जीवात्मा को परमात्मा तक जाने का मार्ग दिखाती है, उस अमृत की ओर न जाने पर उसे मृत्यु से मृत्यु की ओर ले जाती है। उपनिषद् सन्देश देता है कि ऐसे जियो कि दुबारा जन्म न लेना पड़े और ऐसे जियो कि दुबारा मरना न पड़े। परमात्मा, आत्मा और प्रकृति के साथ समन्वित हुआ 'ब्रह्म' कहा जाता है। कैसा है वह परमात्मा? कैसा है वह ब्रह्म? 'सत्-चित्-आनन्द'। तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है—**सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म**। तो क्या परमात्मा में तीन गुण हैं? नहीं अरविन्द बताते हैं कि जीव-दृष्टि से हमें तीनों अलग-अलग लगते हैं पर तत्त्वतः जो सत्य है, वही ज्ञान है, वही आनन्द है, वही परमात्मा है। शंकराचार्य भी **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**। इसी परमात्म दृष्टि से कहते हैं, जीव दृष्टि से तो जगत् मिथ्या लग ही नहीं सकता, परमात्मा भले ही मिथ्या लगे (जैसा नास्तिकों, कम्युनिस्टों, आदि को लगता है)। श्वेताश्वतर ऋषि कितने सरल शब्दों में कहते हैं—माया तो प्रकृति को समझना चाहिए और मायापति परमात्मा को—**मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्**। यही माया जीवात्मा को संनिरुद्ध करती है। महायशस्वी परमात्मा 'महद्‌यश' नाम वाला है, उसके समान कोई नहीं है, वह अप्रतिम है—**न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।**

तेजस्वी प्रार्थनाएँ

परमात्मा के सामने भक्ति-भाव से गिड़गिड़ाते हुए प्रार्थना करना अनेक सन्तों और भक्तों की शैली रही है परन्तु उपनिषदों के रचना युग में तेजस्वी प्रार्थनाओं की ही प्रधानता थी। वल्लभाचार्य को भी गिड़गिड़ाहट पसन्द नहीं थी जैसा उन्होंने सूरदास से प्रथम भेंट में कहा भी था। ऐसी एक प्रार्थना ईशोपनिषद् में देखी जा सकती है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय प्रार्थना बृहदारण्यकोपनिषद् में निर्दिष्ट है और वहीं स्पष्ट भी किया गया है कि असत् व तमस् का अर्थ भी यहाँ मृत्यु ही है और 'सत्' व 'ज्योति' का अर्थ 'अमृत ही है। मृत्यु से अमरता की ओर ले जाने की प्रार्थना। अमरता अर्थात् आत्मतत्त्व या परमात्म तत्त्व अथवा ब्रह्मभाव की प्राप्ति।

तेजस्वी नचिकेता

कठोपनिषद् की नचिकेता-कथा भारतीय जीवनादर्श की अनुपम गाथा कहने में समर्थ है। यमराज के द्वार पर स्वयं पहुँचने वाला किशोर कितने साहस से यमराज से माँगता है ब्रह्मज्ञान! यमराज द्वारा उसे धन-सम्पत्ति,

सुख-भोग, स्वर्गादि का लोभ दिखाने पर भी वह जानना चाहता है कि मृत्यु हो जाने पर क्या होता है? नचिकेता का इन सबको क्या उत्तर है?

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः अर्थात् धन से तो मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। यमराज बताते हैं कि श्रेय और प्रेय में से प्रेय की ओर सामान्य जन झुके रहते हैं। और यह भी कि अविद्या के घेरे में रहकर भी अपने आपको बुद्धिमान् और विद्वान् मानने वाले वे मूर्ख लोग जन्म-जन्म में भटकते हुए वैसे ही ठोकरें खाते रहते हैं जैसे अन्धे मनुष्य के नेतृत्व में चलने वाले अन्धे—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

यमराज ने नचिकेता को रथ और रथी के रूपक की कल्पना कर के बताया कि आत्मा को रथी समझो, शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथी और मन को लगाम; जो इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को वश में करे और उन घोड़ों को विषयरूपी मार्गों में न विचरने दे। विवेकशील बुद्धिरूपी सारथी से युक्त तथा मन रूपी लगाम को वश में रखने पर आत्मा (जीवात्मा) संसार रूपी मार्ग को पार कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है—**सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्।** इन्द्रियों से परे विषय, उनसे परे मन, मन से परे बुद्धि तथा बुद्धि से परे महान् आत्मा होता है।

उठो, जागो

कठोपनिषद् में एक मन्त्र स्वामी विवेकानन्द के उद्बोधन **Arise, awake and stop not till the goal is reached** का स्मरण कराता है और विलियम सामरसेट मॉम नामक अंग्रेज़ी उपन्यास 'The Rozor's Edge' के लेखक का भी। दोनों की ही शब्दावली का स्रोत कठोपनिषद् का यह मन्त्र रहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।।

अर्थात् उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर उस परम तत्त्व को जान लो। तत्त्ववेत्ता ज्ञानी लोग उस तत्त्वज्ञान के मार्ग को छूरे की तीक्ष्ण धार के समान दुर्गम कहते हैं। 'उठो, जागो' या 'उत्तिष्ठत जाग्रत' निस्सन्देह किसी समाज को जगाने के लिए सुन्दर उद्बोधन है।

ज्ञान-सूत्र और महावाक्य

जहाँ हीरों को तराशा जाता है, वहाँ हीरे की चूर्णी इधर-उधर छिटकी रहती है। उपनिषदों में भी यह दृश्य देखा जा सकता है। उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान की चर्चा के मध्य इधर-उधर बिखरे सूक्ति-कणों से जगमगाते उपनिषदों का सौन्दर्य अनुपम है। कुछ सूक्तियाँ देखिए—नेह नानास्ति किंचन (कठो०), हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (ईश०), प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते (मुण्डक०), तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

(मुण्डक०), सत्यमेव जयते नानृतम् (मुण्डक०), ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति (श्वेताश्वतर०), अन्नं बहु कुर्वीत (तैत्तिरीय०), आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृहद्०), इहाचार्यवान् पुरुषो वेद (छान्दोग्य०) इत्यादि।

उपनिषदों में ज्ञान-सूत्रों की बहुलता ने आचार्यों का भी ध्यान आकर्षित किया। 'गागर में सागर' जैसे चार छोटे-छोटे उपनिषद्-वाक्यों को, जिन्हें 'महावाक्य' कहा जाता है, शंकराचार्य ने अद्वैत दृष्टि का महान् स्तम्भ बनाया। ये चार महाकाव्य चार उपनिषदों से गृहीत हैं और अधिक रोचक बात यह है कि वे चार वेदों से सम्बद्ध चार उपनिषदों के अंश हैं। 1. प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेय०), 2. अहं ब्रह्मास्मि (वृहद्०), 3. तत्त्वमसि (छान्दोग्य०) और 4. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य)।

वेदान्त अर्थात् उपनिषद् सब के लिए

वेद का अन्तिम भाग होने से उपनिषदों को 'वेदान्त' भी कहा जाता है। यह वेद का शिरोभाग भी कहा जाता है। 'उपनिषद्' का मूल अर्थ 'उप+नि+सद्+क्विप्' के आधार पर गुरू के समीप बैठकर प्राप्त ज्ञान है। स्वयम् उपनिषदों में 'उपनिषद्' का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। अतः उपनिषद् किसी रहस्यमय ज्ञान का वाचक है। परन्तु, यह ज्ञान कुछ शिष्यों और जिज्ञासुओं तक ही सीमित नहीं रहा। जनक की राजसभा में तो विद्वानों की बड़ी संख्या—जिसमें गार्गी जैसी विदुषियाँ भी थीं—के मध्य में हम मुनि याज्ञवल्क्य की उपनिषद्-चर्चा का प्रभावी वर्णन पढ़ते हैं और उस सभा में अन्य अनेक स्त्री-पुरुषों के भी श्रोता-रूप में होने की जानकारी मिलती है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान भले ही रहस्यमय हो, फिर भी वह सार्वजनिक तौर पर उद्घाटित और प्रचारित भी किया जाता था।

प्राचीन भारत में राजा, ब्राह्मण, संन्यासी, मुनि, ऋषि आदि तक सीमित न रहने वाला उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, वेदान्त-ज्ञान, मानव-मात्र के लिए है, यह हमारे युग में स्वयं विवेकानन्द, रामतीर्थ, भगिनी निवेदिता, रामकृष्ण संघ के संन्यासियों—भारतीय तथा अन्य—तथा तिलक महाराज इत्यादि देश-विदेश के घुमक्कड़ साधु-सन्तों और पाल डायसन, एमर्सन, थोरो इत्यादि ने प्रत्यक्ष अपने जीवन से सिद्ध कर दिखाया है। उपनिषद् का पुस्तकीय ज्ञान नहीं, प्रत्यक्ष जीवन में मूर्त हुआ उपनिषद्-ज्ञान ही सबको प्रभावित कर सकता है—फिर चाहे वह किसी भी देश, जाति या मज़हब का व्यक्ति हो। आठवले शास्त्री के 'स्वाध्याय' ने अशिक्षित मछुआरों तक में वेदान्त को गीता के माध्यम से पहुँचाकर विवेकानन्द की कल्पना को साकार कर दिखाया है।

वेदान्त-ज्ञान ने, उपनिषदों ने, युग-युग में भारत को प्रबुद्ध और सशक्त किया, यह इतिहास-सिद्ध है। आज वह फिर भारत और विश्व में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के स्वप्न को साकार करने के लिए प्रयत्नशील है।

Some Preliminary Observations on the Upanisadic Literature

Dr. D. P. DUBEY ★

The Upaniṣadic literature occupies an important place in the religious life of India. In the Upaniṣads an attempt has been made for the first time possibly to give expression to the philosophical ideas of the Indian people. They are looked upon as the source of later philosophies and philosophical systems including Cārvāka, Buddhism, Jainism and in modern period that of Ārya Samāja. They are of great socio-religious value and are relevant even to modern thought system. Paul Deussen has rightly remarked, "The Upaniṣads are for the Veda, what the New Testament is for the Bible."[1]. In the ensuing pages some observations on the Upaniṣadic literature are made, though no originity is claimed so far.

The word 'Upaniṣad' is derived from the ṣad, to sit, preceded by prefixis upa (near) and ni (down). It means sittings for the discussion of divine knowledge near the preceptor. The Upaniṣads are aptly called Vedānta, the end of the Veda, that which is reserved for those who have freed themselves from the useless bonds of formal religion. The words like guhyavidyā (hidden knowledge) and rahasyam (secret) are also used for the Upaniṣads. Śaṅkarācārya[2] uses this word in the sense of brahmvidya which destroys ignorance.

The Upaniṣadic literature is vast and varied. According to the Indian tradition there are one hundred and eight Upaniṣads, but their number, infact, exceeds over two hundred[3]. The Upaniṣads are subdivided into Principal Upaniṣads and Minor Upaniṣads. The Principal Upaniṣads, on which Śaṅkarācārya has commented are said to be eleven : Īśa, Kena, Kaṭha, Muṇḍaka, Praśna, Māṇḍūkya, Taittirīya, Aitareya, Chāndogya, Brihadāraṇyaka and

★ **Deptt. of Ancient Indian History and Archelogy, University of Allahabad, Allahabad, Uttar Pradesh**

Śvetāśvatara. Other Upaniṣads are popularly known as Minor Upaniṣads. Śaṅkarācārya did not comment on them, though he has profusely quoted from Jābāla, Brahmavindu, Mahānārāyana, and Kaivalya Upaniṣads. Some of them, about 40 in number, extol the worship of Śiva (16), Viṣṇu (17) & Śakti (08) and try to equat them with the Supreme Reality i.e., Brahman of the Principal Upaniṣads, hence they are designated as the sectarian Upaniṣads. The Śvetāśvatara Upaniṣad, which is Śaiva in character, is regarded as the first among the sectarian Upaniṣads. Weber and Hopkins classify the Śvetāśvatara Upaniṣad among the sectarian Upaniṣads and say that this Upaniṣad has been wrongly attached to the Kriṣṇa Yajurveda[4]. This Upaniṣad is a post-Buddhistic Upaniṣad because of its familiarity with the technical terms of Sāṅkhya and Yoga philosophies[5]. Bhandarkar suggests that this Upaniṣad stands at the door of Bhakti school, it usually refers to bhakti which finds a difinite place in the scheme of the Bhagavadgītā. Śaṅkarācārya cites this Upaniṣad as Śvetāśvaraṇām mantropaniṣad. The present Upaniṣad seems to have Śvetāśvatara as the personal author[7] who taught it to the atyāśramins (ascetics) who do not belong to any Veda or Brāhmaṇa. No ordered movement of philosophical thoughts, irregular and arbitrary meters, special treatment of Sāṁkhya and Yoga, theistic and idealistic doctrines, doctrines of bhakti etc. convince that this Upaniṣad does not fall in the category of the Principal Upaniṣads.

It is very difficult to assign a date to the Upaniṣadic literature. The ten Principal Upaniṣads are, however, not in any way posterior to the Vedas. Mitra and Cowell have rightly remarked "The argument that a philosophy like that embodied in the Upaniṣads can not exist side by side with the nature-worship of the Vedas, loses its force when the Sūktas of the Veda are regarded as symbolic only of those esoteric truths which are taught through the Upaniṣads to the select few"[8]. The Minor Upaniṣads, which discuss metaphysics, ethics, ritual and social norms generally, have tentatively been placed between first century A.D. and sixth century A.D., though some of them may be ascribed to as late a period as fifteenth century A.D.[9].

A study of the Principal Upaniṣads, on which Śaṅkarācārya commented, has very much attracted the attention of Indian as well as foreign scholars. A lot of work has been done on them by scholars like Paul Deussen, Otto Wecker, F. Max Muller, A. George Jacob, A. B. Keith, R.E. Hume, Archibald E. Gough, S. Radhakrishnan, R.D. Ranade, B.K. Chattopadhyāya, M.P. Pandit, S.C. Chakravarti, Swami Nikhilananda, E. Roer, Swami Prabhavananda, Swami Kriyananada Saraswati etc. A detailed bibliography on the Upaniṣads can be found in the bibliography given by R.E. Hume in the Thirteen Principal

Upaniṣads (Madras, 1962, pp. 461-515). F. Max Muller[10] was the first scholar to take pains to translate the Upaniṣads into English as early as 1879 A.D. Until 1897 there was no reliable and readable translation in German of these most important records of Indian antiquity. A translation of sixty Upaniṣads satisfying all demands was completed and published by Paul Deussen[11] in 1987. Vaidika Sanśodhna Maṇḍala has, in 1958, brought out an authentic edition of the Eighteen Principal Upaniṣadas[12] in two volumes, which includes practically 'all the old and oldish Upaniṣads' and incorporates parallels drawn from the Vedic literatrue and elsewhere.

An introductory outline of the ten Principal Upaniṣads is given for the general readership. The Īśopaniṣads forms the fortieth or the last chapter of the Śukla Yajurveda. It is available in two recensions-Kāṇva and Mādhyandina. The four Kāṇḍas of Kenopaniṣad, which is also called Talavakāropaniṣad, corresponds to the section IV. 18-21 of the Jaiminīyopaniṣad. It belongs to the Krisṇa Yajurveda, is divided into two adhyāyas and each adhyāya is subdivided into three vallīs. The Kaṭhopaniṣad I. 1-9 is comparable with the Taittirīya Brāhmaṇa III. 11-8.1-6. The Praśnopaniṣad belongs to the Paippalāda Śākhā of the Atharvaveda. The opening narrative seems to be an imitation of the Śatapatha Brāhmaṇa 10.6.11 and the Chāndogyopaniṣad 5.11.1 f. the Muṇḍakopaniṣad, often called as the Muṇḍopaniṣad, also belongs to the Atharvaveda. The Maṇḍūkyopaniṣad like the Praśna and Muṇḍaka Upaniṣads belongs to the Atharvaveda. It has the fundaemntal idea that the entire universe is expressed in the syllable Om whose four mātrās are identified with the four states of consciousness. The latter are the same as dealt with in the Chāndagyopaniṣad VIII. 7-12 which forms the basis of this Upaniṣad. The Māṇḍūkyakārikās of Gauḍapāda are based upon this Upaniṣad and are only an amplification of speculation contained in it. Śaṅkarācārya calls this Upaniṣad Vedāntārtha-sāra-Saṃgrahabhūtaḥ. The Taittirīyopaniṣad belongs to the Krisṇa Yajurveda and forms prapāṭhakas 7-9 of the Taittirīyāraṇyaka. The Aitareyopaniṣad belongs to the Rigveda. It is cited in three adhyāyas, the first adhyāya being divided in Khaṇḍass and Kaṇḍikās, while the last two adhyāyas are divided in Kaṇḍikās. The Chāndogyopaniṣad, consisting of eight adhyāyas, belongs to the Samveda. Side by side with the Brihadāraṇyakopaniṣad, it is the biggest and most significant collection of theologico-philosophical expressions, views, doctrines and legends. Practically every adhyāya is an independent unit, although it appears, in many cases, that the adhyāya itself is made up of several minor units. The Brihadāraṇyakopaniṣad, one of the oldest and most important ones, forms the concluding part of the forteenth Kāṇḍa of the Śatapatha Brāhmaṇa of the Śukla Yajurveda. It is both an Āraṇyaka and an Upaniṣad, and as its very

name suggests it is voluminous in extent.

The Principal Upaniṣads are the chief treatises which try to answer the fundamental question related to know ones own self. They advocate the way of knowledge. The quintessence of Upaniṣadic religion may be summed up in one sentence□ ''The universe is Brāhman, but the Brāhman is the Ātman''. The beautiful dialogue[13] between Yājñavalkya and Maitreyī expresses the doctrine that atman is one with universe and that everything exists only in so far it is the coganitive Self. Striking restlessly to solve the riddle of the universe and to grasp the nature of the Self, the authors of the Upaniṣads enunciated the great doctrine that ultimate reality is one, Brahman, which is self-illumined, self subsistent. True knowledge alone leads to infinite bliss by the absorption of the individual Atman in the world Ātman i.e. Brahman. The Upaniṣads thus teach the philosophy of absolute unity.

References & Notes

1. Paul Deussen, The Philosophy of the Upaniṣads, Edinburgh, 1906. P. 8
2. Sankara's Commentary on the Kaṭhopaniṣad, p. 18
3. Cf. Jagadish Shastri (ed), Upaniṣat Saṃgraha, Delhi, 1970, which has incorporated 188 Upaniṣads in two parts merged in one volume.
4. A. Weber, the History of Indian Literature, Benaras 1961, p. 155.
   E.W. Hopkins, Journal of the American Oriental Society, Vol. 22, p. 336, Fn. 1
5. S. Radhakrishnan, Indian Philosophy, London, 1958, Vol. I, p. 511.
6. R.G. Bhandarkar, Vaisnavism, Śaivism and Minor Religious Systems, Stressburgh, 1913, p. 110.
7. Śvetāśvataropaniṣad, 6.21
8. R.L. Mitra and E.B. Cowell, The Twelve Principal Upaniṣads, Delhi, 1978, repr. preface V.
9. T.R. Sharma, Studies in the Sectarian Upaniṣads, Varanasi, 1972, p. 33.
10. F. Max Muller, The Upaniṣads. In Sacred Books of the East, Vol., I, 1879 and Vol. II, 1884.
11. Paul Deussen, Sixty Upaniṣads of the Veda. Translated from German by V.M. Bedekar and G.B. Palsule, Delhi, 1980.
12. Limaye and R.B. Vadekar, Eighteen Principal Upaniṣads, Poona, 1958, 2 Vols. The Upaniṣads included in this edition are : Īśa, Kena, Kaṭha, Praśna, Muṇḍaka, Māṇḍūkya, Taittirīya, Chāndogya, Bṛhadāraṇyaka, Kauṣītaki, Maitrāyaṇī, Bāṣkalamantra, Chāgaleya, Ārṣeya, Śaunaka and Jaiminīya Upaniṣad.
13. Bṛhadāraṇyakopaniṣad - II, 4.

उपनिषदों का देश और काल

डॉ० शशि तिवारी ★

उपनिषदों के स्वरूप के पूर्णतया सम्यक् अवबोधन के लिए यद्यपि उनके प्रणयन के स्थान और समय को जानना पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है, तथापि इस सम्बन्ध में सही-सही अनुमान लगाना अतीव दुष्कर कार्य है। उपनिषदों में वर्णित भौगोलिक स्थिति उनके देशविषयक चिन्तन का आधार हो सकती है। प्रमुख उपनिषदों में कई राज्यों या जनपदों के नामोल्लेख मिलते हैं, जिनमें से अधिकांश जातियों के नाम पर थे, जैसे—कुरु,[1] पाञ्चाल, विदेह, काशी, कोसल, गान्धार, केकय, मद्र, मत्स्य, विदर्भ। 'पाञ्चालों' का राजा प्रवाहण आत्मविद् था। उसकी सभा में श्वेतकेतु, आरुणेय और गौतम का आगमन हुआ था।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में 'विदेह' का उल्लेख है। काशिराज अजातशत्रु विदेहराज जनक से द्वेष रखता था।[3] 'काशि' का राजा अजातशत्रु विद्वान् था, उसने दृप्त बालाकि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था।[4] प्रश्नोपनिषद् में 'कोसलदेशीय आश्वलायन और कोसल नरेश हिरण्यनाभ का उल्लेख हुआ है।[5] छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक आरुणि ने 'गान्धार' जाति के वैदुष्य की प्रशंसा की है। उपनिषत्काल में आर्य निवास से गान्धार नितान्त दूर पड़ गया था क्योंकि छान्दोग्य के अनुसार किसी विज्ञ के उपदेशानुसार ही मनुष्य गान्धार में पहुँच सकता था।[6] छान्दोग्य में ही 'केकय' का राजा अश्वपति कहा गया है।[7] बृहदारण्यक में 'मद्र' के दो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं[8] जिनसे ज्ञात होता है कि जहाँ मद्र जाति का आवास था, वहाँ विद्या का अच्छा प्रसार था। कौषीतकि में 'मत्स्य' राज्य या जनपद का उल्लेख कुछ दूसरे जनपदों के साथ हुआ है। प्रश्नोपनिषद् में 'विदर्भ निवासी' भार्गव का नाम आता है। जनपदों के उपर्युक्त उल्लेखों से प्रतीत होता है कि उपनिषत्काल में विभिन्न शक्तिसम्पन्न जातियों ने छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की हुई थी। इन जनपदों का क्षेत्र पर्याप्त सीमित था। सम्भवतः विदेहों का क्षेत्र बड़ा रहा होगा, क्योंकि जनक की सभा में विभिन्न जनपदों के आचार्यों का आगमन होता था।[11] इन जनपदों का कोई निश्चित सीमाङ्कन सम्भव नहीं है। यद्यपि इतिहास-अध्येताओं ने एतदर्थ निष्कर्ष निकाले हैं और माना है कि उक्त राज्यों का विस्तार उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विन्ध्य तक था।[12], कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य, विदेह, काशी आदि मध्यदेशीय जनपदों के उल्लेखों को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपनिषदों की रचना का विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश मध्यदेश में कुरुपाञ्चाल से आरम्भ होकर पूर्व में विदेह तक फैला हुआ था।[13] पश्चिमोत्तर में सिन्धु तटवर्ती गान्धार को दूरवर्ती राज्य बताया ही गया है।

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार श्रुति का अङ्ग होने के कारण उपनिषदें कालातीत हैं और इनमें निहित तथ्य शाश्वत काल से ही सत्य हैं। इसीलिए उपनिषदों का समय सुनिश्चित करना और इस विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना असम्भव सा है। फिर भी आज के वैज्ञानिक युग में विद्वानों ने उपनिषदों के काल

★ रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

और कालक्रम को अपने शोध का विषय बनाया है और उनके काल निर्णय के जटिल प्रश्न पर अपने-अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। सामान्य रूप से ईसा पूर्व बारहवीं शताब्दी से लेकर ई० पू० छठी शताब्दी तक का समय 'उपनिषद् काल' माना जा सकता है।[14] स्पष्ट ही सभी उपनिषदों का रचना का काल एक नहीं है, क्योंकि उनमें प्रतिपादित विचारों के विकास की अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं और इनमें भाषा और शैली की कुछ दूसरी असमानताएं भी देखी जाती हैं परन्तु उक्त दो सीमाओं के अन्तर्गत ही विविध आधारों पर प्राचीन एवं प्रमुख उपनिषदों के कालक्रम के विधान का प्रयास किया जा सकता है।

प्रमुख उपनिषदों के यथार्थ रचना काल का निर्धारण उपनिषदों में वर्णित भौगोलिक परिस्थिति, पुरातात्त्विक साक्ष्य, ऐतिहासिक आधार और साहित्यिक प्रमाण आदि के आधार पर किया जाना चाहिए। सत्य ही ये सब आधार निर्विवाद नहीं है। उपनिषदों में नामतः वर्णित छोटे-छोटे जनपद बौद्ध और जैन साहित्य में विख्यात षोडश महाजनपदों में से कुछ के पूर्व रूप प्रतीत होते हैं, अतः यह मानना सम्भव है कि प्रमुख उपनिषदों का प्रणयन काल निश्चय ही गौतम बुद्ध से पहले का है। बुद्ध की शिक्षाओं में औपनिषदिक दर्शन का प्रभाव भी इस तथ्य को बल देता है। बुद्ध के आगमन से पूर्व लगभग 600-500 ई० पू० के काल को प्राचीन उपनिषदों की रचना की अपर सीमा मानने के पक्ष में ह्यूम और कीथ जैसे कुछ विद्वान भी हैं।[15] यद्यपि डॉ० राधाकृष्णन् प्रभृति कुछ विद्वान् इस अपर सीमा को 300 ई० पू० तक ले जाते हैं।[16]

छान्दोग्योपनिषद् में मटची (विद्युत या ओलों के) प्रकोप से कुरु राज्य के विनष्ट होने की बात कही गई है।[17] कुरु प्रदेश पर हुई यह दैवी विपत्ति की घटना पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर, सत्य सिद्ध होती है।[18] पुरातत्त्वविदों ने उसका काल 1000 ई० पू० से 700 ई० पू० माना है। अतः पुरातात्त्विक साक्ष्य उपनिषदों की रचना की अपर सीमा को 600-500 ई० पू० तक ले जाने की अनुमति देते हैं। महाभारत युद्ध की घटना के बाद औपनिषदिक संस्कृति का विकास हुआ, क्योंकि युद्ध की विभीषिका के बाद भौतिक सुख और जीवन के प्रति वैराग्य की भावना का बलवती होना स्वाभाविक था—यदि इस विचार को यथावत् स्वीकार किया जाए, तो उक्त युद्ध का समय 1400 ई० पू० के लगभग मानकर[19] उसके अनन्तर उत्तर वैदिक काल के अन्तर्गत कई ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि के प्रणयन का तथ्य उपयुक्त प्रतीत होता है। छान्दोग्य उपनिषद् (3/17/6) में कहा गया है कि देवकी पुत्र कृष्ण ने अध्यात्म ज्ञान घोर आङ्गिरस ऋषि से ग्रहण किया। ब्राह्मणों में महाभारत कालीन कुछ व्यक्तियों के नाम मिलते हैं और बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रश्न है कि 'परीक्षित कहाँ गये'।[20] ये ऐतिहासिक अन्तःसाक्ष्य उपनिषदों की उपरिसीमा 1200 ई० पू० के आसपास मानने पर बाध्य करते हैं। साहित्यिक दृष्टि से देखें, तो उपनिषदें ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं और औपनिषदिक चिन्तन ने वहीं अपना आकार लेना प्रारम्भ कर दिया है। सर्वाधिक प्रसिद्ध उपनिषदें तो संहिता, ब्राह्मणों और आरण्यकों के अन्तर्गत ही आती हैं। उपनिषद् ग्रन्थों में प्राप्त सम्प्रदाय-परम्परा और वंशावलियों के आकलन से प्रकट होता है कि इनके लिए कम से कम 200-300 वर्ष की अवधि तो अवश्य ही चाहिए। फिर उपनिषदों में प्रतिपाद्य के क्रमिक विकास, भाषा शैली में परिवर्तन और परिष्कार तथा पुनरुक्ति आदि को देखते हुए उपनिषद् काल को लगभग 500 वर्ष की अवधि में फैलाना उपयुक्त प्रतीत होता है। वास्तव में तो उपनिषद् काल का प्रारम्भ ब्राह्मणों के

रचना काल से ही हो जाता है, अतएव आनुमानिक रूप में 1200 ई० पू० से 600 ई० पू० तक उपनिषद् काल माना जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि उपनिषद्-काल की समाप्ति के बाद भी 'उपनिषद्' नाम से ग्रन्थों की रचना होती ही रही है। ये उपनिषदें निश्चय ही उत्तरकालीन हैं। माना जाता है कि वज्रसूचिका उपनिषद् की रचना अश्वघोष ने की, या उनके समय में हुई। मठाम्नायोपनिषद् की रचना स्वयं शंकराचार्य ने की। अनेक उपनिषदों के बारे में कहा जा सकता है कि वे शंकराचार्य के बाद की हैं। राधोपनिषद् की रचना सम्भवतः उस समय हुई, जब भक्ति काल के धार्मिक साहित्य में राधा की महिमा गायी गयी। 'अल्लोपनिषद्' की रचना सम्राट अकबर के समय में की गयी। इनको अवैदिक उपनिषदें कहना चाहिए, क्योंकि वास्तव में इनका वैदिक वाङ्मय से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। फिर भी इन्हें उपनिषद्-साहित्य में स्थान देते हुए अथर्ववेद से जोड़कर प्रायः 'अथर्ववेदीय उपनिषदें' कहा जाता है।[21]

उपनिषदों के काल के समान ही इनके कालक्रम के निर्धारण के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। भाषा और अभिव्यक्ति की विधा को विशेष आधार बनाते हुए जर्मन विद्वान् पाल डायसन ने उपनिषदों को चार क्रमिक युगों की रचना माना है[22]—

(क) प्राचीन गद्यात्मक उपनिषद्—जिनका गद्य ब्राह्मणों के गद्य के समान प्राचीन, लघुकाय और सरल है—(1) बृहदारण्यक, (2) छान्दोग्य, (3) तैत्तिरीय, (4) ऐतरेय, (5) कौषीतकि और (6) केन।

(ख) प्राचीन पद्य उपनिषद्—जिनका पद्य प्राचीन, सरल और वैदिक पद्यों के समान है—(7) कठ, (8) ईश, (9) श्वेताश्वतर, (10) मुण्डक, (11) महानारायण।

(ग) परवर्ती गद्यात्मक उपनिषद्—जिनका गद्य प्राचीन गद्यात्मक उपनिषदों के गद्य से भिन्न है—(12) प्रश्न, (13) मैत्रायणी, (14) माण्डूक्य।

(घ) उत्तरवर्ती आथर्वण उपनिषद्—जिनमें तान्त्रिक उपासना विशेष रूप से की गई है एवं जिनमें कुछ गद्य में हैं और कुछ पद्य में—(1) सामान्य उपनिषद्, (2) योग उपनिषद्, (3) संन्यास उपनिषद्, (4) वैष्णव उपनिषद्, (5) शैव उपनिषद्, (6) शाक्त उपनिषद् आदि।

ए० बी० कीथ ने भी प्रथम तीन वर्ग की प्रमुख चौदह उपनिषदों को इसी कालक्रम से विभाजित किया है, केवल प्रथम वर्ग में ऐतरेय उपनिषद् को प्रथम स्थान पर ठहराया है।[23]

इस क्रम साधन में अनेक दोषों को दिखाकर डॉ० बेलवेलकर और डॉ० रानाडे ने एक नयी योजना तैयार की और अपने कालक्रम को छः परीक्षणों पर आधारित किया है[24]—

(1) उपनिषदों के काल-निर्धारण में भाषा, शैली, शब्दभण्डार, शब्दरूप, धातुरूप तथा अन्य व्याकरणिक विशेषताएं महत्त्वपूर्ण परीक्षण हैं, किन्तु इसे अन्तिम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कई प्राचीन उपनिषदों में परिष्कृत शैली का प्रयोग हुआ है और कई अर्वाचीन उपनिषदों में प्राचीन अपरिष्कृत शैली का।

(2) गद्य और पद्य का प्रयोग भी उपनिषदों के कालक्रम के निर्धारण में कोई निर्णायक सिद्धान्त नहीं है। डायसन आदि का कथन कि प्राचीनतम उपनिषदें गद्य में लिखी गईं, पश्चात् की कुछ उपनिषदें पद्य में और शेष

पुनः गद्य में लिखी गई, किसी ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं है।

(3) यह कथन कि अधिक प्राचीन उपनिषदों में सिद्धान्तों की व्याख्या कम विस्तृत और अपेक्षाकृत अर्वाचीन उपनिषदों में अधिक विस्तृत है, तथ्यों पर आधारित है, भले ही इसे पूर्णरूपेण निर्णायक नहीं कहा जा सकता है।

(4) चौथा परीक्षण, जो कि कुछ अधिक कठिन है, विचारधारा का नियमित विकास है। जैसे कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर में वर्णित जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की विचारधारा का विकास इन उपनिषदों के कालक्रम को निर्धारित करने में सहायक हो सकता है।

(5) आवागमन के विचार का विकास, जो कि वस्तुतः चौथे परीक्षण का ही एक अङ्ग है, उपनिषदों के कालक्रम के निर्धारण में सहायक सिद्ध हो सकता है, परन्तु यह परीक्षण बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है क्योंकि यह सम्भव है कि जिस उपनिषद् के कालक्रम का निर्धारण हम इस आधार पर करने जा रहे हों, आवागमन उसका प्रतिपाद्य विषय ही न हो।

(6) उपनिषदों के कालक्रम को निर्धारित करने का एकमात्र परीक्षण जिसे पूर्णतया निर्णायक कहा जा सकता है, दूसरे उपनिषदों के उद्धरण हैं। उदाहरण के लिए तैत्तिरीय (1/7/2) में 'पांक्तं वा इदं सर्वम्'....वाक्यांश बृहदारण्यक (1/4/17) से उद्धृत किया गया है, अतः निश्चित रूप से कह सकते हैं कि 'तैत्तिरीय उपनिषद् बृहदारण्यक के बाद की है परन्तु यह परीक्षण सर्वग्राही नहीं क्योंकि उपनिषदों में सुनिश्चित उद्धरण कम ही मिलते हैं। उपर्युक्त परीक्षणों के आधार पर रानाडे ने मुख्य उपनिषदों का निम्न कालक्रम दिया है—

(क) बृहदारण्यक और छान्दोग्य

(ख) ईश और केन

(ग) ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकि

(घ) कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर

(ङ) प्रश्न, मैत्रायणी और माण्डूक्य

ओटो बेकर ने पाणिनि के समय को आधार बनाकर प्रमुख उपनिषदों का कालक्रम से चार समूहों में विभाजन किया है—

(क) बृहदारण्यक, छान्दोग्य और कौषीतकि

(ख) ऐतरेय, तैत्तिरीय और कठ

(ग) केन और ईश

(घ) श्वेताश्वतर और मैत्री

इनमें पहले दो समूहों की उपनिषदें तो स्पष्ट रूप से पाणिनि के पूर्व की हैं। तीसरे समूह की उपनिषदें सम्भवतः पाणिनि से पूर्व की हों, और अन्तिम समूह की निश्चित ही पाणिनि की परवर्ती हैं।[25]

ए० ए० मैकडॉनल ने प्रमुख उपनिषदों को उनके आन्तरिक स्वरूप के आधार पर कालक्रम से चार भागों में बाँटा है—

(क) बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि

(ख) केन, कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण

(ग) प्रश्न, मैत्रायणी, माण्डूक्य

(घ) उत्तरकालीन आथर्वण उपनिषदें।[26]

प्रमुख उपनिषदों के विभिन्न कालीन स्तरों की कल्पना वस्तुतः अनेक आधारों पर सम्भव है और इसीलिए कोई भी विभाजन पूर्णतया प्रामाणिक और निर्विवाद नहीं है। इस सन्दर्भ में आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा स्वीकृत श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का दृष्टिकोण ही सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है।[27] श्री वैद्य ने उपनिषदों की प्राचीनता और अर्वाचीनता के निर्णयार्थ दो साधन उपस्थित किये हैं—(1) विष्णु या शिव का परदेवता के रूप में वर्णन तथा (2) प्रकृति-पुरुष तथा सत्त्व-रज-तम त्रिविध गुणों के सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन। प्राचीनतम उपनिषदों में वैदिक देवताओं से ऊपर उठकर एक अनाम रूप ब्रह्म का इस विश्व के स्रष्टा, नियन्ता तथा पालनकर्ता के रूप में विवेचन है। केवल पिछले उपनिषदों में पहले विष्णु को और फिर शिव को परम पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस दृष्टि से अनाम ब्रह्म के प्रतिपादक होने से—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य उपनिषदों की सर्वप्राचीनता नितान्त मान्य है। इसके अनन्तर कठोपनिषद् आती है, जिसे विष्णु को परम पद पर प्रथमतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय है। कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषदों में महादेव इस महनीय पद के अधिष्ठाता माने गये हैं। इसी कारण महेश्वर की महत्ता बताने वाली श्वेताश्वतर कठ से अर्वाचीन है और ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इस देवत्रयी के गौरवगान के कारण मैत्रायणी उपनिषद् श्वेताश्वतर से भी पीछे त्रयोदश उपनिषदों में प्राचीनतम मानी जाएगी, सांख्य तथ्यों के प्रतिपादन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। छान्दोग्यादि उपनिषदों में इस सिद्धान्त का कहीं भी निर्देश नहीं है। कठ में सांख्य के अनेक सिद्धान्त यथा—गुण, महत्, आत्मा, अव्यक्त, पुरुष आदि वर्णित हैं। श्वेताश्वतर में 'सांख्य' और उसके प्रवक्ता 'कपिल' का नामतः उल्लेख है। फिर मैत्रायणी में प्रकृति और गुणत्रय का सांख्य-सिद्धान्त बड़े विस्तार से मिलता है, इसलिए इसे पिछले युग की रचना मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। इस आधार पर प्रमुख उपनिषदों को तीन श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं—

(क) छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य।

(ख) कठ और केन।

(ग) श्वेताश्वतर, कौषीतकि और मैत्रायणी।

निस्सन्दिग्ध रूप से हम कह सकते हैं कि संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों के अन्तर्गत अंश रूप में प्राप्त उपनिषदें ही प्राचीनतम हैं और यह भी लगभग निश्चित ही है कि प्रमुख उपनिषदों में मैत्रायणी ही कई कारणों से अर्वाचीनतम है। वे सभी उपनिषदें जो किसी विशेष सिद्धान्त या सम्प्रदाय की व्याख्या की परम्परा में आती हैं, कालक्रम से अपेक्षाकृत उत्तरवर्ती हैं, यद्यपि यह सत्य है कि उनमें से भी कुछ उपनिषदें आचार्यों द्वारा

प्रामाणिक मानी गई हैं।

सन्दर्भ सङ्केत

1. छान्दो0 उप0 1/10/1
2. छान्दो0 उप0 5/3/1-7, बृह0 उप0 6/2/1-9
3. बृह0 उप0 5/3/1/2, 4/2/4, 4/4/23 इत्यादि।
4. कौषी0 उप0 4/1, बृह0 उप0 2/1/1
5. प्रश्न उप0 1/1, 6/1
6. छान्दो0 उप0 6/14/1-3
7. छान्दो0 उप0 5/11/4
8. बृह0 उप0 3/3/1, 3/7/1
9. कौषी0 उप0 4/1
10. प्रश्न उप0 1/1
11. बृह0 उप0 3/1, कौषी0 उप0 4/1
12. The Principal Upaniṣads, Radhakrishnan, p. 70; Vedic Age, Majumdar and Pusalkar, London, 1952, p. 251; Cambridge History of India, E.J. Rapson, Cambridge, 1922, p. 105.
13. वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, काशी, 1958, पृ0 323.
14. A Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy, R.D. Ranade, 1968, p. 18
15. वैदिक धर्म एवं संस्कृति, ए0 बी0 कीथ (अनूदित) भाग 2 दिल्ली 1965, पृ0 625; The Thirteen Principal Upaniṣads, Hume, Oxford, 1949, p. 6.
16. The Principal Upaniṣads, S. Radhakrishnan, p. 22.
17. मटची हतेषु, कुरुषु, छान्दो0 उप0 1/10/1
18. प्राचीन भारत, डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0 68, उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, डॉ0 विजय बहादुर राव, पृ0 39
19. हिन्दू सभ्यता, डॉ0 राधाकुमुद मुकर्जी, पृ0 151
20. क्व पारिक्षिता अभवन्। बृह0 उप0 3/3/1
21. The Philosophy of the Upaniṣads, Paul Deussen, Edinburgh, 1908, p. 26
22. वही, pp. 22-26
23. वैदिक धर्म एवं दर्शन, कीथ (अनूदित) द्वितीय भाग, पृ0 621-624
24. History of Indian philosophy, S.K. Belvelkar and R.D. Ranade, New Delhi, 1974, Vo. 2, pp. 87-90
25. उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, डॉ0 रा0 द0 रानाडे (अनूदित) पृ0 315 पर उद्धृत।
26. A History of Sanskrit Literature, A.A. Macdonell Delhi, 1965, p. 191
27. वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, काशी, 1958, पृ0 322-323; संस्कृत साहित्य के वैदिक काल का इतिहास (अंग्रेज़ी), द्वितीय खण्ड पृ0 170-172

A note on the probable chronology of Ādi Śaṅkara's Upaniṣad-Bhāṣya

Dr. Jaydev Jani ★

Upaniṣads are the earliest texts in the world investigating into the spiritualism and para psychology with positive approach and with successful results. The texts, as such, are commented upon by many ancient, mediaval and modern stalwarts of philosophy. The Upaniṣadic texts, therefore, are almost nearer to our understanding of their original meaning.

The main object of this paper is somewhat different and off-side to the content of the Upaniṣads. From among 235[1] or above Upaniṣadic texts, 10 are accepted as authentic texts for three reasons : (1) they are accepted as the oldest, (2) Muktikopaniṣad enlists them in that order, and (3) Ādi Śaṅkara's (including other Āchāryas) commentary is available on them.

The question about the abstruse or obscure meaning of the texts is much discussed since the time of Bṛahmasūtras, but the present point of discussion is—which of 10 Upaniṣads comes first when a beginner or a seeker of truth or a student of Sanskrit or of Philosophy wants to start with?

The close and careful study of Ādi Śaṅkara's commentary on the Upaniṣads draw one's attention to the fact that his purpose was, though of founding his theory of Absolute Monism, to introduce with easier text to the highly philosophical text. It must be born in mind that the order in which the Muktikopaniṣad enlists the Upaniṣads is for the sake of rendering them in a metrical form. It has nothing to do with the chronology of the Upaniṣads at all.[2]

The order of preference in acquiring gradual proficiency in the Vedānta philosophy

★ **Reader, Deptt. of Sanskrit, M.S. University, Baroda, Gujarat**

can be discussed on the basis of 02 evidences. The first by considering the gradual higher philosophy discussed in the 10 principal Upaniṣads (Svetasvatara is not taken into consideration).

The Kaṭhopaniṣad or Kāṭhakopaniṣad (01) is easy, simple in diction and precise in imparting the preliminaries of the Vedānta. The dialogue style generates the interest among the seekers of the Truth. The Muṇḍakopaniṣad (02) referring to the lineage of teachers introduces the two types of knowledge and imparts a little more advanced philosophy of the Vedānta. The Praśnopaniṣad (03) being a type of a supplementary text eleborates the Prāṇa topics not dealt with elaborately in the Muṇḍaka.

The Īśopaniṣad or Saṃhitopaniṣad (04) specifically elaborating the two kinds or types of knowledge with precise and perfect idea introduces the clear picture of Brahman, while the Māṇḍūkyopaniṣad (05) introduces the symbolic form of the omni-present Brahman for an easier Upāsanā leading to the Samādhi. The Chāndogyopaniṣad (06) begins with various advanced Upāsanās followed by interesting stories bearing the nature of the Brahman, the realisation of which can not co-exist with rites.

The Kenopaniṣad (07) focusses on the nature of Brahman that can be realised through non-egoism as revealed in the story of Haimavatī Umā. The same idea is furthered in the Bṛhadāraṇyakopaniṣad (08) by introducing the Aśvamedha-upaāsanā and bringing the seeker nearer to the pure nature of Brahman through the style of arguments in the assembly of King Janaka and through the discussions of Yājñavalkya with Maitreyī and others.

The Aitareyopaniṣad (09) dealing with the cosmogenic creation theory leads the seeker to the Self-realisation through the 02 methods called adhyāropa (superimposition) and apavāada (de-superimposition). The last comes the Taittirīyopaniṣad (10) which is of the form of a convocational address and so it speaks of the highest point of investigation called Rasa-mīmāṃsā perceived on the perfection of the desirelessness.

The second evidence in fixing the probable chronology of the Ādi Śaṅkara's commentary on the Upaniṣads is designed on the following methodology :

(1) cross-references, and

(2) introductory and the conclusion.

01. Kaṭhopaniṣad or Kāṭhakopaniṣad : It derives its name after the name of Kaṭha Muni. It consists of 02 chapters, each divided into 03 parts[5] called Vallī, and each containing 29+25+17+15+15+18=119 Mantras.

In 119 Mantras Ādi Śaṅkara quotes 09 from Bṛhadāraṇyaka (=Bṛ) (with 02

references), 03 from Chāndogyopaniṣad (=CU) (with 01 reference), 02 from each of the Muṇḍakopaniṣad (=MU) and Gītā, and 01 from each of the Ṛgveda (+RV), Taittirīyopaniṣad (=TU), CityUpaniṣad, Itihāsopaniṣad, Viṣṇu and Liṅga Purāṇas.

For a seeker of Truth Kaṭha comes first to start with, because its Bhāṣya begins with 03 etymological explanations of the term Upaniṣad. Ādi Śaṅkara simply comments on Vidyā and Avidyā under I. ii. 4, while the same Mantra is quoted in the discussion at the conclusion of the Īśa. It presents nowhere the expressions like uktam (said) or vyākhyātam (explained).

02. Muṇḍakopaniṣad : It is so named for two reasons : (1) the study of this Upaniṣad was restricted to the Shavenheads i.e. renouncers, and (2) its teaching leaves the student clean like a shaven-headed person.

It consists of 03 chapters called muṇḍaka, each divided into 02 sections called khaṇḍa containing 09+13+10+11+10+11=64 Mantras. In 64 Mantras of the Muṇḍakopaniṣad he quotes 04 from CU, 03 from Manusmṛti (=MS), 02 from each of the Bṛ, Kaṭhopaniṣad (=KaU) (with 01 ref.), Śvetāśvataropaniṣad (=SU) and Mahābhārata (=MBH), 01 from each of the Praśnopaniṣad (=PU), Mahānārayaṇopaniṣad (=MNU), Itihāsopaniṣad and Gītā (ref).

Muṇḍakopaniṣad or Ātharvaṇopaniṣad makes a cursory remark for the term Upaniṣad.[6]

03. Praśnopaniṣad : It derives its name from the 06 questions put to Sage Pippalāda by 06 students. It consists of 16+13+12+11+07+08=67 (15 verses and 52 prose) Mantras. In 67 Mantras of the Praśnopaniṣad he quotes 12 from CU (with 01 ref.), 04 from MU (with 02 ref.), 01 from each of TU, Aitareyopaniṣad (=AU) and MnU and 01 reference of the Māṇḍūkyopaniṣad (=MdU).

04. Īśopaniṣad or Vājasaneyi-saṃhitopaniṣad : It derives its name from the very opening words of the first verse. It is the only Upaniṣad found as an integral part i.e. 40th chapter of the Śukla Yajurveda. It consists of 18 verses. In 18 Mantras of the Īśopaniṣad he quotes 13 from Bṛ (with 02 ref.), and 01 from each of the Mu, SU, Taittirya Āraṇyaka (=TA), Taittirīyopaniṣad (=TU), MBh and Gītā.

Its Bhāṣya being post-Kaṭha is unobjectionable. He gives a brief explanation[7] of the Anubandha-catuṣṭaya as the Introductory.

05. Māṇḍūkyopaniṣad : It derives its name after Māṇḍūkya Muni. It contains the quentessence of the entire Upaniṣadic teaching in the passage form. It analyses the human consciousness in three states : waking, dream and deep or dreamless sleep, through which it

asserts that the ultimate Reality is monistic or non-dual (a-dvaita). It also presents one of the 04 Mahāvākyas—This self is Brahman (ayam atma brahma).

In 12 Mantras of the Māṇḍūkyopaniṣad,[8] he quotes 20 from Bṛ, 14 from CU, 04 from MU, 03 from Gītā, 02 from each of the KaU, P.U and TU, and 01 from each of the AA, Taittirīya Āraṇyaka (=TA), Īśopaniṣad (=Īśa), KU, SU and MaitryUpaniṣad.

It is possible that Ādi Śaṅkara wrote the Bhāṣya on the text of this Upaniṣad first followed by the rest of the Upaniṣads and then only on the Kārikās, because (1) it begins with the stanzas of salutation and (2) the word alāta (firebrand) of IV. 47-50 is explained[9] under Aitareya IV. 1, but not under the Kārikā 4.1.

06. Chāndogyopaniṣad : It derives its name after the Chāndogas welknown as Sāma-Veda singers. It forms the last part of the 08 chapters of the Chāndogya Brāhmaṇa. It consists of 08 chapters divided into 13+24+19+17+24+16+26+15=154 Sections called Khaṇḍa, containing 104+082+094+078+088+069+51+062=628 Mantras. In 628 Mantras of the Chāndogyopaniṣad he quotes 54 from Bṛ (with 02 ref), 07 from each of the KaU, TU and Gītā (with 01 ref.), 06 from each of the MU, Aitareya Brāhmaṇa (=AB) and Viṣṇu-Purāṇa (=VP), and 01 from each of the KU, AU, Taittirīya Saṃhitā (=TS), Yajurveda, Maṇḍala-brāhmaṇa, Nṛsiṃhottaratāpinyupaniṣad (=NpU) and MdU. It contains one of the 04 Mahāvākyas viz. Tattvam asi (Thou are That).

The Bhāṣya on this is posterior to Kaṭha and Muṇḍaka.

07. Kenopaniṣad or Tavalkaropaniṣad : It derives its name from the very first word of the opening verse, and the other name comes from the branch of the same name of the Sāmaveda. Ādi Śaṅkara has written 02 commentaries called Pada-Bhaṣya and Vakya-Bhāṣya on this Upaniṣad which prove its importance.[10]

It consists of 04 parts (khaṇḍa) containing 09+05+12+09=35 Mantras. In 35 Mantras of the Kenopaniṣad (pada-bhāṣya only) he quotes 24 from Bṛ, 10 from CU (with 01 ref.), 08 from each of the KaU, 05 from MU and Gītā, 04 from AA, 02 from each of the PU and TU, and 01 from each of the TB, Īśa, Kaivalyopaniṣad (=KvU), MBh and Viṣṇu-smṛiti.

The Bhāṣya on this Upaniṣad is posterior to those of Kaṭha and Chāndogya.

08. Bṛhadāraṇyakopaniṣad : It derives its name after the last book Āraṇyaka of the Śatapatha Brāhmaṇa. The first member (bṛhad) of the title is taken in several senses like "great, large, voluminous" or "dealing with Brahman." It consists of 06 chapters, divided into 47 sections called Brāhmaṇa containing 80+06+93+92+30+75=436 Mantras (including prose). It consists of 03 parts called Kāṇḍa.

In 436 Mantras and passages of the Bṛhadāraṇyaka, he quotes 74 from CU (with 02 ref.) 40 from Gītā (with 01 ref.), 36 from Satapatha Brāhmaṇa (with 03 ref.) 33 from KaU, 25 from MU, 23 from TU, 16 from each of the Īśa and MBh, 19 from MS, 14 from each of the AU and TS, 09 from RV (with 01 ref.), 07 from each of the PU and SU, 05 from each of the KU, Tāṇḍya Mahābrāhmaṇa and Vasiṣṭha-smṛiti, 04 from Bahvṛca Brāhmaṇa, 03 from each of the MnU, Jābālopaniṣad and Āpastamba-sūtra, 02 from each of the AA, MU, kku, NpU, KaṭhaśrutyUpaniṣad, Gautama-dharmasūtra, Śivapurāṇa and Viṣṇupurāṇa, 01 from each of the TB, AB, Gautama-smṛti and Vāyupurāṇa.

The Bhāṣya on this being posterior to those of the kaṭha, Muṇḍaka, Praśna, Īśa, Chāndogya and Kena is proved on the strength of the internal evidence.

09. Aitareyopaniṣad or Bahvṛca-Brāhmaṇopaniṣad : It is so named after the name of the Āraṇyaka authored by Aitareya, son of Itarā. In 03 chapters consisting of 06 sections and =34 (the last one being the Śānti-) Mantras. In 33 Mantras of the Aitareyopaniṣad he quotes 33 from Bṛ (with 01 ref.), 07 from KkU, 04 from each of the Īśa and CU (with 01 ref.), 03 from each of the AA, TU and SU, 02 from each of the RV, Gītā and 02 untraced passages, 01 from each of the TS, KaU, KU, MU, KvU, Nārada-parivrājakopaniṣad, Harivamsa and MS.

The Bhāṣya on this Upaniṣad is posterior to those of the Chāndogya and even Bṛhadāraṇyaka.

10. Taittirīyopaniṣad : It derives its name after the name of the branch of that name of the Kṛṣṇa Yajurveda. It consists of 03 parts[11] called Vallī, divided into 31 Anuvākas containing 26+13+15=54 Mantras. In 54 Mantras and passages of the Taittirīyopaniṣad he quotes 31 from CU (with 01 ref.), 19 from Bṛ, 05 from MU, 02 from each of the KaU, PU, AU (with 01 ref), SU and MS, 01 from each of the TA, Īśa, KkU, MBh, Gītā, Āpastamba-sūtras and Āpastamba-smṛiti.

The Bhāṣya on this Upaniṣad seems posterior to those of Kaṭha, Muṇḍaka, Chāndogya, Bṛhadāraṇyaka and even to the Aitareya.

Conclusion

The study of the language, diction and style of Ādi Śaṅkara's commentary presenting the quotations and references from the Upaniṣadic texts, thus leads to the conclusion that Ādi Śaṅkara had definitely in his mind a particular sequence in writing the commentary, and that too, for the convenience and easier study of the texts aiming at the need of the seekers of Truth or the students of the Vedānta.

There is another noteworthy point about the Śvetāśvataropaniṣad. In almost all the places of quotations of this Upaniṣad, he gives the words like Mantra-varṇa[12] or Mantra-varṇāt or sometimes by name as Śvetāśvatarīya.

Out of approximately 850, some of the quotations and references occur twice or thrice or even more times, which establishes the prime importance of the Mantra or the passage in the Vedānta.

The present study[13] tries to bring to the notice of the scholars and educationists appointed on the higher posts to decide the syllabus in such a manner that the new-comers may be taught in the sequence of easier to the difficult texts, as Ādi Śaṅkara must have tried while writing his commentary on the Prasthāna-trayī.

References & notes

01. Scholars are of different opinion about the exact number of the Upaniṣadas : Deussen enumerates 235, Winternitz (over) 200, Weber 235, Belvelkar and Ranade 200-300, and so on.
02. The arguments for and against the chronology of the Upaniṣads are discussed by Deussen Paul (p. 555), Winternitz M. (p. 236), Patel M.C. (Intro. p. 23) and so on.
03. Swami Nikhilananda : Vedantasara of Sadananda, pub. Advaita Ashram, Calcutta, 1974.
04. Ibid. Index.
05. Here, Swami Gambhirananda ji translates Vallī as a Canto.
06. At the end of the Introductory (MB edn. p. 499)
    य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन....तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति....उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।।
07. Ibid. p. 01 :
    यो हि...मन्यते सोऽधिक्रियते....आत्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान् मन्त्रान्....।।
08. Here the calculation is limited upto the Kārikās of the Mantra portion only.
09. Motilal Banarasidas edition. P. 27
    बाह्यदृष्टेश्वोपजनं....यथा भ्रमणादिधर्मवदलातादिवस्तुविषयदृष्टिरपि।
10. Serene and sound scholars may seriously search for the reason why Adi Sankara wrote 02 Bhasyas on this Upaniṣad. In this connection are stated two views herebelow :
11. Here, Swami Gambhiranandaji translates Vallī as Chapter.
12. Dr. A.N. Jani (Ex-Professor and Head, Deptt. of Skt., Pali and Pkt., and Ex-Director, Oriental Institute, M.S. Univ. of Baroda) remarks often : "The term Mantra-varṇa occurring in the Upaniṣad-Bhāṣya indicates that the Śvetāśvataropaniṣad must have been a compilation of the Mantras of the Upaniṣadic genre. It may not have wholly the Vedantic aroma and hence Adi Sankara may not have accepted as a principal Upaniṣad."
    It should be noted that in the introductory of the Kena, Adi Śankara quotes Īśa 7ed as Mantravarṇa.
13. This is an abridgement of the author's comprehensive and detailed paper "Probable chronology of Adi Sankara's Upaniṣad-Bhāṣya An Investigation."

वेदों की संहिता एवं उपनिषद्

डॉ० गौतम पटेल ★

'वेद' शब्द का अर्थ बताते हुए वेददर्शनाचार्य अनन्त श्री विभूषित स्वामी गङ्गेश्वरानन्द जी महाराज लिखते हैं कि—'यह समग्र अर्थ 4 प्रकार के 'विद्' धातुओं का समन्वित अर्थ है—1. 'विद् ज्ञाने' (अ० प० 1140), 2. 'विद् सत्तायाम्' (दि० आ० 1241), 3. 'विद्लृ लाभे' (तु० उ० 1525) और 4. 'विद् विचारणे' (रु० आ० 1543)। एक पाँचवां भी 'विद्' धातु है—5. 'विद् चेतनाख्याननिवासेषु' (चु० आ० 1845)। इसकी व्युत्पत्ति होगी—

वेद्यते निवसति सर्वो देवगणः पाठकशरीरे येन,
चेत्यते ज्ञायते धर्मब्रह्मतत्त्वं येन,
आख्यायते राम-कृष्णादिचरितजातं येन सः वेदः

अर्थात् जिसके पाठ से पाठकों के शरीरों में देवों का निवास हो जाता है, जिससे ब्रह्मतत्त्व जाना जाता है या जिससे रामकृष्णादि के चरितों का आख्यान किया जाता है (वह वेद है)। उपर्युक्त अर्थ के बोधक निम्नलिखित श्लोक हैं—

वेत्ति कार्यमकार्यं च विन्दतेऽनुत्तमं धनम्।
विस्तृतिर्विद्यते कीर्त्या विन्तेऽद्वैतमहो यतः।।
अनवद्यं स्वतोमानं ज्ञानविज्ञानशेवधिम्।
अनादिनिधनं वेदं तं प्राहुर्वैदिका जनाः।।[1]

यह वेद हमारी राष्ट्रीय धरोहर है और समग्र विश्व के लिये उपकारक है। वैदिक साहित्य का ही एक भाग जिसे माना जाता है, उस 'उपनिषद्' शब्द की आदि शंकराचार्य की व्याख्या प्रचलित है—**सदेः धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमिदमुपनिषदिति।....विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्तयेति।**[2]

'उपनिषद्' शब्द से मुद्रित पुस्तक नहीं किन्तु तत्-तत् ग्रन्थवर्णित-प्रतिपादित विद्या अर्थ अभिप्रेत है। जैसे

★ अध्यक्ष, गुजरात संस्कृत अकादमी, गांधी नगर, गुजरात

'आयुर्घृतम्' कहने पर घी आयुष्य नहीं है लेकिन आयुष्य का कारण है उसी प्रकार उपनिषद् का सेवन करने से विद्या अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्ततोगत्वा मुक्ति लाभ होता है।

एक प्राचीन श्लोक में कहा गया है कि—

उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं ततः।
निहत्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषन्मता।।

जो अविद्या एवं उसके द्वारा उत्पन्न संसार का नाश करे, द्वैत भाव को दूर करे तथा आत्मा को ब्रह्म के समीप लाकर ऐक्य का प्रतिपादन करे वह विद्या उपनिषद् कहलाती है।

वेद एवं उपनिषदों के सम्बन्ध के बारे में विदेशी विद्वानों ने एक भ्रान्ति प्रचलित की है कि जब उपनिषद् के विचारकों ने वेदों की संहिताओं को त्याग दिया, उसकी असारता अनुभव की और अपने चिन्तन में एक कदम आगे आये तब हमें उपनिषद् प्राप्त हुए किन्तु विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। उपनिषद् के ऋषियों एवं वेद के सूक्तों के मंत्रद्रष्टाओं के विचारों में कहीं मूलतः विचार भेद नहीं है, इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे असंख्य स्थान उपलब्ध हैं जहाँ उपनिषद् के तत्त्ववेत्ता वेद के मन्त्रों एवं विचारों को ही लेकर आगे चलते हैं। कतिपय उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।[3]

केन उपनिषद् में वेदों को उपनिषद् विद्या के अङ्ग बताया गया है—**तस्य तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्** (केन० 33)

विज्ञान ध्यान से अधिक है और विज्ञान से मनुष्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं चतुर्थ अथर्ववेद को जानता है—**विज्ञान वाव ध्यानाद् भूयः। विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानातिं, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्।** (छा० 7-7-1)। बृहदारण्यकोपनिषद् में आता है—**अथैनामभिपद्यते अमोऽहमस्मि सा त्वम् सा त्वमस्यमोऽहम् सामाहमस्मि ऋक् त्वम् द्यौरहं पृथिवी त्वम् तावेहि संरभावहै सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तय इति** (बृहद्० 6-4-20)। यही विचार हमें अथर्ववेद 14-2-71 में शब्दशः प्राप्त होते हैं। इसी का पुनरावर्तन ऐ० ब्रा० (29) तथा छा० (2-6-7) में प्राप्त होता है।

अग्ने नय सुपथा राये...(ऋ० 1.189.1) ईशा० में (19) सीधा प्राप्त होता है। **तद्विष्णोः परमं पदम्** (ऋ० 1-22-20) हमें कठ० 3-9 में प्राप्त होता है।

ऋ० (4-40-5) का **हंसः शुचिषद्** मन्त्र हम कठ० (5-2) में देखते हैं। यहाँ केवल अन्त में 'बृहत्' शब्द जोड़ दिया गया है। उसी प्रकार **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** यह मन्त्र ऋ० (1-164-20) एवं अथर्ववेद (9-9-20) में है और वह मुण्डक० 3-1-1 तथा श्वेता० 4-6 में पुनरुक्त हुआ है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि।। ऋ० 5-12-1

इसी मन्त्र का अर्थ विस्तार छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति। तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति। वयं देवस्य भोजनमित्याचामति। श्रेष्ठं सर्वधातममित्याचामति। तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति।। छा० 5-2-7

पुरुष एव इदं विश्वम् (ऋ० 10-90-2) यह वाक्यांश मुण्डक० (2-1-20) में प्राप्त होता है। **सहस्त्रशीर्षा पुरुषः** (ऋ० वे० 20-90-1) श्वेता० 3-24 में शब्दशः पुनरुक्त हुआ है। इस प्रकार अनेक मन्त्र मन्त्रांश या मन्त्र के विचार हमें सीधे वेदों की संहिताओं में से सीधे उपनिषदों में प्राप्त होते हैं।

कहीं-कहीं वेद में व्यक्त हुए बीज रूप विचार वटवृक्ष के रूप में विस्तृत स्वरूप प्राप्त करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के रूप में देखा जाय तो—**तद् अपश्यत् तद् अभवत् तद् आसीत्।** यह यजुर्वेद का (32-12) मन्त्र है। अर्थ स्पष्ट है उसने देखा, वह हो गया, वह था। उपनिषद् के तत्त्वज्ञान में हम **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** इत्यादि कह कर देखने को कहा गया है। फिर **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म बनता है कहा है और **अयमात्मा ब्रह्म** इस महावाक्य में तो आत्मा ब्रह्म ही है। उसमें नया बनने बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, यह सुस्पष्ट है। वास्तव में यह पूरी विचारधारा उपर्युक्त यजुर्वेद के मन्त्रांश रूपी बीज से उत्पन्न वटवृक्ष ही तो है। अतः यह नितान्त सिद्ध होता है कि—

...the Upaniṣadic Rṣis were never totally against the spiritual ideal of the early vedic seers, but on the contrary, they drew upon and continue the philosophical and spiritual traditions established or realized by the early vedic seers of the saṁhita portion.''[4]

सुप्रसिद्ध विद्वान श्री डॉ० एम० पी० पण्डित का भी यही मत है कि—

The veda is to us essentially spiritual in its original character and its message. We concern ourselves with the question whether the Upaniṣads really continue the vedic tradition or are radical departure from it. We have seen that the sages of the Upaniṣads not only uphold the ancient traditions and return to the authority of the vedic seers time and again for confirmation and approval of their realizations, but go on to enlarge and develop what is contained in the vedas in seed form.[5]

सन्दर्भ सङ्केत

1. श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्द उदासीन, 'सामवेद-संहिता' (पूर्वार्चिक), बम्बई 1979, पृ0 3
2. शांकरभाष्य, कठोपनिषद्, उपोद्घात 1-1
3. विशेष विस्तार के लिये द्रष्टव्य 'Traditional vedic Interpretations by Dr. Gautam Patel, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 1999, p. 14-37
4. वही Gautam Patel p. 37
5. M.P. Pandit, 'Mystic Approach to the Veda and Upaniṣads, p. 51.

Upaniṣads and the Purāṇas

Prof. N. Gangadharan ★

Among the literatures of the world, the Vedas stand foremost in their antiquity and subject matter. Upaniṣads, forming the concluding part of the Vedas are acclaimed as the earliest documented matter relating to the highest philosophical truth, namely, the Brahman and its relationship with the individual selves and the universe. According to a popular statement the Vedas have to be amplified with the help of the Purāṇas. Hence, there is no wonder that there is close relationship between the Vedas and the Purāṇas. Since the Upaniṣads form the concluding part of the Vedas, we notice the impact of the Upaniṣads on the Purāṇas also in the chapters devoted to philosophical topics. Although Iśa, Kena Kaṭha, Praśna, Muṇḍaka, Māṇḍūkya, Taittirīya, Aitareya, Chāndogya and Bṛhadāraṇyaka are recognized as the ten principal Upaniṣads, there are more than hundred Upaniṣads classified under different groups such as the Vaiṣṇava Upaniṣads, Śaiva Upaniṣads, Yoga Upaniṣads etc. Though the word Śruti is used to denote a quotation from the Upaniṣads, occasionally we find subtle reference to a particular Upaniṣad. Besides these the Purāṇas make use of the Upaniṣadic statements in order to emphasize some philosophical truth without reference to the particular Upaniṣad from which the matter has been drawn. There are explanations of some other statements from the Upaniṣads. Since it is impossible to make an exhaustive treatment of the topic in this short note, it is proposed to give here a bird's-eye view of the Upaniṣadic content in the Purāṇas.

Along with the word Veda, we find the use of the word Upaniṣad in the Puraṇas. It indicates clearly that the two words do not have the same connotation. Hence we find expressions such as त्रय्या चोपनिषद्भिश्च where त्रयी stands for the three Vedas and the

★ **Professor-Deptt. of Sanskrit, University of Madras, Director, Anantcharya Indological Research Institute, Bombay (Ex.) Maharashtra**

Upaniṣads spoken distinctly. While the intention of the former is the worship of gods such as Indra and others, that of the latter is the inquiry into philosophical truth. Although we do not find the explanation of the term 'Upaniṣat' in the Purāṇas, the term has been employed in the sense of essence as in इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तम् (Bhāgavata VIII. 1, 17). It gets corroborated by the statements such as वेदस्योपनिषत् सत्यम् (Śānti 299, 13). It is also used in the sense of hidden as in the usage गुह्योपनिषद् (Matsyapurāṇa 248, 73). In fact the hidden learning refers to Brahmavidya or learning pertaining to knowledge of Brahman.

We find the expression—वदन्ति सर्वे केनसिद्धान्तयुक्तां यां योगमायाम् in the Kedarakhaṇḍa (11, 61) in the context of the description of the rising of Goddess Lakṣmi from the churning of the milky ocean. Here obviously the word केन denotes the Kenopaniṣad. In the Viṣṇupurāṇa (VI. 5. 65) and the Bṛahmapurāṇa (233.62-63) there is a reference to two divisions of learning—Parā and Aparā according to the Ātharvaṇīśrutī. This idea is expressed in the Muṇḍakopaniṣad 1.1.4 belonging to the Atharvaveda. It may be mentioned here that the Liṅgapurāṇa I.86, 51-55 draws profusely from the Rudrahṛdayopaniṣad (28-32a) an expanded version of this view.

द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापरा तथा।
अपरा तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदो द्विजोत्तमाः।।
सामवेदस्तथाथर्ववेदस्सर्वार्थसाधकः।
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च।।
ज्योतिषं चापरा विद्या पराक्षरमिति स्थितम्।
तददृश्यं तदग्राह्यमगोत्रं तदवर्णकम्।।
तदचक्षुस्तदश्रोत्रं तदपाणी अपादकम्।
तदजातमभूतं च तदशब्दं द्विजोत्तमाः।।
अस्पर्शं तदरूपं च रसगन्धविवर्जितम्।
अव्ययञ्चाप्रतिष्ठञ्च तन्नित्यं सर्वगं विभुम्।।

In Setumāhātmya (35.48) there is a reference to Jabalopaniṣadmantra relating to five mantras on wearing the tripundra. Though this matter is not found in the Jābālopaniṣad, we find it in the Bṛhajjābālopaniṣad. While describing the greatness of Lord Śiva, the Kūrmapurāṇa (II.39.20) mentions the Atharvaśiras. Moreover we find here the statement that proficiency in the Atharvaśiras has been prescribed as a requisite for brahmins for being fit for śrāddha (II.21.5). We notice repeated mention in the Purāṇas that the forester should be proficient in Rudrādhyāya and Atharvaśiras. Incidentally, we may mention that a

version of the first part of the Atharvaśiras is found in the Liṅgapurāṇa (1.2.19). The Garudapurāṇa (I.48.53-56) and Agnipurāṇa (96. 40-43) lay down the muttering of the Atharvaśiras. We find reference to the muttering of the Bṛhadāraṇyakopaniṣad in the Brahmapurāṇa (219.61).

Besides the above references, we notice Upaniṣadic passages quoted in different contexts in the different Purāṇas without mentioning their sources. We find the expression.

प्रणवो धनुःशरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

in LiṅgaPurāṇa I.91.49-50 and Agnipurāṇa 372.27. This is Muṇḍakopaniṣad II.ii.4. Again the expression—यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह in the Liṅgapurāṇa I.28.18; II.18.27 is same as Taittirīyopaniṣad 2.4.1. Similarly the expression सर्वं खल्विदं ब्रह्म in the same Purāṇa (I.28.21b) is from the Chāndogyopaniṣad 3.13.1. Again the expression—अजामेकां लोहितां शुक्लकृष्णां विश्वप्रजां सृजमानां सरूपां in the same Purāṇa (I.16.35) is Śvetāśvataropaniṣad 4.5 partly and the expression

अपाणिपादोदरपार्श्वजिह्वो ह्यतीन्द्रियो वापि सुसूक्ष्म एकः।
पश्यत्यचक्षुः स श्रुणोत्यकर्णो न चास्त्यबुद्धं न च बुद्धिरस्ति।।
स वेद सर्वं न च सर्ववेद्यं तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।

in the same Purāṇa (I.88. 40-41) is an expansion of the Śvetāśvataropaniṣad 3.19 and

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।

in the same Purāṇa (I.88.43) is same as Śvetāśvataropaniṣad 3.16. Then the expression अधोदृष्ट्या वितस्त्यां तु नाभ्यामुपरि तिष्ठति in the same Purāṇa (I.86.62a and II.235b) is same as Mahānārayaṇopaniṣad 11, 8 and आदित्यो वै तेज ओजो बलं in the same Puraṇa (II.22.40) is found in the Taittirīyopaniṣad I.14, 1 and Mahānārayaṇopaniṣad 12.3. Then the expression

हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत्।
नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्।।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्धनि स्थितम्।।

in the same Purāṇa (I.86.62b. 66b. 67a and II.23.6a) is same as Brahmopaniṣad 3 (Cf. Bṛhadāraṇyakopaniṣad 4.17). The passages

यच्छेद्वाङ्मनसा प्राज्ञस्तं यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञानं महति संयच्छेद्य इच्छेज्ज्ञानमात्मनि।।
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचराः।।

in the Garudapurāṇa (I.442.6.8) are verses from the Kaṭhopaniṣad 1.3.13; 1.3.3 and 1.3.9 Then the verse

एतदेकाक्षरं ब्रह्म एतदेकाक्षरं परम्।
एतदेकाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।

in AgniPurāṇa 372.29 is from the Kaṭhopaniṣad 1.3.16.

Besides the above quotations, as already noted, the Liṅgapurāṇa summarizes the Atharvaśiropaniṣad (1-4 and a part of the 5th) in II.17.4-24; 18-1-26 and 34 describing the greatness of Śiva. An adaptation of the description of the appearance of the Supreme Being as a Yakṣa in Kenopaniṣad khaṇḍa 3 is found in the Liṅgapurāṇa I.53.55. In the description of the Pāśupatayoga the Liṅgapurāṇa II.9.53 reads the words of Yājñavalkya to Gārgī :

अभिवदन्ति स्थूलमनन्तं महाश्चर्यमदीर्घमलोहितममस्तकमसाध्यमत एवो पुनारसम् (?) असङ्गमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्रमाण-मनुसुखमनामयमसृतमों शब्दममृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति किञ्चन।

The corrupt text here on Om is an adaptation from Bṛhadāraṇyakopaniṣad 3.8.8.

नान्तः प्रज्ञो न बहिः प्रज्ञो न चोभयगतस्तथा।
न प्रज्ञानघनस्त्वेवं न प्रज्ञो ज्ञानपूर्वकः।।

in the Liṅgapurāṇa I.86.97 is an echo of Māṇḍūkyopaniṣad (Āgamaprakaraṇa 7).

We may now cite some examples to illustrate how the Upaniṣadic concepts have permeated in the Purāṇas. The verses

तामजां लोहितां शुक्लां कृष्णामेकां बहुप्रजाम्।
जनित्रीमनुशेते स्म जुषमाणस्स्वरूपिणीम्।।
तामेवाजामजोऽन्यस्तु भुक्तभोगां जहाति च।
अजा जनित्री जगतां साजेन समधिष्ठिता।।

in the Liṅgapurāṇa I.3.13-14 explain the verse अजामेकां etc. Śvetāśvataropaniṣad 4-5.

त्यागेनैवामृतत्त्वं हि श्रुतिस्मृतिविदां वराः।
कर्मणा प्रजया नास्ति द्रव्येण द्विजसत्तमाः।।

in the Liṅgapurāṇa I.8.27 and प्रजया कर्मणा मुक्तिर्धनेन च सतां न हि etc. in the Liṅgapurāṇa I.86.20 and अणोस्तु विषयत्यागः in the Liṅgapurāṇa I.6.23 a convey the meaning of the verse न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः in Mahānārayanopaniṣad 10.5

स एव भर्ता कर्ता च विधेरपि महेश्वरः।
हिरण्यगर्भं रुद्रोऽसौ जनयामास शङ्करः।।
विश्वाधिको विश्वात्मा विश्वरूप इति स्मृतः।।

in the Liṅgapurāṇa I.28.9-10 explain the verse

यो देवानां प्रथमं पुरस्तात् विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु।।

in Mahānārayaṇopaṇiṣad 10.3.

Thus this article enables us to understand the close relatipnship between the Upaniṣads and the Purāṇas.

❐

उपनिषद् का अधिकारी

डॉ० रमण कुमार शर्मा ★

भारतीय मनीषा ने सम्पूर्ण समाज को जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में चतुर्धा विभाजित किया वहीं मानव जीवन को भी चार भागों में बाँटा जिन्हें 'आश्रम' की संज्ञा प्रदान की गयी। ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास हैं। चार वर्णों में विभाजित मानव मात्र, इन चार आश्रमों में रहते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए सतत प्रयासरत रहता है। दूसरी ओर सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को भी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चार भागों में विभाजित किया गया, यह केवल एक संयोग-मात्र नहीं है। मानव इन चार प्रकार के वाङ्मय का अनुष्ठान अपने जीवन के चार आश्रमों में क्रमशः करता है।

सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में अङ्गों सहित वेद का अध्ययन ब्राह्मण का निष्कारण धर्म प्रतिपादित किया गया है—**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।**[1] ब्राह्मण ग्रन्थ इन संहिताओं की यज्ञपरक व्याख्या है। संहिताओं के मन्त्रों का विनियोग यज्ञों में किस प्रकार होना चाहिए, ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रधान रूप से इस विषय का प्रतिपादन है। इसका व्यवहारकाल गृहस्थाश्रम ही है। तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। गृहस्थी के धर्म से मुक्त होकर अब मनुष्य वन की ओर अभिमुख होता है। आरण्यक शब्द के मूल में भी यही भावना है। उस समय अरण्य में रहकर वह जिन ग्रन्थों का अध्ययन करता है, वे आरण्यक कहे जाते हैं। वानप्रस्थ में प्रवेश करने के बाद दीर्घकालीन और व्ययसाध्य यज्ञों को करने की सामर्थ्य उसमें नहीं रह जाती इसलिए इस अवस्था में 'अश्वमेध' का अर्थ भी बदलकर 'इन्द्रियों का वशीकरण' मात्र हो जाता है। उपनिषद् का अपर पर्याय वेदान्त है—**वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्।**[2] ब्रह्मसूत्र उपनिषदीय सिद्धान्तों का ही सूत्रात्मक सार है। वेद के समान यह जीवन के भी अन्तिम भाग से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से केवल संन्यासी ही उपनिषद् का अधिकारी हो सकता है।

उपनिषद् के गुरु व गभीर रहस्यों को आत्मसात् करने के लिए जिस तत्त्वावगाहिनी दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का अध्ययन, बोध व आचरण कर चुकने के बाद जीवन के अन्तिम भाग में ही मानव को प्राप्त हो पाती है। विद्याध्ययन के लिए प्रविष्टमात्र ब्रह्मचारी अथवा अर्थ और काम की उपासना में निरत गृहस्थी के लिए उपनिषद् का गूढ़ ज्ञान नहीं है। अङ्गों सहित वेदाध्ययन करने तथा यज्ञयागादि के अनुष्ठान के अनन्तर वानप्रस्थ जीवन में जब वेद के आध्यात्मिक अर्थों में प्रवेश होने लगता है, तब शनैः-शनैः

★ रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उस दृष्टि का निर्माण होता है जो उपनिषद् के रहस्यों को खोल सके। अतः संन्यासी के लिए ही उपनिषद् यात्रा प्रारम्भ करने का योग्य अवसर बनता है क्योंकि साधारण व्यावहारिक बुद्धि उपनिषद् के चरम तत्त्व के ग्रहण में सर्वथा अक्षम है।

वेदान्त के ग्रन्थों में उसके अधिकारी का निरूपण करते हुए जिन योग्यताओं का प्रतिपादन किया गया है उनसे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। **विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः** की योग्यता उसी व्यक्ति में हो सकती है जिसने नियमपूर्वक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्याश्रम का निर्वाह किया हो। **काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानम्** गृहस्थी का धर्म है। इस व्रत का धर्मपूर्वक पालन करने पर ही **निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्त निर्मल स्वान्तः** हो पाता है। इस स्थिति को प्राप्त करके व्यक्ति वानप्रस्थ में प्रवेश करता है। वानप्रस्थी के रूप में पचीस वर्ष की निरन्तर साधना से उसमें कुछ अतिरिक्त योग्यताएं आ जाती हैं। इन्हें ही विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा आदि गुणों के रूप में निरूपित किया गया है।[3] इनमें सर्वाधिक अनिवार्य योग्यता 'मुमुक्षुत्व' की है। इसके जाग्रत होने पर ही जीव उपनिषद् का अधिकारी बन पाता है। इन विशिष्ट गुणों के बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव भी नहीं है क्योंकि यह अनुभव केवल प्रवचन, ग्रन्थों के अर्थ को धारण करने की शक्ति रूप मेधा अथवा गुरुमुख से विविध शास्त्रों का श्रवण मात्र करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। साधक जिस परमार्थ तत्त्व का वरण करता है उस वरण के द्वारा ही इसकी प्राप्ति सम्भव है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। मुण्डक० 3.2.3

वैदिक साहित्य में इस प्रकार के भी अनेक सन्दर्भ प्राप्त हो जाते हैं जबकि युवावस्था में ही गुरु शिष्य को उपनिषद् का ज्ञान प्रदान कर देता है। दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में इस प्रकार का भी एक प्रसंग आता है जहाँ युवा गुरु वृद्ध शिष्यों को सत्य का उपदेश कर रहा है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।। दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, ४

ब्रह्मचर्य के बाद सीधे ही संन्यास में प्रवेश करने का विधान भी सर्वथा धर्मानुमोदित है।[4] नचिकेता आदि अल्प वय में उपनिषद्ज्ञान के अधिकारी बन गये थे परन्तु एक तो इस प्रकार के अवसर अत्यल्प ही होते थे, दूसरे इसके लिए शिष्य को अत्यन्त कठिन परीक्षाओं से होकर गुजरना पड़ता था। यम विविध प्रकार के सांसारिक प्रलोभन दिखाकर नचिकेता की परीक्षा लेता है व उसमें सफल होने के बाद ही वह उसे आत्मा का रहस्य बतलाता है।

इस कोटि के साधकों के लिए गुरु की दीक्षा और मार्गदर्शन आवश्यक है। श्रुति का आदेश है कि जिज्ञासु को अत्यन्त विनम्र, सश्रद्ध और समर्पण भाव से समित्पाणि होकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाना चाहिए—**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्। समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**[5] गुरु उसकी अन्तर्दृष्टि, लोकनिर्वेद, सम्यक् ज्ञान, वैराग्य व भक्ति की परीक्षा लेता है।

मुमुक्षु की प्रथम परीक्षा यह होती है कि उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी हैं अथवा नहीं क्योंकि इन्द्रियों का यह स्वभाव ही है कि वे बहिर्मुखी होती हैं। साधक अपनी कठिन साधना से उन्हें अन्तर्मुखी बनाता है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। कठ० 2.1.1

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है—**नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।**[6] इसके साधन के रूप में अभ्यास और वैराग्य की महिमा श्रीमद्भगवद् गीता में प्रतिपादित है—**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**[7]

द्वितीय परीक्षा आत्मशुद्धि की है। समस्त पापों व दुष्कर्मों का निरोध करके शान्त व स्वस्थ वृत्ति को प्राप्त होना भी आत्मज्ञान के लिए सुतराम् आवश्यक है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। कठ० 1.2.23

मुण्डकोपनिषद् सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य को आत्म प्राप्ति के लिए अनिवार्य मानती है—**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।**[8] बल्कि कोरा ज्ञान तो सत्य की प्राप्ति में और अधिक बाधक है, अतएव उसके साथ 'सम्यक्' विशेषण का प्रयोग किया गया है। ईशोपनिषद् का कथन है कि जो लोग अपने ज्ञान का गर्व करते हैं, वे और अधिक अन्धतामिस्र लोकों में प्रवेश करते हैं—**ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।**[9] आचार्य शंकर के अनुसार यह ज्ञान **तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्**[10] कृते है।

जो संसार के उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन को जीने से घबराता है, वह अशक्त, प्रमादी और आलसी व्यक्ति भी संन्यस्त होकर उपनिषद् मार्ग का अधिकारी नहीं बन सकता। शास्त्र विरुद्ध कठोर तपस्या भी आत्मज्ञान की साधिका नहीं है बल्कि गीता में भगवत्पाद कृष्ण ने यह कहा है कि उपवासादि घोर आचरणों द्वारा शरीर को सुखाना परमार्थतः परमात्मा को ही क्लेश देना है।[11] यह तो आसुरी वृत्ति हुई। मुण्डकोपनिषद् कहती है कि—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। मुण्डक० 3.2.4

शङ्कराचार्य ने यहाँ 'तपस्' का अर्थ 'ज्ञान' तथा 'लिङ्ग' का अर्थ 'संन्यास' किया है। इसका अभिप्राय यह बनता है कि संन्यास रहित ज्ञान से आत्मतत्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। ज्ञान और वैराग्य इन दोनों का सद्भाव होना चाहिए—**तपोऽत्र ज्ञानं, लिङ्ग संन्यासः। संन्यास रहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः।**[12]

यह कठोर मार्ग शिर पर अग्नि का वहन करने के समान है—**तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।**[13] साधक अपनी बुद्धि में मुमुक्षा की अग्नि धारण करता है। गुरु के लिए यह निर्देश है कि जब तक इसकी सिद्धि न हो जाए उसे शिष्य को उपनिषद् का उपदेश नहीं करना चाहिए। मुण्डन तथा कषाय वस्त्र आदि को धारण करना तो यहाँ लाक्षणिक ही है। इनकी उपयोगिता केवल इतनी ही हो सकती है कि ये साधक को पथभ्रष्ट होने से बचा सकें। इन बाह्य चिह्नों से आत्मज्ञान के लिए और किसी प्रकार का उपकार होना सम्भव नहीं है। आनन्दगिरि ने समुचित ही कहा है कि—**न लिङ्गं धर्मकारणम्।**

श्रीमद्भगवद्गीता में भी संन्यास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।**[14] यह पुनः वेदान्त के **काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं** की भावना का स्मरण कराता है। अस्तु।

उपनिषद्ज्ञान पर प्रथमतया अधिकार उसका है जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ के सोपान को क्रमशः पार कर संन्यास की स्थिति तक पहुँचा है। अपवाद रूप में यदि कोई साधक इससे पूर्व ही शास्त्रोक्त योग्यताओं को प्राप्त कर ले तो वह सद्गुरु से संन्यास की दीक्षा ले सकता है। श्रुति का कथन है कि—**ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्। गृहाद्वा। वनाद् वा।**[15]

सन्दर्भ सङ्केत

1. महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्।
2. वेदान्तसारः, 3
3. वही।
4. यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्। जाबालोपनिषद् 4.
5. मुण्डक0 1.2.12
6. श्वेताश्वतर0 3/18
7. श्रीमद्भगवद्गीता 6/35
8. मुण्डक0 3.1.5
9. ईश0 9
10. प्रकरण पञ्चकम्, आत्मबोधः, श्लोक 1
11. अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। गीता 17/5-6
12. मुण्डक0 3, 2, 4 पर शांकर भाष्य
13. वही 3.2.10
14. गीता 18/2
15. जाबालोपनिषद् 4

य उ विद्यायां रताः

डॉ० माया मालवीय ★

वाजसनेयि संहिता की काण्व एवं माध्यन्दिन दोनों शाखाओं के चालीसवें अध्याय की संज्ञा ईशावास्योपनिषद् या ईशोपनिषद् है जो कि उसके प्रथम मन्त्र के क्रमशः प्रथम-द्वितीय पदों एवं प्रथम पद पर आधारित है। इसकी सर्वाधिक प्राचीनता का आधार इसका मन्त्र-संहिता से जुड़े रहना है। छोटी होते हुए भी यह उपनिषद् तत्त्वज्ञान और अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से महनीय एवं विश्व विश्रुत है। काण्व शाखा के ईशोपनिषद् में अठारह मन्त्र और माध्यन्दिन शाखा के उपनिषद् में कुछ क्रम-भेद से सत्रह मन्त्र हैं।

ईशावास्योपनिषद् के तीन मन्त्र क्रमशः 9, 10 एवं 11 विद्या-अविद्या प्रकरण से सम्बन्धित हैं। अनेक भाष्यकारों ने इनका अपने-अपने ढंग से अर्थ किया है पर उनमें विसंगतियाँ हैं। अपना पूर्वाग्रह जनित अर्थ बैठाने के लिये भाष्यकारों द्वारा अर्थों की खींचा-तानी स्पष्ट परिलक्षित होती है। तीनों मन्त्र इस प्रकार हैं—

> **अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।**
> **ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।**
> **अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।**
> **इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।**
> **विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।**
> **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।**

भाष्यकारों में श्री शंकराचार्य का स्थान सर्वोपरि है, इस दृष्टि से विचार के केन्द्र बिन्दु में मुख्यतः उन्हीं का भाष्य है। श्री शंकराचार्य[1] मन्त्र 9 में 'अविद्या' का अर्थ 'कर्म' और 'विद्या' का अर्थ 'देवताज्ञान' लेते हैं—

......इह तु समुच्चिचीषया अविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्। विद्यया देवलोकः (बृ० उ० 1.5.17) इति पृथक्फलश्रवणात्।.....तत्र अन्धन्तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के? येऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो

★ रीडर, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

विद्याविरोधित्वात्, तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति, के? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रताः अभिरताः.....।

श्री शंकराचार्य के अनुसार "देवताज्ञान" और "कर्म" के परस्पर फल में भेदों के कारण ही प्रत्येक के अनुष्ठान की निन्दा समुच्चय के अभिप्राय से की गई है, निन्दा के अभिप्राय से नहीं। उपर्युक्त व्याख्या में अविद्या को कर्म बता कर स्पष्ट किया गया है कि कर्म विद्या विरोधी है और जो अग्निहोत्रादि लक्षणरूप कर्मों को ही करते हैं वे अदर्शनात्मक तम में प्रवेश करते हैं। यहाँ पर **लक्षणामेव केवलाम्** भी विचारणीय है। एवार्थक या केवलार्थक कोई शब्द मूलमन्त्र में नहीं है। अतः इसे ऊपर से लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह कि विद्या और अविद्या का अर्थ 'देवताज्ञान' और 'कर्म' लेने पर दोनों का ही फल कम या अधिक अन्धकार ही कहा गया है, दूसरा कुछ नहीं। 'कर्म' (अग्निहोत्रादि रूप) से अन्धकार प्राप्त होगा और 'देवताज्ञान' से कुछ अधिक अन्धकार प्राप्त होगा। बस यही अन्तर है दोनों के फलों में लेकिन विद्या से भी 'अन्धकार' मिलेगा, यह श्रुतिविरुद्ध प्रतीत होता है। विद्या से आत्मा का साक्षात्कार होता है, अमृत प्राप्त होता है, अन्धकार नहीं। यहाँ **भूय इव तमः** का अर्थ कुछ दूसरा प्रतीत होता है। वह नहीं, जो लिया गया है। यह भी विचारणीय है कि नीचे की पंक्ति में 'अन्ध' नहीं है।

मन्त्र संख्या दस में विद्या और अविद्या के फल अलग-अलग हैं, ऐसा बताया गया है।

शांकरभाष्य–मन्त्र 10

अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति विद्यया देवलोकः (बृ० उ० 1.5.16) **विद्यया तदारोहन्ति इति श्रुतेः। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते कर्मणा पितृलोकः** (बृ० उ० 1.5.16) **इति श्रुतेः। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः।**

मन्त्र 9 की व्याख्या में दिये गये विद्या एवं अविद्या के अर्थों की पुष्टि में आचार्य शंकर मन्त्र 10 की व्याख्या में **विद्यया देवलोकः** आदि श्रुतियों का प्रामाण्य उपस्थित करते हैं। 'देवता ज्ञान' से अलग फल और कर्म से दूसरा फल बताया गया है, जबकि मन्त्र के कथ्य से विसंगति प्रतीत हो रही है। विद्या के अर्थ से अन्धकार प्राप्ति की संगति भी नहीं बैठ रही है।

शांकरभाष्य-मन्त्र 11

एत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव एक पुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते।

अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा

अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति। तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्।।

आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु अर्थात् मृत्यु शब्द वाच्य स्वाभाविक कर्म और ज्ञान दोनों को पार करके विद्या अर्थात् देवता ज्ञान से अमृत अर्थात् देवतात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। देवतात्मभाव को प्राप्त होना ही अमृत की प्राप्ति है। आचार्य शंकर विद्या से आत्मविद्या का ग्रहण नहीं करते हैं। उनके अनुसार परमार्थ विद्या और कर्म का परस्पर विरोध होने से उनका समुच्चय नहीं हो सकता। वे कहते हैं—**विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात् तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथास्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते।** (18)

लेकिन 'विद्या' शब्द से 'आत्मविद्या' का ग्रहण न करने एवं 'अमृत' से देवतात्मभाव मानने पर विसंगति एवं अर्थसङ्कोच हो रहा है। देवतात्मभाव या देवलोक की प्राप्ति का अर्थ है पुण्यक्षीण होने पर पुनः जन्म लेना। यह अमृत अथवा अमरत्व या अविनाशी तत्त्व की प्राप्ति नहीं है।

ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र 3 में असूर्य 'लोकों' को घोर तमस् से आवृत कहा गया है। आत्महन्ता मृत्यु के बाद इन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तान्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।। (3)

इससे स्पष्ट होता है कि मन्त्र 9 में अविद्या का अर्थ आत्मा का हनन करने वाला अज्ञान अभीष्ट है, कर्म नहीं। इस प्रकार विद्या का अर्थ आत्मज्ञान युक्तियुक्त है। मन्त्र 8 में आत्मा का रूप सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, मनीषी और स्वयम्भू बताया गया है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू....

आचार्य शंकर का कथन है कि 'विद्या' शब्द से परमात्मज्ञान मानने पर **हिरण्मयेन पात्रेण** (मन्त्र 15) और **अग्ने नय सुपथा राये** इत्यादि मन्त्रों के अर्थों की विसंगति होने से **आत्मनः प्राप्तिद्वारं मार्गादियाचनं** अनुपपन्न हो जायेगा।

उव्वट एवं महीधर ने माध्यन्दिनीय वाजसनेयि संहिता के अङ्गभूत ईशावास्योपनिषद्[2] का भाष्य किया है। विद्या-प्रकरण के मन्त्र 12, 13, 14 की व्याख्या में उव्वट ने 'अविद्या' का अर्थ 'स्वर्गादि देने वाले सकाम कर्म और 'विद्या' का अर्थ 'आत्मज्ञान' किया है। तमस् को उन्होंने **अज्ञानलक्षणं तमः** कहा है।

उव्वट भाष्य-मन्त्र 11

अन्धं तमः अज्ञानलक्षणं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यां स्वर्गाद्यर्थानि कर्माणि उपासतेऽनुतिष्ठन्ति। ततो भूय इव ते तमः। ततोऽपि बहुतरम्। इवोऽनर्थकः। ते तमः प्रविशन्ति। ये उ ये पुनः। विद्यायामेव रताः आत्मज्ञान एवाकृतकर्माणो रता नराः।

उव्वट के अनुसार वेदविहित सकाम और निष्काम कर्म अविद्या है। कामनाओं की पूर्ति के लिये सकाम कर्म और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्म किया जाता है। चित्तशुद्धि के बाद ही ब्रह्मलोक रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्य उव्वट इसी अविद्या रूप कर्म के साथ विद्या रूप आत्मज्ञान का समुच्चय स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जो केवल आत्मज्ञान में रत है और "अकृतकर्माणः" हैं, वे अदर्शनात्मक अर्थात् आत्मदर्शन विहीन अज्ञान या अविद्या रूप अधिकतर 'तम' या अन्धकार लोक को प्राप्त होते हैं।

महीधर आचार्य शंकर के समान ही 'विद्या' को देवताज्ञान और अविद्या को अग्निहोत्रादि कर्म मानते हैं—

ये तु कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषन्ति तान् प्रत्युच्यते। विद्याविद्ययोः समुच्चियीषया प्रत्येकं निन्दा उच्यते। विद्याया अन्या अविद्या कर्म। ये जना अविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणां केवलामुपासते स्वर्गार्थानि कर्माणि केवलमनुतिष्ठन्ति ते अन्धमदर्शनात्मकं तमोऽज्ञानं प्रविशन्ति। संसारपरम्परामनुभवन्तीत्यर्थः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव तमः ते प्रविशन्ति। ये उ ये पुनर्विद्यायामात्मज्ञाने देवताज्ञाने एव रताः कर्माणि हित्वा कर्माकरणे प्रत्यवायोत्पत्त्यान्तः-करणशुद्ध्याद्यभावेन ज्ञानानुदयादिति भावः।(12)

अविद्योपासना (वेदविहित अग्निहोत्रादि कर्म) से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। शुद्धि के अभाव में आत्मज्ञान असम्भव है।

उव्वट भाष्य-मन्त्र 13

अन्यदेव फलमाहुः विद्यायाः। आत्मज्ञानादन्यच्च आहुः अविद्यायाः कर्मणः।

महीधर—तयोः फलभेदमाह। विद्यायाः आत्मज्ञानस्य फलमन्यदेवाहुरमृतरूपम्। अविद्यायाः कर्मणश्च फलं पितृलोकरूपमन्यदेवाहुः धीराः। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः (बृह० उ० 1.5.16) इति श्रुतेः। भाष्य स्पष्ट ही है।

उव्वट भाष्य-मन्त्र 14

विद्याञ्च आत्मज्ञानञ्च अविद्यां कर्म च यस्तदुभयं वेद जानाति सह एकीभूतं कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डस्य गुणभूतम् अथ कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डं च एकीकृत्य। अविद्यया कर्मकाण्डेन मृत्युं तीर्त्वोत्तीर्य कृतकृत्यो भूत्वा विद्यया ब्रह्मपरिज्ञानेनामृतत्त्वं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति।

महीधर

समुच्चयमाह। विद्यां देवताज्ञानम् अविद्यां कर्म च तदुभयं विद्याविद्यारूपं द्वयं यः सह वेद

एकीकृत्य वेद एकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं जानाति। कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डस्य गुणभूतमित्यर्थः। सोऽविद्ययाग्निहोत्रादि कर्मणा मृत्युं स्वाभाविककर्मज्ञानं मृत्युशब्दवाच्यं तीर्त्वोत्तीर्यान्तःशुद्ध्या कृतकृत्यो भूत्वा विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति, 'तद्धि अमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्' इति श्रुतेः।

उपर्युक्त प्रकरण में आचार्य उव्वट आत्मज्ञान को विद्या और कर्मानुष्ठान को अविद्या कहते हैं, जबकि महीधर आचार्य शंकर के अनुसार ही देवताज्ञान को विद्या कहते हैं। उव्वट के अनुसार जो मनुष्य आत्मविज्ञान के साथ-साथ अग्निहोत्रादि शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान करता है वह कर्मकाण्ड से ऐहिक और आमुष्मिक कामनाओं को प्राप्त करता है और भोगों को भोगकर ब्रह्म परिज्ञान रूप विद्या से आत्मसाक्षात्कार रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। आचार्य महीधर के अनुसार जो मनुष्य देवोपासना रूप विद्या और अग्निहोत्रादि सकाम कर्म रूप अविद्या को एक साथ एक पुरुष से अनुष्ठेय मानकर तद्वत् आचरण करता है, वह अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् कर्म और ज्ञान दोनों को पार कर लेता है। तदनन्तर वह देवोपासना से स्वयं देवता बन जाता है। देवतात्व—प्राप्ति ही अमृत—प्राप्ति है। इस प्रकार 'विद्या' और 'अमृत' शब्दों की उव्वट-महीधर की व्याख्या अलग-अलग है।

शंकर के समान ही महीधर भी मानते हैं कि विद्या शब्द का परमात्मविद्या अर्थ मानने पर अविद्या (कर्म) के साथ उसका समुच्चय नहीं हो सकेगा क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है। दोनों एक साथ एक पुरुष में नहीं रह सकते। आत्म ज्ञान हो जाने पर अविद्या के लिए वहाँ अवकाश ही नहीं है। जब सभी जीवों में आत्मानुभूति हो गई तब ज्ञानी को क्या मोह? क्या शोक? (ईशा॰ 7)। विद्या से परमात्मविद्या अर्थ लेने पर **अग्ने नय सुपथा राये** (ईशा॰ 16) मन्त्र से 'सुपथ' की याचना का भी औचित्य इष्ट की प्राप्ति हो जाने के कारण नहीं रह जाता। इस प्रकार वे 'विद्या' शब्द से 'उपासना' अर्थ लेने का औचित्य प्रतिपादित करते हैं।

महीधर के विपरीत आचार्य उवट 'विद्या' से अर्थ 'परमात्मज्ञान' लेते हैं और कर्म और परमात्मविद्या के समुच्चय में तथा 'सुपथ' की याचना में कोई विरोध या असंगति नहीं मानते। महीधर **अमृतमश्नुते** में 'अमृत' का अर्थ कार्यब्रह्म या सगुण ईश्वर की प्राप्ति मानते हैं। मन्वन्तर में कर्म का परिपाक होने पर उसका पुनः जन्म ग्रहण होता है। 'अमृत' सापेक्ष है जबकि आचार्य उव्वट 'अमृत' शब्द से निरपेक्ष मुक्ति का आशय लेते हैं। परब्रह्म की प्राप्ति के बाद संसार का आवागमन-चक्र समाप्त हो जाता है और पुनर्जन्म नहीं होता। परब्रह्म की प्राप्ति ही मुक्ति है, 'अमृत' है।

उपर्युक्त सभी व्याख्याओं में कुछ न कुछ पूर्वाग्रह जनित विसंगतियाँ स्पष्ट लक्षित हैं जिससे मूल अर्थ तक पहुँचने में बाधा होती है। वस्तुतः पूरे विद्या प्रकरण में **ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः** पंक्ति में 'तम' के अर्थ को लेकर ही सारी खींचातानी या विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं क्योंकि यह बात किसी भी प्रकार ग्राह्य नहीं हो सकती कि विद्या का उपासक अविद्योपासक की अपेक्षा अधिक घने अन्धकार को प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में उक्त पंक्ति के सही मर्म तक पहुंचने के लिए अन्तःसाक्ष्य की सहायता लेना ही ठीक होगा।

इस सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि ईशोपनिषद् में मन्त्र संख्या 3 और 9 में जहाँ तम का अर्थ बन्धन से अभीष्ट है वहाँ उसके साथ 'अन्ध' शब्द का विशेषण अवश्य लगा हुआ है जबकि विद्या की उपासना के परिणाम में इस विशेषण का अभाव है। अतः 'अन्धन्तमः' और केवल 'तम' इन दोनों के अर्थ में भेद करना आवश्यक है। मन्त्र 9 की द्वितीय पंक्ति **ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः** में 'तमस्' का अर्थ यदि उस अवस्था से लिया जाये जो नासदीय सूक्त (ऋग्वेद 10.129.2) में वर्णित है तो मन्त्र का निहितार्थ स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र इस प्रकार है—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे अर्थात् सृष्टि-रचना प्रारम्भ होने के पूर्व 'तम' की दशा व्याप्त थी जिससे सब कुछ आच्छादित था। उस समय सदसद् विलक्षण वह एक अपनी प्राणशक्ति से, बिना वायु के साँस ले रहा था। उससे परे कहीं कुछ भी न था। (**आनीदवातं स्वधया तदेकं....**)।

ऐसी स्थिति में मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार होगा—

जो अविद्या या सांसारिक विद्या का आश्रय लेते हैं, वे अज्ञान रूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं अर्थात् वे संसार चक्र में भ्रमण करते और दुःख भोगते रहते हैं और वे जो विद्या अर्थात् आत्मविद्या में लीन हैं वे सभी बन्धनों से मुक्त होकर उससे अधिक गूढ़तम अर्थात् सृष्टि पूर्व प्रलय दशा में स्थित उस निर्गुण परब्रह्म में प्रविष्ट या लीन हो जाते हैं।

विद्या-अविद्या दोनों के फलों में भेद है। विद्या अर्थात् आत्मज्ञान का दूसरा फल है, और अविद्या अर्थात् सांसारिक विद्या का दूसरा फल है। विद्या और अविद्या इन दोनों के स्वरूप-भेद को जो साथ-साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् जगत्प्रपंच को व्यवस्थित, सुचारु रूप से सम्पन्न करके, संसार चक्र या कर्मफलों के विनाश रूप मृत्यु को पार करके विद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञान से अमृतत्त्व, अविनाशी या मोक्ष को प्राप्त करता है। संसार में पुनः उसका आवागमन नहीं होता।

विद्या का अर्थ देवताज्ञान और अमृत का अर्थ देवतात्मभाव की प्राप्ति मानने पर तो आवागमन का चक्र लगा ही रहेगा क्योंकि **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति** कहा गया है। एक ही व्यक्ति से जीवन में अविद्या और विद्या का समुच्चय और समन्वय किस प्रकार सम्भव है, इसका मार्गदर्शन इस उपनिषद् में ही प्रतिपादित है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। (1)

जगत् में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है। इस तत्त्व को ध्यान में रखते हुए (भोगों का) त्याग भाव से भोग करो। किसी के भी धन की इच्छा न करो। इस विधि से क्रियमाण कर्मों का संस्कार नहीं बनता। कर्म उसे लिप्त नहीं करते। इस मन्त्र में कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग, अविद्या और विद्या, प्रवृत्ति और निवृत्ति, सांसारिक विद्या और परमात्म विद्या का सुन्दर और व्यवस्थित समन्वय-समुच्चय है, दोनों में कोई विरोध नहीं है। विद्या और अविद्या के स्वरूप भेद को जान कर, दोनों को साथ-साथ चलाया जा सकता है, यही ग्यारहवें मन्त्र के **यस्तद्वेदोभयं सह** का निहितार्थ है। निष्काम भाव से त्यागपूर्वक सांसारिक कर्मों को

करता हुआ, परब्रह्म में लीन योगी व्यक्ति सत्य दर्शन अर्थात् आत्मस्वरूप के दर्शन कराने की प्रार्थना सहज रूप में कर सकता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। (15)

आचार्य शंकर की यह शंका संगत नहीं प्रतीत होती कि विद्या से 'परमात्म ज्ञान' मानने पर विद्या के उत्पन्न होने पर अविद्या के नाश के बाद फिर उसी आश्रय में 'अविद्या' की उत्पत्ति कैसे होगी? वह कैसे—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।। (18)

कह सकेगा? कैसे शुभ मार्ग से ले चलने और पापों के नाश की प्रार्थना कर सकेगा? वे जो ब्रह्मज्ञान की साधना में व्यवहारतः लगे हैं और वे जो उस स्थिति में सिद्ध हैं, दोनों ही इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि शरीर रहते हुए प्रार्थना और विनय धारण करके ही रहना पड़ता है। देहधारी की यही मर्यादा है। श्री रामकृष्ण परमहंस आत्मज्ञान को उपलब्ध होते हुए भी परम भक्त थे। अतः इस मन्त्र का अर्थ याचनापरक न लेकर, योगस्थ पुरुष द्वारा देह-त्याग के समय किये गये संकल्प के रूप में लेना चाहिए।

इस प्रकार कुल मिला कर ईशावास्योपनिषद् इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन करता है कि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों का सन्तुलन ही मनुष्य को एक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करके अन्त में जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् 'परब्रह्म में लयावस्था' प्राप्त करने में सहायता कर सकता है। याज्ञवल्क्य आदि अनेक महान् ऋषियों के जीवन से इस बात की पुष्टि होती है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. ईशावास्योपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, चौथा संस्करण संवत् 2060
2. ईशावास्योपनिषद् (उव्वट मन्त्र भाष्य महीधर कृत वेददीप संवलिता) मधुकर प्रकाशन, प्रयाग, 1986, प्रथम संस्करण

The Śruti अजामेकां from Philosophical Point of View

Dr. Shailaja S. Bapat ★

Introduction :

'अजामेकां' लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (4.5)

It is interpreted by Vedāntins and Sāṁkhyas in different ways. Sāṁkhyas interpret the passage 'अजामेकां....' with reference to Pradhāna principle while Vedāntins interpret the same as the supra-power of the Lord. Therefore, there arises a doubt as to which is the acceptable interpretation and which is the non-acceptable interpretation? Present paper makes an effort to evaluate the two interpretations of the passage, 'अजामेकां....'

Sāṁkhya's Interpretation

The Śruti 'अजामेकां'....'from the श्वेताश्वतर उपनिषद् is known as one of the Upaniṣadic sources of Sāṁkhya Philosophy. This Upaniṣad is also called a Sāṁkhyopaniṣad.[1] Vachaspati Mishra a famous Commentator in his commentary called सांख्यतत्त्वकौमुदी on the सांख्यकारिका of ईश्वरकृष्ण, performs Mangala in the similar words of the same Śruti passage.[2] This passage describes the Sāṁkhya principle, i.e.' त्रिगुणात्मिका प्रकृति 'which is described by the term 'लोहितशुक्लकृष्णा' 'which means three Guṇas of the Prakriti. The passage also adds further that the Prakriti originates different evolutes of its similar nature. The passage, in addition to that, makes mention of other important principle i.e. पुरुष who is the one and the

★ **Reader, Deptt. of Sanskrit and Prakrit, University of Pune, Pune, Maharashtra**

enjoyer. He is different from the Prakriti and it evaluates and he, after realising his own nature, becomes free from the Prakriti, the enjoyed one by Him. Accordingly, expressions in the same passage also occur with little difference in the सांख्यकारिका।[3]

Vedāntin's Interpretation :

Vedāntins hold different view regarding the interpretation of the passage, 'अजामेकां....'. Their view can by understood in the 'ब्रह्मसूत्र's of Bādarāyaṇa. 'ब्रह्मसूत्र's, are one of the main sources of Vedānta system. There are four chapters of the 'ब्रह्मसूत्र's. In the first chapter of the 'ब्रह्मसूत्र's, Bādarāyaṇa attempts at an establishment of proper word-meaning relationship among the śruti passages. Therefore, it is called 'समन्वयाध्याय'। In this Adhyāya, the padas (words) from the Śrutipassages under consideration, are of different types such as padas i.e. words occurred in the Śruti passages are also used in the common language. For example words like 'Jyoti' 'Ākāśa 'Prāṇa' etc. have common meaning. Jyoti means light, Ākāśa means sky and 'Prāṇa' means air. These words do not convey any technical meaning as such. Therefore, when common person (i.e. disciple) comes across these common words in the उपनिषद्s, may understand these words by their common meanings.

Similarly, there are other types of words which are not used in common language, but words such as 'Avyakta', 'Mahad', 'Aja' are used in the technical senses in the उपनिषद्s and in the Sāṁkhya Philosophy as well. Because of the use of words in the उपनिषद्s have similarity with the use in the common language and in the philosophical treatises, a genuine question can be raised as, do the different usages of these words mean the same in the उपनिषद् in the common language and in the philosophical works? Bādarāyaṇa tries to solve this question about the meanings of the same words used in the उपनिषद्s and the literature which is different from the उपनिषद्s, in the समन्वयाध्याय. Bādarāyaṇa has considered in the fourth part of समन्वयाध्याय the use of technical words in the Śrutis which are also used in the philosophical works. As present paper takes into consideration the Śruti passage 'अजामेकां'......it would be proper to pay attention to the 'Camasādhikaraṇa' in the fourth part of the समन्वयाध्याय. In this अधिकरण there are three sūtras viz. 1. Chamasavadaviśeṣāt 2. Jyotirupakramā tu tathā Hyadhiyata eke' 3. Kalpanopadeśācca Madhvadiveda virodhah'. Bādarāyaṇa has forwarded the reasons to determine the meaning of the śruti. 'अजामेकां....' There is the oldest commentary available to us by Shankara on the ब्रह्मसूत्र s. Therefore it would be easier to understand Bādarāyana's passage 'अजामेकां....' in the light of Shankar's शारीरकमीमांसाभाष्य.

Shankara in his commentary, explains the passage अजामेकां...' as it should not be

understood in the specific sense, because there is no reason to determine the meaning of the term अजा with reference to Prakriti or Pradhāna principle of the Sāṁkhya Philosophy. It's specifice meaning is explained by the similar example from the बृहदारण्यकोपनिषद् (2.2.3). The passage "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न:" from the बृहदारण्यकोपनिषद् (2.2.3), describes the spoon in general. While there is a specific description of chamasa in this passage, 'Idam tacchira esa hyarvāgbila śchamasa urdhvabudhnah' from the बृहदारण्यकोपनिषद (2.2.3)

In the same manner, the term अजा is explained with its specific meaning in the सूत्र 'Jyotirupakramā tu tathā hyadhiyata eke.' Shankara interprets the specific meaning of the term अजा in this सूत्र. He referes to the passage, 'Yadagneh rūpam tejasastadrūkpam yacchuklam tadapām yet kṛṣṇam tadannasya—' from the छांदोग्योपनिषद् (6.3.1). It means अग्नि has red form of अत्रिवृत् Light, white form of अत्रिवृत् Water, black form of अत्रिवृत् Food or Pṛthivi. Here in this passage the terms 'रोहित', 'शुक्ल' and 'कृष्ण' are used specifically with reference to the forms of cause of beings, while the same are used as the causal properties in the secondary sense. The specific meaning of the term 'अजा' in the passage 'अजामेकां...' is described as the supra power of the Lord in the passage 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् from the श्वेताश्वतर उपनिषद् (1.3). It is called 'माया' and the Lord is called मायिन् in the remaining verse, 'माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' from the श्वेताश्वतरोपनिषद् (4.10).

Thus, the उपनिषद्s maintain that subtle causal state is of the three forms viz. Lohita, Shukla and kṛṣṇa. It is the causal power dependent on the Lord for the creation of the beings. The same is described metaphorically as 'अजा' in the passage 'अजामेकां....' Having understood the intention of the उपनिषद्s, Bādarāyaṇa in the सूत्र 'तदधीनत्वादर्थवत्' (1.4.3) puts it in nutshell. Shankara elaborates the meaning of this sūtra in the following lines—

यदि वयं स्वतन्त्रां, काचित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या।....न हि तया विना परमेश्वरस्य स्त्रष्ट्रत्वं सिद्ध्यति। (page 148)

Having taken into account the different interpretations of the passage 'अजामेकां'....'by the Sāṁkhya philosophers and the Vedāntins, it would be proper to evaluate the two-fold interpretations of the Sāṁkhyas and the Vedāntins.

Evaluation of the two interpretations :

Sāṁkhyas interpret the term 'अजा' as Pradhāna, which is of three Guṇas. The interpretation of the term 'अजा' in this sense seems apparently sound. However, there arises a doubt about the interpretation of an adjective of 'अजा' as 'लोहितशुक्लकृष्णरूपां.' In view of the Sāṁkhya System the term लोहित refers to रजस् गुण the term शुक्ल refers to सत्त्व गुण and

the term कृष्ण refers to तमस् गुण. Therefore 'अजा' means Pradhāna of the nature of त्रिगुणs. However, three Guṇas are always enumerated in the irreversible order i.e. सत्त्व, रजस् and तमस्. This order of त्रिगुणs will be disturbed if they would be described in the order of 'लोहितशुक्लकृष्ण', as enumerated in the passage 'अजामेकां.....'

Furthermore, Sāṁkhya interpretation of the term 'अजा', in the sense of Pradhāna principle, becomes inconsistent with other verses in the श्वेताश्वतरोपनिषद्. In addition to that Sāṁkhya interpretation of the term अजा in the sense of Pradhāna principle contradicts the passage 'यदग्ने.....' from the छांदोग्योपनिषद् (6.3.1) On the other hand, according to vedantins, the interpretation of the term 'अजा' is used in general in the passage अजामेकां...... Therefore there is doubt about the meaning of the term 'अजा'. The expressions 'लोहितशुक्लकृष्णां' etc. in the passage 'अजामेकां...' are similar to the expressations 'यदग्ने....' which described the cause of origination of the भूतs. Therefore, there arises a doubt about the meaning of the term 'अजा' whether it is Pradhāna principle or देवता the cause of the भूतs having three fold forms. In this regard, Shankara determines the meaning of the term 'अजा' as a देवता, by employing the interpretation rule as **असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं।**[4]

As it has been taken into account of the two important views accepted by the ancient Sāṁkhya tradition and the Vedānta tradition of the interpretation of the Vedas. It would be proper now, to think about the reasons for the basic differences between the two traditions of the interpretation of the Vedas.

In addition to that, Sāṁkhyas want to assert the inferred knowledge of the principles by means of the श्रुतिs. Sāṁkhya's approach toward श्रुतिs, makes it clear that Sāṁkhyas maintain अनुमान प्रमाण as the source of the knowledge of the subtle principle, while शब्दप्रमाण i.e. श्रुतिs justify the inferencial knowledge. Sāṁkhyas try to strengthen the knowledge of the Sāṁkhya-principles on the basis of the श्रुतिs.[5] Sāṁkhyas want to establish their own doctrines, however they do not take interest in the establishment of validity of the Vedas. Vedantins on the other hand do not establish any doctrine as such. Vedāntins have made genuine efforts for determining the meaning of the Vedic passages. They interpret the वेदs with the academic purpose. मीमांसकs want to achieve the determinate meaning for both ignorant and the learned one.[6] Therefore, Vedāntins determine the meaning of the वेदs by establishing the harmony of all the वेदs. According to them validity of the वेदs depends upon the harmony of the meaning of the वेदs as the ब्रह्मन्, the Ultimate Reality. Regarding the passage 'अजामेकां...' Vedāntins determine the meaning of the term the 'अजा' in the light of other श्रुतिs e.g. छांदोग्योपनिषद्. Therefore, it can be said that Sāṁkhya interpretation of the

श्रुतिs has its own limitations. Sāṁkhyas do not take into consideration consistency of entire श्रुति literature. They satisfy themselves with the primary meaning of the Vedas. They do not think about the consistancy of the meaning in relation with other relevant श्रुति passages. While vedāntins attempt at an important task of the interpretation of the meaning in the context of entire श्रुति literature. They interpret doubtful passages and establish their coherence with other श्रुतिs. Because of their holistic approach towards श्रुति literature Vedāntins lay down their deep influence on the science of Vedic interpretation and remain for ever on the top of the other systems of Indian Philosophy.

References & Notes

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी–Page 1
2. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नुमामः।
   अजा ये जुषमाणां भजन्ते जहात्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्।। सांख्यतत्त्वकौमुदी Page 2
3. त्रिगुणमविवेकि विषयः–
   व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।। सांख्यकारिका No. 11
   पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्', सांख्यकारिका No. 17
   'प्रकृति पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवास्थितः स्वच्छः।। सांख्यकारिका No. 65
   प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
   ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।। सांख्यकारिका No. 68.
4. ŚaṅkaraBhāṣyam Page—156
5. एवं च परावलंबिनी श्रुतिर्न स्वातंत्र्येण मूलकारणं बोधयितुं प्रभवति। किंत्वनुमान द्वारैव। सर्वदर्शनसंग्रह, Introduction Page No. 46.
6. असंदिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवन्मतः।
   मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्।। श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्, page 5

Select Bibliography of the books :

1. Abhyankar (Editor, Commentator); (1978) सर्वदर्शनसंग्रह Pune GOS Class 1, No. 1, BORI.
2. Motilal Banarsidas (Publisher) श्री ब्रह्मसूत्रम् शांकरभाष्योपतम्।
   Delhi, श्री शंकराचार्यग्रन्थावली volume III.
3. Mumsalgaonkar Gajanan Shastri (Editor, Commentator) : (1979)
   सांख्यतत्त्वकौमुदी of वाचस्पति मिश्र Varanasi चौखंबा संस्कृत संस्थान काशी संस्कृत ग्रन्थमाला No. 208.
4. Shastri Magnalal Sharma (Editor) : (1980) श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् Deli Butal & Co.
5. V. Sadānanda (Publisher) : (1910) छांदोग्योपनिषद्भाष्य, Madras श्री शांकरग्रन्थावलि : No. 9
6. V. Sadānanda (Publisher) : (1910) बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, Madras
   श्री शांकरग्रन्थावलि : No. 10

❒

उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व दर्शन

डॉ० श्याम सनेही लाल शर्मा ★

पुरोवाक्

जगत् त्रिविध तापों से परिपूर्ण है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन तापों से संतप्त-संत्रस्त जगत् को इनसे सर्वथा मुक्ति प्रदान करने के लिए मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन से प्राप्त प्रज्ञासत्य के तार्किक विवेचन से जिस तत्त्व का अन्वेषण किया, भारतीय परम्परा उसे 'दर्शन' के नाम से जानती है, जिसके वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में कहा गया है :

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता।।

ऋषियों द्वारा अन्वेषित दर्शन तत्त्व अन्य सम्पूर्ण विद्याओं के चिन्तन-मनन से उत्पन्न भ्रमरूप अन्धकार के विनाश के लिए दीप-सदृश है; समस्त कर्मों के अनुष्ठान का एकमात्र साधन है तथा समस्त धर्मों का आधार है।

यह तथ्य निर्भ्रान्त रूप में मान्य है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा का उद्गम 'ऋग्वेद' में है। 'ऋग्वेद' में दार्शनिक चिन्तन के मूल तत्त्व प्राप्त होते हैं। वहाँ 'महर्षि प्रजापति परमेष्ठी' जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं—**आनीदवातं स्वधया तदेकम्**[1] अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में एक ही तत्त्व वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेता था। इसी प्रकार आंगिरस ऋषि वस्तुगत सत्य की पहचान के लिए तर्क की उपयोगिता को संकेतित करते हुए कहते हैं : **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्**[2] अर्थात् परस्पर मिलो, विषय का विवेचन करो और एक-दूसरे के मन को पहचानो। इन दोनों ऋचाओं में दार्शनिक विचारधारा के पृथक् स्रोत उपलब्ध हैं, पहला प्रज्ञामूलक है—जो अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा तत्त्वों का विवेचन करता हुआ अद्वैत तत्त्व पर स्थिर हो जाता है और दूसरा, तर्कमूलक—जो अपनी तार्किक बुद्धि के द्वारा तत्त्वों की समीक्षा करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर अभीष्ट सिद्धिरूपी सीमा पर विरत होता है। वेद केवल दार्शनिक चिन्तनधारा के ही नहीं, अपितु सृष्टि में विद्यमान समस्त ज्ञान-विज्ञान के आद्य स्रोत हैं। महामनीषी भगवान् 'मनु' ने इसीलिए वेद को **सर्वज्ञानमयो हि सः** कहा है। वैदिक वाङ्मय मुख्यतः तीन भागों

★ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, कुसुमबाई जैन कन्या महाविद्यालय, भिण्ड, मध्य प्रदेश

में विभक्त है : (1) संहिता (2) ब्राह्मण और (3) आरण्यक एवं उपनिषद्। इस प्रकार उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के विकास के तीसरे सोपान पर है।

उपनिषद् : तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत :

'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद् गतौ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'उपनिषद्' शब्द उस विद्या का अर्थवाची है, जिसके द्वारा व्यक्ति परमात्मा के अत्यन्त निकट पहुंच जाता है। 'उपनिषद्' आरण्यकों के विशिष्ट अङ्ग हैं। भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव उपनिषदों को प्राप्त है। वैदिक धर्म की मूल तत्त्व प्रतिपादिका 'प्रस्थानत्रयी'[3] में मुख्य उपनिषद् ही है। वेद के सारभूत सिद्धान्तों के निदर्शक उपनिषद् ही 'वेदान्त' के नाम से विख्यात है। 'वेदान्त' में वेद के अन्तिम भाग 'उपनिषद्' का अध्यात्म ही विकसित हुआ है। 'वेदान्तसार' के प्रणेता 'सदानन्द' ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है :

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरिकसूत्रादीनि च[4]

अर्थात् जिसमें उपनिषदों के वाक्य प्रमाण स्वरूप दिये गये हैं अथवा जिसमें जीव का सम्यक् सूक्ष्म विवेचन किया गया है, वह 'वेदान्त' है। इसीलिए '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि शारीरक सूत्रों तथा 'श्री मद्भगवद्गीता' इत्यादि आध्यात्मिक शास्त्रों को भी 'वेदान्त' कहा गया। तात्पर्य यह कि मूल रूप में 'उपनिषद्' ही 'वेदान्त' के नाम से जाने गये और इन्हीं उपनिषदों के आधार पर जिस धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन परम्परा का विस्तार हुआ, वह सब 'वेदान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'उपनिषद्' शब्द ज्ञान-काण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य का द्योतक है, जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ था। 'उपनिषद्' मुख्यतया 'ब्रह्मविद्या' का सङ्केतक है, क्योंकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षजनों की संसारबीज रूपी अविद्या नष्ट हो जाती है; वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं :

अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्-विनाशनाद्....परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्....गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनः पुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन वा...ब्रह्मविद्योपनिषद् (शांकरभाष्य)

इसीलिए आचार्य शंकर के मत में 'उपनिषद्' का मुख्य अर्थ 'ब्रह्मविद्या' तथा गौण अर्थ 'ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष' है। प्राचीन उपनिषदों ने वैदिक देवताओं से ऊपर उठकर एक अनाम-रूप ब्रह्म को ही इस विश्व का स्रष्टा, नियन्ता तथा पालनकर्ता विवेचित किया है। इस दृष्टि से छान्दोग्य, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य उपनिषद् अनाम-रूप ब्रह्म के प्रतिपादक होने से प्राचीनतम माने गये हैं।[5] कठोपनिषद् में 'विष्णु' को और कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदों में 'महादेव' को परमपद पर प्रतिष्ठित किया गया।

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप : एकमेवाद्वितीयम् :

ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है, जो सृष्टि के अणु-अणु में परिव्याप्त है, जो निराकार, निर्विकार,

अविनाशी, अनादि, चैतन्य तथा आनन्दमय है। ब्रह्म अनन्त एवं अद्वितीय है। वह नामरूपादि से हीन है। वह निरपेक्ष, स्वतन्त्र, शुद्ध तथा अतीन्द्रिय सत्ता है। वह कर्ता नहीं, अतः निष्क्रिय है। समग्र जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है आदि के रूप में ब्रह्म के स्वरूप विवेचन की जो सुदीर्घ परम्परा भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्राप्त होती है।[6] उसका मूलोत्स उपनिषद् ही है। **अयमात्मा ब्रह्म, सर्वखल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि**—जैसे उपनिषद् वाक्यों में व्यक्त सिद्धान्त का व्यापक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, गहन और तत्त्वपूर्ण विवेचन परवर्ती भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों और साहित्य में अनेक प्रकार से हुआ है।

जैसे मृत्तिका ही सत्य है और उससे बने भाण्ड केवल नाममात्र के विकार हैं—उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' स्पष्टतः इस तत्त्व सत्य का उद्घोष करता है :

सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्....तदैक्षत एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेयेति.....यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्.... (छा० 6/2/1)।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है, कि जैसे धधकती हुई आग से चारों ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है :

स यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः (ब्रह्मणः) सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। (बृ० 3)।

श्वेताश्वतर उपनिषद् निरूपित करता है, कि वही एक ब्रह्म आत्मा के रूप में सम्पूर्ण जीवों में व्याप्त है : **एको देव सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेताश्वतर उप०)। वही 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के मत में जिस प्रकार पानी में घुला नमक दिखाई नहीं देता, पर वह जल के अणु-अणु में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त है :

स यथा सैन्धवाखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत्, न ह अस्य उदग्रहणाय इव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैकं वा अरे इदं महद्भूतम् अनन्तम् अपारं विज्ञानघन एव (बृ० 3)।

समग्र जगत् जिस ब्रह्म का विवर्त है, जो सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त है, जो सर्वव्यापी, अनन्त एवं अद्वितीय है, उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है? केनोपनिषद् में इसी गूढ़ तत्त्व को बड़े ही सुन्दर और सुबोध ढंग से समझाया गया है। वहाँ आरम्भ में ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।। (केनो० 1/1)

और इस प्रश्न के उत्तर में परब्रह्म को ही मन, प्राण एवं इन्द्रियों का प्रेरक कहा गया है :

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः, प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। (केनो० 1/2)

अतीन्द्रिय और सर्वशक्तिमान :

"केनोपनिषद्' में ब्रह्म को वाणी, नेत्र तथा कर्ण आदि इन्द्रियों से परे कहा गया है। वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती, अपितु जिसकी शक्ति से वह बोलने में समर्थ होती है, वह ब्रह्म है :

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। (केनोपनिषद्, 1/4)

इसीलिए वाणी के द्वारा व्यक्त जिस तत्त्व की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। वह तो वाणी से सर्वथा परे है। 'केनोपनिषद्' के गुरु-शिष्य-संवाद में गुरु स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं कि परब्रह्म को मन के द्वारा भी कोई नहीं जान सकता, अपितु जिसकी शक्ति से मनन-क्षमता का विकास होता है, वह परब्रह्म है।[7] जिसे आँख देख नहीं सकती, अपितु जिसकी शक्ति से आँख देखने में समर्थ होती है, वह ब्रह्म है।[8] कान जिसकी महिमा को सुन नहीं सकते, अपितु जिसकी शक्ति और प्रेरणा से कान को शब्द-ग्रहण की योग्यता मिली है, वह ब्रह्म है[9] और जो प्राण द्वारा सचेष्ट नहीं होता, अपितु जिससे प्राण चेष्टा युक्त होता है, वह ब्रह्म है।[10] तात्पर्य यह कि वाणी, मन, चक्षु, कर्ण, प्राण आदि इन्द्रियों के अनुभव का जो विषय है तथा जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह परब्रह्म परमात्म का यथार्थ रूप नहीं है। इन इन्द्रियों को विषय-ग्रहण की योग्यता जिसकी शक्ति और प्रेरणा से मिली है, वह तत्त्व ही परब्रह्म है। इसीलिए गुरु, शिष्य के माध्यम से ऐसे लोगों को सचेत करता है, जो ब्रह्म तत्त्व को जान लेने का दावा करते हैं।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि, नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु, मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्।। (केनोपनिषद् 2/1)

यदि तू यह मानता है, कि मैं ईश्वर को भली-भाँति जान गया हूँ, तो यह निश्चित है, कि तू उसके स्वरूप को थोड़ा-सा जानता है, क्योंकि उस परमेश्वर का जो आंशिक स्वरूप देवताओं में है, वह सब मिलकर भी ईश्वर का एक अंश मात्र है। वस्तुतः जानने का अभिमान रखने वाले के लिए परब्रह्म अज्ञात ही है, जो इस अभिमान से मुक्त है, वही इसे वास्तव में जान पाता है—"**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्**" फिर भी मानव-जीवन की सार्थकता ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए प्रयासरत रहने और मानव-जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि ब्रह्मतत्त्व को जान लेने में है, केनोपनिषद् का यह निष्कर्षात्मक अभिमत है। इस छोटे किन्तु मार्मिक उपनिषद् के प्रथम खण्ड में ही उपास्य ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म में अंतर निरूपित किया गया है। दूसरे खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय रूप का संकेत है। तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड में एक रोचक आख्यान[11] द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा देवताओं की अल्पशक्तिमत्ता का सुंदर निदर्शन है। उस सर्वशक्तिमान परब्रह्म के साक्षात्कार का एकमात्र उपाय मिथ्याभिमान का त्याग और ध्यान योगपरायण होना ही है। 'मुण्डकोपनिषद्' का यही वचन है :

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।। (मुण्डकोपनिषद् 3/1/8)

'मुण्डकोपनिषद्' कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों का निदर्शन करता हुआ ब्रह्म ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। द्वैतवाद का प्रधान स्तम्भ रूप **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (3/1/1) मन्त्र इस उपनिषद् में आता है। 'वेदान्त' शब्द का प्रथम प्रयोग भी यहीं उपलब्ध होता है (3/2/6)।

सूक्ष्मतर और प्रकाशरूप :

कहा गया है कि वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में प्रकाशित होता है :

सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति (मुण्डको० 1/7)।

नेह नानास्ति किञ्चन का गम्भीर शंखनाद करने वाले 'कठोपनिषद्' में भी परब्रह्म परमात्मा को सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म और महान् से भी महान् निरूपित किया गया है। कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा का अनुवर्ती यह उपनिषद् अपने गम्भीर अद्वैत तत्त्व निरूपण के लिए नितांत प्रख्यात है। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतित 'नचिकेता' की उपदेशपरक कथा से आरम्भ हुए इस उपनिषद् में 'नचिकेता' के विशेष आग्रह पर 'यम' उसे अद्वैततत्त्व का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश देते हैं। उपनिषद् के अनुसार वह परब्रह्म परमात्मा सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। वह सर्वव्यापी होते हुए भी जीवात्मा के हृदयरूपी गुफा में निवास करता है। उस ब्रह्म की महिमा को कामनारहित और चिंतारहित कोई बिरला ही साधक उसकी कृपा से देख पाता है :

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।। (कठोपनिषद् 2/20)

वहाँ स्पष्ट रूप से यह भी निरूपित किया गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। (वही, 2/13)

रथ-रथी के एक रूपक बिम्ब द्वारा योगवेत्ता 'यम' मनोनिग्रह[12] पर बल देते हुए योग को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान साधन निरूपित करते हैं।[13] परब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'यम' कहते हैं—

य एव सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तद्।। (वही, 5/8)

जीवात्मा के लिए कर्मानुसार विविध भोगों का निर्माण करने वाला वह परमपुरुष प्रलय काल में सब जीवों के सो जाने पर भी अपनी महिमा में नित्य जागता रहता है। वही परम विशुद्ध तत्त्व हैं, वही परब्रह्म है, उसी को अमृत स्वरूप परमात्मा कहा जाता है। समस्त लोक उसी में आश्रय पाये हुए हैं। उसके नियमों का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। समग्र ब्रह्माण्ड के प्रकाशक सूर्य की तरह वह समस्त प्राणियों की आत्मा में निवास करता हुआ भी उनके कर्म-फल से निर्लिप्त रहता है : **एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, न लिप्यते**

लोकदु:खेन बाह्यः (कठो० 5/21)। वह परब्रह्म समग्र ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त प्रज्वलित अग्नि की तरह **रूपं रूपं प्रतिरूपो** (5/9) हो रहा है। तात्पर्य यह कि नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन वह एक ब्रह्म 'सर्वभूतान्तरात्मा' है, अद्वितीय है, एवं सबको वश में रखने वाला है। वह सर्वशक्तिमान अपने एक ही रूप को अपनी लीला से बहुत प्रकार का बना लेता है—**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं बहुधा यः करोति।** (5/12)। उस प्रकाश पुंज ब्रह्म के समीप सूर्य, चन्द्र, तारागण और बिजलियाँ प्रकाशित नहीं होतीं। ये सभी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं :

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमाः विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

(कठो० 5/15)

इसी परब्रह्म के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है और इसी के भय से इन्द्रादि देव सक्रिय हैं (6/3) परब्रह्म के साक्षात्कार का एकमात्र साधन योग है। मूँज से इषीका (सींक) के समान इस शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि योग द्वारा करनी चाहिए-'कठोपनिषद्' का यही व्यावहारिक उपदेश है। ब्रह्म के स्वरूप-निर्णय का विनिश्चय 'कठोपनिषद्' **अङ्गुष्ठमात्रपुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (4/13) शब्दों में व्यक्त करता है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म :

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में जीवात्मा को **अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप संकल्पाहंकारसमन्वित** निरूपित किया गया है। वहाँ जीवात्मा का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा गया है, कि वह जीवात्मा इतना सूक्ष्म है कि बाल की नोंक के सौवें भाग के फिर सौ भाग कर दिए जाने पर जो एक भाग होता है, वही उसका आकार समझना चाहिए, तथापि वह अनन्त है। यहाँ जो जीवात्मा का स्वरूप बताया गया है, वही स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का भी स्थिर किया गया है। इससे स्पष्ट है, कि उपनिषदों में परमात्मा और जीवात्मा के अभेदत्व की स्पष्टतः घोषणा की गई है। 'ऋग्वेद'[14] और 'उपनिषद्'[15] में प्राप्त

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

मन्त्र में दर्शनशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। सृष्टि में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति[16] तीन अनादि, अनन्त, मौलिक तत्त्व हैं। परमात्मा, प्रकृति के द्वारा सृष्टि की रचना करता है और जीव उस सृष्टि में अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख रूप फलों का भोग करता है। इस तत्त्व दर्शन को उक्त मन्त्र में एक रूपक द्वारा कहा गया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पल वृक्ष के रूप में है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों सुन्दर पंखों वाले (द्वा सुपर्णा); साथ रहने वाले (सयुजा) और मित्ररूप (सखाया) पक्षी हैं। वे दोनों पक्षी एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित है (समानं वृक्षं परिषस्वजाते)। उन दोनों में से एक जीवात्मा उस वृक्ष के फलों को

खाता है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) फलों का भोग न करता हुआ (अनश्नन्) सृष्टि में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है (अभिचाकशीति)। काव्य की कलात्मक भाषा में जिस दार्शनिक तत्त्व का निदर्शन यहाँ है, वह स्पष्ट ही जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति को अनादि तत्त्व के रूप में प्रस्तुत करता है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में वर्णित प्रसिद्ध **शाण्डिल्य विद्या सर्व खल्विदं ब्रह्म** (3/4/1) के उद्घोष से आरम्भ होती है और ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करती हुई समाप्त होती है। इसी ऐक्य की अभिव्यक्ति सर्वाधिक सशक्त रूप में **तत्त्वमसि** महावाक्य में हुई है। उपनिषदों में आत्मा की अजरता, अमरता और नित्यता का उद्घोष स्पष्ट रूप से हुआ है।[17] और यही स्वर श्रीमद्भगवद्गीता का है।[18] वस्तुतः जीवात्मा, परमात्मा का ही सनातन अंश है।[19] तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है, कि उपनिषद् भारतीय दर्शनशास्त्र के दर्पण हैं, जिनमें अध्यात्म शास्त्र के मौलिक तत्त्व उपस्थित हैं। वेदान्त, उपनिषद् को ही प्रमाण मानकर चलता है। सर्वमान्य उपनिषदों में **सर्वंखल्विदं ब्रह्म** का उद्घोष किसी-न-किसी रूप में ध्वनित है। ईशोपनिषद् जहाँ ज्ञान दृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य समझाता है—निष्काम भाव से कर्म-सम्पादन का पक्षधर है, वहाँ वह अद्वैत भावना का पोषक भी। केनोपनिषद् उपास्य ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म में पृथक्त्व का निदर्शन कराता हुआ ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का संकेत देता है। कठोपनिषद् अपने गम्भीर अद्वैत तत्त्व के लिए भी विख्यात है। वहाँ एक ब्रह्म को ही समस्त प्राणियों की आत्मा में निवास करने वाला बताया गया है और उसी के साक्षात्कार को शांति का एकमात्र साधन माना गया है। ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान साधन योग की चर्चा भी यहाँ है। मुण्डकोपनिषद् कर्मकाण्ड की हीनता का उपस्थापन करता हुआ ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है, जबकि माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा का बड़ा ही मार्मिक तथा रहस्यमय विवेचन है। छान्दोग्य उपनिषद् तो ब्रह्मज्ञान प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषदों में नितांत प्रौढ़-प्रामाणिक और प्रमेयबहुल है **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (3/14/1) और **तत्त्वमसि** जैसे अद्वैत प्रतिपादक दार्शनिक वाक्य इसी उपनिषद् में है। आत्मोपलब्धि के व्यावहारिक उपायों का सुंदर संकेत यहीं मिलता है। **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि** (4/5/6) के रूप में आत्मा का दर्शन प्रस्तुत करने वाला बृहदारण्यकोपनिषद् तत्त्वज्ञान और अध्यात्म शिक्षा का अनुपम ग्रन्थ रत्न है। तात्पर्य यह है कि इन उपनिषदों में ब्रह्म तत्त्व का निरूपण विशद् रूप में प्राप्त होता है। एक ही परम सत्ता की प्रतिष्ठा इन उपनिषदों में प्राप्त होती है, जैसा कि महानारायणोपनिषद् में कहा गया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।।

(अनुवाक 9/4)

उपनिषदों में उपस्थापित ब्रह्म तत्त्व, तत्त्वज्ञान, योगविद्या तथा कर्त्तव्यशास्त्र का प्रभाव भारतीय दर्शन पर पूर्ण रूप से विद्यमान है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. ऋग्वेद 10/119/2,
2. वही 10/191/2,
3. प्रस्थानत्रयी में उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र आते हैं।
4. वेदान्तसार, पृष्ठ 2,
5. संस्कृत साहित्य के वैदिक काल का इतिहास, पृष्ठ 170-172,
6. द्रष्टव्यः वेदान्तसार, विवेक चूड़ामणि आदि।

7-10 केनोपनिषद् 1/5-8

11. उमाहैमवती का रोचक आख्यान केनोपनिषद् में वर्णित है।
12. कठोपनिषद् 3/3-6; 3/10-11,
13. वही 1/3/13; 2/3/11
14. ऋग्वेद 1/164/20,
15. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/7; मुण्डकोपनिषद् 3/1/1,
16. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/70 में माया को प्रकृति के नाम से उल्लिखित किया गया है।
17. कठोपनिषद् 5/18,
18. गीता 2/20
19. वही 15/7

वेदान्तदर्शने ब्रह्मस्वरूपम्

अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र ★

दार्शनिकचिन्तनपरम्परायाः समुद्भवो वेदमन्त्रेष्वेव समवलोक्यते। नासदीयसूक्ते कश्चिदेवंविधो गूढप्रश्नः क्रियते मन्त्रदृशा ऋषिणा—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना था को वेद यत आबभूव।। ऋग्वेद 10.129.6

प्रजापतिः परमेष्ठी स्वयमेव सूक्तस्यास्य द्रष्टा। सोऽपि सृष्टिरहस्यमविजानन् तद्विषये सन्दिहानः परिलक्ष्यते। वस्तुतस्तु आसृष्टेः प्रवर्तमानानामेवंविधशतसहस्रप्रश्नानां समाधानार्थमेव ब्रह्मनिरूपणं कृतं भगवता बादरायणेन। परन्तु ब्रह्मस्वरूपनिरूपणात् प्राक् तादृशप्रश्नानां किञ्चिन्निरूपणं दुस्त्यजं प्रतिभाति।

सत्यमेव न कोऽपि जानाति संसृतिरहस्यम्। कस्मादुपादानात् कस्मान्निमित्तकारणाच्च सृष्टिरियं समन्तात् प्रादुर्भूता? वृन्दारका अपि मानवेभ्यः परतरा अस्याः सृष्टेरर्वाचीना अर्थात् पश्चात्सृष्टा एव। अतः खलु तेऽपि सृष्टिविषयकं गूढविज्ञानं न सुष्ठु जानन्ति।

एतादृशं गूढप्रश्नं समुत्थाप्य सर्वविद्यामसम्भावनाञ्चोत्प्रेक्ष्य ऋषिः स्वयमेव ब्रह्मसङ्केतमुखेन समाधानमपि प्रस्तौति—

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।। ऋग्वेद 10.129.7

अस्य मन्त्रस्य रहस्यं प्रकाशयन् त्रय्यर्थमर्मज्ञस्सायणाचार्यो ब्रूते यतः उपादानभूतात् परमात्मन इयं विसृष्टिः आबभूव समन्ताज्जाता सोऽपि किल यदि वा दधे, यदि वा न। एवं कोऽन्यो धर्तुं शक्नुयात्? अस्य जगतः योऽध्यक्षः ईश्वरः परमे उत्कृष्टे व्योमन् आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे प्रतिष्ठितः स ईश्वरः जानाति, यदि वा न जानाति। सर्वज्ञ ईश्वर एव तां जानीयादिति भावः।

अनेन मन्त्रव्याख्यानेन सर्वथा स्फारीभवति तथ्यमिदं यद् ब्रह्मविवेचनं वेदान्तदर्शनाभ्युदयात्प्रागपि स्वास्तित्त्वं दधे। वेदमन्त्रेषु क्वचिद्बहुदेववादः क्वचिद्बहुदेवनिष्ठ एकदेववादः क्वचित्प्रनः एकदेववादः सुस्पष्टं

★ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला, हिमाचल प्रदेश

परिलक्ष्यते। आंग्लभाषायामिमे सिद्धान्ताः पोलीथीज्म (Polytheism) हीनोथीज्म (Henotheism) मोनीथीज्म (Monotheism) पदैः ख्यातिमुपगताः। अस्मिन् सिद्धान्तत्रयेऽद्वैतवादस्य क्रमिको विकासो द्रष्टुं शक्यते, नात्र कापि संशीतिः। विश्वेदेवसूक्ते युगपदेव नैके देवा ऋषिणा स्तूयन्ते। ते सर्वेऽपि समप्रभावाः पृथग् व्यक्तित्वाः पृथग्वैशिष्ट्याश्च वर्तन्ते। अतएव स्वभव्यार्थं स्तोता समेषामेव देवानां सख्यमभिलषति। वृद्धश्रवा इन्द्रः विश्ववेदाः पूषा, अरिष्टनेमिस्ताक्ष्यों बृहस्पतिश्चैते सर्वे देवास्तुल्यया निष्ठया समर्च्यन्ते ऋषिणा। विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचमित्यत्र, स जनास इन्द्र इत्यत्र च प्रख्याते विष्णुसूक्ते इन्द्रसूक्ते वा क्रमेण विष्णोरिन्द्रस्य च सर्वोपरि स्थितं प्राधान्यं प्रतिपाद्यते। परन्तु क्वचिदन्यत्र ऋषिः सर्वानपि देवान् संहृत्य तांश्चैकीकृत्याऽद्वैतभावं पुष्णाति। तद्यथा—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

वेदमन्त्रोद्घुष्टमिदमेव ब्रह्मनिरूपणमुपनिषत्प्रतिपाद्यभूतं सत् बादरायणसूत्रं यावदागत्य वेदान्त-दर्शनाभिधेयतामुपगतम्। बादरायणसूत्राणां निखिलभूतलबहुमतो भाष्यकार आसीद् भगवान् शङ्कराचार्यः कालटेयः। स खलु हस्तामलकीकृतनिगमागमशास्त्रसमुच्चयसारार्थः शिवगुरुसूनुः बादरायणसूत्राणां शारीरकभाष्यं प्रणयन् ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपर इति सिद्धान्तयन् परब्रह्मणः परमेश्वरस्य निर्गुणसगुणस्वरूपं सम्यक्तया प्रत्यपादयत्।

शारीरकभाष्योद्धृताचार्यपरम्परामवेक्ष्य प्रतीयते यत् शङ्कराचार्यात्पूर्वमपि ब्रह्मनिरूपणकारा बहवः आचार्या आसन्। तत्राऽत्रेयआश्मरथ्य औडिलोमि काशकृत्स्न-कार्ष्णाजिनि-जैमिनि-बादरिप्रमुखाः प्रथन्ते। पाराशर्यो व्यासस्तु सर्वेभ्योऽपि प्राक्तनतमस्तिष्ठति। अनेनैव प्रकारेण शङ्करात्पश्चादपि ब्रह्मसूत्रभाष्यकाराणामाचार्याणा बहीयसी परम्परा परिलक्ष्यते तद्यथा भेदाऽभेदवादी भास्कराचार्यः (नवमशती ई०) विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्यः (द्वादशशती ई०) द्वैतवादी मध्वाचार्यः (त्रयोदशशती ई०) द्वैताऽद्वैतवादी निम्बार्काचार्यः (त्रयोदशशती ई०) शुद्धाद्वैतवादी बल्लभाचार्यः (पञ्चदशशती ई०) अचिन्त्यभेदाभेदवादी चैतन्यमहाप्रभुः (पञ्चदशशती ई०) एतदतिरिक्तं श्रीकण्ठभाष्यं श्रीकरभाष्यं, विज्ञानभिक्षुभाष्यं, बलदेवभाष्यं शक्तिभाष्यञ्चेति भाष्यपञ्चकमपि ब्रह्मसूत्रं विवृण्वत् ब्रह्मनिरूपणं सम्पादयति। ततश्चोपक्रमते स्वतन्त्रप्रकणग्रन्थपरम्परा वेदान्तसारप्रभृतीनाम्।

एवं हि वेदोपनिषद्ब्रह्मसूत्रतद्भाष्योपभाष्यटीकोपटीकाप्रकरणग्रन्थादिसमुपचितस्य ब्रह्मनिरूपणस्य वर्तते काऽपि बृहती परम्परा भारतवर्षे या खलु तत्त्वमीमांसायाः पराकाष्ठां प्रस्तौति।

एवं सत्यपि ब्रह्मसूत्रमेव ब्रह्मनिरूपणस्य मूलाधारः। दिव्यग्रन्थेऽस्मिन् चत्वारोऽध्यायाः षोडशपादाः षडशीत्यधिकशतमितान्यधिकरणानि चतुष्पञ्चाशदुत्तरपञ्चशतानि च सूत्राणि वर्तन्ते। उपनिषत्सिद्धान्ता गूढाऽतिगूढा दुर्विज्ञेयाश्चेति कृत्यैव परमकारुणिकेन भगवता बादरायणव्यासेन सूत्राणीमानि प्रणीतानि। किमर्थम्? मोक्षपुरुषार्थं साधयितुम्। धर्मार्थकाममोक्षा एव चत्वारोऽर्थाः पुरुषाणाम्। तत्रापि मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इति सर्वेऽपि दार्शनिकाः स्वीकुर्वते। यतो हि मोक्षप्राप्तेरधिकं सुखं न वर्तते मोक्षेतरपुरुषार्थत्रये न वाऽन्यत्र क्वापि। मोक्ष एवाऽनन्दः। आनन्द एव मानवजीवनलक्ष्यम्। असावानन्दोऽपि द्विधा-लौकिकः पारलौकिकश्च। विषय-वासनापूर्तिसमकालसमुत्पन्नः सांसारिक आनन्दस्तु क्षणिकः। तेन किल क्षणभङ्गुरेणाऽनन्देन को नु तृप्यति?

तद्यथा—

न जातु: काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते।।

श्रीमद्भगवद्गीतायामपि योगेश्वरकृष्णो ब्रवीति **न शान्तिमाप्नोति स कामकामीति।** तस्मादेव विवेकिनो जना: क्षणिकं विषयवासनाऽऽनन्दं तृणाय मत्वाऽखण्डानन्दार्थं प्रयतन्ते। स चाऽनन्दो मोक्षानन्द एव, मुक्तिसुखमेव। अयं मोक्षानन्दो ब्रह्मज्ञानादृते नाऽन्यथा सम्भवति। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (अर्थात् मोक्षानन्दमूलकत्वादेव ब्रह्मज्ञानमनिवार्यं जायते) कस्मात्? यतो हि ब्रह्म एव दृश्याऽदृश्यात्मकजडचेतनसृष्टेर्मूलम्। मूले ज्ञाते सति यथा मूलोपबृंहितोऽखिलो वृक्ष: स्वयमेव ज्ञायते, तथैव ब्रह्मज्ञाने सति ब्रह्मविवर्तभूतं निखिलं ज्ञातं भवति। इदं तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतु:। श्रुतयोऽपि तथ्यमिदं समर्थयन्ते—**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यत इति। ज्ञानादृते मुक्तिर्नास्ति इति। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति च।**

एवं हि निरवधिसुखाऽनन्दहेतुर्ब्रह्मेति सिद्धे सति ब्रह्मस्वरूपं विज्ञातुं जाजायतेऽदम्याऽऽकाङ्क्षा। शाङ्करमतेन समस्तसंसृतिहेतुभूता, नानारूपै: प्रकटितेष्वपि वस्तुषु स्वयं निराकारतामुपयाता, विभिन्नावयवसंवलितेष्वपि पदार्थेषु निरवयवभूता, सान्तविषयेषु भासमानेष्वपि स्वयमनन्ततामुपगता, या कापि शुद्धसत्ता समवलोक्यते सा निर्विशेषसत्तैव ब्रह्मपदवाच्या।[1]

वस्तुत: ब्रह्माङ्गीकरणं विना सृष्टिरहस्यमेव विशदीकर्तुं न शक्यते। यदि नाम परिवर्तनशीले संसारे विद्यमानं सर्वमपि आभासमात्रं, तर्हि कोऽसौ पदार्थो यो हि भिन्नविषयत्वेनाभासते? सामान्यत: आभासमानोऽसौ पदार्थ एव द्रव्यमित्युच्यते यो हि भवति कतिपयगुणाऽश्रय:। द्रव्यात् पृथङ् न भवति किमत्यस्तित्त्व तद्रूपगुणादीनाम्। एवं हि घटो द्रव्यम्। पटो द्रव्यम्। घटे एव तद्रूपगुणादिकं पर्यवसितं वर्तते। घटरूपस्य घटगुणस्य वा न घटात्पृथक् कापि सत्ता। किञ्च, यथा घटगुणस्य घटरूपस्य वा घटादृते नाऽन्या गतिस्तथैव घटस्याप्यस्तित्त्वं तदुपादानकारणभूताया मृत्तिकाया: पृथङ्न वर्तते। एवं हि मृत्तिकैव वास्तविकं द्रव्यम्। घटस्तु मृत्तिकाया रूपान्तरमात्रम्। यथा मृत्तिकया घटो निर्मातुं शक्यते तथैव क्रीडनकविशेषोऽपि यथा घोटको हस्ती शकुन्त: पात्राणि वा।

परन्तु मृत्तिका स्वयमेव विकारशीलं वस्तु। तस्याश्चापि मृत्तिकाभावो विनश्वर एवेति निश्चप्रचम्। अतएव मृत्तिकाऽपि नो यथार्थवस्तु न वा परमार्थ:।

एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थ: स परमार्थ इति भगवान् शङ्कराचार्य:।

(शाङ्करभाष्यम् 2.1.11)

यद्यपि मृत्तिका घटाऽपेक्षयाऽधिकस्थायि तत्त्वम्। तथाप्यसौ मृत्तिकाऽपि कस्यचिद् द्रव्यान्तरस्य रूपविशेषमात्रं यत् खलु शतसहस्रमितेषु मृत्तिकाविकारेषु विद्यमानं परिलक्ष्यते। यत् खलु मृत्तिकाया आधारभूते कारणेऽपि विद्यमानं परिलक्ष्यते। यच्च मृत्तिकानाशे सत्यपि, मृत्तिकापरिणते द्रव्यान्तरेऽक्षतं तिष्ठति।

एतदुक्तं भवति यद् द्रव्यपदवाच्येषु सर्वेष्वपि पदार्थेषु विकारयुक्तेषु सत्स्वपि, सर्वेषु विषयेष्वक्षुण्णमविकृतं तिष्ठति तदेव वास्तविकं द्रव्यम्। किन्तद् वास्तविकं द्रव्यमिति जिज्ञासिते सति सत्तैव सर्वविषयसामान्यतत्त्वं परिलक्ष्यते। प्रत्येकस्मिन् विषये पदार्थे वा सत्यपि तन्नामरूपविशेषे 'सत्तैव' परिलक्ष्यते। अतएवेयं सत्तैव

विषयभूतस्य संसारस्य मूलद्रव्यं स्वीकरणीयम्। सत्तैवाऽसौ संसारस्य नामरूपात्मकस्योपादानकारणमित्यवगन्तव्यम्।

सर्वाऽनुगतेयं शुद्धसत्तैव परब्रह्मेति वेदान्तमतम्।

भूयोऽपि पर्यालोच्यते ब्रह्मस्वरूपनिरूपणमिदम्।।

परिवर्तनशीला मानवमनोवृत्तयः। तत्रापि परिलक्ष्यते यत् प्रत्येकस्मिन् भावे सत्ताऽवश्यमेव स्थिरतया तिष्ठति। यद्यपि भ्रमात्मकभावानां विषयो न भवति सत्यम्। तथापि अवगतिरूपेण तत्रापि राजतेतरां सत्ता। रज्जौ सर्पस्य भ्रान्तिर्न भवति सत्यम्। तथापि सर्पत्वस्याऽवगतिरूपेण 'सत्ता' तत्रापि तिष्ठत्येव।

एवमेव सुषुप्तेर्मूर्च्छाया वाऽवस्था निर्विषया सत्यपि सत्तामलङ्करोति। एवं हि शुद्धसत्ताऽव्यभिचरितं वस्तु, या किल सर्वास्वपि बाह्याऽभ्यन्तराऽवस्थास्वनुगता तिष्ठति। शुद्धसत्तेयं ब्रह्मपर्यायभूता स्वयंप्रकाशिताऽत्र न कापि संशीतिः। कथमित्युच्यते। चेतसो वृत्तिश्चैतन्यम्। मनोवृत्तयः स्वयंप्रकाशस्वरूपाः परन्तु न केवलं मनोवृत्तय एवाऽपितु बाह्यसंसारोऽपि स्वास्तित्त्वं प्रकाशयते। एवं हि प्रकाशस्य शक्तिः बाह्येषु (सांसारिकेषु) आभ्यन्तरिकेषु (मानसिकेषु) चोभयविधपदार्थेषु तुल्यमुपलभ्यते। एवं हि, बाह्याऽभ्यन्तरोभयविधपदार्थेषु अनुगतं यत् सामान्यतत्त्वं सत्तानामधेयं तदपि स्वयंप्रकाशस्वरूपमेव। तदेव स्वयंप्रकाशात्मकं सामान्यतत्त्वं ब्रह्मेत्यवधेयम्। अतएव ब्रह्म स्वयंप्रकाशचैतन्यस्वरूपमात्रम्।

वस्तुतः प्रकाश एव सतः पदार्थानसतः पृथक्कुरुते। सद्वस्त्वेवात्मानं प्रकाशते। तद्भवेद् बाह्यमाभ्यन्तरिकं वा परन्तु यद् वस्त्वसत् न तत्क्षणमात्रमपि स्वात्मानं प्रकाशयितुंम क्षमं यथा वन्ध्यापुत्रभावः शशशृङ्गता ऽऽकाशकुसुमत्वं वा।

सत्पदार्था अपि कदाचिन्न द्रष्टुं शक्यन्ते यथा घनच्छन्नो मार्तण्डः कुज्झटिकोपलिप्तं गृहं वा। असत्पदार्थाः पुनः सम्यक्तया दृश्यन्ते यथा स्वप्नभुक्तं भोज्यपदार्थजातं, मृगमरीचिका वा। यद्येवमुच्येत चेत्तर्हि तत्समाधानं प्रस्तूयते। वस्तुतः सत्पदार्थानामप्रकाशनेऽप्रत्यक्षीकरणे वा प्रकाशमार्गप्रत्यवाय एव कारणम्। स्वयंप्रकाशः सन्नपि सूर्यो यदि न दृष्टिगोचरी भवति तर्हि न तत्र सूर्यस्य कोऽपि दोषः। न वा सूर्ये स्वयं प्रकाशाऽभावः। तत्र घनावरणमेव कारणम्। अथ च स्वप्नानुभवानामसद्भूतानां यद्दर्शनं जायते तस्यापि कारणं भ्रमाधिष्ठानभूतेषु पदार्थेषु कस्याश्चित्सत्ताया विलसितमात्रमेव भवति।

किञ्च, यत्र-यत्र शुद्धसत्तायाः प्रकाशः परिलक्ष्यते तत्र-तत्रैव तद्विषयिणी बुद्धिरप्यवतिष्ठते! यथा हि बाह्यविषयभूता मृत्तिका, इयं मृत्तिकाऽस्तीत्येवंरूपिण्या मृद्बुद्ध्यैव प्रकाशते। यावदेवासौ मृत्तिका घटाकृतिमुपयाति तावदेवासौ प्राक्तनी मृद्बुद्धिरपि घटबुद्धिर्जायते—अयं घट इत्येवंरूपिणी। एवं हि काल्पनिकः पदार्थस्तद्विषयकबुद्धिमात्रमेव, नान्यत् किञ्चिदपि। एवमेव भ्रमविषयोऽपि भ्रमविषयक बुद्धिमात्रम्। यत्र कुत्रापि ब्रह्मपर्यायभूता कापि शुद्धसत्ता तिष्ठति तत्र तद्विषयिणी बुद्धिरपि तिष्ठत्येवेति दिक्।

एवं हि भगवान् शङ्कराचार्यः स्वोपज्ञे शारीरकभाष्ये श्रुतिवाक्यमिदं द्रढयति यज्जगतोऽस्याधारभूतं परब्रह्म यत्खलु शुद्धसत्तात्मकं (निर्बाधसत्तात्मकमित्यर्थः) चैतन्याधिष्ठानञ्च। स्वयमेव निर्विकारं सदप्यदो ब्रह्माऽत्मानं नानारूपैः प्रकटयति।[2]

शुद्धसत्तात्मकं ब्रह्म सर्वथाऽबाधितमेव तिष्ठति। परब्रह्मण ऋते सर्वाश्चाप्यन्यविधाः सत्ता बाधिता एव

दृश्यन्ते। तस्मादेव ता न शुद्धसत्ता न वा ब्रह्मपर्यायभूता:।

तद्यथोक्तं प्रागेव, स्वयंप्रकाशचैतन्याधिष्ठानं शुद्धसत्तात्मकं ब्रह्म अस्माकं सर्वास्वनुभूतिषु सर्वेषु च भासमानबाह्यविषयेषु विद्यमानं तिष्ठति। तासामनुभूतीनां तेषाञ्च भासमानविषयाणां नानारूपाणि भवन्ति। एका प्रतीतिरपरया प्रतीत्या समूलं बाध्यते। यथा स्वप्नदृष्टोऽनुभवो जाग्रतावस्थाया अनुभवेन बाध्यते। या प्रतीतिर्बाधिता तिष्ठति सा किञ्चिदूनसत्यं बिभर्ति, या पुनरबाधिता सा खल्वधिकसत्यं बिभर्ति। परन्तु बाध्यबाधकभूतास्वासु प्रतीतिष्वपि यदेकं न कथमपि बाधितं जायते, तदेवास्ति चैतन्यम्! तदेवास्ति सर्वप्रतीत्यनुगता शुद्धसत्ता। तच्चैतन्यमेव सा शुद्धसत्तैव परब्रह्मेति शंकराचार्य:।

शुद्धसत्ता सर्वथाऽबाधिता तिष्ठति। कथमित्युच्यते पुनर्निदर्शनमुखेन। यदा वयं रज्जौ आभासमानं सर्पम् असत्यं विद्मस्तदा केवलं सर्पाकृतिसत्ताया एवं निषेधं कुर्म:, न पुनस्सत्तामात्रस्य। स्वप्नदृष्टवस्तूनामपि मिथ्यात्वे स्वीकृते सति निश्चप्रचमस्माभि: स्वप्नाऽनुभूतिसत्ता स्वीक्रियत एव। य: कोऽपि देशोऽस्माभि: कल्प्यते कालो वा, न भवेन्नाम तयोरस्तित्त्वम्। तथापि तयोस्सत्ता त्वस्माभिरङ्गीक्रियत एव।

एवं हि, येन केनापि प्रकारेण, सत्ता तु वर्तत एव सर्वेष्वपि विचारेषु, सर्वेष्वपि पदार्थेषु। अतएव सत्ताया निषेधो न कर्तुं शक्यते। सर्वव्यापिनी सच्चिदात्मिका चैतन्यस्वरूपिणीयं शुद्धसत्तैव न कदाचिद् बाधितुं शक्यते। वस्तुत: शुद्धसत्ताया बाधनं सर्वथा कल्पनातीतमेव। तस्मादेव भगवान् शङ्कराचार्यसत्तां शुद्धसत्तां पारमार्थिकसत्तेति मन्यते—

यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगति: सत्यमेव फलम्। प्रतिबुद्धस्यापि अबाध्यमानत्वात्। शाङ्करभाष्यम्, 2.1.14

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येति वाक्यस्याभिप्रायं व्याचक्षाणो भगवान् शङ्कराचार्य: स्पष्टं ब्रूते यत्प्रतीयमानं कमपि विषयमधिकृत्य निश्चयपूर्वकमेतद् वक्तुं न शक्यते यत्प्रतीतिरियं प्रतीत्यन्तरेण भविष्यकाले न बाधिष्यते। प्रतीतिविशेषस्य बाधासम्भावना तु निरन्तरमेव वरीवर्ति। सर्वमेतन्निभाल्यैव शारीरकभाष्यकारस्सिद्धान्तयति यदेवंविधबाधितविषयसमूह: संसारोऽखण्डनीयसत्तामहिमानं न कथमपि भजते। अतएवासौ संसारोऽनित्यो मिथ्या च। केवलं ब्रह्मैव सत्यम्। यतो हि तस्य ब्रह्मण: सत्ताऽखण्डनीयाऽबाधिता च।

अनुवृत्तिरेव सल्लक्षणम्। व्यभिचारश्चाऽसल्लक्षणम्। यस्य वृत्ति: सर्वेषु वस्तुषु स्यात्तदेव सद् इत्युच्यते। यस्य च वृत्ति: सर्वेषु वस्तुषु न स्यात्तदेवासदिति। परब्रह्मैव सत् सर्ववस्त्वनुस्यूतत्त्वात्। छान्दोग्योपनिषदि (6.22) ब्रह्मसूत्रे (2.1.11) श्रीमद्भगवद्गीतायाञ्च (2.16) स्वोपज्ञे भाष्ये शङ्कराचार्य: ब्रह्मनिरूपणं सम्पादयन् सविस्तरं प्रस्तौति।

वेदान्तदर्शने ब्रह्मणोऽभिव्यक्ति: संज्ञान्तरैश्चापि परिदृश्यते। मूलतत्त्वभूतं तदेव ब्रह्म कदाचिदात्मशब्देन, कदाचित् सच्छब्देन च प्रस्तूयते। ऐतरेयोपनिषदि (1.1) समुदितम्—**ॐ आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत् इति।** बृहदारण्यकोपनिषदि (1.4.2) **च आत्मा एव इदमग्रे आसीत् इत्युक्तम्।** छान्दोग्योपनिषदि समुच्यते—**आत्मा एवेदं सर्वम्** (7.25.2) बृहदारण्यकोपनिषदि भूयोऽप्युच्यते **आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्** (4.5.6) छान्दोग्योपनिषदि—**सदेव सौम्य इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्** (6.2.1)

छान्दोग्योपनिषदि (3.14.1) मुण्डकोपनिषदि (2.2.11) च निगद्यते—**सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति। ब्रह्म एवेदं विश्वमिति च।**

एषु सर्वेष्वपि श्रुतिवाक्येषु ब्रह्मात्मसच्छब्दाः पर्यायरूपेणैव प्रयुक्ताः। बृहदारण्यकोपनिषदि (2.5.19) तु ब्रह्माऽत्मनोरैक्यमसन्दिग्धं प्रतिपाद्यते—अयमात्मा ब्रह्मेति कथनेन। अहं ब्रह्माऽस्मीति महावाक्यमपि जीवब्रह्मणोरैक्यमेव प्रतिपादयति।

औपनिषदे-ब्रह्मनिरूपणे आत्मतत्त्वविवेचनमेव महीयते। शरीरप्राणमनोबुद्धिजनिताऽनन्दं समीक्ष्य निष्कर्षोऽयं गृहीतो यदेतत्सर्वमात्मन एव क्षणभङ्गुरं रूपम्। न खल्वात्मनो मूलतत्त्वम्। एतत्सर्वं बाह्याऽवरणमात्रम्। कोषमात्रं यदन्तराले वास्तविकं तत्त्वं निगूहितं तिष्ठति। तदेवाऽत्मतत्त्वम्। समेषां मूलाऽधारभूतं शुद्धचैतन्यस्वरूपञ्च। कस्यापि खलु विषयस्य यज्ज्ञानं भवति तत्खलु अस्यैवाऽत्मनः शुद्धचैतन्यस्वरूपस्य सीमितप्रकाश एव। शुद्धचैतन्यं तु सर्वव्यापि अनन्तञ्च विषयविशेषसीमाऽबद्धत्वात्। तदेव शुद्धचैतन्यमात्मेति। सत्यमनन्तं ज्ञानस्वरूपञ्च सत् यदात्मतत्त्वं मनुष्येषु विद्यते तदेव सर्वभूतेषु। तस्मात्खलु आत्मा एव सर्वभूताऽत्मा (परमात्मा) उभयोर्न कोऽपि भेदः। तद्यथा कठोपनिषदि—

एषु सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।

अयमात्मैव परमात्मा परब्रह्म वा। आत्मज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानम्। आत्मविद्यैव परा विद्या। अन्याः सर्वा विद्यास्तु अपरा विद्याः न्यूनकोटिका एव। कामक्रोधमोहलोभमदमात्सर्यवृत्तीनां दमनेन श्रवणमनननिदिध्यासनैश्च सम्भवत्यात्मज्ञानम्। यावदेव तत्त्वज्ञानमहिम्ना संस्काराणां लोपो जायते तावदेव सम्भवत्यात्मसाक्षात्कारः। परन्तु नायं पन्थाः सुगमः। यथाऽह कठोपनिषत्कारः—**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।**

एवं हि ब्रह्म शुद्धसत्तात्मकं (सत्) स्वयम्प्रकाशचैतन्याधिष्ठानं (चित्) च वर्तते। परन्त्वौपनिषदे वाङ्मये तत्स्वरूपस्य तृतीयमपि वैशिष्ट्यं भूयस्त्वेन चर्चितं दृश्यते। तदस्ति तस्यानन्दमयत्वम् सर्वसुखानामादिस्रोतो ब्रह्मेति श्रुतिः सर्वेऽपि सांसारिकानन्दास्तस्यैव ब्राह्मानन्दस्य क्षुद्रकणकल्पाः प्रतीयन्ते। बृहदारण्यकोपनिषदि महर्षियाज्ञवल्क्यः स्वभार्यां मैत्रेयीमवगमयन्निदमेव रहस्यं प्रस्फोटयति—**यदात्मैव सर्वाऽनन्दनिस्यन्दभूतः। न वा पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति। न वा पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। आत्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति।** बृहदारण्यक 4.5.6

एवं हि शुद्धरूपे स्वकीये आनन्दमयत्वमात्मनः सिद्धमेव। स्वानुभवप्रमाणमिदं तथ्यम्। सुषुप्तावस्थायां यदा शरीरं खलु इन्द्रियेन्द्रियार्थमनोभिस्सार्धं स्वसम्बन्धं विस्मरति तदा प्रकृतिरूपमापद्य सुखदुःखोभय-विनिर्मुक्तामानन्दमयीं शान्तावस्थामवाप्नोति।

तैत्तिरीयोपनिषद्यपि (2.7) विशदीकृतं यदानन्दमयत्वादेव जीवनमियत्प्रियं प्राणिनाम्।[1] अन्यथा निरानन्दे जीवने को नु क्षणमात्रमपि प्रसज्जेत? यद्यपि सांसारिकविषयवासनापूर्तावपि वर्तते आनन्दः। परन्त्वसौ दुःखमिश्रितोऽत्यल्पश्चैव। संयोगजनिताऽनन्दो वियोगजेन नेदिष्ठदुःखेन मिश्रितः सन् अपेक्षाभावेनैव सुखयति परन्तु ब्राह्मानन्दो निरवधिः निरुपाधिः। निस्सीमश्च। विषयानन्दग्रस्तो मानवोऽपूर्णवासनस्सन् संसृतिबन्धनपीडां

जराजन्ममृत्युपुनर्जन्मचक्रमयीं सतत सहत एव। क्व नु खलु तस्य पारमार्थिक आनन्दः? परन्तु विषयवासनाबन्धान् शिथिलीकृत्य ब्रह्मणाऽऽत्मना वा सार्धं तादात्म्ये साधिते सति परमानन्दप्राप्तिर्जायते। अनन्तेऽमृते निरञ्जने निर्विकारे महानन्दमये परब्रह्मणि विलीय निरानन्दोऽपि बद्धजीवो ब्राह्मानन्दमास्वदते। सोऽमरत्वं विन्दते इत्युच्यते कठोपनिषदा।

एवं हि सिद्धा सच्चिदानन्दमयता ब्रह्मणः। भगवान् बादरायणोऽपि कथयति **आनन्दमयोऽभ्यासात्** (1.1.12) तैत्तिरीयश्रुत्युक्त आनन्दमयः परः एवात्मा भवितुमर्हति। यथाऽन्नमयो यज्ञ इति अन्नप्रचुर उच्यते एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्म आनन्दमयमुच्यते। तद्यथा तैत्तिरीयोपनिषदि (2.7) **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**

सम्प्रति ब्रह्मनिरूपणसन्दर्भे पक्षान्तरं प्रस्तूयते। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्युच्यते। अत्र वाक्यद्वयस्य युगपत्कथनस्य किं स्वारस्वम्? किं जगतो मिथ्यात्वेनैव ब्रह्म सत्यमुताहो ब्रह्मणः सत्यत्वेनैव जगन्मिथ्यात्वम्। सम्प्रत्युच्यते। वेदान्तवाङ्मये एकतस्तु सृष्टिवर्णनं क्रियते, यथा हि—**सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्** (तैत्ति० 23.6) अन्यत्रापि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं बहुश उपवर्णितम्—**'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।'** (श्वेता० 6.9) **स विश्वकृत्** (श्वेता० 6.16) **अतः समुद्राः गिरयश्च सर्वे** (मुण्डको० 2.1.9)

परन्त्वेवंविधां सृष्टिमुपवर्ण्याऽपि तस्या मिथ्यात्वं प्रख्याप्यते। कथमेतत्? यदि सृष्टिः स्वीक्रियते तर्हि मिथ्यात्वसिद्ध्या तस्या अनङ्गीकारस्य किमौचित्यम्? नानाविषयात्मिका सृष्टिः इति सत्यम्। परमेश्वरेणैव कृतेयं सृष्टिरित्यपि सत्यम्। एवं सति **नेह नानास्ति किञ्चन** इत्यस्य कारणस्य कोऽभिप्रायः? उभयोः परस्परविरुद्धयोर्विवरणयोः सामञ्जस्यं कथं खलु स्थाप्येत?

शारीरकभाष्यकारोऽपि परस्परविरुद्धानि श्रुतिवचनानीमानि साधु विजानाति। श्रौतमसामञ्जस्यमप्यसावनुभवति। कथमिति चेत् समुच्यते। यदि नाम वस्तुत एव ब्रह्म निर्गुणं निर्विकारञ्च तर्हि कथं तस्य सृष्टिकर्तृत्वं सम्भाव्यते? यदि च तस्य सृष्टिकर्तृत्वं सिद्धं, कथम्पुनस्तस्य निर्गुणत्वं निर्विकारत्वञ्च? तदिदमुभयं मिथो न सम्भवति।

किञ्च, श्रुतावुक्तं ब्रह्मणि ज्ञाते नानात्वं विनश्यति। कथमिदम्? यदि सृष्टिः सत्यम् इत्यङ्गीक्रियते तदा ब्रह्मज्ञाने सत्यपि तन्नानात्वं कथं विनश्यति? सतो जगतस्तिरोभावः कथमुपयुज्यते? **नाऽभावो विद्यते सतः** इति श्रीमद्भगवद्गीतायां सुस्पष्टमुक्तम्।

उपनिषद्वाक्यैः प्रतिपादितमेतत्सर्वं परस्परविसंवादि ब्रह्मविषयकं विवरणजातं विदुषामपि कृते दुर्विज्ञेयं प्रतिभाति।[4] परन्तु भगवान् शङ्कराचार्यः श्रुतिप्रमाणेनैव सामञ्जस्यं स्थापयति। तन्मतेन यदि सृष्टेस्तुलना केनापि भ्रमेण क्रियते तर्हि भ्रमवदेव तस्या निर्मितिः, तत्त्वज्ञाने च सति तस्याः तिरोभावः (मिथ्यात्वम्) इत्युभयमपि सहजमेवागम्यते। भ्रमोऽपि यावत्कालं तिष्ठति तावत्कालं सत्यमेव प्रतीयते यथा रज्जौ सर्पत्वम्। परन्तु यावदेवासौ भ्रमोऽपयाति केनाप्युपायेन, तावदेव प्रलीयते तत्सर्पत्वम्।

भ्रमदृष्टान्तमिमं भगवती श्रुतिरपि समर्थयते। यथा ऋग्वेदे निगदितम्—**इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते।**

श्वेताश्वतरोपनिषदि स्पष्टमुक्तम्—**मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।** इति (4.10)

एवं हि श्रुतिप्रमाणबलादेव शङ्कराचार्यो दृश्यमानजगतः प्रातिभासिकीं सत्तां स्वीकरोति, ब्रह्मज्ञाने च सति तस्यापि जगतस्तिरोभावं मिथ्यात्वं वा मन्यते। कथमेतत्सर्वं सम्भवतीति सविस्तरमवगन्तुं शङ्करमतं सविस्तरमवगाह्यम्।

माया नाम परमेश्वरस्य शक्तिः। सा किल परमेश्वरादभिन्ना। यथाऽग्नेर्दाहकताऽग्नेरभिन्ना तथैव मायापि नाम ईश्वरादभिन्ना तिष्ठति। अनयैवात्ममायता मायावीश्वरश्चित्रविचित्रसृष्टिं विरचयन् स्वलीलां प्रदर्शयति। अज्ञानिनस्तावदिमां लीलामवितथां मन्यन्ते। परन्तु विवेकपरायणास्तत्त्वदर्शिनो लीलामिमामवितथां मन्यमाना ब्रह्ममात्रं सत्यमङ्गीकुर्वन्ति।

मायैवेयमविद्येत्युच्यते। अज्ञानमप्यस्या एव नामान्तरम्। इयमेवाविद्या भ्रमस्य कारणम्। प्रायेण मूलाधिष्ठानस्याज्ञानवशादेव भ्रान्तिर्जायते। रज्जौ सर्पभ्रमे जाते सति किं भवति? अधिष्ठानभूताया मूलाधारभूताया रज्ज्वा एव ज्ञानं न भवति। रज्ज्वा यथार्थज्ञानाभाववशादेव तस्यां सर्पत्वस्य प्रतीतिर्जायते। यदि वयं रज्जुं रज्जुरूपामेव जानीमस्तदा रज्जौ सर्पभ्रमो न कदापि भवितुं शक्नोति।[5]

किञ्च, रज्ज्वा अज्ञानमात्रमेव न वर्तते भ्रमस्य कारणम्। यतो हि, यस्य पुना रज्जुदर्शनमेव न कदापि सञ्जातं, यो वा रज्जुविषये इदमित्थन्तया न किञ्चिद् विजानाति, स खल्वाजीवनं रज्जुं सर्पमेव मंस्यते। अतएव रज्ज्वज्ञानमात्रमेव न भ्रमस्य कारणम्। किमपरं तर्हि? तदुच्यते। ययाऽविद्यया भ्रम उत्पाद्यते, सा न केवलमधिष्ठानं वास्तविकाधारं वाऽवृणोति। सा पुनस्तस्मिन् मूलाधिष्ठाने विक्षिपत्यपि किञ्चिदितरद् वस्तु, यथा रज्ज्वा वास्तविकं स्वरूपं समाच्छाद्य तदुपरि सर्पत्वस्य विक्षेपः क्रियते। यथार्थस्वरूपाच्छादनमित्यावरणम्। वस्त्वन्तरस्य तदुपरि समारोप एव विक्षेपः। एवं हि अविद्याया विद्यते कार्यद्वयम्—आवरणं विक्षेपश्च। आभ्यामेव भ्रमस्सञ्जायते।

ऐन्द्रजालिकः कश्चिन्मायां प्रदर्श्य दर्शकान् भ्रामयति। दर्शकास्तावद् भ्रान्तास्तिष्ठन्ति। परन्तु स्वयमैन्द्रजालिकस्तयाऽत्ममाययाऽप्रभावित एव तिष्ठति। यदाऽसौ मायी एकस्या एव रजतमुद्राया बहुसंख्यानि रूपाणि प्रदर्शयति, वयं भ्रान्ता भवामः। कथम्? स्वाऽज्ञानवशात्। अस्माकं जन्मान्तरवासनानुगताऽविद्यैव मुद्राया वास्तविकं स्वरूपमाच्छाद्य तत्स्थाने मुद्रान्तराणि प्रदर्शयति। परन्तु यदि कोऽपि विवेकसम्पन्नो दर्शको मूलाधिष्ठानभूताया मुद्राया वास्तविकं स्वरूपमेव निपुणं निरीक्षमाणोऽभ्रान्तस्तिष्ठेत्तर्हि निश्चप्रचमसावैन्द्रजालिकयष्ट्या सर्वथाऽप्रभावितोऽनभिभूतः स्थास्यति। यतो ह्यसौ ज्ञानवान् विवेकसम्पन्नश्च।

परन्तु यो हि ऐन्द्रजालिकः स्वमायाशक्त्या सर्वान् विमोहयति, भ्रमयति स्वयमेवाऽसौ तयाऽनभिभूयते। कस्मात्पुनः? यतो हि इन्द्रजालं न भिद्यते ऐन्द्रजालिकात्। यथा शक्तिः शक्तिमतो न पृथक् तथैवेन्द्रजालमपि न वर्तते पृथगैन्द्रजालिकात्। स्वशक्त्या पुनः को नु खल्वभिभूयते? स्वशक्तिस्तु शक्तिमतां कृते विविधलीलाहेतुः।

ऐन्द्रजालिकदृष्टान्तोऽयं सम्यक् स्फारीकरोति सृष्टिरहस्यम्। परमेश्वरोऽपि ययाऽत्ममायया नानात्वबहुलां चराचरात्मिकां सृष्टिं विरचयति तयाऽत्ममायया स्वयमप्रभावितस्तिष्ठति। एतदेवोक्तं भगवता भाष्यकारेण **'न तु दृष्टान्तभावात्'** (ब्रह्मसूत्रम्, 2.1.9) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानं कुर्वता।

गच्छत्कार्यमात्मीयेन धर्मेण कारणं दूषयेदित्युच्यत चेत्तन्न। तन्न युक्तं दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि एवंविधा

दृष्टान्ता यथा कारणमपि गच्छत्कार्यमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति। सुवर्णनिर्मिता कटककुण्डलवलयनासाभूषणाद्यलङ्कारा द्रवीभूय यदा भूयस्सुवर्णपिण्डतामुपयान्ति तदा ते आत्मीयेन धर्मेण कारणभूतं सुवर्णं न दूषयन्ति। मृत्तिकाविकारभूताः शरावादयोऽपि विनश्य मृद्भावमुपगताः कारणभूतां मृदं नात्मदोषैः दूषयन्ति।

अनेनैव प्रकारेण कार्यभूतायाः सृष्टेर्दोषाः स्वकारणभूतं परमेश्वरं न दूषयन्ति इति सिद्धमेव।

एवं हि अज्ञानिनोऽविद्याग्रस्ता एव ब्रह्मसृष्टं जगद् दृष्ट्वा भ्रान्ता जायन्ते न पुनर्विवेकिनः। विवेकिनां कृते तु सृष्टिरियं सर्पत्वकल्पा, समाच्छादितस्वरूपस्य रज्जुकल्पस्य ब्रह्मण उपरि विक्षिप्यते। विवेकिनस्तत्त्वार्थदर्शिनो रहस्यमेतत्साधु विजानन्ति। अतएव न मनागपि भ्रान्तिमुपयान्ति। यतो हि ते ब्रह्मणो निर्विकारं निर्लिप्तं निर्गुणं निरञ्जनं स्वयम्प्रकाशस्वरूपं साधु प्रत्यभिजानन्ति ततस्ते तदेव सत्यं मन्वाना जगतो मिथ्यात्वं सम्यगनुभवन्ति। एवं हि व्याख्यातं भवति 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येति' वाक्यस्य रहस्यम्।

एवं हि दृश्यमानजगतोऽस्तित्त्वं स्वीकुर्वन्नपि भगवान् शङ्कराचार्यस्तस्य मिथ्यात्वमुद्घोषयति। तन्मतेन तु जगदिदं ब्रह्मणो विवर्तभूतं, न पुनः परिणमनम्। विवर्तस्य न किमपि पृथगस्तित्त्वं भवति। सागरजले तरङ्गभ्रमावर्तडिण्डीरादयस्सागरजलविकाराः कामं दृश्यन्ते। परन्तु न तेषां पृथगस्तित्त्वं किमपि। न ते सागरजलाद्भिन्नाः। सागरजलविकारा एव ते। अतएव सागरजले तेषां केवलं भ्रान्तिरेव जायतेऽविद्याग्रस्तानां दर्शकानां मनसि। सत्यं तु केवलं सागरजलम्। तद्विवर्तभूताः फेनादयस्तु मिथ्यैव।

एवं हि ब्रह्मस्वरूपं द्विधा—निर्गुणं सगुणञ्च। निष्कलं सकलञ्च। निर्विकारं सविकारञ्च। निराकारं साकारञ्च। स्वमूलसत्तायान्तु ब्रह्म सर्वथा निर्गुणं निष्कलं निर्विकारं निराकारम्। परन्तु सृष्टिकर्तृत्वे सिद्धे सति (काममियं सृष्टिः भ्रान्तिमात्रम्) तदेव (मायोपहितं ब्रह्म) सगुणं सकलं सविकारं साकारञ्चापि जायते। अनेन खलु मायामहिम्ना विवर्तवादसिद्धान्तेन च भगवान् शङ्कराचार्यः सगुणोपासकान् सृष्ट्यस्तित्त्वपक्षधरानपि साधु सान्त्वयति संसारस्य प्रातिभासिकीं सत्तामङ्गीकृत्य, निर्गुणब्रह्मपक्षधरानपि परितोषयति संसारस्य पारमार्थिकीं सत्तां निषेध्य, ब्रह्ममात्रस्य चास्तित्त्वं स्वीकृत्य।

शङ्कराचार्यमतेन ब्रह्मजगतोर्मध्येऽद्वैतमेव वर्तते यतो हि जगन्मिथ्या। जगत्प्रतिभासमात्रम्। जगत्किल ब्रह्मविवर्तमात्रम्। यतो हि विकारः स्वमूलाधिष्ठानान्न भिद्यते तस्मान्न द्वैतम्।

आचार्य रामानुजोऽप्यद्वैतमेव स्वीकुरुते ब्रह्मजगतोः। परन्तु परिणामवाद्यसौ। विवर्तवादप्रतियोगी परिणामवादः। कोऽयं विवर्तवादः कश्च परिणामवादः?[6]

कस्यापि द्रव्यस्य विकाराऽभास एव विवर्तः। यथा रज्जोः सर्परूपत्वम्। सुवर्णस्य कटककुण्डलादिरूपविशेषाः। मृत्तिकाया वा शरावखर्परभाण्डादिरूपविशेषाः। अत्र सर्वत्रापि केवलं रज्जुसुवर्णमृत्तिकानां विकारा एव आभासन्ते। मूलद्रव्यन्तु अपरिवर्तितं तिष्ठति। भगवान् शङ्कराचार्यो विवर्तवादमङ्गीकुरुते। यतो हि, तन्मतेन ब्रह्मविकारभूतेषु वनवृक्षपर्वतनदीनिर्झरादिजगदवयवेषु आभासमानेष्वपि मूलद्रव्यकल्पं ब्रह्म अपरिवर्तितमेव तिष्ठति।

परिणामस्तावन्मूलद्रव्यस्यापि वास्तविकं परिवर्तनम्। यथा दुग्धस्य दधिरूपत्वम्। अत्र दधि न खलु

दुग्धविकाराभासमात्रमपितु मूलद्रव्यस्य दुग्धस्यापि रूपान्तरेण परिवर्तनम्। आचार्यो रामानुजस्तावत्परिणामवादी। यतो ह्यसौ सृष्टिं न केवलं ब्रह्मविवर्ताभासभूतां मन्यतेऽपितु ब्रह्मणि विद्यमानस्याचिदंशस्य सृष्टिरूपेण वास्तविकं परिवर्तनं स्वीकुरुते। तन्मतेन संसारोऽयं ब्रह्मण: परिणाम: समूलपरिवर्तनं वा, न पुनर्विकाराभासमात्रम्।

एतावतैव रामानुजस्य ब्रह्मनिरूपणं शङ्कराद् भिद्यते। शङ्करस्तावत् मायां ब्रह्मशक्तिं मन्यते। परन्तु कीदृशीं शक्तिम्? ब्रह्मेच्छामात्रभूताम्। तामिच्छामात्रभूतां स्वशक्तिं यदृच्छया परित्यक्तुमपि प्रभवति ब्रह्म। शङ्कराभिप्रायेण शक्तिभूता माया शक्तिमतो ब्रह्मणस्तथैवाऽभिन्ना यथा दाहकता (शक्तिभूता) अग्नेरभिन्ना। सङ्कल्पो वा यथा मनसोऽभिन्न:। एवं हि स्वशक्त्या मायया सह तादात्म्यमुपगतमेव ब्रह्म शाङ्करमतेऽद्वैततत्त्वम्। तदेव सत्यम्।

किन्तु रामानुजमतेन माया नित्यस्वरूपिणी काचिच्छक्तिर्ब्रह्मण्यवस्थिताऽचिदंशभूता। माया परब्रह्मण: सृष्टिकरणक्षमा वास्तविकी शक्तिरिति रामानुज:। वस्तुतो ब्रह्मणोऽचिदंशभूताऽसौ शक्ति: (माया) एव सृष्टिरूपेण परिवर्तते। एवं हि संसार: ब्रह्मपरिणाम:। मायाया (अतएव ब्रह्मणोऽपि) वास्तविकं परिवर्तनमेतज्जगदिति रामानुजमतम्।

एवं हि विशिष्टाद्वैतं स्वीकरोति रामानुज:। अचिदंशभूतेन मायाभिधेन विशिष्ट एव चिन्मयं ब्रह्म रामानुजमतेन अद्वैततया सत्यम्। तदभिमतब्रह्मण इदमेव वैशिष्ट्यं यदद: पृथग्भूतेन केनचित् अचिदंशेन मायाख्येन संवलितस्तिष्ठति।

ब्रह्मण: प्रवर्तिते सृष्टिक्रमे सर्वप्रथमं पञ्चसूक्ष्मभूतानि जायन्ते—आकाशवाय्वग्निजलक्षितिसंज्ञानि। ततश्चैषामपि सक्रमोत्पन्नानां पञ्चीकरणप्रक्रियाबलादुत्तरविकासो जायते। किमिदं पञ्चीकरणं नाम? यदा पञ्चतन्मात्रां पारस्परिके संयोगे सति अर्धांशे केवलमाकाशतत्त्वम् अर्धांशे पुनस्तत्त्वचतुष्टयं तिष्ठति तदा स्थूलाकाशस्य (महाभूतस्य) उत्पत्तिर्जायते। तद्यथा—1/2आकाशम्+1/8 वायु:+1/8 अग्नि:+1/8 जलम्+1/8 पृथ्वी=स्थूलाऽकाशमहाभूतम्। एवमेव 1/2वायु:+1/8आकाशम्+1/8अग्नि:+1/8जलम्+1/8पृथ्वी= स्थूलवायुमहाभूतम्। अनेनैव प्रकारेण क्रमेण चान्यान्यपि महाभूतानि जायन्ते। इदमेव पञ्चीकरणम्।

भगवान् शंकराचार्योऽपि यद्यपि सृष्टेरिममेव भ्रमं स्वीकुरुते। परन्तु, यथा प्रागुक्तं, सृष्टिप्रपञ्चोऽयं तन्मतेन ब्रह्म विवर्तमात्रम्। न तावत्पारमार्थिकं सत्यम्।

वस्तुतस्तु ब्रह्मनिरूपणसन्दर्भे शाङ्करमतमेव महीयते। कथमिति चेत्? तदुच्यते—

1. यदीश्वरस्य (सगुणब्रह्मण:) अचेतनप्रकृतिसाहाय्येन जगन्निर्मितिक्षमताऽङ्गीक्रियते (यथा रामानुजो मनुते) तदा ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्यापि सत्ता स्वीकरणीया जायते। एवम्भूते सति विनश्यतीश्वरस्या-ऽद्वैतसत्ता तदसीमता च।

2. यदि नाम अचिदंशभूता प्रकृति: (माया) ईश्वरस्याङ्गभूता शक्ति: स्वीक्रियेत (यथा रामानुजो मनुते) तदा परब्रह्मापि भौतिकद्रव्यमिव सावयवं प्रतिभाति। सावयवं च सत् विनश्वरं तां भजते भौतिकद्रव्यमिव। तत एव शङ्करो मायामीश्वरादभिन्नामेव स्वीकरोति।

3. यदि तावत्प्रकृतिं सम्पूर्णादीश्वरादभिन्नां मन्यमानो रामानुज ईश्वरं जगद्रूपेण परिणतं मन्यते तदाऽप्यापतति महाननर्थ:। सम्पूर्णे खल्वीश्वरे जगद्रूपेण परिणते सति नावशेक्ष्यते कश्चिदीश्वर:।

4. ईश्वरे विकृते सति क्व तिष्ठति तस्य नित्य निर्विकारत्वम्? विकारस्स्यादांशिकः सम्पूर्णो वा। किन्त्वसौ बाधत ईश्वरस्य मूलसत्तामेव।

शङ्कराभिमते विवर्तवादे स्वीकृते सति विनश्यन्ति स्वयमेवेमा असम्भावनाः। दूरीक्रियन्ते सर्वेऽपि दोषाः।

एवं हि भगवतश्शङ्कराचार्यस्य ब्रह्माद्वैतमेव यथार्थतया ब्रह्मनिरूपणे प्रभवति, न पुना रामानुजस्य विशिष्टाद्वैतमतम्। अन्येऽप्याचार्याः मध्वनिम्बार्कादय ब्रह्मजगतोः सम्बन्धमेव समीक्षमाणाः स्वमतविशेषं प्रस्तुवन्ति। कोऽप्युभयोर्द्वैतं स्वीकरोति। कोऽपि द्वैतमद्वैतञ्चोभयमपि। कोऽपि शुद्धाद्वैतपक्षं गृह्णाति। सर्वेऽपि बादरायणसूत्राणां श्रुतिवाक्यानाञ्च स्वाभिप्रायेण व्याख्यां कुर्वाणा दृश्यन्ते।

ब्रह्मविवेचनप्रसङ्गे आचार्यशङ्करो निर्विशङ्कं ब्रूते यत् श्रुतिसाहाय्यं विना, तर्कमात्रेण सृष्टिरहस्यमवगन्तुं न शक्यते। तद्यथा बादरायणसूत्रम् **श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्** (2.1.27) श्रुतयः एव ब्रह्मस्वरूपं विशदीकुर्वन्ति। तद्यथा—**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च** (कठोपनिषत् 2.2.9) **तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः।।** ईशावास्योपनिषत् 5. **स विश्वकृद् विश्वविदाऽत्मयोनिर्ज्ञः कालकारी गुणी सर्वविद्यः।।** श्वेताश्वतरोपनिषत् 6.16

आचार्यशङ्करकृतस्य ब्रह्मनिरूपणस्य सन्त्यन्येऽपि केचन विशेषाः। तदभिमताद्वैतवादस्य भ्रमविषयको विवर्तसिद्धान्तस्सौगतशून्यवादाद् विज्ञानवादाद् वा सर्वथा भिन्नं विलक्षणञ्च। शून्यमेव (असन्मात्रं) जगद्रूपेण दृग्गोचरीक्रियत इति शून्यवादिमतम्। मानसिकं विज्ञानमेव प्रत्यक्षजगद्रूपेण सन्दृश्यत इति विज्ञानवादिमतम्।

परन्तु शाङ्करमतेन प्रत्येकविषयस्याधिष्ठानं वर्तते शुद्धसत्ता या खलु न कथमपि भवति शून्यं न वा विज्ञानमात्रम्। सा शुद्धसत्तैव परिज्ञायतेऽद्वैतं ब्रह्मेति दिक्।

जीवात्मपरमात्मभेदाभ्यां रूपद्वयं परब्रह्मण इति वेदान्तदर्शने निगदितम्। यथा मायोपहितः परमात्मा (सर्वभूतात्मा ब्रह्म वा) सगुण ईश्वरो जायते कर्तृत्वभोक्तृत्वयुक्तस्तथैव मायोपहित आत्मा (बद्ध) जीवरूपतामुपयाति। अनेन एतदुक्तं भवति यन्मायामुक्तो भवति परमात्मा, मायोपहितश्च भवति जीवात्मा। परमात्मा तावन्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपः सच्चिदाऽनन्दस्वरूपश्च। न तस्मिन् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिगुणाः प्रसज्यन्ते। जीवात्मा भवति कर्तृत्वभोक्तृत्वनिर्विशेषो बद्धश्च।

एकस्मिन्नेव शरीरद्रुमे उभावपि विहगकल्पौ निवसत इति श्वेताश्वतरोपनिषदि व्याहृतम्। तत्रैकः (जीवात्मा) कर्मफलरूपाणि पिप्पलफलकल्पानि सुखदुःखानि भुङ्क्ते। अन्यस्तावत् साक्षिभूतः (परमात्मा) अनश्नन् केवलं पश्यत्येव।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यं पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्ननन्यो अभिचाकशीति।। मुण्डक 3.1.1

तदयं संक्षपो ब्रह्मनिरूपणस्य। सागरं कलशीकृत्य मयेदं विवरणमुपस्थापितम्। पुनरावृत्तिभयान्न मूलोद्धरणानि तत्तद्ग्रन्थेभ्य आहृतानि। तथाऽप्यवशिष्यते सम्प्रत्यपि भूयान् प्रस्तोतव्यांशः। ब्रह्मनिरूपणपरा नैके ग्रन्थाः। तेषु प्रतिपादिता नैके सिद्धान्ताः। समेषामेव ग्रहणप्रयासे प्रभवत्यशक्तिः। चत्वारो वेदाः, शतमिता उपनिषदः,

बादरायणसूत्राणि, बादरायणसूत्राणां बहूनि भाष्याणि। ततश्चापि प्रकरणग्रन्था: पद्मपादसुरेश्वरसर्वज्ञात्मविज्ञानभिक्षुसदानन्दश्रीहर्षप्रभृतीनाम्। कोऽनु सर्वमेतदधीत्य सारवद् विश्वतोमुखम् अस्तोभमनवद्यञ्च ब्रह्मविवेचनं वेदान्तसम्मतं लिखेत्? तथापि किञ्चित्प्रयतितम्मया।

अक्षरनाम्नाऽपि परब्रह्म प्रत्यभिज्ञायते।[7] यथा वा बृहदारण्यके—**एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि! द्यावापृथिव्ये विधृते तिष्ठतः।** बृ० उ० 3.8.9

प्रश्नोपनिषदि ब्रह्मेदमोङ्कारपदवाच्यं दृश्यते।[8] यः खलु साधकस्त्रिमात्रेणोङ्कारेण तं परमपुरुषं (परमात्मानं) निरन्तरं ध्यायति स गच्छति तेजोमयं सूर्यलोकम्। यथा खलु सर्पः स्वकञ्चुकेन (निर्मोकेन) विमुच्यते तथैव साधकोऽप्यसौ पापैः प्रमुच्यते ओङ्कारसाधनया—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेण ओम् इत्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (पञ्चमः प्रश्नः)

बादरायणसूत्रे **'दहर उत्तरेभ्यः'** (1.3.14) इत्यस्मिन् दहरपदवाच्यं दृश्यते ब्रह्म। अस्यैव तथ्यस्य विस्तारस्संलक्ष्यते छान्दोग्योपनिषदि (8.1.1) तद्यथा—**अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।**

अत्रापि अन्तराकाश आकाशाख्यं ब्रह्मेति भगवान् शङ्कराचार्यः व्याख्याति।

यदुच्यते वेदान्ते जीवो ब्रह्मैव नाऽपरस्तदपि महनीयं प्रतिभाति यतो हि आत्मा न भिद्यते परमात्मनः। यथा एकस्यैव प्रकाशाधिष्ठानभूतस्य सूर्यस्य विविधाः प्रतिबिम्बा दृश्यन्ते पृथक्तया जलपूर्णे शरावे, कूपे, सरोवरे, निर्झरे, सरित्प्रवाहे, सागरे च तथैव चैतन्याधिष्ठानभूतस्य मूलसत्तात्मकस्य परमात्मन एव चैतन्याऽभिव्यक्ति र्दृश्यतेऽण्डजपिण्डजस्वेदजोद्भिज्जजातीयेषु प्राणिषु। तथाप्युभयोर्यो भेदः परिलक्ष्यते ज्ञातृज्ञेयरूपेण, ईश्वरजीवरूपेण, सजातीय-विजातीय-पदार्थरूपेण वा, स सर्वोऽपि भेदो मायाकृत एव। अन्यथा **नेह नानाऽस्ति किञ्चन।**

शाङ्करमतेन तु अद्वैतमेव सत्यम्। अनेकत्वम्पुनर्मिथ्या। अनेकत्वे विनष्टे, सत्यद्वैततत्त्वमेव परिशिष्यते। तद्यथाह माण्डूक्योपनिषत्—

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।।

जीवब्रह्मणोरिदमेवैक्यमभिव्यनक्ति महावाक्यं तत् त्वमसि इति। अत्र शरीरोपाधियुक्तः प्रत्यक्षजीवविशेष एव युष्मत्पदवाच्यस्त्वमिति। परोक्षञ्च यत् परमं तत्त्वं परब्रह्माभिधं तदेव तत्पदवाच्यम्। यद्यप्युभयमपि भिन्नं प्रतीयते। तथापि जीवाधिष्ठाने परब्रह्माधिष्ठाने च यदनुस्यूतमुभयसाधारणं शुद्धचैतन्यं तावतैव उभयोरभेदः सिध्यति।[9] अतएवोच्यते ऋषिणा—हे श्वेतकेतो! तत् शुद्धचैतन्याधिष्ठानं ब्रह्म त्वमेवासि, तस्यैव शुद्धचैतन्यस्यांशभूतत्त्वात्। अनेनैव प्रकारेण, महावाक्यान्तरेणापि अभेदोऽयमेव साध्यते—अहं ब्रह्माऽस्मीति। अत्राप्युभयनिष्ठं

शुद्धचैतन्यमभेदस्य कारणम्। अयमेव ब्रह्मसाक्षात्कारः। अयमेव मोक्षः।[10]

जीवब्रह्मणोर्भेदबुद्धिवशादेव जायन्ते जराजन्ममरणादिक्लेशाः। एषां क्लेशानां निवृत्तिरेव मुक्तिः। ब्रह्मानुभूतिरेव मुक्तिरखण्डानन्दमयीति वेदान्तदर्शनम्।

सन्दर्भ सङ्केताः

1. यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वां विद्धि यदिदमुपासते।।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि यदिदमुपासते।।–केनोपनिषत् 4-8
2. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। तथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।।–मुण्डकोप0 1.1.7
3. तस्मादस्ति ब्रह्म सुकृतप्रसिद्धेः। इतश्चास्ति। कुतः? रसत्वात्। रसो नाम तृप्तिहेतुरानन्दकरो मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके। रसमेव हि अयं लब्ध्वा प्राप्य आनन्दी सुखी भवति। नासत आनन्दहेतुत्वं दृष्टं लोके। बाह्यानन्दसाधनरहिता अप्यनीहा निरेषणा ब्राह्मणा बाह्यरसलाभादिव सानन्दा दृश्यन्ते विद्वांसः। नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम्। तस्मादस्ति तत्तेषामानन्दकारणं रसवद्ब्रह्म। तैत्तिरीयोप0 (2.7) शाङ्करभाष्यम्।
4. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।। –कठोपनिषत् 1.2.12
5. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। –कठोपनिषत् 1.2.5
6. सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।। –वेदान्तसारः।
विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः।। –संक्षेपशारीरकम् 2.61
7. एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।। –कठोपनिषत् 1.2.16
8. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रबीम्योमित्येतत्।। –कठोपनिषत् 1.2.15
9. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। –मुण्डकोपनिषत् 3.2.8
10. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति मास्या ब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं ग्रहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। मुण्डको0 3.2.9

Oṁkāra as depicted in the major Upaniṣad of the Atharvaveda

Dr. Shweta S. Kaluekar ★

The Upaniṣads are the perennial spring of strength and creativity, universally acknowledged as the main source of Indian philosophy, metaphysics, ethics and moral sciences. They constitute a high water-mark of mature thinking and beatific vision, highlighting the philosophical aspects of Brahman, Jīva, Jagat and Mokṣa.

Oṁkāra or Praṇava is a topic dealt with in almost all the principal Upaniṣads, which repeat from time to time the efficacy of medtation by means of the supreme symbol 'Om'. The actual means of meditation which a spiritual teacher imparts to his disciple is described unanimously in the Upaniṣads as being the symbol Om. Moreover, Om is described as not merely the supreme means of meditation but also as the goal to be reached by the meditation itself.

In the present paper, an humble attempt is made to discuss the aspects of Oṁkāra or Praṇava as depicted within the horizons of the three principal Upaniṣads of the Atharvaveda viz. Praśnopaniṣad, Muṇḍakopaniṣad and Māndūkyopaniṣad. Though these three Upaniṣads belong to the same veda, Oṁkāra is dealt with in a distinct manner in each of these and is replete with depths of thought and expression.

Oṁkāra in the Māṇḍukya Upaniṣad

Māṇḍūkya Upaniṣad, a short Upaniṣad of Atharvaveda, deals primarily with Oṁkāra and its importance in the spiritual life of an individual. This Upaniṣad, although bearing the name of a śākhā of Ṛgveda, is generally recognised as belonging to the Atharvaveda.

★ **Research officer, Deptt. of Sanskrit, Pali and Prakrit, M.S. University, Vadodara, Gujarat**

Within its smallest compass, it establishes Oṁkāra as the best or the most appropriate epithet for Akṣara Brahman. It avers the great vedic dictum pertaining to Oṁkāra.

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्।। 1

Oṁkāra is stated to be beyond the limits of time (त्रिकालातीत) i.e. beyond past, present and future and it is described as the only truth beyond time.

यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।

The famous vedic dictum (Mahavākya) अयमात्मा ब्रह्म 2 is explained in this Upaniṣad. Ātma is said to possess four feet—अयमात्मा चतुष्पात्। 2 and the four feet of Ātman are identified with the matras of Prāṇava or Oṁkāra. It states that the Brahman and the Ātman are the forms of Oṁkāra : सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति। Māṇḍūkya Upa. 8

Māṇḍūkya Upaniṣad supplies us with a unique exaltation of 'Om' and its spiritual significance. We are told that Om consists not merely of the three morae A U M—which is clearly evident, but it contains also a fourth mora-less i.e. Nirvedesa. It brings forth the correspondence of the parts of Om viz. A, U, M, and mora-less with the four states of consciousness viz. Jāgrat, Svapna, Suṣupti and Turīya, and with the kinds of soul viz vaiśvānara, Taijasa, Prājña and Ātman respectively.

This topic is dealt with in detail in the GaudapādaKārikā on māṇḍukyopaniṣad by Gaudapādācārya. But I restrict myself to the boundaries of the Upaniṣads of Atharvaveda only. In this Upaniṣad, each mātrā of mora of Oṁkāra is assigned with a particular function and hence it is identified with different states of existence.

The first mātrā or morae 'अ' (A) being the beginning helps the individual who knows it to attain his desires

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वा आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद।। 9

One who knows the second morae 'u' 'उ' leads a person to the highest knowledge with nobody void of knowledge in his family

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद।। 10

One who knows the third mātrā of Oṁkāra as 'M' 'म' which is the measuring limit of the world, knows the truth of the world and has the capacity to dissolve everything within him.

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।। 11

These three morae of Oṁkāra viz A-U-M can be related to the concept of trinity observed by us in our day to day life viz. origin, sustenance and dissolution. Universe is said to be three-dimensional. Time is also divided three fold—past, present and future. The qualities are also three—Sattva, Rajas and Tamas. There are three aspects of physical body—Length, width and height. Svaras are grouped into three—(1) Hrasva, Dīrgha and Pluta (b) Udātta, Anudātta and Svarita—Vyāhṛtis are three bhu, Bhuvah and svar—dities are three Bṛahmā, Viṣṇu and Maheśa, if trinity is considered. Similarly Brahman or the supreme reality is expressed in the three morae of Oṁkāra.

The last mora-less part of Oṁkāra is free from action and is the pacifier of the miseries of the world. It is auspicious and the non-dual self. It leads an individual towards the knowledge of the self and final beautitude.

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद।। 12

Thus, here we find both the Niraṅkāra (formless) and Sākāra (with form) aspects of Brahman enumerated. Oṁkāra is portrayed both as the means i.e. one that leads to the final entity, as well as, the supreme entity itself. Nowhere else, as in the Māṇḍūkya Upaniṣad, do we find such an exaltation of Om and the great values for spiritual life of meditation by means of that symbol.

Oṁkāra in the Muṇḍakopaniṣad

Muṇḍakopaniṣad deals with a wide range of subjects apart from Oṁkāra or Praṇava. This knowledge is imparted by Maharsi Aṅgirā to the sage Saunaka while discussing the cosinological aspect i.e. the origin and dissolution of the world due to Brahman. Praṇava is explained there as a means to the attainment of supreme reality.

Oṁkāra is known as Praṇava in this Upaniṣad. Praṇava means Pra-ṇava i.e. Prakarṣeṇa Navah, 'extremely novel'. In true sense a new dimension to Oṁkāra is given here as Praṇava. Oṁkāra is also known as Udgītha in the chhāndogya Upaniṣad.

ओमित्येतदक्षरम् उद्गीथमुपासीत।।1.1.1

Om is immutable. Udgītha means that which is sung loudly (Uccaih gīyate iti) Om is identified with udgītha and Praṇava in chhāndogya Upa. I.5.I.5 and Maitri Upa. 6.4 :

य उद्गीथ : स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः।

Om is chanted differently in all the four vedas for eg. In Ṛgveda Om is both svarita and udātta—स्वरितोदात्त प्रकाक्षर ऊँ।

In yajurveda Om is all udatta—सर्वोदात्त एकाक्षर ऊँकारो।

In Sāmaveda Oṁkāra being long (Dīrgha) Udātta is known as Udgītha—दीर्घोदात्त एकाक्षर ऊँकार साम्नि।

In Atharvaveda Oṁkāra is short udātta—संक्षिप्तोदात्त एकाक्षर ऊँकार अथर्ववेदे।

In the following verse of Muṇḍakopaniṣad we find a graphic depiction of Oṁkāra as a means of obtaining Brahman i.e. supreme reality.

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। II. ii. 4

Here Prāṇava is portrayed as the bow and Ātman as an arrow, the target being Brahman. One who hits the target i.e. Brahman with an unerring mind, with Praṇava being the bow, merges or is unified with the target viz. Brahman, just as the arrow enters the target. Here through this metaphor, Praṇava is established as the means to achieve the highest goal in life.

Through this verse we are told how devotion is necessary for the whetting of the joint of the arrow, how concentrated attention and undistracted efforts are necessary for making the arrow of the soul pierce the target of Brahman and how, finally, the arrow is to become so abscribed in the target that it ceases to exist as a separate entity. This metaphor of the arrow and target, is a novel concept brought forth by the Muṇḍaka Upaniṣad which most fittingly depicts the communion of the lower and the higher selves to bring to an end the existence of duality.

Similar concept is put forth in the eighth chapter of Bhagvadgītā where Om is both the Dhyeya and Dhyāna i.e. the goal as well as the means to attain that goal.

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।। SrimadBhagvadgītā VIII. 13

Similarly Oṁkāra is also described as one which destroys darkness and brings in auspiciousness when the supreme reality, residing within us is meditated upon as Om. Here in the following verse of Muṇḍakopaniṣad, we are appealed to meditate on the Ātman identified with Om.

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।। II. ii. 6

The same idea is also converged by the Taittirīya Upaniṣad of Kṛṣṇa Yajurveda which identifies Om with Brahman : ओमिति ब्रह्म 1.8.1

Similarly, in Kaṭhopaniṣad of Kṛṣṇa Yajurveda significance of Oṁkāra is highlighted :

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपां सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।। I.2.15
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।। I. 2. 16

As in the Muṇḍakopaniṣad, here also it is said, that Oṁkāra is everything. It is Akṣara Brahman and the highest goal to be achieved by those desirous of salvation. It is described as the wish-fulfiller i.e. One who knows it attains whatever is desired and hence it is rightly said :

ऊँकार बिंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ऊँकाराय नमो नमः।।

In Srīmadbhagavadgītā, Lord Sri Kṛṣṇa also identifies himself as Praṇava among all Vedas : प्रणव : सर्ववेदेषु.....VII. 8.

Thus, Muṇḍakopaniṣad presents before us the gist of all other Upaniṣads and vedāntic doctrines on the aspect of Oṁkāra.

Oṁkāra in the Praśnopaniṣad

The same concept is further explained in Praśnopaniṣad, where one whole chapter i.e. Praśna Upa. V., is dedicated to Oṁkāra.

The moral efficiency of meditation by means of Om is brought out in the Praśnopaniṣad, where Śaibya Satyakama inquires of his precepter Pippalāda, as to what happens to a man by his continuing to meditate by means of that symbol 'Om' till the hour of his death. Maharṣi Pippalāda answers that Oṁkāra Itself is para (Higher), as well as, Apara (lower) Brahman and hence a person constantly meditating on It, attains this Brahman :

परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।। V. 2

Similarly Oṁkāra is considered as the designator or indicator of Īśvara as it is said in the Yogasūtras of Patañjali तस्य वाचकः प्रणवः। I. 27

Similar concept is enunciated in Śrīmadbhagavadgītā, where 'Om Tat Sat' is declared as the temple designation of Brahman.

ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। XVII. 23

Oṁkāra is thus identified with Brahman. The preceptor Pippālada further says (Praśnopaniṣad V. 1-5) that a man who meditates on Om is relieved of his sins and by the power of his chants, he is lifted to the higher world. Then discussing on the three morae of Oṁkāra—A U M, it is said that, though different, they are related to each other. By meditating on the one, two, or three of the morae of the Oṁkāra, the aspirant of Moksa achieves different worlds through Rg. Yajus and Sāma hymns respectively. It is through Oṁkāra, says sage Pīppalāda, that a person attains the para-brahma-loka i.e. the abode of the Supreme Reality which is full of peace immutable, fearless and the best.

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति।। V. 7

Thus, from the above discussion, it is well understood that in all the three major Upaniṣads of the Atharvaveda viz. Praśnopaniṣad, Muṇḍakopaniṣad and Māṇḍūkyopaniṣad, Oṁkāra is depicted as both the means of attaining the Supreme reality, as well as, the Supreme Reality itself. The concept being the same, the unique style of expression in each of the above mentioned Upaniṣads attracts the minds of not only scholars; but also of laymen and therein lies the importance of the concept of Oṁkāra.

❐

उपनिषदों में ईश्वर क्या है? और क्या नहीं है?

प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' ★

विश्व-साहित्य में उपनिषदों का एक विशेष महत्त्व है। भारत में मध्य एशिया के अफगान, तुर्क, मुगल आये। अपने राज्य काल में भारतीय धर्म, दर्शन व संस्कृति के विध्वंस के लिये उन्होंने जो कुछ भी सम्भव था, किया, तथापि उनमें से भी कई ऐसे ज्ञानपिपासु, जिज्ञासु निकले जिन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्य के अथाह सागर में डुबकी लगाई और आर्यों के प्राचीन आध्यात्मिक व दार्शनिक दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित हुए। दाराशिकोह ने 'सिर्रे अकबर' नाम से एकादशोपनिषद् का फ़ारसी भाषा में अनुवाद किया। उससे भी पहले फ़ैज़ी ने अकबर के काल में महाभारत व गीता का फ़ारसी में अनुवाद किया। फ़ैज़ी का गीता-अनुवाद तो पद्य में है। इसकी एक प्रति मेरे पुस्तकालय में भी है। उसका महाभारत का अनुवाद पद्य में है या गद्य में, यह मुझे निश्चित रूप से पता नहीं।

पश्चिमी जातियाँ भारत में आईं तो उन्होंने भी प्राचीन संस्कृत साहित्य में विशेष रुचि दिखाई। प्रयोजन सद्ज्ञान की प्राप्ति नहीं था। सूली व साम्राज्य की सेवा के लिये अर्थ नहीं, अनर्थ करना उनका उद्देश्य था, फिर भी कई पश्चिमी विद्वान् वेद व उपनिषद् के गीत गाने लग गये। शोपनहार ने उपनिषदों के बारे में जो कुछ लिखा है, वे अध्ययनशील पाठक जानते ही हैं।

दुर्भाग्य की बात तो यह रही कि हमारे देश की सामान्य जनता की तो बात ही क्या, उच्च शिक्षित लोग भी वेद व उपनिषद् के बारे में कई प्रकार की भ्रान्तियों का शिकार रहे। इसके तीन उदाहरण यहाँ संक्षेप से देता हूँ—

(1) राजा राममोहन राय संस्कृत आदि कई भाषाएँ जानते थे, विद्वान् थे और नेता भी। उनका सम्पूर्ण साहित्य मैंने देखा है। वह वेदों को जानते ही नहीं थे, उपनिषदों को ही वेद समझते रहे। सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य चमूपति जी ने अपनी एक उर्दू कविता में इस पर बड़े दुःख से लिखा है—

मानिये पिन्हाँ से होते क्या मुहक़्क़क़ आशना।
राम मोहन राय भी वेद, उपनिषद् को कह गये।।

सद्धर्म के मर्म को गवेषक क्या समझ पाते जब राजा राम मोहन राय ही उपनिषदों को वेद बताते रहे।

★ अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, अबोहर, पञ्जाब

(2) विख्यात आर्य विद्वान् श्री पं० अयोध्या प्रसाद जी कलकत्ता वालों के पुस्तकालय में 'सिर्रे अकबर' (दाराशिकोह के फ़ारसी उपनिषद् भाष्य) की एक पाण्डुलिपि मैंने देखी। यह किसी सुशिक्षित हिन्दू परिवार से वह लाये या उन्हें प्राप्त हुई। उस पर उसी परिवार के एक मुखिया ने जो डिप्टी कलैक्टर था, के हाथ से यह लिखा था कि यह वेद-भाष्य है। इस पवित्र ग्रन्थ को सम्भालकर रखा जाय। इस आशय के शब्द मैंने पढ़े तो हँस दिया।

(3) भारत में अब भी अनेक लोग ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों आदि को वेद ही मानते हैं, या कहते हैं। इन्होंने कभी इतना भी नहीं सोचा कि भारत में वेदी, द्विवेदी, त्रिवेदी व चतुर्वेदी परिवार हैं। कई ऐसे विद्वान् मिलेंगे जिन्हें दो, तीन, चार, पाँच, छह या सात आठ उपनिषदें कण्ठस्थ हैं, उन्हें फिर वेदियों में क्यों नहीं गिना गया। चतुर्वेदी तो हैं, जिन्होंने चार वेदों के साथ ईश, केन व कठ याद कर लिया फिर चतुर्वेदी ही क्यों कहलाये? उन्हें तो सात वेद कण्ठ हो गये। जिस देश व जाति में इतनी भ्रान्तियाँ हों, वह वेद उपनिषद् से पूरा-पूरा लाभ क्योंकर उठा सकती है।

उपनिषद् दर्शन के ग्रन्थ तो नहीं है। दर्शन ग्रन्थ कभी काव्य में नहीं लिखे गये। हाँ! काव्य पर दर्शन की छाप हो सकती है। उपनिषदों की भाषा काव्य या काव्यमयी है। इनमें प्राचीन आर्यों का अध्यात्मवाद भी है और दर्शन भी है। कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, सदाचार, शिष्टाचार, नैतिकता व शिक्षा आदि अनेक विषयों पर मार्मिक शब्दों में बहुत कुछ मिलता है। इस लेख में हम यहाँ ईशोपनिषद् के आठवें मन्त्र पर ही कुछ विचार करेंगे। इस मन्त्र को समझ लेने से व इसके प्रचार से मानव समाज की असंख्य भ्रान्तियों का उन्मूलन हो सकता है। ईश्वर विषयक कई भ्रान्त धारणायें शिक्षित-अशिक्षित सब लोगों में पायी जाती हैं। भ्रमोच्छेदन के लिए यह मन्त्र पूर्णतया सक्षम है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। ईश० 8

उपनिषद् के इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में तो यह बतलाया गया है कि परमेश्वर क्या नहीं है और उत्तरार्द्ध में यह बतलाया है कि वह है क्या? कभी विद्यार्थी जीवन में मैंने किसी पश्चिमी विद्वान् द्वारा तर्कशास्त्र पर लिखी एक छोटी-सी परन्तु अत्युत्तम पुस्तक में यह पढ़ा था कि किसी पथिक को मार्ग पूछने पर इतना ही बताना आवश्यक नहीं है कि आप सीधे जाओ, वहाँ चौक पर जा कर दायें घूमना फिर बायें मुड़ जाना इत्यादि। उसे यह भी बताना आवश्यक है कि चौक में जाकर बायें मत जाना, न सीधा जाना। आगे जाकर फिर किधर नहीं मुड़ना, यह भी बताना आवश्यक है।

इस मन्त्र में ऐसा ही किया गया है। यहाँ बताया गया है कि सबको सब ओर से घेरे हुए वह प्रभु 'अकाय' है। उसका न तो स्थूल शरीर है और न ही सूक्ष्म शरीर है। काया होने पर वह कहीं एक स्थान पर ही रहेगा। न सकल सृष्टि की रचना कर सकेगा और न सबको जान सकेगा। सबको जानने-सम्भालने के लिये फिर नौकर, चाकर, दूत, पूत और फ़रिश्ते, सन्देशवाहक पता नहीं क्या-क्या चाहिये। फिर सृष्टि-रचयिता की काया का भी कोई रचयिता मानना पड़ेगा। बस इस एक अकाय शब्द को न समझकर लोगों ने एक से दो और दो से बढ़ते-बढ़ते तैंतीस करोड़ देवताओं की कल्पना कर ली।

स्मरण रखिये, जीव शरीर में रहता है। शरीर का प्रभाव जीव पर व जीव का शरीर पर पड़ता है। आँख से जीव देखता है परन्तु आँख के दोष से भ्रमित भी होता है परन्तु जगत् में व्याप्त ईश्वर पर जगत् का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह प्रभु 'अव्रणम्' है। जब काया ही नहीं तो फिर विकार का, फोड़े फुंसी का भी प्रश्न नहीं उठता। वह 'अस्नाविरम्' है। वह प्रभु नस नाड़ी के बन्धन में भी नहीं।

यहाँ एक बात विचारने योग्य है। भारत में निर्गुण-सगुण इन दो शब्दों की सन्त महात्मा बड़ी चर्चा किया करते हैं। हिन्दी साहित्य में तो सन्तों को, कवियों को साहित्यकारों ने इन्हीं दो शब्दों के कारण दो श्रेणियों में बाँट रखा है। सगुण का अर्थ है कायावाला ईश्वर अर्थात् साकार और निर्गुण का अर्थ वह निराकार करते हैं। सगुण का अर्थ वैसे गुण सहित और निर्गुण का अर्थ गुण रहित होता है। न जाने गुण का अर्थ काया किसने कर दिया? सारी जाति में अर्थ का अनर्थ बुद्धि भेद, मतभेद व मनभेद पैदा कर दिया है। यदि उपनिषद् के इस मन्त्र के अकाय शब्द को यह जाति समझ लेती तो विद्वान् सगुण का अर्थ साकार व निर्गुण का अर्थ निराकार कदापि न करते।

महर्षि दयानन्द जी ने ठीक ही लिखा है कि प्रत्येक वस्तु निर्गुण भी है और सगुण भी है। ईश्वर के विषय में भी हम यही कहेंगे। ईशोपनिषद् के इस मन्त्र के अकाय शब्द की ओर ध्यान न देने या इसकी अनदेखी करने से ही जन-साधारण तो क्या सन्त भी दो विरोधी धड़ों में बँट गये।

उपनिषद् इसी मन्त्र में उस मल रहित ईश्वर को अपापविद्धम् बताता है। वह प्रभु पाप रहित है। उस पर पाप का अघात हो ही नहीं सकता। कैसे? वह जगत् में है फिर जगत् का प्रभाव उस पर क्यों नहीं! सूर्य की किरणें गन्दे नाले पर भी पड़ती हैं परन्तु नाले के मल के प्रभाव से अछूती रहती हैं। पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय ने इस शङ्का का निराकरण करते हुए बहुत सुन्दर रीति से समझाया है कि विद्युत जल में व्याप्त है परन्तु क्या भीगती भी है? इसी प्रकार धरती को जब हम खोदते हैं तो उसमें व्यापक ईश्वर इससे बींधता नहीं। कारण? वह अकाय है, वह अस्नाविरम् है।

वह ईश्वर है क्या? उपनिषद् कहता है कि वह मनीषी ज्ञान स्वरूप है। वह कवि है, उसी ने कल्याणी वेदवाणी का प्रकाश जीवों के हित में किया है। वह परिभूः है। सर्वव्यापक प्रभु सब ओर से जगत् में व्याप्त है। परिभूः का अर्थ व्यवस्था करने व पोषण, रक्षण करने वाला भी है। एक ही शब्द में ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ बोध करवा दिया गया है। जो सर्वव्यापक नहीं, वह सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी व नियामक व्यवस्थापक भी नहीं हो सकता। यह बात जान लेनी चाहिए। उपनिषद् उसे स्वयंभू बताता है। वह अजन्मा है। अपनी सत्ता से वह स्वयं सिद्ध है। याथा तथ्यतः कहकर दर्शाया गया है कि जगत् की जैसी व्यवस्था चाहिये वह ठीक वैसे ही कर रहा है। व्यदधात् और शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' शब्दों द्वारा बताया गया है कि वह सदा से नित्य जीवों के लिए पदार्थों का निर्माण करता है।

प्रश्न है कि वह प्रभु इस बखेड़े में क्यों पड़ता है? वह जगज्जात में क्यों धंसता है? वह प्रभु स्वभाव से ही कल्याणकारी है। जड़ प्रकृति इस दृष्टि से पूर्ण है कि उसे कुछ चाहिये ही नहीं और प्रभु परमानन्द हैं ही। वह पूर्ण है उसे भी कुछ नहीं चाहिये। जीव के लिये यहाँ 'समाभ्यः' शब्द आया है। इन जीवों के लिये ठीक-ठीक

उपभोग की व्यवस्था वह प्रभु करता है। यह उसका स्वभाव है।

संसार के उन लोगों के सामने जो सृष्टि के रचयिता की सत्ता में विश्वास करते हैं, दो प्रश्न सदा रहे हैं। पहला प्रश्न यह है कि ईश्वर ने सृष्टि क्यों रची? दूसरा प्रश्न है कि संसार में पाप कहाँ से आया या जीव पाप क्यों करता है?

भिन्न-भिन्न विचारक इसका भिन्न-भिन्न उत्तर देते आये हैं। कुछ का मत है कि सृष्टि-रचना से पूर्व केवल परमात्मा ही था। उसने चाहा कि सृष्टि बना दी जाय। अभाव से यह सारा जगत् बना डाला। न जीव थे और न प्रकृति थी। दूसरे प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि शैतान ही मनुष्यों को पाप कर्मों के लिए बहकाता है। कुछ का यह भी कहना है कि सब कुछ ईश्वर की आज्ञा से ही हो रहा है परन्तु वेदोपनिषद् ऐसा नहीं मानते। इस मन्त्र में वैदिक दर्शन पहले प्रश्न का उत्तर देता है कि अनादि काल से प्रभु जीवों के लिए जगत् रचकर ठीक-ठीक समुचित व्यवस्था कर रहा है। दूसरे प्रश्न का उत्तर भी वेद, उपनिषद् व अन्य शास्त्र यह देते हैं कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था के अधीन है। न्यायकारी दयालु प्रभु जीव के कर्मों के अनुसार ही भोग देता है। जीव चाहे शुभ कर्म करे, चाहे तो अशुभ करे और चाहे तो कुछ भी न करे। यदि परमात्मा की आज्ञा से ही सब कुछ होता है तो फिर न कोई पुण्यात्मा कहा सकता है और न कोई पापी हो सकता है। पाप पुण्य का दायित्व फिर परमेश्वर पर ही होगा, जीव पर नहीं– यह है उपनिषदों का दार्शनिक दृष्टिकोण।

❐

उपनिषदों में सत्य का स्वरूप

डॉ० किरण कुमारी ★

उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूल स्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धि के ही परिणाम नहीं हैं अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूति के पल हैं। उपनिषद् अध्यात्म विद्या अथवा ब्रह्म विद्या को कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने से इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है और वेदान्त सम्बन्धी श्रुति संग्रह ग्रन्थों के लिये भी उपनिषच्छब्द का प्रयोग होता है।

उपनिषद् वेद के ज्ञान काण्ड हैं। ये चिर प्रदीप्त वे ज्ञानदीपक हैं जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देते चले आ रहे हैं और लयपर्यन्त पूर्ववत् प्रकाशित रहेंगे। इनके प्रकाश में वह अमरत्व है, जिसने सनातन धर्म के मूल का सृजन किया है। ये जगत्कल्याणकारी भारत की अपनी निधि हैं, जिनके सम्मुख विश्व का प्रत्येक स्वाभिमानी सभ्य राष्ट्र श्रद्धा से नतमस्तक रहा है और सदा रहेगा। अपौरुषेय वेद के अन्तिम अध्याय रूप ये उपनिषद् ज्ञान का आदिस्रोत और विद्या का अक्षय भण्डार है। वेद विद्या का चरम सिद्धान्त—

एकमेवाद्वितीय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन त्रिपाद्विभूतिमहाना० 3/3

का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीव को अल्पज्ञान से अनन्त ज्ञान की ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से अनन्त सत्ता और अनन्त शक्ति की ओर, जगदु:खों से अनन्तानन्द की ओर और जन्म-मृत्यु बन्धन से अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्ति की ओर ले जाते हैं।

मानव-चेतना स्वभावत: इन्द्रिय और मन के अनुगत होकर विश्व जगत् में परिचय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करती है। इससे मानव चेतना के क्रमश: विकासशील ज्ञान के सामने यह विश्व जगत् देशकालाधीन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विशिष्ट नित्य परिवर्तनशील असंख्य खण्ड पदार्थों के समष्टि रूप में ही प्रतीत होता है किन्तु मानव चेतना की अन्त: प्रवृत्ति में, वह प्रेरणा है, जिसके कारण विश्व जगत् के इस बाहरी परिचय से वह तृप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार की एक अनुभूति मानव-चेतना को सदा-सर्वदा इस जगत् का और भी निगूढ़, निगूढ़तर और निगूढ़तम ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्दीप्त करती रहती है।

इन्द्रिय और मन का अनुवर्तन करके मानव चैतन्य जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही उसे अनुभव होता है कि इस मार्ग में ज्ञान की, कर्म की और आनन्द की पूर्णता नहीं है परन्तु इसी प्रयत्न के द्वारा चेतना का

★ वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, गंगा देवी महिला कॉलेज, पटना, बिहार

क्रम विकास होता रहता है। मानव-चेतना जब पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है, सम्यक् रूप से जाग्रत और प्रबुद्ध हो जाती है, तब वह अपने ज्ञान, कर्म और भोग को इन्द्रिय और मन की अधीनता से मुक्त करने के लिए प्रयास करती है, अपने स्वरूप भूत चित्-ज्योति के प्रकाश से इस विश्व जगत् के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् परिचय प्राप्त करने में अपने को संलग्न कर देती है।

यह जो इन्द्रिय मन की अधीनता से मुक्त सम्यक् प्रबुद्ध मानव चेतना है, इसी का नाम 'ऋषि चेतना' है। इस ऋषि चेतना के द्वारा विश्व जगत् के अन्तर्निहित तत्त्व के सम्बन्ध में जो अपरोक्ष अनुभूति होती है, उसी का नाम उपनिषद् ज्ञान है। ऋषि चेतना से जो सत्य प्रकाशित होता है, वही सम्पूर्ण जीव और जगत् का मूल तत्त्व और यथार्थ स्वरूप है। वह ऋषि चेतना समस्त जीवों (चेतन) का और जड़ का अबाध मिलन क्षेत्र है। उस ऋषि चेतना की प्राप्ति होने पर मनुष्य के ज्ञान की, स्वाधीनता की, आनन्द की और कल्याण की पूर्णता हो जाती है। मनुष्य की चेतना उस समय देश काल की सीमा का अतिक्रमण कर, कार्य-कारण शृंखला के बन्धन से छूटकर, राग-द्वेष, भय-भावना से ऊपर उठकर, सब प्रकार के आवरण और विक्षेप से मुक्ति पाकर विश्व जगत् के यथार्थ स्वरूप को देखती है और अपने यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। उसका यही यथार्थ स्वरूप "सत्य" की संज्ञा से अभिभूत होता है। अब प्रश्न उठता है सत्य क्या है?

सत्य का अर्थ है कि—"जो त्रिकाल में 'एक रूप हो' अर्थात् अपरिवर्तनशील पदार्थ सत्य होता है। इसका अर्थ क्रमशः सत्त्व (Being) और भाव (Becoming) अथवा सत्ता और विकृति किया जा सकता है। पहला स्थिरता या निष्क्रियता का सूचक है, दूसरा परिवर्तन या विकार का। नाम रूपात्मक जगत् में ये दोनों तत्त्व सापेक्षिक रूपों में ही मिलते हैं। न यहाँ सत्त्व (Being) ही आत्यन्तिक है और न भाव (Becoming) ही। बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम ब्राह्मण में भी कहा गया है यह (व्यक्त जगत्) पहले आप् (जल) ही था। उस आप् ने सत्य की रचना की। अतः सत्य ब्रह्म है। ब्रह्म ने प्रजापति (विराट्) को और प्रजापति ने देवताओं को उत्पन्न किया। ये देवगण सत्य की ही उपासना करते हैं। वह यह सत्य "तीन" अक्षर वाला नाम है। 'स' वह एक अक्षर है 'ति' यह एक अक्षर है और 'यम्' यह एक अक्षर है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्य का अनृत है। वह यह अन्ततः दोनों ओर से सत्य से परिगृहीत है। इसलिये यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को अनृत नहीं मारता। वह जो सत्य है, सो यह आदित्य है। अतः आदित्य को सत्य तथा अग्नि को ऋत कहा जाता है, परन्तु अग्नि तथा उसके प्रकाश में अग्नि को सत्य तथा प्रकाश को ऋत कहा जाता है।[1] उसी प्रकार यदि सृष्टि या उसकी उपकरणीभूत वाक् को ऋत कहा जाता है, तो स्रष्टा को सत्य कहा जाता है[2] या सत्यमय माना जाता है[3] परन्तु वही स्रष्टा ऋत कहा जाता है जब उसकी तुलना कारण ब्रह्म से की जाती है।[4] ऐसे ही स्थूल शरीर की अपार विकारशीलता को देखकर उसको ऋत तथा वीर्य, प्राण, नाम, रूप आदि को सत्य कहा जाता है।[5]

इस विवेचन से यह सिद्ध है कि 'ऋत' शब्द विकार, परिवर्तन या गति वाची 'भाव' शब्द का पर्याय है और 'सत्य' शब्द से सत्त्व के अन्तर्गत उस स्थिरता या अगति का बोध होता है, जिससे ऋत या भाव की गति अथवा विकृति का सूत्रपात होता है। अतः ऋत या भाव (Becoming) को यथार्थ में, गतिशील या विकृतिमय

सत्त्व (Being) कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से सत्य और ऋत को एक ही कहा जाता है।[6] प्राणमय तथा अन्नमय में ऋत या भाव (Becoming) का इतना अधिकार रहता है कि उसके कारण ऐकान्तिक सत्य का आभास भी नहीं मिल पाता परन्तु विज्ञानमय में आकर 'ऋत' 'म' अर्थात् सुप्त[7] हो जाता है। इसलिये इस अवस्था में, ऋत को मृत (म्+ऋत) कहा जाता है। जब ऋत और सत्य का तादात्म्य हो जाता है, तो सुप्त सत्य (मृत) भी नहीं रह जाता, अतः उसका नाम 'अमृत' (अ-म्-ऋत) हो जाता है।

ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जिसमें गति नहीं रहती हो तथा इसके साथ-साथ ऐसी गति भी नहीं होती है, जिसमें स्थिति न हो। जिस पल भी स्थिति में से गति निकाल दी जाएगी, उस पल वह स्थिति गति रूप में परिणत हो जाएगी। यही फल गति का भी होता है। गति में से स्थिति निकाल दी जाती है तो गति स्थिति भाव (रूप) में परिणत हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि स्थिति का स्वरूप जहाँ गति पर निर्भर करता है वहीं गति भी अपने स्वरूप के लिए स्थिति पर निर्भर है। इसको समझने के लिए कल्पना कीजिए कि आप अपने मकान से किसी निश्चित लक्ष्य तक घूमना चाहते हैं। इसके लिए इसके भीतर चेष्टा (प्राण-व्यापार) होती है। इस चेष्टा के कारण आप चल पड़ते हैं। चलते ही गौर से ध्यान देने पर पायेंगे कि एक पैर उठता है और एक स्वतः ही आगे जाकर टिक जाता है। गति क्या है? इन पैरों का चलना ही तो 'गति' है। इसी प्रकार जब गति के लिए एक पैर आगे के लिए उठाते हैं तो दूसरा स्वतः ही जमीन पर स्थित (टिका) रहता है। यही स्थिति भाव है। बिना एक पैर को स्थित किये आप दूसरे पैर को गति रूप में परिणत कर ही नहीं सकते। अतएव यह निश्चित है कि गति, बिना स्थिति के नहीं हो सकती। यदि आप गति में से इस स्थिति को निकाल देंगे तो आपकी गति स्थिति रूप में परिणत हो जाएगी।

कुछ व्यक्ति घर से एक निश्चित समय पर निश्चित स्थान के लिए रवाना होते हैं। एक व्यक्ति एक घण्टे में पहुंचता है। दूसरा दो घण्टे में पहुँचता है। तीसरा पन्द्रह मिनट में ही पहुंच जाता है। चौथा उसी स्थान पर दस मिनट में ही आ पहुँचता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि एक समय में एक साथ रवाना होते हुए भी एक व्यक्ति दस मिनट में ही पहुँच जाता है, तो एक को दो घण्टे लगे, वहीं अन्य को एक घण्टा समय लगा। इसका कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर बड़ा सीधा-सा है कि जिसने जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुँच गया तथा जिसने धीरे-धीरे पैर उठाए वह देर से पहुँचा। इन्हीं दोनों उत्तरों से पूर्व में उपस्थित प्रश्न का स्वतः ही समाधान हो जाता है। जल्दी पैर उठाने का अर्थ है—स्थिति कम करना। अतएव यह मानना पड़ेगा कि जो व्यक्ति दस ही मिनट में पहुंच गया उसके पैरों में स्थिति बहुत ही कम थी। उसने अपना पैर जमीन पर किस समय रखा यह देखना कठिन था। उसके पैर तो चलते ही दिखाई देते थे। कल्पना करिए कि कोई व्यक्ति इससे भी अधिक तेज चलने वाला है, यानी इसके पैरों की स्थिति दस मिनट में पहुंचने वाले की स्थिति में से आधी है। वह मात्र पांच मिनट में लक्ष्य पर पहुँच जाएगा। उससे भी कम स्थिति रखने वाला दो मिनट में ही पहुंच जाएगा तथा उससे भी आधी स्थिति रखने वाला एक मिनट में पहुंच जाता है या उससे भी कम स्थिति रखने वाला आधे मिनट में ही पहुंच जाता है। मान लीजिए किसी मनुष्य में से स्थिति बिलकुल ही निकाल दी जाए तो ऐसा मनुष्य जिस क्षण जहाँ से चला है उसी क्षण अपने पहुँचने के निश्चित स्थान पर भी है। इसका कारण

वैज्ञानिक परिभाषानुसार स्थिति निकल जाने से उसकी गति का स्थिति बन जाना है और ऐसा केवल 'ब्रह्मतत्त्व' ही हो सकता है, दूसरा नहीं। वैदिक परिभाषा में प्रतिष्ठा तत्त्व का नाम ही 'ब्रह्म' है, जिसकी गति में जरा भी स्थिति नहीं है—अतएव जो सबसे तेज चलता हुआ भी गति में स्थिति नहीं रहने से स्थिति 'ब्रह्म' अर्थात् 'ब्रह्मा' कहलाता है। इसी तत्त्व का निरूपण करते हुए भगवान् वेद कहते हैं—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽनत्यान्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।। ईशा० उप० 4

यह ब्रह्म तत्त्व कम्प से बिल्कुल रहित है अर्थात् बिल्कुल स्थिर है परन्तु यह मन से भी तेज चलने वाला है। देवता लोग दौड़ में इसे कभी नहीं पकड़ सकते हैं। यह स्वयं बैठा-बैठा ही दौड़ने वालों के आगे जा पहुँचता है। इसी अर्थ का और भी स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। ईशा० उप० 5

कहने का तात्पर्य यही है कि यदि गति में से स्थिति निकाल दी जाती है तो वह गति-गति न रह कर स्थिति रूप में परिणत हो जाती है। इसको समझने के लिए उदाहरण के तौर पर एक जलता हुआ उल्मुक (पलीता या पूला) अपने हाथ में लेकर जितना जल्दी हो सके, घुमाए। आपके हाथों में तीव्र गति से घूमता हुआ उल्मुक मण्डलाकार में दिखाई देगा। उल्मुक में प्रति क्षण गति होते हुए भी वह स्थिर मण्डलाकार में ही परिणत दिखाई देता है। इसका एकमात्र कारण है कि हाथ की गति में स्थिति बहुत ही कम है। यदि उस गति में से आप स्थिति को एकान्ततः निकाल दें तो उसी क्षण वह उल्मुक स्तब्ध हो जाएगा। इसे गति तत्त्व का निरूपण कहते हैं।

स्थिति स्वरूप में तभी मानी जाती है जब तक कि इसमें गति का समावेश है। यदि स्थिति में से गति निकाल दी जाती है तो वह स्थिति इसी क्षण गति रूप में परिणत हो जाती है। आप प्रतिदिन जितने भी पदार्थ देखते हैं, तो पाते हैं, उनमें कई स्थिर हैं परन्तु वस्तुतः सच मानिए वे पदार्थ स्थिर दिखते हुए भी स्थिर नहीं हैं। अपितु एक ही समय में चारों ओर जा रहे हैं। जिस क्षण में वह वस्तु पूर्व की ओर जा रही है उसी क्षण में वही वस्तु पश्चिम की ओर भी जा रही है। उसी क्षण दक्षिण व उत्तर की ओर भी जा रही है। यहाँ तक कि उसी क्षण नीचे ऊपर की ओर जा रही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक क्षण में सब ओर के समान आकर्षण बल के कारण ही यह वस्तु किसी नियत दिशा की पकड़ में न आकर सब ओर समान रूप से (समान गति से) जाने लगती है। बस इसी गति समष्टि का नाम ही तो स्थिति है। वास्तव में यही स्थिति भाव है। वास्तविक स्थिति में स्थित वस्तु पर से यदि किसी एक ओर की गति का गति बल शिथिल हो जाता है तो ठीक उसके विरुद्ध दिशाभाग में वह स्थित वस्तु चल पड़ती है। यदि हम इस समय बैठे हैं तो इसका अर्थ यही है कि हम चारों तरफ से लगने वाले गति तत्त्व की वजह से ही स्थिति भाव में हैं। इसी अवस्था में चारों दिशाओं में लगने वाले गत्यात्मक आकर्षण बल में से यदि किसी भी दिशा का बल अल्पमात्रा में क्षीण हो जाएगा तो हम उसके विरुद्ध दिशा में चल पड़ेंगे। तात्पर्य यही हुआ कि विरुद्ध गति ही स्थिति का कारण है।

उदाहरण के लिए रस्से पर दृष्टि डालिए। इस रस्से को समान बल वाले दो बलवान् व्यक्ति दोनों ओर से अपनी-अपनी तरफ खींच रहे हैं। एक व्यक्ति पूर्ण बल का प्रयोग करता हुआ उसे पूर्व दिशा में खींच रहा है तथा दूसरा उतने ही समान बल से उस रस्से को पश्चिम की ओर खींच रहा है। विज्ञान के अनुसार रस्सा दोनों ओर जा रहा है। दोनों ही व्यक्तियों के समान गतिबल का उस रस्से पर समान ही रूप से प्रयोग हो रहा है। इसी बल प्रयोग के कारण थोड़ी देर बाद दोनों ही व्यक्ति थक जाते हैं। यदि वे अपना गतिबल खर्च न करते तो कदापि न थकते। यहाँ पर अगर आप ध्यानपूर्वक देखें तो पाएंगे कि दो दिशाओं में गति होते हुए भी रस्सा स्थिर प्रतीत हो रहा है। इसका कारण कोई दृष्टिभ्रम नहीं है अपितु रस्सा जिस क्षण में जितनी दूर पूर्व दिशा में जा रहा है उसी क्षण में उतनी ही दूर पश्चिम दिशा की ओर जा रहा है। इसीलिए वह किसी भी ओर जाता हुआ प्रतीत नहीं होता है अर्थात् पूर्व की गति ने पश्चिम की गति को दबा या रोक रखा है और पश्चिम गति ने पूर्व की गति को रोक रखा है। इन्हीं विरुद्ध गतियों ने अपनी-अपनी गति के बल द्वारा उक्त रस्से की अवस्था को सर्वथा गतिमान् से स्थितिमान् बना रखा है। यदि दोनों समान गतिबलों में से किसी एक ओर का बल (गति) शिथिल हो जाता है तो उसी क्षण वह स्थित रस्सा विरुद्ध भाग (दिशा) की ओर चल पड़ता है। अतएव मानना पड़ता है कि स्थिति में जब तक गति (सर्वतोदिग्गति या विरुद्ध दिग्द्वयगति) है तभी तक स्थिति को स्थिति कहा जा सकता है। जिस समय स्थिति में से गति निकल जाती है उस समय वह स्थिति गति रूप में परिणत हो जाती है। इसी विज्ञान के आधार पर तो कहा गया है कि 'ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जिसमें गति न हो एवं ऐसी कोई गति नहीं जिसमें स्थिति न हो।'

'तमःप्रकाशवत्' अर्थात् अन्धेरे और उजाले की तरह दोनों तरफ स्थिति और गति, परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं परन्तु परस्पर एक-दूसरे के अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी प्रकाश और अन्धकार एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते। जिस प्रकार तमरूप कृष्ण और प्रकाशरूप गौरवर्णा राधा अविनाभूत हैं, ठीक इसी प्रकार विरुद्ध स्थिति-गति का जोड़ा है। गति तत्त्व स्थिति तत्त्व की प्रतिष्ठा तथा स्थिति तत्त्व गति तत्त्व की प्रतिष्ठा है। इन दोनों तत्त्वों में से स्थिति तत्त्व का लाभ ही "ब्रह्म" है। अक्षरपुरुष के अभिप्राय से वही ब्रह्म 'ब्रह्मा' कहलाने लगता है। यही ब्रह्म तत्त्व अर्थात् ब्रह्मा ही तो सम्पूर्ण विश्व की मूल प्रतिष्ठा है। इसीलिए तो **ब्रह्मास्त्र सर्वस्य प्रतिष्ठा**—शत० ब्रा० 6/1/8 यह कहा गया है। संसार संसरण भाव के कारण संसार है, गतिशील है। गति के बिना स्थिति स्वरूप के आधार की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। गति स्वरूप विश्व का आधार यही स्थितिरूप ब्रह्म तत्त्व है।

गति संसार में 'पराग्' और 'प्रत्यग्' भेद से कुल दो प्रकार की होती है। एक गति वस्तु की ओर न रह कर वस्तु से विमुख होती है, यही 'परागति' कहलाती है एवं जो गति वस्तु की ओर झुकी रहती है, प्रत्यग्गति कहलाती है। **'सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्'** (गतिमात्र का यजुः से सम्बन्ध है—यजुः के यज्भाग का नाम ही गति है।) तै० ब्रा० 3/12/9/1 के अनुसार ऋग्, यजुः साम इन तीनों में से यजुभाग का नाम ही गति है। यतभाग प्राणात्मक 'वायु' है। इसी को 'इन्द्र' कहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—**'अयं वाऽइन्द्रो योऽयं पवते'** अर्थात् इसी प्राण रूप वायु का नाम इन्द्र है जो कि इस विशाल अन्तरिक्ष में बह रहा है। शत० ब्रा० 14/2/2/6।

इसी प्राण वायु गति इन्द्र की ही पराक् और प्रत्यक् दो अवस्थाएं हो जाती है। परागगति को 'परागिन्द्र' एवं प्रत्यगगति को 'प्रत्यगिन्द्र' कहते हैं। परागगति को इन्द्र शब्द से भी व्यवहत करते हैं तथा प्रत्यगगति को (प्रत्यगिन्द्र) उपेन्द्र कहा जाता है। यही गति वस्तु के समीप रहती है। इसी उपेन्द्र को 'इन्द्रावरज' कहते हैं। इसको वैदिक परिभाषा में विष्णु भी कहा जाता है। इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि गति का नाम इन्द्र है एवं आगतितत्त्व का नाम विष्णु। आने वाली गति विष्णु, जाने वाली गति इन्द्र है। दूसरे शब्दों में, आगति को विष्णु तथा गति को इन्द्र कहते हैं। वस्तु के मण्डल की (वैदिक वैज्ञानिक परिभाषानुसार मण्डल को 'साम' नाम से व्यवहृत करते हैं) एक परिधि (अन्तिम सीमा) होती है। इस परिधि से वस्तु के केन्द्र की ओर अपना रुख रखने वाली गति 'विष्णु' है एवं केन्द्र से परिधि की ओर अपना रुख करने वाली गति 'इन्द्र' है। विष्णुगति अशनायावल (बुभुक्षाबल) द्वारा बाहर की वस्तुएं लाकर उन्हें केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है। तथैव इन्द्रगति केन्द्र में आये हुए पदार्थों को अपनी विक्षेपण शक्ति द्वारा बाहर फेंका करती है। इस क्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि आदान क्रिया के अधिष्ठाता विष्णु हैं अत: उन्हें ही सृष्टिपालक कहा जाता है। विसर्ग क्रिया के अधिष्ठाता इन्द्र ही मान्य हैं क्योंकि आई हुई वस्तुओं को अपनी विक्षेपण शक्ति द्वारा वे नष्ट करते हैं (बाहर निकालते हैं)। अतः वे ही (इन्द्र) संहारकर्ता बतलाये गये हैं। उक्त वस्तु का इस आदान विसर्गात्मक क्रिया के चलते हुए भी स्व-स्वरूप बनाये रखना ब्रह्मातत्त्व का काम है। अतएव ब्रह्म को ही सृष्टिकर्ता कहा जाता है।

कहने को तो गति-स्थिति दो तत्त्व है, वस्तुतः एक ही तत्त्व की गतिभेद से तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। सर्वतोदिगगति 'ब्रह्म' है, परागगति इन्द्र है, प्रत्यगगति विष्णु हैं। तीनों शक्तियाँ सर्वथा अविनाभूत है। जिसे आप मूर्ति (वस्तुपिण्ड) कहते हैं वह इन तीनों गतिदेवताओं की समष्टिमात्र है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—**एका मूर्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरः** (ब्रह्मा, विष्णु महेश्वर तीन देवताओं की समष्टि एक मूर्ति है।) इन तीनों में आधार ब्रह्मा ही हैं। ब्रह्मा जब इन्द्र से युक्त होता है तब **अग्निर्वै प्रजापतिः** (मैत्रा० 2/4/6) निर्वचन से अग्नि कहलाने लगता है एवं जब ब्रह्मा विष्णु से युक्त होता है तब **चन्द्रमा वै ब्रह्मा सोमो** (शत० ब्रा० 12/1/1/2) निर्वचन से सोमस्वरूप में परिणत हो जाता है।

शुद्ध सर्वा दिगगति ब्रह्मा है, शुद्ध आगति विष्णु है, शुद्ध गति इन्द्र है। ब्रह्मयुक्त आगति 'सोम' है, ब्रह्मयुक्त गति अग्नि है। अग्नि का इन्द्र के साथ सम्बन्ध है। इन्द्र क्योंकि केन्द्र से बाहर की ओर अपना रुख करता है। इसीलिए अग्नि भी केन्द्र से परिधि की ओर उत्तरोत्तर विकसित रहता है। उधर सोम का विष्णु के साथ सम्बन्ध है। विष्णु परिधि से केन्द्र की ओर अपना रुख रखते हैं, अतएव सोम भी परिधि से केन्द्र की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही स्थिति तत्त्व के ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम ये पाँच विवर्त होते हैं। इनमें ब्रह्मा ही प्रतिष्ठा-तत्त्व है। इन्द्र-विष्णु गतियां युग्म हैं, इस युग्म की प्रतिष्ठा ब्रह्मा है। अग्नि-सोम दूसरा युग्म है, इसकी प्रतिष्ठा इन्द्र विष्णु है। ब्रह्मा-विष्णु इन्द्र तीनों 'हृदय' है अर्थात् हृदय (केन्द्र) में रहने वाले अग्निसोम ही होता है। अतएव जगत् के लिए **अग्नीषोमात्मकं जगत्** कहा गया है। समष्टिरूप 'हृदय' शब्द में हृ, द, य तीन अक्षर हैं। तीनों का हरति (आहरित), द्यति (खण्डयति), यच्छति (नियमयति) इस व्युत्पत्ति के अनुसार लेना, नष्ट करना, संयमन करना ही अर्थ होता है। अर्थात् आगति विष्णु है, गति इन्द्र है,

वस्तु का स्वरूप बना कर उसको स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखना ही प्रतिष्ठारूप ब्रह्मतत्त्व का काम है। यही उस वस्तु का स्थिति-भाव है। इस प्रकार कहने को तो गति स्थिति दो तत्त्व है, तथापि एक ही तत्त्व (ब्रह्मा) गतिभेद से तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। यही है गति स्थिति तत्त्वों का संक्षिप्त मौलिक निरूपण।[8]

सहृदय-सशरीर पदार्थ को 'सत्य' कहते हैं, एवं हृदयशून्य (केन्द्ररहित) पिण्डावस्थांशून्य पदार्थ को 'ऋत' कहते हैं। अग्नि सत्य पदार्थ है, सोम ऋत पदार्थ है। सम्पूर्ण पिण्डों का निर्माण इसी अग्नि द्वारा होता है परन्तु यह निर्माण सोम (ऋत) के बिना नहीं हो सकता है। सोम द्रव पदार्थ है। यही सोम जब अग्नि (सत्य) की पकड़ में आ जाता है तो उसी क्षण वह अग्नि पिण्डरूप में परिणत हो जाता है। यह ऋततत्त्व आपोमय परमेष्ठी का मनोता है। असली तत्त्व तो यही ऋत तत्त्व है। सौर यज्ञप्रजापति के कोश 'अग्नि' एवं 'सोम' भेद से दो वस्तु तत्त्व हैं। इन्हीं दोनों के सम्मिश्रण से यह प्रजापति रोदसी-त्रिलोकी का निर्माण करते हैं। अग्नि सत्यपदार्थ है, सोम ऋतपदार्थ है। हम जितने भी पिण्ड देखते हैं, उन सब पिण्डों का अपना-अपना शरीर होता है तथा साथ ही उनका कोई न कोई केन्द्र (हृदय) भी होता है। अतएव ये सब पिण्ड 'सत्य' कहलाते हैं। यह सच है कि सम्पूर्ण पिण्ड अग्नि से ही बनते हैं किन्तु द्रव्य पदार्थ सोम के बिना पिण्ड अपने स्वरूप का निर्माण नहीं कर सकता है।

सोमगर्भित (ऋत) अग्नि ही पिण्ड रूप में परिणत होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारा अपना शरीर ही है।

हमारे इस शरीर का पिण्ड रूप तभी तक सुरक्षित रहता है, जब तक इस शरीराग्नि में अन्नरूप सोम की आहुति दी जाती है। अगर हम इस सोमान्न की आहुति नहीं दें तो शरीर की अग्नि हमारे पिण्ड को ही खाने लगेगी। इसका परिणाम यह होगा कि शरीर की पिण्डावस्था (घनावस्था) नष्ट हो जाएगी। इस सत्य-पिण्ड की स्वरूप रक्षा में अपने-आपको न्योछावर करने वाला सोम द्रव और कोई नहीं, सर्वथा ऋत तत्त्व ही है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, यह ऋत तत्त्व आपोमय परमेष्ठी का मनोता है। अतः इसके **आपो भृग्वङ्गिगरोरूपमापो भृग्वङ्गिगरोमयम्** इस अथर्वाब्राह्मण सिद्धान्त के अनुसार 'भृगु' और 'अंगिरा' भेद से दो विभाग माने जाते हैं। इन दोनों की समन्वित अवस्था को आपः कहते हैं। इन दोनों में से भृगु की तीन अवस्थाएं होती हैं, जो कि 'घन-तरल-विरल' नामों से व्यवहृत होती हैं। घनावस्था में परिणत सोम 'पानी' कहलाता है। तरलावस्था से युक्त सोम 'वायु' कहलाता है। तीनों एक ही वस्तु की तीन अवस्थाएं हैं, न कि वस्तु तीन हैं। मूल तत्त्व सोम ऋत है, एवं पानी (घन) वायु (तरल) सोम (विरल) तीनों एक ही तत्त्व सोम की अवस्थाएं हैं। अतएव ये तीनों मूलतः ऋत तत्त्व की ही अवस्थाएं हैं।

सोम और वायु का अत्रिप्राण के अभाव के कारण आँखों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसीलिए इनके ऋतभाव का अग्नि की भांति साक्षात्कार नहीं होता है परन्तु अत्रिप्राण के अधिक मात्रा में रहने के कारण चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष-दृष्ट पानी में (जो कि सोम ही है) आप उस ऋतभाव को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। उदाहरणार्थ आप बहते हुए पानी के आगे अपना हाथ लगा दीजिए, दीपरश्मि की भाँति हाथ से टकरा कर वह परावर्तित नहीं होता है, अपितु हाथ से इधर-उधर होकर निकल जाता है। इसका कारण पानी का कोई केन्द्र

(हृदय) न होना है। इसी केन्द्राभाव के कारण ही पानी में सत्यभाव उत्पन्न नहीं होता है। यही बात वायु और सोम अवस्थाओं में समझनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोम ही ऋत तत्त्व है।

सौर प्राण सूर्य पिण्ड से बद्ध रहते हैं। अतएव ये हमेशा सत्यमार्ग का ही अनुसरण करते हैं। उधर सूर्यमण्डल में सर्वत्र अभिव्याप्त ऋतसोम ऋत भाव के कारण सूर्य के केन्द्र से पृथक् ही रहा करता है। पार्थिव मनुष्यों की उत्पत्ति का प्रधान कारण यही सोम है। सोम की अवस्था विशेष का ही नाम पानी है, इसी पानी से (सोम) पाँचवीं आहुति में 'पुरुष' की उत्पत्ति होती है, जैसा कि श्रुति कहती है—

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति। छान्दोग्य० उप० 5/9/1

सूर्य से ऊपर, सूर्य के चारों ओर अभिव्याप्त रहने वाला पानी (इसी पानी को आरम्भक होने के कारण आपः भी कहा जाता है) 'अम्भः' कहलाता है। इस अम्भ पानी के और परमेष्ठी में रहने वाले पवमान वायु के मेल से (रासायनिक संयोग से) स्थूल पानी उत्पन्न होता है। इन्हीं दोनों को वर्तमान में हाइड्रोजन व ऑक्सीजन कहते हैं। इन दोनों के मेल से ही स्थूल पानी (पीने का पानी) उत्पन्न होता है। इस अम्भः पानी के समुद्र को 'ऋतसमुद्र' कहते हैं। इसी का नाम परमेष्ठी है। रसमय होने से इसी आपोमय परमेष्ठी को 'सरस्वान्' कहा जाता है। इसी सरस्वान् के सम्बन्ध से ही परमेष्ठी मण्डल की वाक् 'सरस्वती' कहलाती है। वायु, सोम आदि इतर ऋतपदार्थ इसी परमेष्ठीरूप ऋत समुद्र में रहते हैं।

सौर पानी 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव पानी म्रियमाण होने से 'मर' कहलाता है तथा चान्द्र पानी 'श्रद्धा' कहलाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पानी कुल चार ही जाति का है। इन चारों में से चान्द्र पानी को 'श्रद्धा' कहा जाता है। इसलिए '**श्रद्धा वा आपः**' यह कहा गया है। चन्द्रमण्डल का श्रद्धा पानी सोम की पहली अवस्था है तथा सोम, श्रद्धा की द्वितीय अवस्था मानी जाती है। श्रद्धा ही सोम में परिणत होती है। सोम नाम का यह श्रद्धा पानी स्नेहगुण युक्त होता है। इसी कारण मनुष्य का श्रद्धाभाग (चान्द्ररस) जिस ओर झुक जाता है, वह उसी के साथ आबद्ध हो जाता है। गुरु की ओर शिष्य की श्रद्धा का झुकाव होता है। इसी श्रद्धा के प्रभाव से शिष्य स्वयं गुरु से बद्ध हो जाता है। इसी श्रद्धा से सोम उत्पन्न होता है। सोम से वर्षा होती है। अर्थात् वही सोम स्थूल जल के रूप में परिणत हो बरसने लगता है।

ऋत पदार्थ परमेष्ठिरूप ऋतसमुद्र में रहते हैं परन्तु न केवल ऋत ही अपितु सत्य भी (पिण्ड भी) इसी ऋत समुद्र के उदर में रहते हैं। सकेन्द्र व सशरीरी वस्तु का नाम ही 'सत्य' है। यही पिण्ड कहलाता है। इसी सत्यपिण्ड का स्वरूप ऋत परमेष्ठी से ही बनता है। सत्य सदा ऋत से घिरा रहता है। सत्य के चारों ओर जब तक ऋत है, तभी तक सत्य, सत्य है। इसीलिए इस ऋततत्त्व को सृष्टि का मूल कारण माना जाता है। सबके बाहर ऋत है। ऋत को लांघने की शक्ति किसी में नहीं है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर वेद भगवान कहते हैं—

ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहितः ऋते भूमिरियं (सत्यपिण्डम्) श्रिता।। (तै० ब्रा० 1/5/5/1)

इसलिए '**ऋतं च सत्यं चाभीद्धातपसोऽध्यजायत**' (ऋग्वेद 10/190/1) इत्यादि सृष्टि प्रतिपादिका

श्रुतियाँ ऋत तत्त्व को पहला स्थान देती है।

सत्य के स्वरूप की ऋत पर निर्भरता :

सत्य का स्वरूप ऋत पर निर्भर है, एवं सत्य सदा ही ऋत से घिरा रहता है। यह वेद विज्ञान केवल शब्द प्रमाण पर ही प्रतिष्ठित नहीं है अपितु इसका विज्ञानत्व प्रमाण पर अवलम्बित है। पिण्ड के (सत्य के) बाहर चारों ओर खाली स्थान रहता है। इसमें प्राणरूप (भृगु) आप, वायु, सोम व्याप्त रहता है। यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि वायु भी भृगु है, पानी भी भृगु है, सोम भी भृगु है। खाली स्थान में ऋतवायु भरा रहता है। ऐसा कोई भी सत्य पिण्ड नहीं है जो कि इस ऋतवायु से वेष्टित न हो। अतएव **ऋतं नाप्येति किंचन** इन शब्दों में ऋत की व्यापकता बतलाई जा रही है। यह बिल्कुल वैज्ञानिक सत्य है कि यदि खाली स्थान न हो तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं बन सकता है। अगर हम अपनी आँखों को बन्द कर किसी एक वस्तु पर हाथ रखकर उस पर हाथ फिराएं तो पाएंगे कि जहाँ वस्तु की अन्तिम सीमा है, वहाँ जा कर हाथ स्वतः ही रुक जाएगा। इसी अन्तिम सीमा (चारों ओर की) से वस्तु के स्वरूप का पता लग जाता है। अन्धे को इसी स्पर्शानुमान से ही वस्तु एवं उसके स्वरूप के बारे में ज्ञान हो जाता है।

'अयं घटः, अयं पटः, अयं मठः आदि वस्तुज्ञान खाली (रिक्त) स्थान पर ही निर्भर है और इसी का नाम ऋत है। इसमें रहने वाला वायु भी ऋत है। इसी से पिण्ड घिरा रहता है। सृष्टि के नियम भी हमें कहीं-कहीं चमत्कृत करते रहते हैं। यहाँ भी ऐसा ही हो रहा है। ऋत में व्याप्त वायु भी सभी जगह समान स्वरूप में न रहकर अलग-अलग स्वरूपों में व्याप्त रहती है और इसका निर्धारण निर्मित पिण्डाग्नि द्वारा होता है। अर्थात् प्रत्येक पिण्ड के बाहर उसी पिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला एक वायु स्तर रहता है। उसी वायु स्तर के दबाव से उस वस्तु पिण्ड की सत्ता अस्तित्त्व में रहती है। पृथ्वी पिण्ड अर्थात् भूपिण्ड के चारों ओर भी इस प्रकार वायु स्तर व्याप्त रहता है। इस वायु को ही 'भूवायु' कहा जाता है। पुराण परिभाषानुसार इसी भूवायु को 'एमूषवराह' कहा जाता है।

ऋत-'सत्य वायु' के रक्षक रूप में :

पृथ्वी पिण्ड (सत्य) अग्नि का गोला है। अग्नि, विशकलनधर्मा है। इसी प्रकृति सिद्ध स्वभाव के कारण यह प्रति क्षण पृथ्वी पिण्ड के टुकड़े करने की चेष्टा करता रहता है परन्तु वराह के दबाव से अग्नि का बल कुछ कम या क्षीण हो जाता है और पिण्ड का कुछ नहीं बिगड़ता है। पृथ्वी पिण्ड की रक्षा करना इसी वायु-स्तर का काम है, इसीलिए एमूषवराह (भूवायु) को पुराणों में पृथ्वी का उद्धार करने वाला बतलाया है। प्रत्येक पिण्ड के बाहर उस पिण्ड का एक-एक प्रातिस्विक वायुस्तर अवश्य ही रहता है। इसी वायु को भार्गव कहते हैं। इसी को 'शिव' भी कहा जाता है। रुद्र वायु इस शिव वायु का विच्छेदक है। यदि रुद्र वायु प्रबल रूप से इस ऋत शिव वायु पर आक्रमण करता है तो शिव वायुस्तर छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा इसके परिणामस्वरूप ऋत

वायु के आधार पर रहने वाला सत्य (पिण्ड) उस ऋत के नष्ट हो जाने से उसी क्षण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋत पिण्ड (सत्य) के स्वरूप की रक्षा करते हुए अपनी व्यापकता भली-भांति सिद्ध कर रहा है। पं० मोतीलाल जी शास्त्री ने शतपथ के प्रथम काण्ड में ब्रह्म प्रजापति के प्राण आप्, वाक्, अन्नाद भेद से चार मुख बतलाए हैं। इन्हीं चारों मुखों में से जो दूसरा मुख है, उसे 'आपोमुख' कहा गया है। वस्तुतः वही लोक सृष्टि का कारण बनता है। मतलब कहने का यह है कि 'आपोमुख' द्वारा ही लोक सृष्टि होती है। 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' इन सातों लोकों की उत्पत्ति आपोमुख से बतलाई गयी है। इसलिए इन सातों लोकों को आपोमय कहा जाता है। केवल लोकसृष्टि ही नहीं अपितु लोक में रहने वाली प्राण सृष्टि का प्रभाव भी यही आप (ऋत, पानी) है। लोक में प्राणिसृष्टि का आधार स्थूल पानी बनता है। पानी से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न को जब खाया जाता है तो उससे रसासृङ्मांसादि के क्रम से 'शुक्र' बनता है। इसी शुक्राहुति से सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं। शुक्र पानी है। यही उपादान है। छान्दोग्य एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में भी इस सिद्धान्त का विशद विवेचन हुआ है कि पानी से ही पुरुष (प्राणिमात्र) की उत्पत्ति होती है। इसी प्रसङ्ग से सम्बन्धित एक प्राचीन घटना को भी देखिए। जब प्रवाहण महर्षि, अरुण महर्षि, के पुत्र श्वेतकेतु से पूछते हैं कि **इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति** (छा० उ० 5/9/1) हे श्वेतकेतो! यदि तुम जानते हो तो बतलाओ, पाँचवीं आहुति में पानी पुरुष कैसे कहलाने लगता है, अर्थात् पानी पुरुष कैसे बन जाता है? प्रश्न बड़ा दुरूह था, परन्तु इस प्रश्न के समाधान में श्वेतकेतु कहते हैं—'द्युः' पर्जन्य, पृथ्वी, योषा वीर्य इन पाँचों अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न, रेत (शुक्र) इनकी आहुति से पाँचवीं आहुति में वही श्रद्धा (पानी) पुरुष रूप में परिणत हो जाती है। (तै० सं० 1/6/8) यही श्रद्धा पानी क्रमशः रेतरूप (शुक्र) में परिणत होकर योषाग्नि (स्त्री के गर्भाशय के रुधिरगत अग्नि) में आहुत हो कर पुरुष (प्राणी) का उपादान बनता है। अन्त में यह सब बतला कर श्वेतकेतो **इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति** यह कहकर प्रकरण का उपसंहार करते हैं। यहाँ 'पुरुष' शब्द को प्राणिमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए।

इसी बात को अभिप्रेरित करते हुए कहा गया है कि—**पुरुष एवेदं सर्वम्**। शरीर की ओर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि पानी ही अधिक मात्रा में है। पृथ्वीलोक में एक हिस्सा पृथ्वी है, तीन हिस्सा पानी। स्वयं पृथ्वी भी पानी है, इसीलिए पृथ्वी को पुष्करपर्ण कहा जाता है। (पानी को भी पुष्करपर्ण कहते हैं) (शत० 7/4/1/8) जहाँ देखते हैं वहीं पानी का ही साम्राज्य है। पानी सब जगह व्याप्त हो रहा है। स्वयं 'आप' शब्द ही अपनी व्यापकता प्रकट कर रहा है। 'आप्लृ व्याप्तो' से आप् शब्द बना है। सब जगह व्याप्त रहने के कारण ही इसका नाम 'आप्' है, (शत० 6/1/1/9) अतएव **सर्वमापोमयं जगत्** यह कहा जाता है।

सूर्य में जिस अन्न की आहुति होती है, उसका नाम 'पारमेष्ठ्य सोम' है। सूर्य के ऊपर परमेष्ठीमण्डल की सत्ता बतलाई गई है। जिस प्रकार सूर्य पिण्ड पृथ्वी के ऊपर है, उसी प्रकार परमेष्ठी पिण्ड सूर्य के ऊपर है। जिस प्रकार सूर्य पिण्ड के महिमामण्डल 'बृहत्साममण्डल' में पृथ्वी पिण्ड समाया रहता है, उसी प्रकार उस महाविशाल आपोमय परमेष्ठीपिण्ड के महिमा मण्डल के अल्प प्रदेश में सूर्य अपने महिमामण्डल सहित समाया हुआ है। सूर्य के सामने जो प्रतिष्ठा छोटे से पृथ्वीपिण्ड की है। वही प्रतिष्ठा उस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र के सामने

इस सूर्य की है। पुराणों में तो सूर्य को आपोमय परमेष्ठिमण्डल का एक बुद्‌बुद् (बुलबुला) बतलाया जाता है। इस इन्द्रियाग्निमय सौरमण्डल के, दूसरे शब्दों में अग्नीषोमात्मक यज्ञमण्डल के चारों ओर पारमेष्ठ्य सोम (पानी) अभिव्याप्त हो रहा है। सौर-संस्था (सोलर सिस्टम) के चारों ओर जो नीलिमा दिखलाई देती है, वही वायुरूप आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र है।

सूर्य के चारों ओर आपोमय पानी भरा हुआ है तथा सूर्य हमेशा चारों ओर से आने वाले इस पानी के आक्रमण से आक्रान्त हो रहा है। इस तरह लगता है कि यह पानी इस यज्ञमय सूर्य को एक बार में ही अपने में लीन कर लेगा परन्तु यह ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि चारों ओर व्याप्त पानी से सूर्य की रक्षा सूर्य का प्रकाश मण्डल करता है। वह दृश्य मण्डल की अपेक्षा से कछुए के आकार में परिणत रहता है। इसीलिए इस महिमामण्डल विशिष्टसूर्य को कश्यप या 'कूर्म' कहा जाता है।[9]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है। सत्य तथ्य का रचनात्मक और सृजनात्मक रूप है। इसका रचनात्मक पहलू जीवन को गतिशील बनाये रखता है तथा सृजनात्मक पहलू उस गतिशीलता को नया आयाम देकर, लक्ष्य तक पहुंचाकर सुख एवं शान्ति प्रदान करता है। यही जीवन का आरम्भिक एवं अन्तिम सत्य है जिसे पाकर व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है और यही आनन्द शान्ति प्रदान करते हुए उसे गतिशील भी रखता है। अतः यहाँ भी गति और स्थिति में परस्पर सम्बन्ध है और यही जीवन और जगत् दोनों का सत्य है। इसे अरस्तु ने सम्भाव्य और आकार कहा है।

सन्दर्भ संङ्केत

1. शा0 ब्रा0 6.4.4. वा0 सं0 10, 47, तै0 ब्रा0 2, 1, 11, 10, 3, 12, 9, 3
2. शा0 ब्रा0 14, 8, 5, 1/2, 1, 4, 10
3. ऐ0 ब्रा0 3, 6 गो0 ब्रा0 2, 3, 2, 1
4. शा0 ब्रा0 4.1, 4, 10
5. श0 ब्रा0 3, 9, 3, 2, 5/14, 5, 1, 25 तै0 ब्रा0 3, 3, 5, 2 गो0 ब्रा0 2, 2, 23, शा0 ब्रा0 14, 4, 4, 31
6. श0 ब्रा0 7, 3, 1, 23/14, 3, 1, 18 तै0 ब्रा0 2, 3
7. मा0 उ0 1, 11, 3
8. शास्त्री, पं0 मोतीलाल, वेद विज्ञान एवं अन्य निबन्ध, पृ0 63-68
9. वही, पृ0 55-60

❐

उपनिषदों में प्राण तत्त्व

डॉ० सुद्युम्न आचार्य

छान्दोग्य उपनिषद् में एक कहानी है कि एक बार शरीर की इन्द्रियों में विवाद छिड़ गया कि उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन है? वे लड़ती हुई इस झगड़े के निपटारे के लिये प्रजापति के पास पहुँची। प्रजापति ने कहा कि इसका निर्णय परीक्षा से हो। जिसके चले जाने पर शरीर सबसे कुरूप तथा अपवित्र दिखाई पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ है। इस परीक्षा के लिये सबसे पहले वाणी शरीर से बाहर निकल गई। उसने एक साल बाद वापस लौट कर पूछा कि कहो कैसा लगा। शरीर ने कहा कि जैसे गूँगे लोग मजे से देखते, सुनते, खाते-पीते रहते हैं, वैसा ही लगा। इस प्रकार क्रम से आँख, कान तथा मन आदि एक-एक साल के लिये शरीर से बाहर गये तथा सबको वैसा ही उत्तर मिला।

अन्त में चलने की बारी आई प्राण की! तब तो ऐसा लगा जैसे घोड़ा भागते हुए पैरों की कील उखाड़ दे, वैसे प्राण सभी इन्द्रियों को जड़ से उखाड़े डाल रहा है। तब सभी ने प्राण से प्रार्थना की आप हमारे स्वामी हैं, आप मत जायें।[1]

इस समय वाणी ने कहा कि जो मैं 'वसिष्ठ' कही जाती हूँ, वह सचमुच तुम्हीं हो। आँखों ने कहा कि जो मुझे लोग 'प्रतिष्ठा' कहते हैं, वह केवल तुम्हीं हो। कानों ने कहा कि मुझे लोग जो 'सम्पत्' कह कर पुकारते हैं, वह वास्तव में तुम हो। मन ने कहा कि मुझे जो लोग जीवन का 'आयतन' या 'आधार' समझते हैं, वह केवल तुम हो—

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि, त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति। अथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि, त्वं तत् प्रतिष्ठासि। अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं सम्पदस्मि त्वं तत् सम्पदसीति। अथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि, त्वं तदायतनमसीति। —छान्दोग्य उपनिषद् 5.1.14

कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि प्राणों के महत्त्व को समझाने के लिये उपनिषद् को इतनी बड़ी परीक्षा का आयोजन क्यों करना पड़ा? क्या हमारे लिये प्राण इतना अगम्य है? विचार करने पर लगता है कि यही जीवन की सच्चाई है। जो हमारे जीवन का अनिवार्य है, जो शरीर का सुन्दरतम है, वह हमारी आँखों से

★ रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत अध्ययन एवं शोध विभाग, मु० म० टाउन पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बलिया (उ० प्र०)

ओझल रहता है। उस ओर हमारा सबसे कम ध्यान जाता है। आँख, कान को बन्द करके हम उनके महत्त्व को आसानी से जान लेते हैं। क्योंकि किसी का अभाव उसके महत्त्व को बताने का सबसे बढ़िया उपाय है। पर प्राण अपने महत्त्व को नहीं बता सकता क्योंकि जब तक हम रहते हैं, तब तक प्राण रहता है। जब प्राण नहीं रहता तब उसके अभाव को जानने के लिये हम खुद नहीं रहते। ऐसे में प्राण कैसे बताए अपने महत्त्व को!!

उपनिषदों में प्राणों के महत्त्व का पूरी तरह अनुभव किया गया। एक उपनिषद् में कहा है कि वास्तव में चक्षु आदि अनेक साधनों से प्राणों की ही महिमा प्रकट होती है। जब वाणी बोलती है तब वास्तव में प्राण बोलते हैं, आँखों के देखने पर वास्तव में प्राण ही देखते हैं। जब कान सुनते हैं, तब वास्तव में प्राण ही सुनते हैं[2] इत्यादि।

इस प्रकार उपनिषद् से सूचना प्राप्त करके जब हम उसे ध्यान से देखते हैं तो पाते हैं कि शरीर का हर अङ्ग, उसकी प्रत्येक इन्द्रिय, उसकी प्रत्येक कोशिका उस प्राण से जुड़ी हुई है। इस प्रकार प्राण को जीवन की पहचान कहना भी उतना सही नहीं है क्योंकि यह पहचान तो तब बने, जब हम उसे अलग करके देख सकें। यह तो केवल 'परम प्रतिष्ठा' है।

संस्कृत में प्राण तथा उसके पर्यायवाचक जो शब्द विकसित हुए उनका मूल अर्थ केवल अवस्थिति या प्रतिष्ठा ही है। 'प्राण' शब्द प्र उपसर्गपूर्वक अन् धातु से निष्पन्न है। उपनिषद् के एक प्रसंग में अन् का अर्थ अवस्थिति माना है।[3]

इसी प्रकार प्राण अर्थ वाला 'असु' शब्द अस् धातु से विकसित है, जिसका मूल अर्थ 'होना' मात्र है। मैक्समूलर ने तो माना है कि इसका मूल अर्थ 'श्वास लेना' है। इस श्वास को अस्तित्त्व की पहचान मानते हुए बाद में इसका अर्थ 'होना' हो गया है। किसी अन्य भाषा ने इस विशेषता को देखते हुए इस व्यापक धातु का इस अर्थ में उद्भव नहीं किया है।[4]

इस प्रकार 'असु' शब्द को प्राणार्थक मानते हुए ही वेदों में प्राण प्रदान करने वाले देवता के लिए 'असुर' शब्द का प्रयोग किया गया है। निरुक्त में इस शब्द का असु+र यह विग्रह मानते हुए इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है।[5] इससे यह धारणा विकसित हुई कि देवगण प्राण प्रदान करने वाले हैं तथा मरणधर्मा लोग प्राण प्राप्त करने वाले हैं।

इस विशेषता को देखते हुए क्षुद्र से लेकर विशाल से विशालतम जन्तुओं को एक सामान्य नाम दिया गया—प्राणी। ये अपने आकार, प्रकार, स्वभाव आदि में लाखों, करोड़ों प्रकार के हो सकते हैं, पर इनमें प्राण ग्रहण करने की विशेषता समान रूप से परिव्याप्त है। विदेशों में भी सभी प्रकार के जन्तुओं के लिये एक नाम animal प्रदान किया गया। यह शब्द लैटिन के 'श्वास ग्रहण करने वाले' अर्थ वाले animale से विकसित है। इंग्लिश में भी animate क्रिया का श्वास लेने अर्थ में प्रयोग होता है। इस प्रकार स्पष्टतः इस विशेषता के कारण इन्हें animal नाम प्रदान किया गया है।

भारत में इस विशेषता का भली प्रकार अनुभव करते हुए शरीरधारी जीव तथा ईश्वर में बहुत बढ़िया विभेदक लक्षण प्राप्त किया गया है—जीव वायु से प्राण ग्रहण करता है, पर ईश्वर इस वायु के बिना ही प्राणन

या अपनी अवस्थिति बनाये रखता है। वेद के एक सुन्दर मन्त्र में कहा है कि सृष्टि से पूर्व उसके अलावा अन्य कोई नहीं था। उस समय वह अकेला वायु के बिना ही प्राणन कर रहा था—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास। —ऋग्वेद 10.129.2

पर मरणधर्मा जीव के लिये तो प्राण ही सब कुछ है। अतः उपनिषदों ने यह माना कि जिस प्रकार रथ के चक्र की धुरी में सभी अरे या तीलियाँ प्रतिष्ठित होती हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि तथा उनसे ऋग्वेद आदि मन्त्रों द्वारा सम्पन्न होने वाली सभी क्रियाएं अन्ततः प्राणों में ही प्रतिष्ठित हैं—

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।। —प्रश्नोपनिषद् 2, 16

आधुनिक विज्ञान का मानना है कि प्राणी द्वारा प्राण या ऑक्सीजन ग्रहण करना ऊर्जा प्राप्ति का उपाय है। श्वास लेकर हम फेफड़ों में वर्तमान रुधिर की रक्त-कणिकाओं को ऑक्सीजन से भर देते हैं। ये रक्त-कणिकाएं रुधिर के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाई जाती है। इनमें भरी हुई ऑक्सीजन की सहायता से शरीर की प्रत्येक कोशिका में ग्लूकोज़ का दहन होता है तथा इससे ऊष्मा ऊर्जा प्राप्त होती है। यह दहन अग्नि द्वारा दहन से थोड़ा भिन्न है। बाहरी दुनिया में अग्नि ऑक्सीजन की सहायता से निरन्तर उद्दीप्त होते हुए पदार्थ के अणुओं के रासायनिक बन्धन को अनियन्त्रित प्रक्रम से धड़ाधड़ तोड़ती हुई प्रकाश तथा ऊष्मा ऊर्जा को उत्पन्न करती है। श्वसन के द्वारा यही कार्य नियन्त्रित प्रक्रम से सम्पादित किया जाता है। इस प्रकार मन्द गति से ऊष्मा ऊर्जा प्राप्त होती है। इस प्रकार भौतिक विज्ञान की दृष्टि से ज्वलन तथा श्वसन दोनों में ऑक्सीजन ग्रहण करने तथा ऊर्जा उत्पन्न करने की प्रक्रिया समान है। इनमें केवल तीव्र या मन्द गति का अन्तर है।

भारतीय दर्शन में नियन्त्रित प्रक्रम से वायु के उपभोग को प्राणन अथवा श्वसन कहा है तथा इसे ही जीवन की पहचान बताया है। प्रशस्तपाद भाष्य में कहा है कि सभी दिशाओं से कुटिल गति से दौड़ने वाली वायु जहाँ पर धौंकनी के समान नियत उपाय से तथा नियत क्रम से चलती हुई निश्चित कार्य करती है, उससे जीवन की सूचना मिलती है[6] जिस प्रकार किसी घर का मालिक अपने घर की टूट-फूट की मरम्मत करता है, वैसे ही कोशिकाओं की विशाल बस्ती में इनका मालिक पुरुष[7] अपने प्राणों के द्वारा इनका पुनर्निर्माण करता है। इस प्रकार अङ्गों के कार्य-संचालन के समय होने वाले 'भग्न-क्षत-संरोहण' में जो सहयोग प्रदान करे, वह प्राण-वायु जीवन की पहचान बनती है।[8]

वेदों से लेकर उपनिषदों तक ने नासिका रूपी प्रणालिका से इस प्रकार के प्राणन को सबसे महत्त्वपूर्ण माना है तथा इसके बने रहने की प्रार्थना की है। अथर्ववेद के एक अति सुन्दर मन्त्र में प्रार्थना है कि मेरे मुख में वाक् शक्ति, नासिका में प्राण, आँखों में दर्शनशक्ति, कानों में श्रवण-शक्ति बनी रहे। मेरे सिर के केश गंजे न हों, मेरे दाँत मैले न हों, मेरी बाहुओं में अपार बल हो—

वाङ्म असन्नसोः प्राणः चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।। —अथर्व० 19.60.9

यह ध्यान देने योग्य है कि इस मन्त्र में विविध इन्द्रियों के स्थानों में उनकी शक्ति बने रहने की प्रार्थना

की है। पर नासिका में घ्राण-शक्ति की नहीं, अपितु प्राणों की कामना की गई है क्योंकि यह माना गया कि प्राणों की तुलना में घ्राण शक्ति का कोई मूल्य नहीं। जो भी मूल्यवान् है, वह है प्राण, जिससे शरीर की समस्त क्रियाओं के साथ-साथ घ्राण शक्ति भी सञ्चालित होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी प्राणि-शरीरों में जीवन की सभी कोशिकाओं की क्रियाओं की प्रतिष्ठा प्राण ही है। हमारी नासिका में प्राणों के खींचने की जो कशिश है, वह वास्तव में हमारे शरीर के अरबों, खरबों कोशिकाओं की सामूहिक माँग का परिणाम है। हमारा मस्तिष्क शरीर के विविध भागों में निरन्तर नाड़ीय विद्युत 'आवेग' भेजते हुए हृदय-सञ्चलन, रक्त-संवहन आदि के द्वारा इनके लिए प्राणों की आपूर्ति की व्यवस्था करता है। ऐसे 'आवेग' शरीर में फैले 'स्वायत्त तन्त्रिका तन्त्र' के अत्यन्त पतले तन्तुओं के माध्यम से भेजे जाते हैं, जिन पर हमारी इच्छा का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये हम प्रतिक्षण कोशिकाओं द्वारा प्राणों की माँग तथा इनकी आपूर्ति के विषय में कुछ नहीं जान पाते।

नासिका द्वारा खींचे गये प्राणों पर भी हमारी इच्छा का केवल कुछ क्षणों के लिये आंशिक नियन्त्रण ही हो सकता है। हम अपनी इच्छा का प्रयोग करके अधिक समय तक इन्हें नहीं रोक सकते। बड़ी से बड़ी इच्छा-शक्ति वाला मनुष्य भी इन प्राणों का 'वशी' (वश में रखने वाला) नहीं, अपितु 'वश्य' (वश में रहने वाला) ही होता है। मनुष्य अधिकतम इन्द्रियों का वशी हो सकता है, जिसे जितेन्द्रिय कहते हैं। कठोपनिषद् में कहा है कि जो ज्ञानवान् पुरुष अपने समाहित चित्त से इन्द्रियों को वश में रखता है, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार वश्य होती हैं, जिस प्रकार अश्व सारथि के वश्य होते हैं। वह स्वयं सारथि के समान इन्द्रियों का वशी होता है।[9] पर वह प्राणों का वशी नहीं हो सकता। प्राणों का वशी केवल ईश्वर है जो नौ दरवाजे वाले देह रूपी नगर या बस्ती में रहकर सब मनुष्यों को संचालित करते हुए उनके प्राणों को अपने नियन्त्रण में रखने में समर्थ है।[10]

मनुष्य इन प्राणों को अपने अधीन नहीं रख सकता। अतः हमारे सोते, जागते विविध कार्यों को करते हुए ये प्राण हमारी जानकारी या इच्छा के बिना ही अपना कार्य करते रहते हैं। इसलिये हम इन्हें लगभग 'अपने आप' चलने वाला साधारण कार्य मानते हैं। पर इनकी प्रक्रिया के सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा अथवा ध्यान-योग के द्वारा अन्य कार्यों से विरत होकर 'साक्षी भाव' से देख कर हम जान पाते हैं कि यह जीवन की कितनी विलक्षण घटना है। विद्वानों, कवियों ने अनेक सूक्तियों में इसकी विलक्षणता का परिचय दिया है। एक सुन्दर श्लोक में कहा है कि खुले हुए 9 दरवाजे वाले इस शरीर रूपी पिंजरे में एक प्राण रूपी पक्षी रहता है। इतने छिद्रों के रहते हुए इसका बने रहना विस्मयपूर्ण है, इसके निकल जाने में क्या अचरज है![11]

इस विश्व में वायु अपार ऊर्जा की संवाहक है। पर इसका इकट्ठा कर पाना एक दुष्कर कार्य है। भारतीय मनीषा ने शरीर में प्राणों की अपरिमित ऊर्जा को पहचाना था तथा इसके सञ्चय की विधि का आविष्कार करके शरीर तथा मन को ऊर्जस्वी बनाने में महती सफलता प्राप्त की थी। भारतीय दर्शन तथा उपनिषदों में प्राण धारण की महत्ता के वर्णन भरे पड़े हैं। योग सूत्र का कहना है कि प्राणों को विशेष प्रकार से धारण करने से चित्त की एकाग्रता, परम-प्रसन्नता आदि की उपलब्धि होती है।[12] इससे मनुष्य की गूढ़ता तथा अनवबोध की स्थिति का विनाश होकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने की अपार क्षमता प्राप्त होती है।[13]

इस प्रकार भारतीय साधकों ने माना कि शरीर के तमाम विकारों, मन की तमाम कुण्ठाओं को दूर करने तथा इस प्रकार शरीर, मन को परम पवित्र करने के लिये प्राणों के निग्रह से बढ़िया कोई उपाय नहीं। उपनिषदों में कहा है कि जिस प्रकार पर्वतों की धरती पर पाई जाने वाली सोना आदि धातुओं के मल, उन्हें तपाने से दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राण धारण या प्राणायाम के द्वारा इन्द्रिय के दोषों का विनाश हो जाता है—

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात्।।[14] —अमृतनादोपनिषत्

यह सम्पूर्ण अवधारणा आधुनिक भौतिक विज्ञान से सुसंगत है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राणों का महत्त्व तथा अनेक दोषों को दूर करने के लिये प्राण धारण की विधि आज भी उतनी ही बहुमूल्य एवं प्रासंगिक है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन् स यथा सुहयः पड्वीशशंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि, मोत्क्रमीरिति।–छान्दोग्य उपनिषद् 5.1.12
2. एकभूयं वै प्राणाः। एकैकमेतानि सर्वाण्येव प्रज्ञापयन्ति। वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति। चक्षुः पश्यत् सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति। श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति।–कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषत् 3.2
3. सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत–छान्दोग्य0 उ0 3.14.1. ज = उत्पत्ति, ल = विलय तथा अन् का अर्थ अवस्थिति करने वाला है।
4. But no language could ever produce at once so empty or, if you like, so general a root as 'as' to be. 'As' meant originally to 'breathe' and from it we have 'asu', breath, spirit, life, also as the mouth, Latin 'os', 'oris'. What can India teach us, page 24
5. अपिवाऽऽसुर इति प्राण नाम, अस्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः। –निरुक्त 3.8
6. शरीर-परिगृहीते वायौ विकृतकर्मदर्शनाद् भस्त्राध्मापयितेव। –प्रशस्तपादभाष्य, आत्म-प्रकरण
7. महर्षि यास्क ने पुर या शरीर में रहने के कारण इसे पुरुष कहा है–'पुरुषः पुरिशयः (निरुक्त 2.2)'। कोशिकाओं रूपी बस्ती में रहने के कारण भी इसे 'पुरुष' कहा जा सकता है।
8. देहस्य वृत्तिभग्नसंरोहणादिनिमित्तत्वाद् गृहपतिरिव। –प्रशस्तपादभाष्य, आत्म-प्रकरण
9. यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।। –कठोपनिषद् 1.3.6
10. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।। –श्वेताश्वतरोपनिषद् 3.18
11. उद्घाटितनवद्वारे पञ्जरे विहगोऽनिलः। यदि तिष्ठति तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मयः कुतः।।
12. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य–योगसूत्र 1.34
13. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्–योगसूत्र 1.52
    प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म।–उसी सूत्र पर व्यास भाष्य
14. यह वचन मनुस्मृति के इस श्लोक से तुलनीय है–
    दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।। –मनुस्मृति, 6.71

❐

उपनिषदों में पञ्च महाभूत, इन्द्रियाँ और प्राण

डॉ० शशिप्रभा कुमार ★

उपनिषद् मानव आत्मा की आरम्भिक अन्तर्प्रेरणाओं एवं अनुभूतियों को आलोकित करने वाले ग्रन्थ हैं। वस्तुतः ये सभी युगों और सभी देशों के विचारों तथा जिज्ञासाओं पर आधारित है। ड्यूसेन के शब्दों में "ये ऐसी दार्शनिक धारणाओं की स्थापना करते हैं जो भारत में या शायद विश्व में भी अद्वितीय है अथवा दर्शन की प्रत्येक समस्या को सुलझाते हैं।"[2] उपनिषदों में उन प्रश्नों को उठाया गया है जो मनुष्य के हृदय में गम्भीर चिन्तन के क्षणों में उठते हैं। ये हमें अदृश्य सत्य का एक पूर्ण रेखाचित्र प्रदान करते हैं, मानव अस्तित्त्व के रहस्यों पर बहुत ही सीधे, गहरे और विश्वस्त ढंग से प्रकाश डालते हैं।[3] उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के अन्तिम अंश है। उपनिषदों के 'वेदान्त' कहलाने का प्रमुख कारण संभवतः यही है कि वेद की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य और अभिप्राय उपनिषदों में ही निहित है।[4] वैदिक सूक्तों में सन्निहित दार्शनिक प्रवृत्तियों का ही उपनिषदों में विकास हुआ है। वैदिक ऋषियों ने अन्वेषण और जिज्ञासा के जिस मार्ग का[5] सूत्रपात किया था, जगत् के विषय में वही अनादि जिज्ञासा, उपनिषदों में भी अनेकशः मुखरित हुई है—क्या संसार का कारण ब्रह्म है? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं? हम किसके द्वारा जीवित रहते हैं? हमारी अन्तिम परिणति कहाँ है? हम किससे प्रेरित होकर सुख-दुःख की व्यवस्था में विद्यमान रहते हैं?[6] वस्तु-जगत् के मूल तत्त्व का अन्वेषण उपनिषदीय सृष्टिशास्त्र की विशेषता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की प्रथम जिज्ञासा जगत् का मूल कारण खोजने से ही प्रेरित हुई होगी। यद्यपि उपनिषद् ब्रह्म को ही इस जगत् का परम तत्त्व मानते हैं[7] तथा ब्रह्म के भीतर सभी वस्तुओं को असत्य मानते हैं, तब भी वे इस बाह्य प्रकृति की सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकते थे क्योंकि यह मानते हुए भी कि प्रकृति और ब्रह्म एक ही तत्त्व है, हम उस संसार को नहीं नकार सकते जिसका हमें इन्द्रियों द्वारा साक्षात् अनुभव होता है।[8] रानाडे के अनुसार हम आरम्भ में ही उपनिषदीय सृष्टिशास्त्र के सिद्धान्तों को दो प्रधान समूहों में विभाजित कर सकते हैं—अपौरुषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय सिद्धान्त के अन्तर्गत ऐसे सिद्धान्त आ सकते हैं जो पंचमहाभूतों को वस्तुजगत् का चरम तत्त्व मानते हैं अथवा जो असत्, सत् या ऐसी ही सूक्ष्म कल्पनाओं को सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल मानते हैं। पौरुषेय विभाग के अन्तर्गत वे सिद्धान्त हैं जो सृष्टि के उद्भव को आत्मा अथवा परमात्मा के आधार पर सिद्ध करना चाहते हैं।[9] इस दृष्टि से हम कठ, केन और

★ रीडर, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मुण्डक उपनिषदों के सन्दर्भ में पञ्चमहाभूत, इन्द्रियों और प्राण-तत्त्व पर विचार करेंगे। तदनुसार सर्वप्रथम श्वेताश्वतर ऋषि का वह वचन उद्धरणीय है जिसमें काल, स्वभाव, नियति आदि अनेकों तत्त्वों के साथ भूतों को भी सृष्टि का उद्‌गम हेतु कहा गया है।[10]

पञ्चमहाभूत

'पञ्चमहाभूत' भारतीय सृष्टिविद्या के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाला एक ऐसा शब्द है जो भारतीय धर्म एवं दर्शन की प्रायः सभी शाखाओं में स्वीकृत रहा है।[11] पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वों को पञ्चमहाभूत कहा गया है एवं यह माना गया है कि "यह जगत् और इसके सब कार्य इन्हीं से बने हैं, अतः पाञ्चभौतिक हैं।" इन पञ्चभूतों को माने बिना भारतीय विज्ञान और सर्ग विद्या अधूरी रहेगी, क्योंकि

प्रत्याख्याय तु भूतानि कार्योत्पत्तिर्न विद्यते।
तन्तूनामिव सन्तारो भूतेष्वन्तर्गतो मतः।।[12]

कोशार्थ की दृष्टि से प्राणी या जन्तु भी भूत कहे जाते हैं तथा वे तत्त्व भी जिनसे स्थूल सृष्टि की रचना हुई।[13] इसीलिए उपनिषदों में 'भूत' शब्द जीवों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[14] तथा मूल तत्त्वों के अर्थ में भी।[15]

औपनिषदिक पञ्चमहाभूत-परिकल्पना का मूल आधार वैदिक साहित्य ही रहा है। वैदिक वाङ्मय में सर्वप्रथम यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में पञ्चतत्त्व-सिद्धान्त का बीजसंकेत माना जा सकता है—

पञ्चभिर्धाता विदधा इदं यत् तासां स्वसृरजनत् पञ्च पञ्च तासामु यन्ति प्रयवेण पञ्च नाना रूपाणि क्रत्वो वसाना।[16]

तदनन्तर अनेक उपनिषद् पञ्चमहाभूतों का भिन्न-भिन्न क्रम और प्राधान्य से निर्देश करते हैं। कहीं जल को सभी चीजों का स्रोत कहा गया है[17], कहीं वायु को,[18] अग्नि को[19], या आकाश को।[20] उल्लेखनीय है कि उपनिषद्-वाङ्मय में सर्वप्रथम तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चमहाभूतों की स्पष्ट और परिपूर्ण गणना की गई है[21], यद्यपि उनकी उत्पत्ति क्रमशः मूल आत्मा से ही बताई गई है, अतः यह कथन पौरुषेयवाद के अन्तर्गत आना चाहिए। श्वेताश्वतर[22] और मुण्डक उपनिषद्[23] में भी पृथक्-पृथक् क्रम में इन पाँचों का कथन किया गया है। मुण्डक उपनिषद् में पञ्चमहाभूतों को 'सत्यम्' पद से भी अभिहित किया गया है[24] क्योंकि उनके गुण और धर्म बदलने वाले नहीं, सदा सत्य हैं। हमारा स्थूल शरीर, जिसे 'अन्नरसमय' कहा गया है, पाञ्चभौतिक है और उसी के भीतर छिपकर भूतों से घिरा हुआ हमारा सूक्ष्म शरीर या अन्तरात्मा स्थित है।[25] वस्तुतः उपनिषद् जिस परमसत्ता की व्याख्या करते हैं, वह स्वयं तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं निराकार हैं, किन्तु उसके द्वारा वितत यह विशाल विश्व ही उसका रूप है। इस दृष्टि से मानो पञ्चमहाभूत उस विराट् का शरीर हैं—**'वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा'**[26] तथा—**पञ्चमहाभूतानाम् अन्तरात्मा स्थूलपञ्चभूतशरीरो हि विराट्'।**[27]

इसी भाँति कठोपनिषद् में भी ब्रह्म के अग्नि, वायु और सूर्य रूपों को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा गया है[28]

किन्तु वहाँ भूत का अर्थ प्राणी या जीव ही लेना उचित प्रतीत होता है। कठोपनिषद् में ही अन्यत्र भी 'भूत' शब्द का प्रयोग प्राणी अर्थ में हुआ है।[29] केनोपनिषद् में भी 'भूत' शब्द इसी अर्थ में आया है[30] तथा मुण्डक उपनिषद् में भी।[31] इन स्थलों पर भी यह कहा जा सकता है कि जीवों के शरीर स्थूलभूतविनिर्मित होने से ही वे भूतपदवाच्य हैं।

इस सन्दर्भ में विशेष ध्यातव्य है कि जब पञ्चमहाभूत सृष्टि के भौतिक उपादान को व्यक्त करते हैं, तब अपने स्थूल जल, वायु आदि रूप में नहीं, अपितु सूक्ष्म तत्त्व रूप में, जिसे परवर्ती सांख्य दर्शन 'तन्मात्र' कहता है और आधुनिक विज्ञान 'मैटर' नाम देता है। इसी सूक्ष्म भूत अर्थ को कठोपनिषद् का वह स्थल व्यक्त करता है जहाँ 'भूत' तत्त्व इन्द्रियों के उपादान अर्थ का वाचक है—'**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः**'[32] यहाँ 'अर्थ' शब्द से उपनिषत्कार ने इन्द्रियों से पूर्व सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति प्रकट की है। यही भाव अन्य उपनिषदों में भी मिलता है।[33]

उपनिषदों में पञ्चमहाभूतों की स्वीकृति एवं व्याख्या से सर्वथा सुस्पष्ट है कि यद्यपि उपनिषद् प्रमुखतः ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक हैं किन्तु यह भी सत्य है कि वह सर्वोच्च ज्ञान सहसा लभ्य नहीं है, क्योंकि हम केवल बाह्य, भौतिक अन्नरसमय स्थूल व्यक्तित्त्व से ही परिचित हैं और वह तत्त्व 'गुहाहितं गह्वरेष्ठम्' है। अतः चेतना के क्रमिक अवगमन का आरम्भ आकाश से होता है और अन्त पृथ्वी पर।[34] यहीं आकर आत्मा का बन्धन पूर्ण होता है, अतः मुक्ति के लिए चेष्टा भी यहीं से आरम्भ होनी चाहिए। इसी भाव को उपनिषद् के ऋषि ने 'इस सारे जगत् की रचना करके वह ब्रह्म इसी में प्रविष्ट हो गया है'[35] यह कहकर व्यक्त किया है। चेतना का स्पर्श भूत तत्त्व में भी सृजनोन्मुखता जाग्रत कर देता है—यही सृष्टि के विकास का रहस्य है। इससे यह भी संकेतित होता है कि भूततत्त्व उपेक्षा का विषय नहीं है चूँकि सब कुछ इस पृथ्वी पर ही आश्रित है[36] तथा अन्न भूतों में ज्येष्ठ है[37] सर्वौषधं है[38] आदि वचन इसी भाव को पुष्ट करते हैं। इस भाँति उपनिषद् आध्यात्मिक जीवन को प्राधान्य देते हुए भी उसके भौतिक पक्ष को हेय नहीं मानते, अपितु ऊपर उठने से पहले इस भौतिक जीवन की सुदृढ़ भित्ति का निर्माण करते हैं—यही पञ्चमहाभूतों की परिकल्पना का महत्त्व है।

पञ्चमहाभूतों से सृष्टि के विकास के विषय में कहा जा सकता है कि उपनिषदें भौतिक जगत् की सबसे आरम्भिक स्थिति आकाश के प्रसार में देखती हैं जिसकी प्रतीति हमें शब्द के प्रत्यक्ष विषय के रूप में होती है। आकाश से वायु उत्पन्न होती है जिसमें कम्पनों की विविध क्रियायें सम्भव होती हैं। वायु से अग्नि उद्भूत होती है जिसका प्रकट रूप प्रकाश और ताप है, अग्नि से और घने माध्यम से जल की उत्पत्ति होती है और फिर उससे स्थूलतम पृथिवी की उद्भूति होती है।[39] इस प्रकार जगत् का विकास सूक्ष्म आकाश के क्रमशः स्थूल होते जाने की प्रक्रिया में निहित है। उपनिषत्कार इस क्रम में कभी तो स्थूल से सूक्ष्म की ओर आरोहण की प्रक्रिया वर्णित करते हैं (इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः कठ० 1.3.10-11) और कभी सूक्ष्म से स्थूल की ओर, अवरोहण का मार्ग अपनाते हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।। मुण्डक 1.1.8

सभी भौतिक पदार्थ, सूक्ष्म से सूक्ष्म भी—इन्हीं पाँच तत्त्वों के मेल से बने हैं। आधुनिक विज्ञान ने ठोस, द्रव, वायव्य और प्लाज्मा इन चार भौतिक स्थितियों को तो सुनिश्चित कर लिया है किन्तु पञ्चम अमूर्त भूत 'आकाश' अभी प्रयोग की परिधि में नहीं आया, यद्यपि भौतिकी के कुछ सिद्धान्त उसकी ओर संकेत अवश्य करते हैं।[40] उल्लेखनीय है कि जब उपनिषदों में पञ्चमहाभूतों को सृष्टि का मूल कहा गया है, तो हमें उनसे वही अर्थ ग्रहण करना चाहिए, न कि उन तत्त्वों को देवतावाचक मानना चाहिए जैसा कि शंकर, रामानुज आदि अद्वैतवादी भाष्यकार मानते हैं। यद्यपि यह भी सत्य है कि कहीं-कहीं उपनिषदों में पञ्चमहाभूतों के अर्थ में 'देव' शब्द का प्रयोग किया गया है[41] तथापि पञ्चमहाभूतों से उपनिषतकारों का अभिप्राय जड़भूतों से था, न कि उन भूतों के सांगतिक देवताओं से[42] अतः अग्नि, जल, वायु आदि भूत तत्त्व सृष्टि के उपादान माने गये हैं तथा ब्रह्म उन भूतों का भी योनि कहा गया है।

इन्द्रियाँ

उपनिषदों का परम ध्येय मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा का साक्षात्कार कराना है किन्तु यह अनुभव क्रमशः ही हो पाता है क्योंकि इन्द्रियानुभव से प्रस्तुत विश्व ही पहले मनुष्य को आकृष्ट करता है। इन्द्रियों की सहज रचना एवं प्रवृत्ति ऐसी है कि वे मनुष्य को पहले बाह्य विश्व के अवलोकन की ओर ही प्रवृत्त करती हैं—**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।**[43]

इन्द्रियों की सीमा केवल स्थूल विश्व तक ही है, अतः साधारण मनुष्य जो इन्द्रियों के दास बनकर जीते हैं, केवल इस दृश्यमान, बाह्य, पाञ्चभौतिक जगत् को ही अन्तिम सत्य समझ बैठते हैं किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप का बोध उन्हें नहीं हो पाता। कोई-कोई धीर व्यक्ति ऐसा होता है जो अमृतत्त्व को पाना चाहता है अर्थात् अपने आन्तरिक अस्तित्त्व को पहचानना चाहता है। वह अपनी बहिर्मुख इन्द्रियों के द्वारों को आवृत्त करता है और उन्हें अन्तर्मुख बनाकर अपने स्वरूपदर्शन के लिए प्रवृत्त होता है। तब उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में होती हैं और परमात्म प्राप्ति का साधन बन जाती है, जैसे अच्छे सारथि के घोड़े उसके वश में होते हैं। इस तथ्य को कठोपनिषद् के रथ-रूपक में अत्यन्त सुन्दरता से स्पष्ट किया गया है।[44] इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से पराङ्मुख होकर स्थिर हो जाना ही योग है।[45] इन्द्रियों को नियंत्रित कर लेने पर मन और मन को निगृहीत कर लेने पर बुद्धि जब स्थिर हो जाती है तभी 'परम गति'[46] या ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि होती है जो उपनिषदों का परम लक्ष्य है।

इन्द्रियों की संख्या कहीं सात[47] कहीं नौ[48] एवं कहीं ग्यारह[49] कही गई है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन। इन इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य गुणों का निर्देश भी कठोपनिषद् में किया गया है[50]. देहधारी प्राणी चक्षु के द्वारा रूप को, रसना द्वारा रस को, नासिका द्वारा गन्ध को और त्वचा द्वारा स्पर्श को ग्रहण करता है और समझता है कि यह इन्द्रिय-समूह ही अन्तिम सत्य है परन्तु वस्तुतः इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करने वाली शक्ति आत्मा ही है जिसके रहने पर ये सक्रिय होती है और जिसके न रहने पर ये मृतप्राय हो जाती हैं। इसीलिए केनोपनिषद् ने उस आत्मा को चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र कहा है।[51] वस्तुतः

ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसे इन्द्रियाँ आत्मा के बिना जान सकती हों क्योंकि स्वरूपतः ये इन्द्रियाँ स्वयं अचेतन हैं। इन इन्द्रियों का प्रेरक, संचालक तत्त्व ही वस्तुतः ज्ञेय है किन्तु उस तक इनकी पहुँच नहीं है[52]—न तो उसे आँख से देखा जा सकता है, न कान से सुना जा सकता है, न वाणी से बोला जा सकता है, न घ्राण से सूँघा जा सकता है और न त्वचा से स्पर्श किया जा सकता है[53] न मन से विचारा जा सकता है, किन्तु केवल मन से ही पाया जा सकता है।[54]

इन्द्रियाँ पञ्चभूतों का विकार हैं, अतः जो कोई धीर व्यक्ति इनके आत्मा से पार्थक्य को, उदय और अस्त को जान लेता है उसे किसी प्रकार का शोक नहीं होता।[55] इन्द्रियों से उनके विषय सूक्ष्म हैं, उन विषयों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से महान् आत्मा—उस महान् आत्मा से अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है किन्तु उस प्रकृति से भी परे पुरुष तत्त्व है, वही परम गति है[56]—वह इन्द्रियमय नहीं है। किन्तु उस तक पहुँचने का सर्वप्रथम सोपान इन्द्रियनिग्रह ही है। अतः साधक को अपनी वाक् आदि इन्द्रियों का निगमन क्रमशः मन, ज्ञानात्मा, महान् आत्मा और शान्त आत्मा में करना चाहिए।[57] इन्द्रियों की गति केवल अपने भौतिक गुणों तक है और वह ब्रह्म सर्वथा निर्गुण है,[58] अतः उसे जानने का मार्ग छुरे की धार के समान कठिन है।

इन्द्रियों के विषय-भोग उनके तेज को जीर्ण कर डालते हैं और वे अनित्य हैं, अतः इन अनित्यों में व्याप्त उस नित्य तत्त्व को जानने का अभ्यास ही उपनिषद् का प्रतिपाद्य है। इसी दृष्टि से यहाँ इन्द्रियों एवं उनके विषयों का वर्णन करते हुए उनके प्रेरक परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग बताया गया है। इसे ही भारतीय तर्कशास्त्र में अरुन्धती-दर्शन-न्याय कहा जाता है।[59] जब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब उस आत्मा के साथ, एक ही दिशा में संयुक्त हो जाते हैं, तब उस दशा को ही योग कहा गया है—आत्मा से पृथक् इन इन्द्रियों की कोई शक्ति नहीं।

प्राण

स्थूल से सूक्ष्म की ओर आरोह के क्रम में उपनिषदों में पञ्चमहाभूतों से उनकी कार्य इन्द्रियों तथा फिर उनसे सूक्ष्म प्राण तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। प्राण भूत द्रव्यों से भिन्न श्रेणी में है किन्तु वह भी परम सत्य नहीं है। प्रकृति का मूल प्रेरक जिससे भूत द्रष्टा, इन्द्रियाँ और प्राण विकसित हुए हैं—और भी गहन है। भूत द्रव्य, इन्द्रियाँ और प्राण एक ही अस्तित्त्व के भिन्न-भिन्न रूप अवश्य हैं, परन्तु वे अन्तिम सत्य नहीं हैं। अन्तिम सत्य तो प्राण का भी प्राण है।[60]

'प्राण' शब्द अपने स्थूलतम रूप में वायु या श्वास अर्थ को ही व्यक्त करता है—**वायुः प्राणो।**[61] पञ्चप्राण की कल्पना इसी आधार पर विकसित हुई—उन पाँचों में भी प्राण का प्राधान्य **प्रथमः प्राणः**[62] कहकर व्यक्त किया गया है।

केनोपनिषद् में 'प्राण' शब्द पार्थिव घ्राणेन्द्रिय को भी व्यक्त करता है—**घ्राणार्थको ह्यत्र प्राणशब्दः विवरणम्**[63] **तथा प्राण इति नासिकाभावः, प्रकरणात् (वाक्यभाष्य, शङ्कर) प्रथमत्वं चलनक्रियायाः**

प्राणनिमित्तत्वात्।[64]

किन्तु वहीं (प्राणस्य प्राणः) एक स्थल पर जब ब्रह्म को प्राणों का प्राण कहा गया है तो वह प्राणन क्रिया का भी द्योतक है और प्राण वायु का भी। यद्यपि आत्मा से अनधिष्ठित तत्त्व का प्राणन भी सम्भव न होने से अप्रत्यक्षतः वह ब्रह्म को भी सूचित करता है।[65]

अन्यत्र 'प्राण' शब्द आत्मा या जीव के अर्थ में भी आया है तथा परमात्मा या ब्रह्म के अर्थ में भी।[66] अपने सूक्ष्म अर्थ में प्राण हिरण्यगर्भ या अदिति को भी प्रकट करता है[67] तथा मुण्डक उपनिषद् में एक स्थान पर तो शीर्षस्थानीय प्रमुख सात इन्द्रियों को ही प्राण शब्द से अभिहित किया गया है।[68] ब्रह्म से सृष्टि की उद्भूति के क्रम में सर्वप्रथम प्राण को ही गिनाया गया है जो इसकी सूक्ष्मता एवं महत्ता को प्रकट करता है[69] यद्यपि वह ब्रह्म स्वरूपतः 'अप्राण' है किन्तु प्राणन-क्रिया करने वाले सब प्राणी इसी में समर्पित हैं[70]। सातों प्रमुख इन्द्रियों के स्थान सात लोक हैं जिनमें प्राण रूप इन्द्रियाँ संचार करती हैं।[71] वही सर्वाश्रय ब्रह्म ही प्राण है, वही वाणी और मन है[72] द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, मन और सारी इन्द्रियाँ या प्राण उसी में ओत-प्रोत हैं।[73] वह मनरूप उपाधि वाला होने से मनोमय है और प्राण तथा स्थूल शरीर का नेता भी वही है[74]। यह ब्रह्म ही प्राण है जो सब भूतों में भासित हो रहा है।[75] उसकी उपलब्धि इसी शरीर में हो सकती है जिसमें पाँचों प्रकार का प्राण प्रविष्ट है (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) और सब प्रजाओं का चित्त प्राण रूप इन्द्रियों से व्याप्त है।[76] इस एक ही मन्त्र में प्राण वायु का भी वाचक है और इन्द्रियों का भी।

यद्यपि 'प्राण' सब इन्द्रियों में प्रमुख होने से 'प्रथमः प्राणः' कहा गया है क्योंकि शरीर की सब क्रियायें इसी पर निर्भर हैं—इस अर्थ में नासिकारन्ध्रस्थित प्राणवायु ही अभिप्रेत है चूँकि उसके बिना हम जीवित नहीं रह सकते, किन्तु वहीं दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि इस प्राण और अपान को संचालित करने वाला वही परब्रह्म है[77] कोई मनुष्य न तो प्राण से जीवित रहता है, न ही अपान से, अपितु किसी अन्य ही तत्त्व से ये दोनों जीवित रहते हैं[78] इसीलिए उसे प्राणस्य प्राण कहा गया है। वह एक ही वायु के रूप में समस्त जगत् में समाया हुआ है।[79] शरीरस्थ सभी इन्द्रियाँ (विश्वेदेवा) इसी देवराज प्राण की उपासना करती हैं किन्तु यह प्राण उस परब्रह्म की शक्ति से प्राणित होता है। वह परब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करता है और उत्पन्न करके उसे अपनी सत्ता से स्थिर रखता है, अतः वह 'प्राण' है---उसकी सत्ता से ही समस्त व्यापार होते हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म ही वह प्राण है जिससे 'अदिति' रूप दैवी शक्ति उत्पन्न होती है, इसीलिए उसे 'प्राण' कहा है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि देवता उस प्राण रूप सच्चिदानन्द परब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं और उसी में स्थित रहते हैं जैसे रथ की नाभि में अरे पिरोये रहते हैं,[80] अतः जो प्राण के द्वारा प्राणन का विषय नहीं बन सकता, जिसकी शक्ति से प्राण प्राणन क्रिया करता है, वही ब्रह्म है।[81]

निष्कर्ष–

इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि पञ्चमहाभूत, इन्द्रियों और

प्राण का निरूपण उपनिषत्कारों की प्रज्ञा के क्रमिक विकास का सूचक है। यह भारतीय चिन्तनधारा की मानसिक संश्लेषणपरक प्रवृत्ति को प्रकट करता है। मानव विचारों के इतिहास में उपनिषदीय पञ्चमहाभूत-परिकल्पना ने भूततत्त्व के विषय में इतना विकसित एवं समग्र सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि इसने परवर्ती सांख्य एवं वैशेषिक दर्शन के प्रत्ययों को तो प्रभावित किया ही, भौतिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन के बीच एक विचार सेतु का भी कार्य किया।[82] अतः आज विज्ञान के इतिहास में भी इसका पुनर्मूल्याङ्कन होना चाहिए तभी इसका समग्र सार समझा जा सकेगा। पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश केवल दृश्य भौतिक पदार्थ नहीं हैं, अपितु उनके व्यापक और सूक्ष्म प्रतीक भी हैं। अतः इन तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या के लिए समग्र दृष्टि अपनानी होगी। उपनिषदों के ऋषियों ने अपनी दिव्य अन्तर्दृष्टि से इस विश्व के विकास की व्याख्या का जो प्रयास किया है, उसमें अन्ततोगत्वा एक संहत विचार के बीज मिलते हैं जो पुरुष, हिरण्यगर्भ और ब्रह्म के रूप में विकसित हुआ—तीन चौथाई वाले उस ब्रह्म की जड़ें ऊपर हैं और आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी उसी की शाखायें हैं।[83] परवर्ती काल में इस सिद्धान्त ने भूत विद्या एवं दर्शन के साथ-साथ आयुर्वेद को भी प्रभावित किया।

औपनिषदिक चिन्तन की विशेषता यही है कि यहाँ केवल भौतिक या केवल आध्यात्मिक पक्ष पर विचार नहीं किया गया, अपितु अधिभूत-अधिदेव और अध्यात्म—तीनों पक्षों के समन्वित चिन्तन पर ही बल दिया गया है। यद्यपि भूत एवं चैतन्य के बीच विभाजक रेखा स्पष्ट एवं सुनिश्चित नहीं है तथा दोनों एक-दूसरे से पूर्णतः संश्लिष्ट एवं क्रमिक उत्थान को प्रकट करते हैं इसीलिए पञ्चमहाभूत वाह्यजगत् की ओर मानव के आकर्षण को व्यक्त करते हैं, इन्द्रियाँ अपने शरीर की ओर उसके चिन्तन की प्रक्रिया को सूचित करती हैं तथा प्राण अपने भीतर की शक्ति को समझने का प्रयास प्रकट करता है, जैसा कि एक विद्वान् ने धर्मविकास की तीन भूमिकायें गिनाते हुए कहा है—

We look out before we look in, and we look in before we look up.

यह कथन कठोपनिषद् के प्रेय एवं श्रेय तथा मुण्डक उपनिषद् की अपरा और परा विद्या के मूल भाव को ही रेखांकित करता है। अतः उपनिषदों का अन्तिम प्रश्न तो आत्म तत्त्व की व्याख्या करना है किन्तु **यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे** के आधार पर स्थूल भौतिक देह, इन्द्रियाँ और प्राण से ऊपर उठते-उठते ही उस तक पहुँचा जा सकता है यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी उन ऋषियों ने भली-भाँति साक्षात् कर लिया था तथा ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया एवं उसके क्रम का भी उन्हें पूर्ण अनुभव था। इस दृष्टि से यदि कहा जाये कि पञ्चमहाभूत 'प्रमेय' तत्त्व को प्रकट करते हैं, इन्द्रियाँ तो अपने पारिभाषिक शास्त्रीय अर्थ में 'प्रमाण' (प्रमाकरण प्रमाणम् के आधार पर) हैं ही तथा प्राणतत्त्व 'प्रमाता' आत्मा तक पहुँचने का प्रथम प्रयास था, तो अनुचित न होगा। इस प्रकार, पञ्चमहाभूत इन्द्रियों और प्राण तत्त्व का औपनिषदिक विवेचन ज्ञान-मीमांसा की आरम्भिक अवधारणाओं का भी आधारभूत कहा जा सकता है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. कठ, केन और मुण्डक उपनिषद् के आधार पर
2. Deussen, Paul, Ten Principal Upaniṣads, 1937, p. 11
3. राधाकृष्णन्, उपनिषदों की भूमिका, पृ0 14
4. 'तिलेषु तैलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः'–मुक्तिका उप0 1.9
5. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि ऋ0 10.129.6
6. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः, जीवाम केन वव च संप्रतिष्ठाः।....श्वेताश्व0 1.1.1
7. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति। तैत्तिरीय उप0 3.1
8. दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग एक, पृ0 51
9. रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ0 52
10. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या। –श्वेताश्व0 1.2
11. Sampurnanand, Cosmogany In Indian Thought, p. 3
12. ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग, 19.189
13. शब्दकल्पद्रुमः तृतीय भाग, पृ0 529
14. कठ0 1.3.12; केन 4.6; मुण्डक 3.1.4
15. तैत्तिरीय उप0 भृगुवल्ली, 2.1; प्रश्नोप0 6.4; श्वेताश्व0 2.12
16. तै0 सं0 4.3.11; काठक सं0 39.10; मै0 सं0 2.13.10; काठक गृह्य 61.5
17. बृहदा0 5.5.1
18. छान्दोग्य0 4.3.1-2
19. कठ0 2.5, छान्दोग्य0 6.8.4
20. छान्दोग्य0 1.9.1, 7.12.1
21. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी। तैत्ति0 2.1
22. पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्।–श्वेताश्व0 6.2
23. खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। मुण्डक0 2.1.3
24. 1.1.8 'सत्याख्यात् भूतपञ्चकात् शा0 भा0
25. येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा। मुण्डक0 2.1.9
26. मुण्डक 2.1.4
27. उक्त पर आनन्दगिरि की टीका
28. कठ0 2.2.9-11
29. वही, 1.3.12, 2.1.6, 2.2,7
30. 2.5 तथा 4.6
31. 'प्राणो ह्येष य सर्वभूतैर्विभाति।–मुण्डक0 3.1.4
32. कठ0 1.3.11 तथा उस पर अरविन्द की व्याख्या, पृ0 144
33. तुलनीय–ऐतरेय 2.4 तथा सुबाल 2.2
34. Mukhopadhyaya, G.G., Studies in the Upaniṣads, p. 235
35. 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। तैत्ति0 2.6
36. वही 2.2
37. वही

38. वही
39. राधाकृष्णन्, उपनिषदों की भूमिका, पृ0 56
40. Dixit, L.P.—The Pancabhutas, Bharatiya Vidyā, Vol. 34, p. 160
41. 'तं देवाः सर्वे अर्पिताः।' कठ0 3.1.9 तथा उस पर चिन्मयानन्द की व्याख्या, पृ0 203
42. रानाडे, रामचन्द्र, दत्तात्रेय, उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ0 53
43. कठ0 2.1.1
44. आत्मानं रथिनं विद्धि...भूयो न जायते। कठ0 1.3.8
45. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। वही 2.3.11
46. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते....परमां गतिम्। वही 2.3.10
47. सप्त प्राणाः। मुण्डक
48. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। श्वेताश्व0 3.18
49. पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्र चेतसः। कठ0 2.2.1
50. येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्। वही 2.1.3
51. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
    चक्षुश्चक्षुरतिमुच्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। केन 1.2
52. केन0 2-78
53. वही 2.5
54. कठ0 2.2.11
55. इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्। कठ0 2.3.6
56. वही 1.3.10-11
57. वही 1.3.13
58. 1.3.15 तथा मुण्डक 1.1.6
59. Krishnanda, Secret of the Katha Upaniṣad, p. 68
60. स उ प्राणस्य प्राणः। केन0 1.2
61. मुण्डक
62. केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केन 1.1
    First Life because it was produced previous to the senses. Roer
63. Goswami, Sitanath, Kenopaniṣad, p. 109
64. तुलनीयः तत् प्राणेनाजिघृक्षत् (ऐ0 उ0 1.3.4) प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति (कौ0 3.6)
65. Hume : Quoted by Goswami, p. 74
66. प्राणचेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विका, अचेतनप्रवृत्तित्वात्, रथादिप्रवृत्तिवत्। आनन्दगिरि
67. सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। कठ0 2.3.2
    यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। वही 1.2.9
    या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। वही 2.2.7
68. सप्त प्राणाः प्रभवन्ति यस्मात्। मुण्डक0 2.1.8
69. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। मुण्डक 2/1/3
70. वही 2.2.1
71. सप्त इमेलोका येषु चरन्ति प्राणा। वही 2.1.8
72. स प्राणस्तदु वाङ्मनः। वही 2.2.2
73. मुण्डक 2.2.5

74. वही 2.2.7
75. वही 3.1.4
76. वही 3.1.9
77. ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनकासीनं विश्वे देवा उपासते।। कठ0 2.2.3
78. न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।। वही 2.2.5
79. वायुर्यथैको भुवनं....बहिश्च। वही 2.2.10
80. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्व समर्पितम्। प्रश्न0 2.6
81. यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म। केन 2.8
82. Subbarayappa, v., The Indian Doctrine of Five Elements, Indian Journal of History of Science, N. Delhi, Vol. I, 1966
83. मैत्री उप0 3.1.2

❐

उपनिषदों में निबद्ध मन: शास्त्रीय चिन्तन

डॉ० लक्ष्मी शुक्ला ★

मन:शास्त्र के अध्ययन से हमें स्वयं अपने तथा दूसरों के भी व्यवहारों, विचारों, अनुभवों एवं क्रियाकलापों आदि से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान करने में सहायता मिलती है। मनोविज्ञान का अर्थ है मानवमन के स्वरूप, वृत्तियों, क्रियाओं तथा दशाओं आदि से सम्बद्ध शास्त्र।

मनोविज्ञान का अंग्रेज़ी पर्याय है साइकोलॉजी। यह शब्द लैटिन भाषा के 'साइको' और 'लोगस' दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है आत्मा का विज्ञान। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग तर्कशास्त्री गोक्लेनियस ने अपनी पुस्तक 'On the nature and origin of the human soul' में किया था। उन्नीसवीं सदी तक इसकी परिभाषा में परिवर्तन हुए और 'आत्मा' शब्द को 'उपयुक्त' न समझते हुए हटाकर मन को उसका स्थानापन्न बनाया गया फिर आगे तो 'मन' भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिये अपेक्षित नहीं रहा।

भारतीय मनीषा ने पृथक् शास्त्र के रूप में मनोविज्ञान का अध्ययन कभी नहीं किया किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से इसका मूल वेदों एवं उपनिषदों में ही देखा जा सकता है। प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में मन, चेतना, इन्द्रिय, शरीर एवं व्यवहार आदि से सम्बद्ध प्रभूत सामग्री विकीर्ण है। संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में 'मनस्' शब्द मापन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह मानव जीवन की एक क्रिया है, जिससे व्यक्ति अपने ज्ञान और सुखादि भावनाओं का मापन करता है। छान्दोग्योपनिषद् में इसे भौतिक पदार्थ स्वीकार कर 'अन्नमय' कहा गया है।[1] यह भौतिक होते हुए भी स्थूल नहीं सूक्ष्म पदार्थ है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसे भौतिक आधार वाला ज्ञान का साधन अर्थात् इन्द्रिय माना गया है।

मन, चेतना आदि विषयों का अध्ययन करने वाले अनेक मनोवैज्ञानिकों एवं दार्शनिक ऋषियों के नाम उपनिषदों में उल्लिखित हैं। उनमें से कुछ निम्नांकित हैं—उद्दालक, पञ्चशील, वाडिल, शार्कराक्ष्य, इन्द्रद्युम्न, शाच्याग्य, दिव्याग्नि, रैक्व, अश्वपति, कैकेय, शाट्यकम जाबाल, अजातशत्रु पिप्पलाद, ककन्धी, कात्यायन आदि। इनके साथ ही कतिपय स्वप्नमीमांसकों का परिचय भी हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है यथा—सौर्यायणी, गार्ग्य, शैव्य, सत्यकाम आदि। दार्शनिक चिन्तकों में सुकेशी, भरद्वाज जैसे ऋषिगण अग्रगण्य हैं।

★ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य स्वशासी महाविद्यालय, ग्वालियर, मध्य प्रदेश (भू०पू०)

पुनर्जन्म मीमांसकों में वामदेव ऋषि प्रसिद्ध हुए। अनेक परामनोवैज्ञानिकों के नाम उक्त साहित्य में प्राप्तव्य हैं जिनमें प्रमुख हैं—जीतवन, शैलिनि, उदक, शौल्यायण वर्कु, वर्ष्ण, गर्दभी विपीत, भरद्वाज, विदग्ध शाक्ल्य इत्यादि।

मनोविज्ञान से सम्बद्ध इतने नाम इस बात को प्रमाणित कर सकते हैं कि प्रायः सभी उपनिषदों में मनोवैज्ञानिक चिन्तन यत्र-तत्र विकीर्ण है। मन, इन्द्रियाँ, शरीर, चेतना, अनुभूतियाँ, संवेग, प्रत्यक्ष, स्वप्न, निद्रा, पुनर्जन्म, बुद्धि, परचित्त ज्ञान आदि विषय इन चिन्तकों के प्रिय विषय हैं। महामुनि कपिल एवं पतञ्जलि प्रणीत सांख्य एवं योग दर्शन भारतीय मनोविज्ञान के मूलाधार हैं एवं ये सभी दर्शनों से प्राचीन भी ठहरते हैं। श्री रिचर्ड गार्वे[2] का कथन है कि संसार के इतिहास में पहली बार कपिल के दर्शन (सांख्य) में मानव मन की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता तथा उसकी अपनी शक्तियों में पूर्ण विश्वास प्रदर्शित हुआ है। मैत्रायणी उपनिषद् में सांख्य का विकसित स्वरूप देखा जा सकता है। तन्मात्र, गुण, प्रकृति तथा आत्मा में अन्तर की चर्चा की गयी है। प्रसिद्ध दार्शनिक कीथ का कथन है कि ऐसा शायद ही कुछ हो जिसकी चर्चा उपनिषदों में कहीं न की गयी हो। इस कथन से स्पष्ट है कि कीथ ने सांख्यदर्शन का विकास उपनिषदों से स्वीकार किया है।

उपनिषदों के आधार पर हम मनःशास्त्र के विषयों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने का प्रयास करते हैं—

चेतना—चेतना या आत्मा उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। उक्त समस्त चिन्तन सत्य, आत्मा अथवा परमात्मा के अध्ययन से सम्बद्ध है। केनोपनिषद् में कहा गया है—**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्** अर्थात् उसका मनन मन से सम्भव नहीं है अपितु मन उसी के कारण चिन्तन कर पाता है। कठोपनिषद् इस कथन के विपरीत कहता प्रतीत होता है—**मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन!** अर्थात् हम आत्मज्ञान की प्राप्ति मन के माध्यम से ही कर सकते हैं—वह चितिशक्ति एक है अनेक नहीं। वस्तुतः दोनों उक्तियों में विरोध नहीं है क्योंकि जब केनोपनिषद् कहता है—**यन्मनसा न मनुते**—उसका तात्पर्य है कि मन में अपनी कोई सामर्थ्य नहीं है वह आत्मशक्ति के प्रकाश से संयुक्त होने पर ही कुछ चिन्तनादि कर सकता है। दूसरी ओर कठोपनिषद् की उक्ति का तात्पर्य है कि मन ज्ञान का प्रमुख माध्यम है क्योंकि यदि मन विषय से संयुक्त नहीं होता है तो ज्ञान नहीं हो पाता है। आत्मज्ञान भी मन के माध्यम से ही प्राप्त होता है किन्तु एक सीमा पर जाकर जब भौतिक मन असमर्थ हो जाता है आत्मा स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में विषय-इन्द्रिय-मन-बुद्धि और आत्मा सभी संयुक्त होते हैं। इनमें से एक के भी अनुपस्थित रहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता है। आत्मतत्त्व को जानना जीवन का अन्तिम ध्येय है[3] और उसे जानने में मन भी एक सशक्त माध्यम होता है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है—

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा! [4]

इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्व से निर्मित हैं। वे चेतन तत्त्व को जानने में कैसे समर्थ हो सकती हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में चेतना को **ज्योतिषां ज्योतिः**[5] कहा गया है। ज्ञान प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऋषि का

कथन है—**येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।**[6] जो ज्ञाता है वही ज्ञेय हो जाये तो ज्ञाता कौन होगा? उसे जानेगा कौन और कैसे? यह एक कठिन पहेली है जिसका प्रायः सभी उपनिषदों ने चिन्तन किया है।

चेतना की भी दो कोटियाँ हो जाती हैं। चेतना का अर्थ चरम आधिभौतिक चेतना हो सकता है जो कि अपरिवर्तनशील और अमर है अथवा मनोवैज्ञानिक और परिवर्तनशील चेतना भी हो सकता है जो निरन्तर लुप्त और प्रकट होती है। भारतीय दर्शन की मान्यता है कि केवल अपरिवर्तनशील अथवा परिवर्तनशील चेतना के तत्त्व अनुभव का आधार नहीं बन सकते हैं अपितु इन दोनों के मध्य आधारभूत एकत्व ही अनुभव का आधार है और उसी के अन्तर्गत विषय और विषयी, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य में भेद किया जा सकता है। अपरिवर्तनशील चेतना अक्रियात्मक चित्-सत्ता के रूप में वर्तमान है और परिवर्तनशील चेतनावस्था अहम् और वैयक्तिकता की पूर्वकल्पना के समान है।

निरपेक्षचेतना—प्रथम कोटि की निरपेक्ष चेतना में चितिशक्ति से तादात्म्य रखने वाली चेतना की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित रहती है। यह चेतना सर्वगत एवं विभु है। चेतना में गहन निद्रा, स्वप्न एवं जाग्रत्—तीन अवस्थायें सम्मिलित हैं। प्रगाढ़ निद्रा में पृथक्करण की कोई चेतना नहीं होती। इसी से निद्रा एवं मूर्च्छा में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है, जबकि अन्य दो अवस्थाओं में अर्द्ध अथवा पूर्ण चेतना रहती है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या निद्रा अथवा मूर्च्छा में हमारी चेतना पूर्णतः लुप्त हो जाती है? भारतीय विचारकों ने इसका उत्तर उपनिषद्-काल में ही ढूँढ़ लिया था। उन्होंने एक उदाहरण दिया कि सोकर उठने के पश्चात् व्यक्ति कहता है—"मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है"[7]। यदि सुषुप्ति में कोई चेतना नहीं रहती है तो सुखपूर्वक अथवा कष्टपूर्वक सोने का अनुभव कैसे होता है? इससे सिद्ध होता है कि चेतना की अविच्छिन्न धारा टूटती नहीं अपितु जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक सी चलती रहती है। मृत्यु के समय उसका सम्बन्ध शरीर से विच्छिन्न हो जाता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये उस पारमार्थिक चेतना के स्तर हैं, जो चेतना के स्वयं के नहीं अपितु अहंकार द्वारा उद्भासित होते हैं।

सापेक्षचेतना—दूसरी कोटि की चेतना का हम नित्य प्रति अनुभव करते हैं, जिसके कारण हम अपनी समस्त क्रियाओं के प्रति जागरूक रहते हैं। इसे हम सामान्य रूप से जाग्रदवस्था की मानसिक स्थिति समझते हैं। जिसके साथ इच्छित क्रियाओं की शक्ति समन्वित है, इसे मन का एक परिणाम भी माना जाता है क्योंकि जहाँ मन नहीं होता, वहाँ चेतना भी नहीं होती। यह जीवन और क्रिया शक्ति का परिणाम है। इस प्रकार की चर्चाओं से उपनिषद् ग्रन्थ भरे पड़े हैं चेतन अवस्था में ज्ञान प्राप्त होने का तात्पर्य यह होता है कि ज्ञान उसका स्वरूप ही है क्रिया नहीं।[8]

मन—भारतीय औपनिषदिक साहित्य में एक रूपक प्रसिद्ध है जिसके अनुसार यह शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ उसमें जुते घोड़ों के समान हैं, आत्मा उस रथ का स्वामी है, बुद्धि सारथि और मन लगाम।[9] इस रूपक के माध्यम से यह स्पष्ट है कि मन रूपी लगाम के कसने से इन्द्रिय रूपी घोड़े नियंत्रण में रह सकते हैं। मन पर बुद्धि का शासन चलता है। शरीर रथ के सुचारु परिचालन के लिये इन्द्रिय-मन-बुद्धि का परस्पर सामञ्जस्य पूर्ण संयोजन अत्यावश्यक है। मन दस इन्द्रियों से भिन्न ग्यारहवीं अन्तरिन्द्रिय है। कठोपनिषद्[10] के ही एक अन्य

मन्त्र में इन्द्रिय-मन-बुद्धि-आत्मा में क्रमशः उत्तरोत्तर प्रधानता प्रदर्शित की गई है। इसके अनुसार शरीर पूर्णतः भौतिक है, इन्द्रियाँ भौतिक जगत् से सम्बद्ध हैं किन्तु उनके विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्म हैं। मन इनसे भी सूक्ष्म है। वाजसनेय संहिता में मनस् प्रत्यय को मानस तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस संहिता में मन के शरीर से बाहर जाने का वर्णन है। अतः वह भौतिक इन्द्रिय नहीं है, यह सिद्ध होता है अन्यथा वह शरीर से बाहर कैसे जाता।[11] ऐतरेयारण्यक में मन को और अधिक विशद विश्लेषण प्राप्त होता है। उसके दूसरे अध्याय में मानव को दूसरे प्राणियों से श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि वह भविष्य की कल्पना कर सकता है और अतीत को स्मरण रख सकता है। हमारी देह, मनोवृत्तियों एवं संवेगों से संचालित होती है। शरीर वही करता है जैसा मन सोचता है। अतः छान्दोग्य का ऋषि कहता है—**मनोमात्रं जगत् मनः कल्पितं जगत्।**[12] मैत्रायिणी उपनिषद् में लिखा है—"मनुष्य मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा सब मन ही है।[13] इस प्रकार उपनिषद् साहित्य में इन्द्रियों पर मन की प्रधानता बताते हुए विभिन्न मानसिक दशाओं को मन का विकार कहा है। ऐतरेय उपनिषद्[14] में भी एक स्थल पर षोडश मनोदशाओं का उल्लेख है। वे हैं—संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेघा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जुति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम और वश। इसी प्रकार संकल्प नामक मनोदशा की प्रशंसा की गई है।[15] फिर संकल्प से श्रेष्ठ चित्त कहा गया है।[16]

इतना ही नहीं उपनिषद् साहित्य में मन के कई भागों की भी चर्चा हुई है। यथा—1. दैवमन—इसे दैव अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी कहा गया है। आत्मा और बुद्धि तो शरीर से बाहर नहीं जा सकते अतः इन्द्रियाँ विषयों तक जाती है। मन ज्ञान तन्तुओं के द्वारा उन्हें प्रेरित करता है और नियन्त्रण भी रखता है यह सत्त्व प्रधान होता है। दैवमन का जागते समय दूर तक उदय होता है।[17] ज्ञान के विषय पर दैवमन का पूरा योग होना चाहिये।

2. यक्षमन—यह कर्मेन्द्रियों का अधिकारी है। इसमें रजोगुण प्रधान होता है अतः गति का केन्द्र है।

3. प्रज्ञान—मन या बुद्धि—मन का जो भाग मस्तिष्क में रहता हुआ काम करता है, उसे प्रज्ञान अथवा बुद्धि कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आया करते हैं, तर्क की कसौटी पर रखकर उनकी परख मन के इसी प्रकाशमय लोक में हुआ करती है।

4. चेतसमन—चित्त अन्तःकरण का वह भाग है जिस पर दैवमन के क्षेत्र में हुए अनुभवों और यक्षमन के क्षेत्र में होने वाले कर्मों के संस्कार अंकित रहते हैं। यह मस्तिष्क में ही रहते हुए अनुभूत विषयों का स्मरण करता है।

ये भाग व्यापृत या उद्बुद्ध मन के हैं अर्थात् इनकी क्रियाएं आत्मा के नियंत्रण में होती हैं।

5. धृतिमन—मन का पाँचवां भाग धृति है। आत्मा, के बोध के अभाव में भी अनेक विषयों, इन्द्रियों तथा क्रियाओं को धारण किये रहता है। सम्भवतः इसी से इसका नाम धृति पड़ा है इसके तीन भाग हैं।

(1) प्रत्यग्भान—धृतिमन के सत्त्वप्रधान होने पर जब आत्मा की आभा उसमें आपतित होती है, तब

प्रत्यग्भान अथवा अहंकार उत्पन्न होता है। सांख्य सम्मत सृष्टि उत्पत्ति का सिद्धान्त इससे प्रभावित प्रतीत होता है। प्रत्यग्भान आत्मिक विभूतियों का केन्द्र है।

(2) विश्वभान—यह ईश्वरीय विभूतियों का केन्द्र है। विश्वभान मन में सत्त्व पुरुषान्यताख्याति प्राप्त हो जाने पर मनुष्य नितान्त प्रसन्न दिखलाई पड़ता है।

(3) वशीकरण—नियन्त्रण की शक्ति आने पर वशीकरण होता है। वशीकरण मन की वह दशा है जबकि मन लक्ष्य-बेधन के समय से पूर्व अपने बाण को लक्ष्य की ओर बिल्कुल साध चुका होता है।

भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को आत्म-विषयक उपदेश देकर तपस्या करने हेतु आदेश दिया। एक बार तप करके भृगु ने जाना कि मन से ही पंच महाभूत उत्पन्न हो रहे हैं—चेतन वस्तुएं मन के कारण जीवित रहतीं हैं और अन्त में मन में ही लीन हो जाती हैं।[18]

प्रकृति की परमाणु से भी सूक्ष्मतर अवस्था होती है महत्त्व बुद्धि में महान् विचार शक्ति। सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम मन मनोमय है। ब्रह्मवल्ली में ऋषि का कथन है कि अन्तरात्मा मनोमय है। यह प्राणमय से भिन्न है। यह मन की अवस्थाओं का समूह है।[19] आत्मप्रकाश से परिपूर्ण होने के कारण यही आत्मा है। सूक्ष्म शरीर मनोमय से परिपूर्ण है। इसका आकार भी सूक्ष्म शरीर की भाँति स्थूल शरीर के आकार जैसा ही होता है।

उत्पत्ति की प्रक्रिया में जब हृदय बना तो मन उसी से उत्पन्न हुआ और मनस् से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।

चित्त

छान्दोग्योपनिषद्[20] के अनुसार चित्त अथवा साक्षी आत्मा संकल्प से श्रेष्ठ है। चित्त का अस्तित्त्व संकल्प पर संयम करता है। मनुष्य जब चिन्तन करता है तभी संकल्प करता है। प्रथम स्फुरण चित्त में होता है, फिर मनन करता है तदनन्तर वाणी को प्रेरित करता है।[21] ये संकल्पादि चित्त के आश्रित हैं, चित्त रूप हैं और चित्त में प्रतिष्ठित हैं। इसी कारण जब कोई व्यक्ति उचित अथवा उन्मत्त हो जाता है तो उसे "वह नहीं है"—ऐसा ही लोग जानने लगते हैं और सोचते हैं कि यदि यह स्मरण करता होता तो इस प्रकार चेतना रहित न होता। इसलिये चित्त ही संकल्पादियों का आश्रय है, चित्त आत्मा है। ऋषि ने नारद को चित्त की आराधना करके प्रसुप्त चेतनसत्ता को प्रबुद्ध करने का आदेश दिया।[22]

ध्यान—ध्यान चित्त से महान् है। पृथ्वी ध्यान करती हुई सी प्रतीत होती है। अन्तरिक्ष ध्यान कर रहा है। सौर लोक मानो ध्यान कर रहा है। प्रकृति का सारा विकास सृष्टिकर्ता के नियम में नियत रूप से निश्चल है। उपनिषद्[23] कहते हैं—वह जो ध्यान को महान् जानकर ब्रह्मोपासना करता है, जहाँ तक ध्यान की गति है वहाँ तक उसका स्वच्छन्द सञ्चार होता है। ध्यान करके हम आत्मतत्त्व को जान सकते हैं। इसी कारण कहा गया है कि मनसैवानुद्रष्टव्यम्[24] बृहदारण्यक के अनुसार तीन वस्तु आत्माधीन होनी चाहिये—मनस्, वाणी और प्राण। यदि हमारा ध्यान कहीं अन्यत्र है तो हम देखते हुए भी नहीं देखते हैं—सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं।

कठोपनिषद् में भी यह बात कही गयी है कि व्यक्ति अपने आत्मा को नहीं जान सकता जब तक

कि उसका मन (ध्यान) स्थिर न हो। जो अशान्त, चञ्चल और अस्थिर मन का होता है वह जागतिक वस्तुओं को ही नहीं जान पाता है आत्मज्ञान के लिये तो उससे भी बहुत ही गहरे ध्यान की आवश्यकता होती है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।[26]

उपासक अपने मन को परमात्मा के प्रकाशमय स्वरूप में संयुक्त करते हैं—अपनी इन्द्रियाँ, मन सब कुछ उसी के ध्यान में लगा देते हैं।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो, विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः[27]**।।**

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस ध्यान तत्त्व को बड़े अच्छे उदाहरण से समझाया है जिसके अनुसार यदि उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणि के रूप में कल्पना करे और प्रणव को ऊपर की अरणि माने फिर ध्यान रूपी निर्मथन का अभ्यास करके काष्ठ में छिपी अग्नि के समान परमेश्वर को देखे।[28]

जैसे तिलों में तेल—दही में घी—स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि रहती है वैसे ही आत्मा में परमात्मा का वास है जिसे अन्तर्मुख ध्यान से जाना जाता है।[29] शिवसंकल्प सूत्र में अवधान के अभ्यास हेतु उपाय भी बताया गया है।

ध्यान की गहराइयों में साधक के उतर जाने के बाद समाधि की स्थिति बनती है। श्रुति का कथन है कि शान्त और वैरागी ज्ञानार्थी को समाधि के द्वारा आत्मा में आत्मा को देखता हुआ समाधि के द्वारा ही आत्म साक्षात्कार होता है।[30]

योग विषयक अनेक उपनिषद् ग्रन्थ हैं जिसमें बहुत विस्तार से ध्यान-धारणा, समाधि-योग के उपायों एवं साधनों की बहुत विस्तार से चर्चा हुई है। कठ, ईश, केन, बृहदा०, छान्दो०, श्वेता० में विशेषकर मन इन्द्रियों के संयम-समाधि-योग-प्राण-संयम-ध्यान आदि विषयों पर चर्चा हुई है।

मन की अवस्थायें : जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति

माण्डूक्य उपनिषद् में एक जगह ऊँकार का अर्थ समझाते हुए उसकी जाग्रत्—स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्थाओं से तुलना की गयी है। ऊँकार में अ-उ-म् इन तीन अक्षरों का संयोग होता है—इसमें अकार को जाग्रत् अवस्था—वैश्वानर बताया गया है—यह अकार प्रथम पाद—प्रथम मात्रा है जो सर्वत्र सुलभ है।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद।।[31]

आधुनिक मनोविज्ञान में इन अवस्थाओं की चर्चा हुई है विशेषकर स्वप्न की। फ्रायड ने स्वप्नों को

मनुष्य के अवचेतन मन में निहित अवदमित इच्छाओं की पूर्ति करने वाला बताया है। भारतीय दर्शनों में विशेषकर योगवाशिष्ठ आदि में इनका पर्याप्त अध्ययन हुआ है। आत्मचित्त घोर-शान्त-मूढ़-भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।[32] घोर जाग्रन्मय है। मुमुक्षु की दृष्टि से जाग्रत् को मिथ्या होने के कारण घोर कहा जा सकता है। जाग्रत् अवस्था में मन की प्रधानता एवं संकल्प की प्रमुखता पायी जाती है। मन संसार से अत्यन्त सम्बद्ध है। अतः जाग्रत् अवस्था को मन की भूमि मानना अनुचित नहीं होता।

स्वप्न—ऊँकार की व्याख्या करते हुए माण्डूक्योपनिषद् ने स्वप्नावस्था और तैजस् से उकार की तुलना की है। जो कि द्वितीय मात्रा है—

स्वप्नस्थास्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति।[33] स्वप्नमय चित्त को शान्त कहा गया है। जब इस संसार की वेदना ज्वालायें निर्वापित होने लगती हैं तब स्वप्नावस्था होती है अतः वह शान्त है। स्वप्न का निर्माण स्मृति विशेष से ही होता है और चित्त संस्कार भूमि है। अतः स्वप्न में चित्त की प्रधानता है। भारतीय विचारधारा में स्वप्न की घटना जीवात्मा की स्वतन्त्र रचना नहीं है, वह तो निमित्त मात्र है। वास्तव में सब कुछ जीव के कर्मानुसार उसकी शक्ति से ही होता है।

सुषुप्ति—जब बुद्धि और मन सुषुप्ति के कारण अभिभूत होते हैं, तब उनके बिना अहङ्कार वासनाओं का ज्ञान नहीं कर सकता है। अतः अहङ्कार की दृष्टि से सुषुप्ति मूढ़ावस्था है। सुषुप्ति में स्वप्न-दृश्य का अभाव हो जाता है।[34] उस समय जीवात्मा को संसार रूपी प्रपञ्च के उपभोग से विश्राम मिलता है तथा शरीर और इन्द्रियों की थकावट दूर हो जाती है। इस अवस्था में जीवात्मा की स्थिति कैसी होती है तथा जीवात्मा कहाँ रहता है, इस विषय में श्रुति कहती है, "जब जीव सुषुप्ति" अवस्था को प्राप्त होता है तब कुछ भी नहीं जानता। जो बहत्तर हजार हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय से निकलकर समस्त शरीर में व्याप्त हो रही हैं, उनमें फैलकर यह समस्त शरीर में व्याप्त हुआ शयन करता है।[35] अन्य उपनिषदों में ऐसा भी कहा गया है कि जब यह शयन करता हुआ किसी तरह का स्वप्न नहीं देखता और सब प्रकार से सुखी होकर नाड़ियों में व्याप्त हो जाता है। उस समय उसे कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकते।[36] इसका तात्पर्य यह है कि उस समय अनजाने में जीव के शरीर की किसी क्रिया द्वारा जीव की हिंसादि पाप, कर्म हो जाय, तो वह उसे नहीं लगता तथा कहीं ऐसा भी कहा है कि उस सुषुप्ति के समय पुरुष सत् से सम्पन्न होता है।[37] एक स्थान पर ऐसा वर्णन आया है कि उस समय परमात्मा के स्पर्श को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा न.तो बाहर की किसी वस्तु को जानता है और न शरीर के भीतर की ही किसी वस्तु को जान पाता है।[38]

माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार यह ऊँकार की तीसरी मात्रा मकार है—**सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीते र्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।**[39]

मानव के सारे कार्य सुख प्राप्ति के लिए होते हैं—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सुख की इच्छा को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी एक मूल प्रवृत्ति के रूप में मानते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् गैस्टाल्ट के अनुसार "अतीन्द्रिय सुख की इच्छा मनुष्य की प्रधान मूल प्रवृत्ति है किन्तु मनुष्य उस सुख की प्राप्ति का साधन नहीं जानता है और

अन्य प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि करके उस अलौकिक सुख को ढूंढ़ता है।" वस्तुतः यह गैस्टाल्ट का कथन भ्रान्त है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर महान् सुख और उसकी प्राप्ति के साधन वर्णित हैं। छान्दोग्य उपनिषद्[40] में महानतम और परम सुख को भूमा कहा है। यही वास्तविक सुख है। अल्प में (इन्द्रियजन्य सांसारिक सुखों में) सुख नहीं है। यह भूमा वह अवस्था है, जिसमें आत्मा अन्य वस्तु को नहीं देखता—अन्य शब्दों को नहीं सुनता और अन्य पदार्थ को नहीं जानता है। यह निरपेक्ष आत्मपद जिसमें वह अपनी महिमा में स्थिर होता है भूमा कहलाता है। अन्य समस्त सुख अल्प और नाशवान् हैं।

सन्दर्भ सङ्केत

1. अन्नमयं हि सोम्य मनः–छा0 6.5.4
2. Philosophy of Ancient India—Richard Garbe.
3. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः–निदिध्यासितव्यः–बृहदा0 2.4.5
4. कठो0 6/12
5. बृहदा0 16/4
6. बृहदा0 4-5-15 तथा शिवसंकल्प सूक्त यजु0 सं0 34-1-1.
7. सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्। पात0 योगसूत्र 1-10 का व्यासभाष्य
8. आत्मनः सत्ता मात्रं एव ज्ञानकर्तृत्वम्, न तु व्यापृततया,
   यथा सवितुः सत्ता मात्रं एव प्रकाशनकर्तृत्वम्। छान्दो0 8-1-25 पर शांकरभाष्य
9. आत्मानं रथिनं विद्धि–कठ0 1-3-3 तथा 1-3-4
10. कठ0 1-3-10-11
11. वाजसनेय संहिता
12. छान्दो0 उप0
13. मैत्रा0 उप0 4-30
14. ऐतरेय उप0 3-2
15. छान्दो0 7/4/2
16. चित्तो वाव संकल्पाद् भूयः– छान्दो0 7-5-1
17. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति– शुक्ल यजु0 34-1-1
18. भृगुवल्ली चतुर्थ अनुवाक
19. ब्रह्मवल्ली तीसरा अनुवाक
20. यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति– छान्दो0 7-5-1
21. वही 7-5-1
22. छान्दो0 7-5-2
23. छान्दो0 7-6-1-2
24. बृहदा0 1-5-2
26. कठो0 2/25
27. श्वेता0 2/4

28. श्वेता0 2/14
29. श्वेता0 2/15
30. शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति- बृहदा0
31. माण्डूक्य उप0 9
32. योग वासि0 124-36-38
33. माण्डूक्य0 10
34. तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च- बृहदा0 3/2/7
35. बृहदा0 2.1.19
36. छान्दो0 8.6.3
37. छान्दो0 6.8.1
38. बृहदा0 4.3.21
39. माण्डूक्य 11
40. यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुख। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति। छान्दो0 7.23.24

Conceptualisation of Manas in Early Vedānta

Dr. Prakash Pandeya ★

MANAS is considered to be one of the most complicated and almost nonperceptible principle of humān organism. In the history of philosophical thought, a number of theories, regarding the nature of mind (if we take as synonymous with MANAS), have been propounded, though some of these are still having complications. If we leave aside all complications of psychological analysis of mind, the metaphysical theories regarding the nature of mind can be summed up roughly, in three points—

(a) In perceptual theories of mind, it is defined in terms which regard to mind as best of most known through, possible aquaintance with its nature, by the given metaphysical theories, depending upon 'introspection' or 'intution' to bring about an easy or immediate aquaintance with mind. The so called animism could help these theories, providing the observations or perceptions of certain interesting processes within oneself. These processes include a number of humān feelings, embody many interests and characterize many of the activities of oneself. These activities are closely connected with the whole process of the life of organism. Afterall it is our body in whose fortunes each one of us is keenly interested. That which produces all these interests, vitalizes the body and forms a centre of his own apparent world for each one of us—this is the mind. And then mind strives and longs. It feels pain and pleasure. It prospers as the body prospers and suffers as body suffers.

(b) In predominantly conceptual theories, mind is either conceptualised as abstractly rational or as more inductive conceptual phenomenon as interpreted in the so called empirical psychologies of that time when these theories flourished.

(c) In theories making use of the cognitive process of interpretation, mind is an object to be known through interpretation. While its manifestations lie not merely in the fact that it

★ **Asstt. Director, Rashtriya Sanskrit Sansthan, Delhi**

controls or processes an organism, but in the fact that whether through or part from an organism it expresses its purposes to other minds. Hence, it not merely has or is a will that manifests or makes comprehensible its will, and not merely lives in and through itself, as a monad or substance; but is in essence a mode of self-expression which progressively makes itself known either to its fellows or to minds above or below its grade.

So mind, as a central organ of cognitive process or synthetic energy of consciousness or emboding manifesting principle of volition has been interpreted in given metaphysical theories, and accepted as a proper corresponding term for Upaniṣadic MANAS, is not elucidated as it is conceptualised as a synthetic character. While in early Upaniṣads MANAS is interpreted in its pure and discriminative character. It may be primitive interpretation for modern psychologists, but has been accepted and entertained by Ancient medical scientists uniformly and no contradiction or interruption, in this regard is found on record in our recollections, so far.

Early Upaniṣads, while interpreting the nature of spiritual element (ātman), had to face the problems regarding its state of pure consciousness. They had observed processes of monadic nature of pure consciousness, which the Sāṁkhya school of philosophy had been later, cristalized. If the pure consciousness is monadic in nature, how can the acts of distinguishing or determinatory capabilities, longings be interpreted because all these are lucid reflections of consciousness. None of these can be understood or even conceptualised without conscious principle. So, conceptualisation of MANAS gained ground as a golden mean between the pure-conscious principle and the processes flourised by it. Praśna Upaniṣat says 'The constituents of a living entity are—vital process of life (i.e., Prāṇa, vyāyna, apāna, udāna and Samāna); senses of vision, hearing speaking and feeling; skin, flesh, veins and nerves, bones, marrow and the MANAS.[1]''

In this conception the MANAS represents the conscious element which is not enumerated in aforesaid constituents of body. The same Upaniṣad further says—'The Prāṇa tattva or vital force of life or spiritual embodiment is produced from pure-conscious principle. This spiritual embodiment pervades in the humān body like that of shadow. This pervasion or manifestation of consciousness in the body takes place only when it gets MANAS as its substratum.[2] In an oft-quoted illustration—'ratharūpaka' of Kaṭha Upaniṣad (1/3) MANAS is conceptualised as a bridle or controling instrument of organic processes and also in processed or controlled by its another dimention—BUDDHI. 'the principle of determination'. In this instance MANAS seems to be an uncoscious principle vitalised by a conscious element; but in forthcoming lines the principle of determination (buddhi) becomes

synonymous with the principle of skill (vijñāna) while vijñāna replaces MANAS and becomes bridle of horses of sense organs (vide Kaṭha 1.3.9). Again all these three principles (buddhi, vijñāna, MANAS) are illustrated in one term—sattva 'the energy of existence.'[3]

The Praśna Upaniṣad (4.2) illustrates the subordinative nature of the faculties of knowledge as well as action. It also elucidates the conception of MANAS as centre of the organism through the following words—'at the time of sun-set the rays of sun gather into and unified with the sphere of light, and during the sun-rise those very rays come out of the sphere again and again. Similarly, all the activities of the senses consolidate in the supreme illumined centre MANAS and that is why one, who is in the state of slumber, does not have activities like hearing, seeing, smelling tasting etc. yet his sleeping is acknowledged.' This conception of MANAS the centre of organic life gradually elaborated hence, MANAS is not considered as an organ but the centre for exposition of spiritual element in early Vedānta.

Taittirīya Upaniṣad allocates this centre in the physical body—'The conscious principle (Puruṣa) consisting of MANAS (manomaya) is seated in the space of internal void of heart. He is eternal, he is illumined.[4] In the Upaniṣadic enigmatic epithet of Tajjālan (=Brahman), it is elaborated that if the absolute Brahman, considers to be extrovert, desires to expose the universe and wishes to be creater, he becomes manomaya—synthesised with MANAS and then he manifests his great universal form where the forces of life (Prāṇa Śarīraḥ) are his body, the illumination is his visibility (bhārūpaḥ), his volitions are ever achieved (satyasaṅkalpa), he is the supreme doer (sarvakarma), the supreme desirous (sarvakāmah) smells all (sarvagandhaḥ), tastes all (sarvaraśaitā) and what more he is the all pervading.[5] The same Upaniṣad further says—'MANAS is the abode of all interests of self[6], while Bṛhadāraṇyakopaniṣad illustrates MANAS as flourishing centre of all ideas.[7] 'The entity of which (self—the synthetic conscious principle) is desire, seat is heart, MANAS is the illuminative principle.[8] Bṛhadāraṇyakopaniṣad suggests modes or dimensions of MANAS when it says—'longing, volition, doubt, determination, uncertainty, modesty, thought, fear are nothing but MANAS.[9]

Aitareya upaniṣad culminates the indefinite character of MANAS in a passage which runs as follows—

'Who is that ātman whom we worship, in which form can we percieve, is that by whom the self percieves visible ones, by whom listens, by whom smells the fragrances, by whom speaks the speeches, by whom determines bad or good taste, that is this heart-the MANAS is that. Right conception (sanjñāna) illusive perception (ajñāna), distinctive

knowledge (vijñāna), prudence (prajñāna), mental vigour (medhā), oblation (iṣṭi) resolution (dhṛti), wisdom (mati) consideration (manīṣā), instigation (jūti), remembrance (smṛti), Volition (saṅkalpa, inspiration (kratu), vital breath (asu), longing (kāma), authority (vasa) all these are mere modes or dimensions (nāmadheyāni) of Prajñāna, principle of dicernment or feeling, (and that is, none other than the MANAS).[10]

These illustrations conceptualise MANAS, in Upaniṣadic style of interpretation, as centre for organic processes as well as conscious will. MANAS is also allocated, in the physical body, according to early Upaniṣads, amidst a particular space or voidness in the inner sight of heart. The MANAS is transorganic element yet illumined centre of all faculties of knowledge and action. No reflection of consciousness or process of cognition is possible without it. Life excluding MANAS is nothing; but state of coma.

It is also interesting to know that this Upniṣadic conception of MANAS was adopted as such and elaborated in Ancient Indian sciences i.e. in the theories of Ancient Indian medical science and monistic schools of Tantra in as much as they are schools of practical metaphysics. I shall discuss it in a separate article later.

References & Notes

1. Athādhyātmam//Prāṇovyāno'pānaudānah Samanaḥ//cakṣuh śrotram mano vāk tvak//carma maṃsam snāy'vasthi majjā// Praśnopniṣat 7/11
2. Ātmana eṣa prāṇo jāyate yathaiṣā puruṣe chāyaitasminnetadātatam mano' dhikṛtenayātysmi'ñcharīre// Ibid, 3/3
3. Kaṭha 1.3.10-11
4. Ya eṣo'ntṛhdaya ākāśaḥ//
   Tasminnayam puruṣo manomayaḥ/Amṛto hiraṇmayaḥ// Taittirīya Upaniṣat, 6/1
5. Chāndogyo'paniṣat, 3/14/2
6. Āyatanam vedāyatanam ha svānām bhavati mano ha va āyatanam// Ibid. 5/1/1
7. Saṅkalpānām mana ekāyanam//
   Bṛhadāraṇyako'paniṣat 4/11
8. Kāma eva yasyātanam hṛdayam loko mano jyotih// Ibid. 9/11
9. Kāmaḥ Saṅkalpo vicikitsā Śraddha'śraddā dhṛtir'adhṛtir'hrir'dhir' bhīrityetatsarvam mana eva// Ibid. 4/3fc
10. Aitareyopaniṣad, 3/1-2, compare with Śukla yajurveda 34/3 also.

❐

उपनिषद् वाङ्मय में सुषुप्ति की अवधारणा

डॉ० वेदवती वैदिक ★

यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म है। यह आत्मा चतुष्पात् है।[1] जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार ही आत्मा के पाद अर्थात् स्थान हैं। उपनिषद् वाङ्मय में आत्मा के परमस्वरूप का वर्णन निषेधपरक वाक्यों से किया गया है। यह आत्मा निष्कल, निष्क्रिय, निरवद्य, निरञ्जन है।[2] यह साक्षी चेता, केवल और निर्गुण है।[3] आत्मा शब्द रहित, रूप रहित, स्पर्शरहित और अविनाशी है। यह 'नेति नेति'[4] है। आपाततः यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आत्मा 'नेति नेति' है तो उसी आत्मा के 'चतुष्पात्' कैसे संभव हैं? भाष्यकार शंकराचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'आत्मा के ये जो चार पाद वर्णित किये गये हैं वे 'कार्षापण' के समान हैं।' कार्षापण किसी देश-विशेष में प्रचलित सिक्के का नाम है। यह सोलह पण का होता है। जैसे पहले एक रुपये में चार चवन्नी अथवा एक सेर में चार पाव होते थे वैसे ही कार्षापण[5] में चार अंश होते हैं। आत्मा के चार पाद का तात्पर्य यह है कि उसमें भी चार अंश होते हैं। अतः आत्मा के चार पाद 'कार्षापण' सिक्के के समान होते हैं, गौ के चार पादों (पांवों) के समान नहीं होते हैं।[6] सिक्के के चार अंश कार्षापण में ही होते हैं। (चारों अंश मिलकर कार्षापण का निर्माण करते हैं।) अतः आत्मा के चार पाद कार्षापण की भांति ही होते हैं। आत्मा के चार पादों में भी प्रथम तीन पाद—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ अर्थात् पूर्व-पूर्व पाद का उत्तर-उत्तर पाद में लय हो जाता है और अन्त में 'तुरीय' (चतुर्थ) पद की प्राप्ति होती है। अतः आत्मा के प्रथम तीन पादों में 'पाद' शब्द 'करणवाच्य' है अर्थात् जिससे प्राप्त किया जाये और 'जो प्राप्त किया जाये वह चतुर्थ पाद यानी कि 'तुरीय' है।' इसीलिए इसमें 'कर्मवाच्य' का प्रयोग है।[7]

सुषुप्ति

चतुष्पाद आत्मा का तृतीय पाद है—'सुषुप्ति'। इस शोध निबंध का केन्द्र यही तृतीय पाद है। सुषुप्ति शब्द सु+स्वप् में क्तिन् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है। लोकभाषा में इसका अर्थ है—प्रगाढ़ निद्रा, गहरी नींद। दार्शनिक भाषा में इसका अर्थ है—सत्त्वप्रधान अज्ञान। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति वह अवस्था है जिसमें सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता है और न किसी भोग की इच्छा करता है।

★ अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, श्री अरविन्द महाविद्यालय (सांध्य) दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कश्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।[8]

पातञ्जल योगदर्शन में सुषुप्ति चित्त की वह वृत्ति या अनुभूति है जिसमें जीव नित्य ब्रह्म की प्राप्ति करता है किन्तु जीव को इस बात का ज्ञान नहीं रहता है कि उसने ब्रह्म की प्राप्ति की है।

आत्मा के तीन आवसथ

ऐतरेयोपनिषद् में वर्णित है कि आत्मा ने शरीर की सीमा अर्थात् मूर्द्धा को विदीर्ण करके इसी के द्वारा शरीर में प्रवेश किया। इसीलिए यह द्वार 'विदृति' नाम वाला है। यह 'नान्दन' है अर्थात् आनन्दप्रद है। नन्दन को ही नान्दन कहा गया है। नान्दन का अर्थ है कि यही आनन्दप्रद है। इसका तात्पर्य यह है कि इस मार्ग से जाकर पुरुष परब्रह्म में आनन्द प्राप्त करने लगता है। जैसे राजा अपनी नगरी में प्रवेश करता है, उसी प्रकार परम तत्त्व जीव रूप से देह में प्रवेश करता है। शरीर में ईश्वर के तीन आवसथ बताये गये हैं[9]—1. जाग्रतावस्था में इन्द्रियों का स्थान दक्षिण नेत्र है; 2. स्वप्नकाल में मन के भीतर रहता है; 3. सुषुप्तिकाल में हृदयाकाश के अन्दर रहता है अथवा 1. पितृदेह, 2. मातृगर्भाशय और 3. अपना ही शरीर—आत्मा के ये तीनों ही आवसथ हैं।

तीन स्वप्न[10]

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों को तीन स्वप्न कहा गया है परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रबोध रूप के कारण जाग्रत कैसे स्वप्न हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार शंकराचार्य[11] कहते हैं कि 'जाग्रत अवस्था भी स्वप्न ही है। कैसे? क्योंकि इस अवस्था में भी परमार्थ आत्मस्वरूप का बोध नहीं होता है और स्वप्न के समान असत् वस्तुएं ही दिखाई देती हैं। अत: जाग्रतावस्था भी स्वप्न है। उन आवसथों में यह दक्षिण नेत्र ही प्रथम है, मन का अन्तर्भाग द्वितीय है और हृदयाकाश तृतीय है।' माण्डूक्यकारिककार का कथन है कि 'सांसारिक विषयों एवं पदार्थों का ग्राह्यग्राहकत्वरूप समान होने के कारण विवेकी पुरुषों ने स्वप्न और जाग्रति को एक ही बताया है।'[12]

सुषुप्ति आत्मा का विश्रान्ति स्थान

जिस प्रकार आकाश में श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण (तेज उड़ने वाला बाज) पक्षी चहुं दिशाओं में विहरण का, सब ओर ऊँची-ऊँची उड़ाने भरकर थक जाने पर अपने पंखों को फैलाकर सांझ को पुन: श्रमनिवृत्ति के लिए अपने नीड़ की ओर लौट आता है वैसे ही दिन भर कार्य करने के बाद थककर यह जीव विश्रान्ति हेतु एवं श्रम निवृत्ति के लिए सुषुप्तिरूपी नीड़ में लौट आता है।[13] जब यह जीव गहरी नींद में सोता है तब वह न तो किसी भोग की इच्छा करता है और न ही कोई स्वप्न देखता है।[14] **'न कञ्चन कामम्'** इस वाक्य के द्वारा श्रुति स्वप्न और जाग्रत के सभी भोगों का समानरूपेण निषेध करती है। इसी प्रकार **'न कञ्चन**

स्वप्नम्' इस वाक्य से भी यही समझना चाहिए कि जाग्रत में भी जो कुछ देखा जाता है उसे भी श्रुति स्वप्न ही मानती है। इसी से श्रुति कहती है कि कोई स्वप्न नहीं देखता।[15] ऐतरेयोपनिषद् में भी जाग्रतावस्था को स्वप्न ही बताया गया है।

सुषुप्ति में जीव का आत्मा में प्रवेश

जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में देहेन्द्रिय के संयोग से होने वाले क्रियाफलों से संयुक्त हुए जीवन को, श्रम होता है वह श्रम-निवृत्ति के लिए अपनी नीड़ यानी कि निवास स्थान अर्थात् सम्पूर्ण संसार धर्मों से विलक्षण तथा सब प्रकार के क्रिया, कारक और फल के श्रम से रहित अपने आत्मा में प्रवेश करता है।[16] आत्मा का स्थान हृदय में ही माना गया है। 'वह यह आत्मा हृदय में है।' 'हृदि अयम्' यही इसकी निरुक्ति है—

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं, हृद्ययमिति तस्माद्धृदयम्।[17]

अतः जब यह कहा जाता है कि सुषुप्ति में जीव अपने नीड़ में प्रवेश करता है तो इसका तात्पर्य यही होता है कि वह हृदय में ही प्रवेश करता है। इसका तात्पर्य यह कथमपि नहीं होता है कि तब जीवन-मुक्त आत्मा की भांति जीव अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह स्थिति तो पूर्ण बोध (ज्ञान) होने पर ही होती है। सुषुप्ति में सुषुप्त जीव का अव्याकृत माया के अंशभूत कारण शरीर से सम्बन्ध बना रहता है परन्तु वह कुछ क्षणों के लिए हर्ष शोकादि की अनुभूति से रहित होजाता है। सुषुप्ति में जीव ब्रह्म में कारण शरीर के साथ प्रवेश करता है इसलिए उसे किसी भी वस्तु का भान नहीं रहता है।

सुषुप्ति का पर्याय 'सम्प्रसाद'

बृहदारण्यकोपनिषद् में सुषुप्ति को 'सम्प्रसाद' की संज्ञा दी गई है। 'सम्प्रसाद' शब्द सम्+प्रसद्+धञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। सुषुप्ति में आत्मा सम्यग्रूपेण प्रसादयुक्त यानी कि प्रसन्न होता है इसलिए सुषुप्ति को सम्प्रसाद[18] कहा गया है। जाग्रतावस्था में देह और इन्द्रियों के सैकड़ों व्यापारों के सम्बन्ध से जो क्लेश और दुःख होते हैं उनसे जीव स्वप्न में मुक्त हो जाता है। फलस्वरूप वह स्वप्नावस्था में थोड़ा-सा प्रसन्न होता है किन्तु सुषुप्ति में वह सम्यक्रूपेण प्रसन्न होता है। इसलिए इसे 'सम्प्रसाद' कहा गया है। इस अवस्था में वह सम्पूर्ण शोकों से पार हो जाता है।[19]

लोक में जैसे अपनी प्रिय भार्या का सम्यक् रूपेण आलिङ्गन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का। वह आलिङ्गन के बाद एकाकार हो जाता है और 'मुझे से भिन्न कोई दूसरी वस्तु है'[20] ऐसा नहीं जानता। वैसे ही यह पुरुष प्राज्ञात्मा से सम्यग्रूपेण आलिङ्गित होने पर न कुछ बाहर का जानता है न भीतर का परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि वह क्यों नहीं जानता? सुषुप्ति में उसके न जानने का कारण है— 'एकत्व'। एकत्व का तात्पर्य आत्मा का अद्वैत बोध नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में यह बोध न तो होता है और न ही

संभव है। इस अवस्था में चित्त का भी लय हो जाने से कुछ क्षण के लिए नानात्व का भान नहीं होता है। फलस्वरूप 'एकत्व' को न जानने का हेतु बताया गया है। इतना ही नहीं सुषुप्ति से जागने पर मनुष्य को यही अनुभव होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया, मैंने कुछ नहीं जाना।[21] सुषुप्ति से जीव पुनः स्वप्नावस्था में आता है। महर्षि याज्ञवल्क्य राजा जनक को उपदेश देते हुए बताते हैं कि 'यह आत्मा इस सुषुप्ति में रमण और विहार कर पुण्य-पाप को केवल देखकर जैसे आया था और जहाँ से आया था, वहाँ से पुनः स्वप्नस्थान को लौट आता है परन्तु वहाँ जो कुछ वह देखता है, उससे असंबद्ध रहता है, क्योंकि यह पुरुष 'असंग' है।[22] इसी प्रकार यह जाग्रत से स्वप्न[23] और स्वप्न से सुषुप्ति, सुषुप्ति से स्वप्न[24] अथवा जाग्रतावस्था में लौट आता है। जैसे एक महामत्स्य नदी के पूर्व और अपर दोनों तीरों पर क्रमशः संचार करता है उसी प्रकार पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों स्थानों में क्रमशः संचार करता है।[25] अतः सुषुप्ति जीव की स्वरूप-स्थिति कथमपि नहीं होसकती।

सुषुप्ति में आत्मा की स्थिति

सुषुप्ति में आत्मा आप्तकाम, अकाम, आत्मकाम और शोकशून्य हो जाती है।[26] इससे कोई यह न समझ ले कि सुषुप्ति में जीव वस्तुतः आत्मनिष्ठ, अद्वितीय एवं सर्वात्मा हो जाता है। यह तो बोधवान् व्यक्ति का स्वरूप है, जो जीव किसी अवस्था विशेष (सुषुप्ति) से अविच्छिन्न होगा, वह सर्वात्मा कैसे हो सकता है? इसका इतना ही तात्पर्य है कि 'सुषुप्ति में कुछ भी भान नहीं रहता है परन्तु वह सुषुप्ति से जाग्रतावस्था में आता है। उसको सर्वात्मभाव का बोध नहीं रहता क्योंकि जब तक अविद्या का आवरण दूर नहीं होता यह सर्वात्मभाव का बोध संभव नहीं है। अतः यह जीव की स्वरूप स्थिति नहीं है। स्त्री पुरुष के मिलन और एकाकार का दृष्टान्त केवल तत्त्व को समझाने के लिए एकदेशीय दृष्टान्तमात्र है, मुक्त पुरुष की तो किसी दूसरे से तुलना ही नहीं की जा सकती है।'

सुषुप्तावस्था सब धर्मों से परे है

सुषुप्ति सभी धर्मों से रहित अवस्था है। इस अवस्था में पिता अपिता और माता अमाता हो जाती है। क्यों? क्योंकि पुत्र को जन्म देने के कारण ही पुत्र के प्रति माता-पिता का भाव होता है। उस पिता-पुत्र सम्बन्ध का निमित्त 'कर्म' होता है। सुषुप्ति में पिता उस हेतुभूत कर्म से रहित हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था में पिता अपिता हो जाता है। इसी प्रकार पुत्र भी पिता का अपुत्र हो जाता है क्योंकि दोनों ही के सम्बन्ध का कारण कर्म है। सुषुप्ति में जीव इन सम्बन्धों का अतिक्रमण कर जाता है इसीलिए इस अवस्था में जीव को 'अपहतपाप्मा'—अर्थात् पापरहित कहा जाता है। कर्म से जीते जाने वाले 'लोक' कर्म सम्बन्ध के न रहने के कारण 'अलोक' और कर्म के 'अङ्गभूत 'देवता' उसका अतिक्रमण हो जाने पर 'अदेव' तथा मन्त्रात्मक 'वेद' 'अवेद' हो जाते हैं।[27] इसका तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति में जीव केवल शुभकर्मों के सम्बन्धों से ही परे नहीं

होता है वह अशुभ अर्थात् घोर कर्मों से भी असंबद्ध ही रहता है।[28] इसलिए इस अवस्था में चोर-अचोर हो जाता है, चाण्डाल अचाण्डाल और पौल्क्स (शूद्र से क्षत्राणी में उत्पन्न हुआ पुल्कस ही पौलक्स होता है) अपौल्कस हो जाता है।

सुषुप्ति में पुरुष आश्रम सम्बन्धी कर्मों से भी असम्बद्ध हो जाता है। इसीलिए श्रुति कहती है कि 'श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाता है। इतना ही नहीं वह पुण्य-पाप से भी असम्बद्ध रहता है परन्तु यहाँ प्रश्न पुनः उपस्थित होता है कि इस असम्बद्धता का कारण क्या है? इसका कारण यह है कि सुषुप्ति में जीवन सम्पूर्ण शोकों को पार कर जाता है। शंकराचार्य शोक शब्द का अर्थ 'काम' करते हैं। **'शोकाः कामाः'**[29]। क्योंकि इष्ट अर्थात् इच्छित विषयों की प्रार्थना ही उस विषय का वियोग होने पर शोकरूप हो जाती है। फलस्वरूप मनुष्य सन्तप्त होता है और दुःखी होता है। शोक, आरति और काम ये पर्यायवाची शब्द हैं। सुषुप्ति में मनुष्य सभी कामनाओं से पार हो जाता है क्योंकि श्रुति में वर्णित है कि 'जीव इस अवस्था में किसी काम की कामना नहीं करता।' वह 'अतिच्छन्दा'[30] हो जाता है। 'छन्द' कहते हैं 'काम' को।[31] अतः जब छन्द यानी कि काम की निवृत्ति हो जाती है तभी वह अतिच्छन्दस्वरूप कहलाता है। सुषुप्ति में जीव हृदय रूप इन्द्रिय के सम्बन्ध से भी परे हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह हृदयश्रित काम से भी परे हो जाता है। काम हृदय में ही आश्रित रहते हैं। इस अवस्था में वह किसी भी प्रकार के काम की कामना नहीं करता है।[32] क्योंकि आत्मा को कामाश्रयत्व की प्राप्ति बुद्धि के कारण होती है। काम को यदि आत्मा का आश्रयभूत माने तो आत्मा 'असंग' कैसे होगी? क्योंकि 'सङ्ग' का अर्थ ही 'काम'[33] है, 'आसक्ति' है। देह और इन्द्रियों के संश्लेष से ही कर्तृत्व होता है। पुरुष स्वरूपतः 'अमूर्त' है और 'अमूर्त' क्रियावान् हो नहीं सकता है। अतः अमूर्त ही असंग होता है। अतः यह स्वप्नदृष्ट आत्मा पुण्य-पाप से असंश्लिष्ट रहता है। यह चैतन्यज्योतिःस्वरूप आत्मा सबको अपने चैतन्यरूप से प्रकाशित करता है परन्तु यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आत्मा स्वयंज्योति स्वरूप यानी कि चैतन्यस्वरूप है तो सुषुप्ति में परमात्मा के साथ एकत्व होने पर भी वह अपने स्वभाव को कैसे छोड़ देता है जिसे कि वह सुषुप्ति में नहीं जानता। यदि वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है तो सुषुप्ति में देखता क्यों नहीं है? वह चैतन्यस्वरूप भी है और इस अवस्था में दूसरे को नहीं जानता—ये कथन तो सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

ये प्रश्न ठीक नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों बातें सम्भव है। सुषुप्ति अवस्था में वह नहीं जानता या नहीं देखता। इसका तात्पर्य यह है कि वह उस अवस्था में देखता हुआ भी नहीं देखता है परन्तु पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि सुषुप्ति में चक्षु या मन या कोई भी इन्द्रिय व्यापार करने वाली नहीं होती है। दर्शन और श्रवण तभी होता है जब इन्द्रियों का व्यवहार होता है। सुषुप्ति में इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं, इसलिए वे अपने-अपने कार्य भी नहीं करतीं। इसलिए यह कहा जाता है कि सुषुप्ति में पुरुष नहीं देखता है परन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं। क्यों? क्योंकि इन्द्रियों के अपने-अपने कार्य-दर्शन; श्रवणादि से विरत हो जाने पर भी पुरुष देखता है। कैसे? क्योंकि सुषुप्ति में द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि हमारी आँख स्वयं नहीं देखती है। वह जिस तत्त्व से प्रेरित होकर देखती है, वही 'द्रष्टा' है। द्रष्टा अर्थात् दर्शन क्रिया के कर्ता की जो दृष्टि है, उस दृष्टि का तो कभी विपरिलोप

अर्थात् नाश होता ही नहीं है।[34] इसीलिए उस द्रष्टा को 'चक्षुषः चक्षुः'[35] कहा गया है। जैसे अग्नि की उष्णता अग्नि की सत्ता तक रहने वाली है वैसे ही 'द्रष्टा' अविनाशी है। आत्मा (द्रष्टा) अविनाशी है तो आत्मा की दृष्टि भी अविनाशी है और वह द्रष्टा की स्थिति तक रहने वाली है परन्तु पुनः प्रश्न उठता है कि 'द्रष्टा की वह दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता—यह कथन तो परस्पर विरुद्ध है। दृष्टि तो द्रष्टा द्वारा ही की जाती है। दृष्टि कर्ता होने के कारण ही वह द्रष्टा कहा जाता है। **दृष्टिकर्त्तत्वाद्धि द्रष्टेत्युच्यते।**[36] द्रष्टा के द्वारा दृष्टि की जाने वाली है और उसका लोप नहीं होता—यह कैसे कहा जा सकता है?

यह प्रश्न कथमपि ठीक नहीं है। जैसे आदित्यादि का स्वभाव है—नित्यप्रकाश। वह अपने इस स्वभाव के कारण ही वस्तुओं को प्रकाशित करता है। वैसे ही आत्मा भी अपनी अविनाशस्वरूपा नित्यदृष्टि के कारण 'द्रष्टा' कहलाता है।[37] अतः द्रष्टा की दृष्टि का सुषुप्ति में कभी लोप नहीं होता है परन्तु फिर यह क्यों कहा जाता है कि वह सुषुप्ति में नहीं देखता? क्योंकि इस अवस्था में प्रत्यगात्मा का परमात्मा के साथ आलिङ्गन होने के कारण वह एकाकार हो जाता है। इसलिए इन्द्रिय और विषय पृथक् रूप से विद्यमान नहीं रहते और उनका अभाव होने के कारण विशेष दर्शन भी नहीं होता। सुषुप्ति में वह इसलिए भी नहीं देखता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा कुछ और होता ही नहीं है जिसे वह देखे।[38] वह जो नहीं सूंघता सो सूंघता हुआ ही नहीं सूंघता। सूंघने वाले की गन्धग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस सुषुप्ति अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं जिसे वह सूंघे। वह जो रसास्वाद नहीं करता सो वह रसास्वाद करता हुआ ही नहीं करता। रसास्वाद करने वाले की रसग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसका वह रस ग्रहण कर सके। वह जो नहीं बोलता है सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता। वक्ता की वचन शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, जिसके विषय में वह बोले। वह जो सुनता नहीं सो सुनता हुआ ही नहीं सुनता। श्रोता की श्रवणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके विषय में वह सुने। वह जो मनन नहीं करता सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता। मनन करने वाले की मनन शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता। क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु होती ही नहीं है जिसका वह मनन करे। वह जो स्पर्श नहीं करता सो स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करने वाले की स्पर्शशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसका वह स्पर्श करे।[39] वह जो नहीं जानता सो नहीं जानता हुआ ही नहीं जानता। विज्ञाता की विज्ञाति यानी कि. विज्ञान शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं होता, जिसे वह विशेष रूप से जाने। अविनाशी आत्मा तो स्वयं द्रष्टा, घ्राता, रसयिता, वक्ता, श्रोता, मन्ता, स्प्रष्टा और विज्ञाता है।[40]

जाग्रत और स्वप्नावस्था में आत्मा से भिन्न अन्य कोई वस्तु होती है इसीलिए वह अन्य, अन्य वस्तु को देख सकता है, अन्य, अन्य वस्तु को सूंघ सकता है, अन्य, अन्य का आस्वादन कर सकता है, अन्य, अन्य को

बोल सकता है, अन्य, अन्य को सुन सकता है, अन्य, अन्य का मनन कर सकता है, अन्य अन्य का स्पर्श कर सकता है, अन्य, अन्य को जान सकता है।[41] परन्तु सुषुप्ति में वह एक अद्वैत द्रष्टा है, कैसे? जैसे समुद्र में सब नदियां आकर एक हो जाती हैं वैसे ही सुषुप्ति में आत्मा में समस्त इन्द्रियवर्ग आकर एक हो जाता है। इन्द्रियों की पृथक्-पृथक् शक्तियां नहीं हैं। आत्मा की एक चेतन शक्ति ही विभिन्न रूप धारण करती है। प्राणनक्रिया करने के कारण ही आत्मा प्राण, बोलने के कारण वाक्, देखने के कारण चक्षु, सुनने के कारण श्रोत्र और मनन करने के कारण मन कहलाती है। ये आत्मा के कर्मानुसारी नाम हैं।[42] इसलिए आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन और वाणी की वाणी है। वह प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है।[43] अतः एक हीं चेतन तत्त्व विभिन्न रूपों में भासता है। जैसे समुद्र के बीच में पहुंचकर चारों तरफ पानी ही पानी होता है वैसे ही सुषुप्ति में आत्मा ही आत्मा रह जाती है और कुछ नहीं रहता क्योंकि आत्मा में ही सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग लीन हो जाता है। इसीलिए उसे 'अद्वैत' कहा गया है क्योंकि उस समय उससे भिन्न किसी दूसरे की सत्ता नहीं रहती है। उस अवस्था में केवल एक 'द्रष्टा' ही रहता है। आत्मज्योतिस्वरूप दृष्टि का लोप न होने के कारण वह 'द्रष्टा' है तथा अन्य द्रष्टव्य का अभाव होने के कारण वह 'अद्वैत' कहलाता है।[44]

यह ब्रह्मलोक है। पुरुष की यह परमगति है। सुषुप्ति में आत्मा देहेन्द्रियरूप सभी सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है और आत्मज्योति में विद्यमान रहता है। जाग्रतावस्था में जीव आदित्यज्योति से ही बैठता है, सब ओर जाता है, कर्म करता है और लौट आता है।[45] जब आदित्यज्योति अस्त हो जाती है तो वह चन्द्रमा की ज्योति[46] के द्वारा कार्य करता है। आदित्य और चन्द्रमा की ज्योति जब अस्त हो जाती है तो अग्नि[47] ही उसकी ज्योति होती है। जब आदित्य और चन्द्रमा अस्त हो जाते हैं और अग्नि भी शान्त हो जाती है तब वाग्ज्योति[48] ही उसकी ज्योति होती है। वह वाणी रूप ज्योति से अनुगृहीत होकर व्यवहार करता है। कैसे? जब वर्षाचल में मेघ के अन्धकार में काले-काले बादल उमड़-घुमड़कर आते हैं तो सारी पृथ्वी पर अन्धकार छा जाता है और हाथ को हाथ नहीं सूझता तब बाह्यज्योतियों का अभाव हो जाने पर वाणी के द्वारा ही पुकारे जाने पर हम एक दूसरे के पास चले जाते हैं। उस शब्दरूप ज्योति से श्रोत्र और मन की निरन्तरता हो जाती है। अतः उस समय मनुष्य वाणी रूप ज्योति से ही कर्म करता है परन्तु सुषुप्ति में जब सब ज्योतियाँ शांत हो जाती हैं तब वह किस ज्योति से कार्य करता है? तब वह आत्मज्योति[49] से ही कार्य करता है। वह आत्मज्योति के द्वारा ही सुषुप्ति से उठकर यानी कि जागकर कहता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं।' आत्मज्योति से ही जागता है। पुनः इधर-उधर जाता है, कर्म करता है और फिर लौट आता है। अतः सुषुप्ति में आत्मज्योति ही विद्यमान रहती है वह 'द्रष्टा' है। यही इस पुरुष की परमगति है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा से लेकर स्तंबपर्यन्त विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने वाली गतियां अविद्या से कल्पित हैं। इसलिए उन सभी गतियों को निकृष्ट माना गया है किन्तु सुषुप्ति में यह जो सर्वात्मभाव है वह परम गति है जहाँ पुरुष किसी अन्य को न देखता है, अन्य को न सुनता है और अन्य को न जानता है। यही 'परम सम्पत्' है। किसी अन्य कर्म के द्वारा प्राप्त न होने के कारण यह परमलोक है। यह 'परम आनन्द' है। सम्पूर्ण संसार के प्राणी जिस भौतिक एवं सांसारिक आनन्द को प्राप्त करते हैं वह इस परम आनन्द की छोटी-छोटी मात्रा का ही उपभोग करते हैं।[50] दूसरे इन्द्रियों के सम्बन्ध से होने

वाले जो सांसारिक भोग-विलास और आनन्द हैं उनकी अपेक्षा सुषुप्ति का आनन्द उत्कृष्ट है। क्योंकि यह आनन्द नित्य है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह आनन्द नित्य कैसे है? क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि 'जो भूमा है निश्चय से वही सुख है।'[51] सुषुप्ति के अतिरिक्त जीव जाग्रत् और स्वप्नावस्था में अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है। वह अन्य अल्प है, मर्त्य और अनित्य सुख है।[52] अत: सुषुप्ति में परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

सुषुप्ति और स्वप्नान्त

उपनिषद् वाङ्मय में स्वप्नावस्था[53] और सुषुप्ति[54] दोनों के लिए 'स्वप्नान्त'[55] शब्द का प्रयोग मिलता है। जाग्रतावस्था के लिए 'बुद्धान्त' शब्द मिलता है। अत: 'अन्त' शब्द के दो अर्थ हैं—(1) स्थान[56] जैसा कि स्वप्नान्त (स्वान स्थान) में प्रयोग किया गया है और 'बुद्धान्त' (बुद्ध स्थान) में। (2) सुषुप्ति[57] जैसा कि महर्षि उद्दालक ने 'स्वप्नान्त' का अर्थ सुषुप्ति किया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी बृहदारण्यक उपनिषद् में अन्त शब्द के दोनों अर्थ किये हैं। सुषुप्ति को जीव का विश्रान्ति स्थान बताते हुए कहते हैं कि 'जैसे तीव्र गति वाला बाज आकाश में सब ओर उड़कर थक जाने पर, अपने पंख फैलाकर सायं अपने नीड़ में विश्रान्ति के लिए लौट आता है वैसे ही यह पुरुष दिन भर के कार्य से थककर विश्रान्ति हेतु इस 'अन्त' यानी कि स्थान (सुषुप्ति) के प्रति दौड़ता है।[58] भाष्यकार शंकराचार्य 'अन्त' शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'अन्त' शब्द उस स्थान का विशेषण है, जिस स्थान में शयन करने पर यह किसी भोग की इच्छा नहीं करता और इसी प्रकार न किसी स्वप्न को देखता है। अत: यहाँ 'अन्त' शब्द का अर्थ 'सुषुप्ति' अवस्था और स्थान दोनों है।

सुषुप्ति और स्वपिति

सुषुप्ति को 'स्वपिति' भी कहा गया है। जिस समय 'स्वप्नान्त' होता है अर्थात् सुषुप्तावस्था होती है, उस समय जीव अपने 'स्व' अर्थात् अपने स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है। 'स्वप्नान्त' (अवस्था) कब होती है? जब सोने वाले जीव का 'स्वपिति'[59] ऐसा नाम होता है। लोक में 'स्वपिति' का अर्थ है—सोता है। इसे स्वपिति क्यों कहा गया है? क्योंकि 'स्वप्नान्त' में यह जीव 'सत्' से सम्पन्न हो जाता है। 'सत्' से सम्पन्न होने का तात्पर्य यह है कि वह 'स्व' अर्थात् अपने स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है। इसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं क्योंकि उस समय वह अपने स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है।

परन्तु आपातत: यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सुषुप्ति में स्वात्मा की प्राप्ति होती है, यह लोक में कैसे प्रचलित हुआ? इसके लोक में प्रचलित होने का कारण यह है कि सुषुप्ति अवस्था, जाग्रतावस्था के श्रम के कारण होती है। जाग्रतावस्था में वाणी बोलते-बोलते, श्रोत्र सुनते-सुनते और चक्षु देखते-देखते थक जाते हैं। इसीलिए सुषुप्ति में वाक् गृहीत रहती है, चक्षु गृहीत रहती है। केवल एक प्राण ही अश्रान्त रहता है और देहरूपी घर में जागता रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग का उपसंहार हो जाने पर क्रिया, कारक और फलरूपता का

अभाव हो जाने से आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है।[60] जैसे एक चिड़ीमार के हाथ में पकड़ी हुई डोरी से बंधा हुआ पक्षी उस बन्धन से मुक्त होने की इच्छा से दिशा-विदिशा में उड़कर विश्राम करने के लिए बन्धन के अतिरिक्त और कोई आयतन आश्रय न मिलने पर बन्धन स्थान का ही अवलम्ब लेता है वैसे ही यह मन में स्थित मन रूप उपाधि वाला जीव जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में विभिन्न दिशाओं में उड़कर सत्संज्ञक आत्मा के अतिरिक्त और कहीं विश्राम स्थान न पाकर प्राण का ही आश्रय लेता है। यह मन सत्संज्ञक प्राणरूप बन्धनवाला ही है।[61]

जब जीव सुषुप्तावस्था में होता है तो किसी के विषय में कुछ भी नहीं जानता है। क्यों? क्योंकि उस समय हिता नाम की जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं उनसे व्यावृत होकर उन्हीं के द्वारा वृद्धि के साथ जाकर वह शरीर में व्याप्त होकर शयन करता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'सुषुप्ति' में उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता है और वह अपने स्वाभाविक स्वरूप में सारे धर्मों से अतीत होकर विद्यमान रहता है।[62]

गहरी नींद में सोये हुए मनुष्य को काश्यराज अजातशत्रु ने, हे ब्रह्म! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! इन नामों से पुकारा परन्तु वह प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ मनुष्य न तो उठा और न जागा। तब उन्होंने उस मनुष्य को हाथ से दबा-दबाकर जगाया तो वह उठ बैठा।[63] क्योंकि शरीर और प्राण में 'सुप्त' और 'असुप्त' का भेद उत्पन्न है। शरीर तो सोया रहता है परन्तु प्राण जागते रहते हैं। सुषुप्ति में इन्द्रियां तो प्राण में लीन हो जाती हैं। फलस्वरूप वे अपने-अपने कर्मों से निवृत्त हो जाती हैं। इसीलिए जब काश्यराज ने सोये हुए पुरुष का नाम लेकर पुकारा तो वह जागा नहीं।[64] परन्तु प्राण प्रहरी की भांति सुषुप्ति में भी जागृत रहता है। प्राण ही वह एक देव है जिसमें सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग एकत्व को ऐसे प्राप्त हो जाता है जैसे अरे चक्र की नाभि में संहत हो जाते हैं। काश्यराज ने हाथ से दबा-दबाकर जिसे जगाया था और जो दबाने से जागा था वह शरीर से भिन्न था। जैसे अरे और नेमि संहत रहते हैं वैसे ही प्राण और शरीर मिले हुए हैं परन्तु प्राणादि का श्रोता, मन्ता, द्रष्टा और विज्ञाता मनुष्य के जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश, नाम और आकृति से निरपेक्ष रहता है।[65]

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह जो विज्ञानमय पुरुष है जब सोया हुआ था तब कहां था और जागने पर कहां से आया?[66] यह आत्मा न तो किसी अन्य रूप से किसी अन्य स्थान में था। अथवा न यह अन्य रूप से अन्य के पास आया है और न आत्मा में कोई अन्य साधन ही है। तो फिर क्या बात है? वस्तुतः बात यही है कि सुषुप्ति में आत्मा अपने ही स्वरूप में था। श्रुति में भी कहा गया है कि 'सुषुप्ति में आत्मा 'स्व' स्वरूप को प्राप्त हो जाता है[67] और उस समय यह सत्सम्पन्न भी हो जाता है। उस समय यह प्रत्यगात्मा से सम्यग्रूपेण आलिङ्गित रहता है। परमात्मा में सम्यक् रूप से स्थित हो जाता है।[68] इन सभी दृष्टान्तों से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा किसी अन्य के पास से नहीं आता है। सुषुप्ति में वह हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें शयन करता है। जैसे मकड़ी अपने तन्तु के सहारे नीचे-ऊपर चढ़ती-उतरती है वैसे ही शरीर का विज्ञान-घन आत्मा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में विज्ञानरूपी तन्तु के सहारे चढ़ता-उतरता है।[69]

सुषुप्ति में प्रज्ञा एकीभूत[70] हो जाती है। जैसे रात्रि के अन्धकार से दिन आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार

सुषुप्तावस्था में मन का स्फुरण रूप द्वैत समूह प्रपञ्च के सहित अज्ञान से आच्छादित हो जाता है। इसीलिए इसे 'एकीभूत' कहा जाता है। जैसे रात्रि के अन्धकार के कारण पृथक्त्व की प्रतीति न होने के कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च घनीभूत-सा दिखाई देता है। उसी प्रकार सुषुप्ति में प्रज्ञानघनीभूत हो जाता है। सुषुप्ति आनन्दमय है क्योंकि इस अवस्था में आत्मा अनायासरूपा स्थिति का अनुभव करता है। इसलिए इसे आनन्दभुक् कहते हैं। स्वप्नादिरूप चेतना के प्रति द्वारस्वरूप होने के कारण यह 'चेतोमुख' है अथवा स्वप्नादि की प्राप्ति के लिए ज्ञानस्वरूप चित्त ही इसका द्वार है।[71] भूत-भविष्यत् का तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता होने के कारण सुषुप्तावस्था में चेतनतत्त्व को 'प्राज्ञ' कहा जाता है। अथवा केवल प्रज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान मात्र इसी का असाधारण रूप है इसलिए यह 'प्राज्ञ कहलाता है।[72] इस अवस्था में शरीर तो ज्ञानरहित हो जाता है परन्तु जीवात्मा 'आनन्दभुक्' हो जाता है। प्राज्ञ स्वप्नरहित बीजनिद्रा से युक्त होता है। यहाँ निद्रा से क्या तात्पर्य है? तत्त्व को न जानना ही निद्रा है। सुषुप्ति में जीव तत्त्व को ही नहीं जानता है।

सुषुप्ति और निरुद्ध पुरुष का भेद

सुषुप्ति में सब प्रकार की प्रतीतियों का अभाव हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि तब तो सुषुप्त यानी कि सोये हुए पुरुष का चित्त भी वैसा ही होगा जैसा कि निरुद्ध पुरुष का होता है क्योंकि सब प्रकार की प्रतीतियों का अभाव सुषुप्त और निरुद्ध दोनों ही अवस्थाओं में समान है परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि सुषुप्ति में जीव (जैसा कि पहले कहा जा चुका है) बीजरूपा अविद्या से ग्रस्त रहता है। सुषुप्त जीव के भीतर अनर्थकारी बीजभूत वासनायें लीन रहती हैं।[73] फलस्वरूप सुषुप्तजीव का चित्त निरुद्ध व्यक्ति के चित्त से भिन्न होता है। निरुद्धावस्था में तो अविद्यारूपी अनर्थ प्रवृत्ति का बीज भी आत्मबोधस्वरूपा अग्नि से दग्ध हो जाता है। फलस्वरूप उसके सम्पूर्ण क्लेश-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश सब शान्त हो जाते हैं। अतः सुषुप्तावस्था और निरुद्धावस्था में चित्त की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। सुषुप्तावस्था में सम्पूर्ण प्रतीतियों की बीजभूत वासनाओं के सहित मन लीन हो जाता है परन्तु जब चित्त निरुद्ध हो जाता है तब वह अविद्या में लीन नहीं होता अपितु वह ब्रह्म में लीन हो ब्रह्मरूप हो जाता है। निरुद्धावस्था में चित्त अविद्या से होने वाले ग्राह्य-ग्राहकरूप—दोनों प्रकार के मलों से रहित हो जाता है। फलस्वरूप वह निर्भय हो जाता है। उस अवस्था में तब सब ओर से चित्प्रकाशमय निर्भय ब्रह्म ही रहता है—

लीयते हि सुषुप्तं तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानलोकं समन्ततः।।[74]

सुषुप्ति और तुरीय

सुषुप्ति और तुरीय दोनों में द्वैत का ग्रहण नहीं होता है। फिर भी सुषुप्ति में कारणबद्धता रहती है। क्यों? क्योंकि सुषुप्ति बीजनिद्रा से युक्त होती है और 'तुरीय' अवस्था सर्वदा सर्वदृक्स्वरूपा होने के कारण बीज निद्रा

से सदैव रहित होती है।[75]

सुषुप्ति और लोकोत्तर अवस्था

जाग्रतावस्था जिसे 'लौकिक' भी कहा गया है, ग्राह्य-ग्रहणरूप द्वैत से युक्त है। जो 'सवस्तु' है अर्थात् जो व्यावहारिक सत् वस्तु के साथ रहता है वह 'सोपलम्भ' भी होता है अर्थात् उपलब्धि के सहित होता है। अतः जाग्रतावस्था 'सवस्तु' और सोपलम्भ होती है परन्तु संवृत्ति (द्वैत) का अभाव होने के कारण जो 'अवस्तु' है— किन्तु फिर भी सोपलम्भ है (वस्तु के न रहने पर भी वस्तु के समान उपलब्ध होना 'उपलम्भ' कहलाता है) उसे शुद्ध लौकिक यानी कि 'स्वप्न' कहते हैं।[76] 'अवस्तु' तथा 'अनुपलम्भ' अर्थात् ग्राह्य और ग्रहण से रहित जो अवस्था है उसे 'लोकोत्तर' अर्थात् सुषुप्ति कहा गया है क्योंकि ग्राह्य और ग्रहण का विषय लोक है और उसका अभाव होने के कारण वह सुषुप्तावस्था सम्पूर्ण प्रवृत्तियों की बीजभूता है। अतः लौकिक, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर इन तीन अवस्थाओं का जिससे क्रमशः बोध होता है उसे 'ज्ञान' कहते हैं। ये तीनों अवस्थायें ज्ञेय हैं। परमार्थ सत्य तुरीय संज्ञक अद्वय, अजन्मा, आत्मतत्त्व ही विज्ञेय है।[77] जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें रज्जु में सर्प की भाँति आत्म में असत् होने के कारण त्यागने योग्य यानी कि 'हेय' हैं। केवल परमतत्त्व ही ज्ञेय है।[78]

सुषुप्ति और ओङ्कार

चतुष्पाद आत्मा और मात्रात्मक ओङ्कार का परस्पर तादात्म्य है। आत्मा के चतुष्पाद—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय हैं तो ओङ्कार की तीन मात्राएं—अकार, उकार और मकार हैं। चौथा अमात्र है। पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है। यह आत्मा अक्षर दृष्टि से ओङ्कार है। **सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।**[79] प्रथम मात्रा अकार है। आत्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर' है और उसका स्थान जाग्रतावस्था। 'अकार' वर्णों में प्रथम है और उसी में सम्पूर्ण वाणी व्याप्त रहती है।[80] वैश्वानर भी 'चतुष्पाद' में प्रथम है और वह विश्व (समस्त) नररूप होने के कारण सर्वत्र व्याप्त है।[81] अथवा सम्पूर्ण नरों को विभिन्न योनियों में 'नयन' अर्थात् 'वहन' करने के कारण वह वैश्वानर है। अतः आदिमत्त्व और व्याप्ति (आप्ति) के कारण 'वैश्वानर' और 'अकार' समान हैं।[82] इसी प्रकार स्वप्नस्थान 'तैजस' और ओङ्कार की दूसरी मात्रा 'उ' में उत्कर्ष और 'मध्यवर्तित्त्व' के कारण समानता है। 'वैश्वानर' से 'तैजस' और 'अ' से 'उ' उत्कर्ष है। 'तैजस' वैश्वानर और प्राज्ञ के और 'उ' अ और म वर्णों के मध्य में हैं। अतः दोनों उत्कर्ष और मध्यवर्तित्त्व के कारण समान हैं।[83]

आत्मा का तृतीय पाद सुषुप्ति है और इसमें उसकी संज्ञा 'प्राज्ञ' हो जाती है। वह प्राज्ञ 'मान' और 'लय' के कारण ओङ्कार की तीसरी मात्रा 'मकार' है।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतश्चभवति।[84]

सुषुप्तिस्थानप्राज्ञ और ओङ्कार की तीसरी मात्रा 'म' में 'मिति' और 'अपीति' के कारण समानता है। 'मिति' मान को कहते हैं।[85] जैसे 'प्रस्थ' (एक प्रकार का बाट) से जौ तोले जाते हैं, वैसे ही उत्पत्ति और प्रलय के समय मानो प्रवेश 'निर्गमन' द्वारा प्राज्ञ से विश्व और तैजस् मापे जाते हैं क्योंकि ओङ्कार का बिना अन्तराल के उच्चारण किये जाने पर मानो अकार और उकार मकार में प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं। अथवा 'अपीति' के कारण दोनों में समानता है। अपीति-अप्यय अर्थात् एकीभाव को कहते हैं।[86] जैसे जब हम उच्च स्वर में ओङ्कार का उच्चारण करते हैं तो अकार और उकार अन्तिम अक्षर में एकीभूत से हो जाते हैं। वैसे ही सुषुप्ति के समय विश्व और तैजस प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं। अतः प्राज्ञ-सुषुप्ति और मकार दोनों समान हैं।

मात्रा रहित-अमात्र ओङ्कार चतुर्थ है। आत्मा का 'चतुर्थ' पाद 'तुरीय' है, आत्मा है। वह आत्मा अभिधानरूप वाणी और अभिधेयरूप मन का क्षय हो जाने के कारण 'अव्यवहार्य' है। 'तुरीय' संज्ञक आत्मा में प्रपञ्च उपशम हो जाता है। वह मंगलमय है, अद्वैत है। आत्मतत्त्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता। सुषुप्ति के बीजभाव को ज्ञानाग्नि से दग्ध करके आत्मा में प्रवेश कर जाता है।[87] वह ब्रह्ममय हो जाता है। फलस्वरूप उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। यह तुरीयावस्था अबीजात्मक है। ओङ्कार ही परब्रह्म है। ओङ्कार ही अपरब्रह्म है। ओङ्कार ही अपूर्व, अन्तर्बाह्यशून्य, अकार्य तथा अव्यय है।[88] ओङ्कार ही सबका आदि, मध्य और अन्त है। ओङ्कार ही यह सब कुछ है।[89] यही श्रेष्ठ आलम्बन है।[90] आत्मा का 'ओङ्कार' रूप में ध्यान करना चाहिए।[91] परन्तु ध्यान कैसे करें? प्रणव-ओङ्कार धनुष है। आत्मा 'शर' है। ब्रह्म उसका लक्ष्य है। जैसे बाण अपने लक्ष्य को बींधकर उसी में तन्मय हो जाता है वैसे ही प्रमादरहित जिज्ञासु प्रणव रूपी धनुष पर आत्मा का शरसंधान कर, ब्रह्मरूपी लक्ष्य को बींधकर तन्मय हो जाता है।[92] चित्त को ओङ्कार में समाहित करना चाहिए। फलस्वरूप जीव सुषुप्ति की बीजावस्था को आत्मज्ञान से पूर्णरूपेण दग्ध कर परमपद को प्राप्त करता है। यह ओङ्कार ही निर्भय ब्रह्मपद है— **प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।**[92]

सन्दर्भ सङ्केत

1. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्। माण्डूक्योपनिषद् 1.2
2. निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं निरञ्जनम्। श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.19
3. साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। वही 6.11
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.3.6
5. मां० उप० शां० भा० 1.2
6. चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति। वही
7. त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः। तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः। मां० उप० शां० भा० 1.2
8. मां० उप० 1.5
9. तस्य त्रय आवसथस्त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति। ऐत० उप० 1.3.12
10. वही
11. त्रयः स्वप्ना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्याः। ननु जागरितं प्रबोधरूपत्वान्न स्वप्नः; नैवम्, स्वप्न एव। कथम्। परमार्थस्वात्म

प्रबोधभावात्स्वप्नवदसद्वस्तुदर्शनाच्च। ऐत0 उप0 शां0 भा0 वही
12. स्वप्न जागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः। भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना। गौ0 का0 2.5
13. तद् यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरित्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति। बृह0 उप0 4.3.19
14. यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति।
15. ऐत0 उप0 शां0 भा0 वही
16. छां0 उप0 8.3.3
17. छां0 उप0 शां0 भा0 वही
18. स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं च पापं च। बृह0 उप0 4.3.15
19. तीर्णो हि सदा सर्वाञ्छोकान्। वही 4.3.22
20. तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषं प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्। वही0 4.3.21
21. सुखम् अहं अस्वास्पम् न किञ्चिद्वेदिषि। वेदान्तसारः
22. स वा एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं च पापं च। पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्रम् किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगों ह्यं पुरुष। बृह0 उप0 4.3.15
23. वही 4.3.16
24. वही 4.3.17
25. तद् यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धांतं च। वही 4.3.18
26. अस्यैतदारप्तकामात्मकाममकामं रूपाँ शोकान्तरम्। वही 4.3.21
27. अत्र पितापिता भवति मातामाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः अत्र स्तेनोऽस्तेने भवति भ्रूणहाभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौलक्सोऽपौलक्सः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः। वही 4.3.22
28. अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति। वही
29. बृह उप0 शां0 भा0 वही
30. तद् वा अस्यैतदतिच्छन्दा। बृह0 उप0 4.3.21
31. छन्दः कामः। बृह0 उप0 शां0 भा0 वही
32. कामश्च सङ्गः। बृह0 उप0 शां0 भा0 4.4.16
33. वही
34. यद् वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। वही 4.3.23
35. केनोपनिषद् 1.2
36. बृह0 उप0 शां0 भा0 4.3.23
37. वही
38. न तु तदद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्। बृह0 उप0 4.3.23
39. वही 4.3.24-29
40. यद् वै तन्न विजानाति विजानन् वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तदद्वितीयमस्ति तदोऽन्यद् विभक्तं यद् विजानीयात्। वही 4.3.30
41. यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्यो अन्यत् पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद् रसयेदन्योऽन्यद् वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत् स्पृशेदन्योऽन्यद् विजानीयात्। वही 4.3.31
42. स प्राणन्नेव प्राणे नाम भवति। वदन्वाक्पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानिकर्मनामान्येव। वही 1.4.7
43. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः। केनोपनिषद् 1.2

44. सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवति। बृह0 उप0 4.3.32
45. वही 4.3.2
46. वही 4.3.3
47. वही 4.3.4
48. वही 4.3.5
49. आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति। वही 4.3.6
50. एषा यस्य परमा गतिरेषा यस्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। वही 4.3.32
51. यो वै भूमा तत्सुखम्। छा0 उप0 23.1
52. नाल्पे सुखमस्ति। वही
53. उद्दालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति। छां0 उप0 6.8.1
54. वही
55. स वा एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव। बृह0 उप0 4.3.34
56. बुद्धान्तन्तायैव जागरितस्थनाय बृह0 उप0 शां0 भा0 4.3.16
57. छा0 उप0 6.8.1
58. तद् यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति। बृह0 उप0 4.3.19
59. स्वपिति नाम सदा सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वँ ह्यपीतो भवति। छां0 उप0 6.8.1
60. एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृहणात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीतं एव प्राणे भवति वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः। बृह0 उप0 2.1.17
61. छां0 उप0 6.8
62. अथ यदा सुषुप्तो भवति न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। बृह0 उप0 2.1.19
63. तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवास! सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनापेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ। बृह0 उप0 2.1.15
64. बृह0 उप0 शां0 भा0 वही
65. वही पृ0 434
66. स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति। बृह0 उप0 2.1.16
67. वही 2.1.17
68. छां0 उप0 6.8.1
69. बृह0 उप0 2.1.20
70. सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमया ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। मां0 उप0 1.5
71. स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति द्वारीभूतत्त्वाच्चेतोमुखः। बोधलक्षणं वा चेतोद्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः। मां0 उप0 शां0 भा0 1.5
72. भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषय ज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रामस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः। वही।
73. निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तोऽन्यो न तत्समः।। माण्डू0 उप0 3.34
74. गौड0 का0 3.35

75. द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते। वही0 1.13
76. सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते। वही 4.87
77. अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम्।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम्। वही0 4.88
78. हेयज्ञेयाप्यापाक्यानि विज्ञेयान्याग्रयाणतः।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः। वही0 4.90
79. मां0 उप0 8
80. अकारो वै सर्वा वाक्। ऐत0 आ0 2.3.6
81. जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद। वही 9.
82. मां0 उप0 शां0 भा0 3
83. स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति। मां0 उप0 10
84. वही 11
85. मितेमितिमानं मीयते। मां0 उप0 शां0 भा0 वही
86. अपीतिरप्यय एकीभावः। वही
87. अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद। मां0 उप0 12
88. अपूर्वअनन्तरो बाह्योऽनपरःप्रणवोऽव्ययः। गौड़0 का0 1.26
89. ओंकार एवं इदं सर्वम्। छां0 उप0 2.23.3
90. एतदालम्बनम्। वही 1.2.17
91. ओमित्यात्मानं युञ्जीत। मैत्री उप0 6.3
92. प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुं0 उप0 2.2.4
93. गौड़ का0 1.25

उपनिषदो रहस्यमयो विस्तारः

आचार्य आद्या चरण झा ★

पृष्ठभूमि : 1. (अ) भारतीयोपनिषदां व्याख्याः विश्लेषणानि च भारतीयभाषासु वैदेशिकभाषासु विशेषतः आंग्लभाषायामपि समुपलब्धानि सन्ति। एकैकस्याः अपि उपनिषदः कतिपयाष्टीका-टिप्पण्यश्च विराजन्ते।

(आ) अथापि उपनिषदामेकत्र शोधात्मकाः केचन निबन्धाः संग्रहीतव्याः नात्र कश्चन मतभेदः। फलतः श्रेयान् प्रेयांश्चायं प्रयासः। एतत्क्रमे एव मयाऽप्येकः संक्षिप्ततमो निबन्धः सरल-बोधगम्यसंस्कृतभाषायां प्रस्तूयते। अत्रोपनिषत्-शब्दस्य विविधसाधुत्वप्रकारेण साकं तस्याः भेद-प्रभेदां च स्वल्पं विवरणमप्यत्रास्ति।

(इ) अत्रेदमपि सदा स्मरणीयं यत् श्रुतयः एव वेदाः। यथाश्रुतादेवी वाक् वेदः। तं त्रिकालज्ञाः महर्षयः महता तपसा कण्ठस्थीकृत्य ऊँकारमयीं शब्दब्रह्मात्मिकां अपौरुषेयां वाणीं वेदमन्त्ररूपेण विस्तृतवन्तः, ये च वेदाः क्रमशः लिप्यात्मिकाः जाताः। तेषां वेदानामेवेयं विस्ताररूपा उपनिषद्।

विषय प्रवेशः 2. उपनिषद् शब्दस्य साधुत्वविवरणम्—षद्लृ विशरणगत्योः धातुना—निर्मितोऽयं शब्दः—उप+नि+षद् धातोः 'धात्वादेः षः सः' इति पाणिनिसूत्रेण षकारस्य सकारे कृते, क्विप् प्रत्यये—तस्य सर्वापहारलोपे पुनः—'सदिरप्रतेः' इति सूत्रेण सकारस्थ षत्वे कृते 'उपनिषद्' इति सिद्ध्यति। यस्यार्थः विशरण-प्रसरणशीला, गतिशीला।

3. उप-समीपे, वेदसमीपे निषीदति=तिष्ठति, तं प्रसारयति=गूढार्थं प्रतिपादयति, इति उपनिषद्। फलतः वेद-ब्राह्मणग्रन्थानां गूढार्थानां निश्चयात्मिका विशदा व्याख्या। इत्थं च उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति उपनिषद्। वेदान्तशास्त्रम्—वेदशिरोभागश्च।

अस्य शब्दस्य गूढात्मकरहस्यम्, रहस्यवादिज्ञानम्, परमात्मनो विषये सत्यज्ञानम्, पावनं धार्मिकज्ञानम्, गोपनीयम्, ऐकान्तिकत्वमित्यादयो बहवोऽर्थाः कोशेषु विभिन्नटीकासु च दृश्यन्ते। यथा—

प्रतीयमानमात्मानं ब्रह्मापस्तद्वयं यतः

निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपतिषद् भवेत्।

★ पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार

तथा

प्रवृत्ति हेतून्निःशेषान् तन्मूलोच्छेदकत्वतः

यतोवस्त्रदयेद्विद्यां तस्मादुपनिषद् भवेत्।

निहत्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम्,

नयत्यपास्तसंभेदमतो वोपनिषद् भवेत्।

4. उपनिषदो भेदाः—अस्या 1180 अशीत्युत्तर एकशताधिसहस्रसंख्याः सन्ति। यथा—ऋग्वेदस्य—21, यजुर्वेदस्य 109, सामवेदस्य 1000, अथर्ववेदस्य 50=1180

तेषु मुक्तिकोपनिषदि 108 अष्टाधिकशतोपनिषद् भेदाः प्रदर्शिताः। तत्र ऋग्वेदस्य 10, शुक्लयजुर्वेदस्य 19, कृष्णयजुर्वेदस्य 32, सामवेदस्य 16 तथा अथर्ववेदस्य 31=योगः 108 संख्याः।

5. उपर्युक्त विस्तृत संख्याकाः उपनिषदः वेदार्थ रहस्यप्रतिपादिकाः, ऐतिहासिक कथामयाः सन्ति। अत्र 108 संख्याकानामुपनिषदां केवलं नामानि तेषु 30 त्रिंशत् नाम्नां रहस्यात्मकाश्चार्याः विलिख्यन्ते। सर्वेषां नामानि विस्तारभयान्न प्रदीयन्ते। यथासमयमावश्यकतानुसारं तेषामपि व्याख्यायुतानि नामानि प्रदास्यन्ते।

6. यथा 108 उपनिषदः—

ऐतरेयश्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा। ब्रह्म कैवल्य जाबाल श्वेताश्वा हंस आरुणिः। मैत्रायणी कौषतिकी बृहज्जावाल तापनी, कालाग्नि रुद्रमैत्रेयी सुबाल क्षारि मन्त्रिकाः। सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम्। तेजो नाद ध्यान विद्या योगतत्त्वात्म बोधकम्। परिव्राट् त्रिशिखीसीता चूडा निर्वाणमफलम्। दक्षिणाशरभं स्कन्दं महानारायणाऽद्वयम्। रहस्यं राम तपनं वासुदेवं च मुद्गलम्। शाकिल्यं पौङ्गलं भिक्षं महत् शारीरिकं शिखा। तुरीयानीन संन्यास परिव्राजाक्षमालिका, अव्यक्तैकाक्षरं पुण्या सूर्याक्ष्यध्यात्म कुफ्रिका। साविन्यात्मा पाशुपतं परब्रह्मावधूतकम्। त्रिपुरा तापनं देवी त्रिपुरा कठ भावना। हृदयं कुफली भस्म रुद्राक्षगण दर्शनम्।

वार सार महावाक्य परब्रह्माग्निहोत्रकम्।

गोपाल तापनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्। शाट्यायनी हयग्रीवं—दत्तात्रेयं च गारुडम्। कलि जाबालि सौभाग्य रहस्यं ऋचमुक्तिकाः"

7. अत्र स्थितानां शब्दानामेकदेशवाचिनां शब्दविवृतिः

यथा—हंसः—परमहंसः, बिन्दुः—अमृतबिन्दुः, नादः—अमृतनादः, शिरः—अथर्वशिरः, शिखा—अथर्वशिखा, तापनी—नृसिंहतापनी, रहस्यं—शुकरहस्यं, तेजः=तेजो बिन्दुः, परिव्राट्-नारदः, त्रिशिखी—त्रिशिखी ब्राह्मणः, चूडा—योगचूडामणिः, मण्डलं—मण्डलब्राह्मणः, दक्षिणा—दक्षिणामूर्तिः, अद्वयं—तारकः, रहस्यम्—रामरहस्यम्, महत्—महोपनिषद्, शिखा—योगशिखा, परिव्राजः=परमहंस परिव्राजकः, पूर्णा—अन्नपूर्णा कटः=कटरुद्रः कुण्डली—योगकुण्डली, भस्म—भस्मजालः, गणः—गणपतिः, दर्शनं—जाबालदर्शनम्,

अग्निहोत्रं—प्राणाग्निहोत्रकम्, कलिः—कलिसन्तरणं, रहस्यम्—सरस्वती रहस्यम्।

उपर्युक्ताष्टोत्तरशतमुपनिषदां मध्ये समागत त्रिंशत् (30) नाम्नां सङ्केतं (रहस्यं) प्रदर्शितवान्। एतेषां व्याख्याऽतिदुस्तरा।

8. अन्ततः उपनिषत्सु याः कथाः समागता, ताः अति महत्त्वपूर्णाः। ऋग्वेदस्य 'शाकल' शाखायाः ऐतरेय ब्राह्मणे समग्रा हरिश्चन्द्रोपाख्यानकथा विद्यते। यां कथामाधारीकृत्यैव भगवान् वेदव्यासः श्रीमद्देवीभागवत-महापुराणे सप्तमस्कन्धे सविस्तरं हरिश्चन्द्रोपाख्यानं वर्णितवान्।

9. इत्थमेव समस्तपौराणिकी कथा वेदोपनिषन्मूलैव। क्रमशः संक्षिप्तमपि सरलतया सामान्यजन बोधगम्याऽपि ताः कथाः विश्लेषणीयाः यथाकालम्।

❒

सर्वनिषेध से आत्मा के अजन्यत्व की सिद्धि

डॉ० पुष्पा दीक्षित ★

ईश्वर ने सृष्टि बनाई, इसका नाम आरम्भवाद है। ईश्वर सृष्टि बन जाता है, इसका नाम परिणामवाद है। ईश्वर है तो ज्यों का त्यों, पर भासता है सृष्टि के रूप में, इसका नाम विवर्तवाद है। विवर्त का अर्थ है, **विरुद्धं वर्तनम् विवर्तः**। ईश्वर अपने स्वरूप के विरुद्ध दिख रहा है। एक होकर भी अनेक दिख रहा है। वस्तुतः यह जगत् ज्यों का त्यों परमात्मा है और यह जीव भी ज्यों का त्यों परमात्मा ही है।

आरम्भवाद में परमात्मा सृष्टि को बनाता है, किन्तु इसमें अनेक दोष आते हैं कि निरवयव परमाणुओं का संयोग कैसे होता है? उनका वजन क्या है? यदि नहीं है तो वस्तुओं में कहाँ से आता है, आदि। परिणामवाद में, जैसे दूध से दही बन जाता है, अथवा बीज से वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार परमात्मा से जगत् बन जाता है, किन्तु इस मंत में परमात्मा को बीज के समान फूटना पड़ेगा। दूध के समान विकृत होना पड़ेगा। दही कभी भी वापस अपना स्वरूप दूध नहीं बन सकता है, तो जगत् भी कभी ईश्वर नहीं बन सकेगा और मोक्षप्राप्ति असंभव हो जायेगी। अतः उपनिषदों ने सृष्टि के कारण के रूप में अजातवाद या विवर्तवाद की सिद्धि की। **अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः/अजायमानो बहुधा विजायते** आदि।

वेदान्तमत में जगत् अजात है, कभी पैदा ही नहीं हुआ। जीव भी अजात है। परमात्मा भी अज़ात है। एक ही सद्वस्तु है, जिसमें सर्वज्ञ, अल्पज्ञ दोनों ही विवर्त हैं। सर्वज्ञान तथा अल्पज्ञान का विषय जो जगत् है, वह भी विवर्त ही है और सर्व का ज्ञातृत्व तथा अल्प का ज्ञातृत्व भी विवर्त ही है। जो सद्वस्तु है, वह न तो जगत् के रूप में पैदा होती है, न ही जीव के रूप में पैदा होती है। उसका रूपान्तर होता ही नहीं, क्योंकि जो वस्तु रूपान्तरित होती है वह, विकारी, सावयव तथा सान्त होती है। रूपान्तरित न होने के कारण यह अजन्मा है। **स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः**—मुण्डक 2.1.2

यह जो उपनिषदों में कहा जाता है—**स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति**, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह चैतन्य फटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया, अपितु श्रुति का तात्पर्य यह है कि परमाणु, प्रकृति आदि जगत् के कारण नहीं हैं, क्योंकि श्रुति तो यह भी कहती है कि **नेह नानास्ति किञ्चन**—कठोपनिषद्/**न नानेति चाम्नायाद्**—माण्डूक्यकारिका/**वस्तुतो विचार्यमाणे परमार्थे इह नाना**

★ अध्यक्ष संस्कृत विभाग, शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिलासपुर, मध्य प्रदेश

किञ्चन नास्ति—बृहदारण्यकोपनिषद् आदि।

परमार्थ विचार का अर्थ है—ईमानदारी की दृष्टि, असलियत की दृष्टि, वास्तविक दृष्टि। वास्तविक दृष्टि यही है कि अजात वस्तु जात हो नहीं सकती, अतः अजात ब्रह्मतत्त्व का जगदाकार में परिणाम नहीं होता, अपितु अजात ब्रह्मतत्त्व ही जगदाकार में भासता है। अजात का अर्थ है—अजातत्त्वोपलक्षित, जातत्त्वेन भासमान जगत्, जीव और ईश्वर तथा अजातत्त्वेन भासमान इनका अनिर्वचनीय कल्पित कारण और उस अजातत्त्व से उपलक्षित संकेतित जो विशुद्ध अविनाशी परिपूर्ण प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वय तत्त्व, उसे कल्पित वृत्ति से अज कहते हैं—**अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यजः।**

यह जो भासना है, वह नानाकार है परन्तु वेद तो साफ कहता है कि नानात्व नहीं है, तो यह सृष्टि आई कहाँ से? इसके लिये जानना चाहिये कि ज्ञान दो प्रकार का होता है—पौरुषेय तथा अपौरुषेय। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से जन्य ज्ञान पौरुषेय है। पौरुषेय ज्ञान में नानात्व है क्योंकि इसमें तीन प्रकार की संवित् होती है। देश की संवित्, काल की संवित्, वस्तु की संवित्। जैसे—देवदत्त काशी में बारह वर्षों से है। इस वाक्य में 'कहाँ है' इस प्रश्न के उत्तर में जो ज्ञान होता है, वह देश की संवित् है। 'कबसे है' इस प्रश्न के उत्तर में जो ज्ञान होता है, वह काल की संवित् है। 'क्या है या कौन है' इस प्रश्न के उत्तर में जो ज्ञान होता है, वह वस्तु की संवित् है। देश, काल, वस्तु, इन तीन रूपों में होने वाली संवित् (ज्ञान) नाना है। ध्यान दें कि इन तीनों में जो देश, काल, वस्तु है, वे तो नाना हैं, किन्तु 'संवित्' तो तीनों में 'एक' ही है। उसमें नानात्व नहीं। जिसमें नानात्व नहीं, वही सद्वस्तु है।

जो सृष्टि की प्रतीति है, अथवा सृष्टि में नानात्व की प्रतीति है, वह रज्जु में सर्प की भाँति, आकाश में नीलिमा की भाँति आविद्यक है। जो न हो और भासे, उसी का नाम अविद्या या माया है। यही एक में अनेक को दिखाती है। **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** बृहदारण्यक 2.5.19। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि ईश्वर के पास एक जाल है, उसे फैलाते ही एक का अनेक दिखने लगता है। **य एको जालवानीशत ईशनीभिः**—श्वेताश्वतर—3.1

अपौरुषेय ज्ञान में नानात्व का निषेध है। देशसंवित्, कालसंवित्, वस्तुसंवित् में जो देश, काल, वस्तु है, उन्हें हटाकर जो 'संवित्' मात्र शेष बचती है, वह केवल संवित् है, इसमें न तो देश है न काल न वस्तु। यह केवल संवित् देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न है तथा चतुर्विध अभावों से शून्य है। देश, काल, वस्तु का अपवाद करके ही इसे जाना जा सकता है। इसमें नानात्व अथवा द्वैत नहीं है। **उपदेशादयं वादो ज्ञाने द्वैतं न विद्यते**—माण्डूक्यकारिका।

ऐसा मानने पर तो शंका होगी कि उपनिषदों में जो सृष्टिविषयक श्रुतियाँ हैं, अथवा अन्यत्र भी सृष्टि विषयक जो वचन हैं, उनका मिथ्यात्व होने लगेगा? जैसे—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते/जन्माद्यस्य यतः/ अहं सर्वस्य प्रभवः** आदि।

वस्तुतः ये श्रुतियाँ सृष्टि का काल और सृष्टि का स्थान बतलाने के लिये नहीं हैं, अपितु यह बतलाने के लिये हैं कि जिसमें सृष्टि होती है, उसी में स्थिति होती है, लय भी उसी में होता है। जिसके दिमाग में सृष्टि घुस

गई है, उसमें से सृष्टि को निकालकर ब्रह्म को भरने के लिये ही ये श्रुतियाँ हैं। **मायया जायते तु सः/ अजायमानो बहुधा विजायते** आदि श्रुतियाँ इसका प्रमाण हैं। वस्तुतः इस ब्रह्म को न तो किसी ने पैदा किया है न ही इससे कुछ पैदा होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—**न चास्य कश्चिज्जनिता, न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।**

जब दो तरह की श्रुतियाँ सुनते हैं तो मन में शंका होती है कि कार्यकारणभाव का प्रतिपादन करने वाली श्रुति सत्य है अथवा कार्यकारणभाव का निषेध करने वाली श्रुति सत्य है? तो बताया **'अज्ञतज्ज्ञाभ्यां व्यवस्था'।** जो अज्ञ अधिकारी है उसके लिये यह सृष्टि परमात्मा से पैदा हुई है और जो तज्ज्ञ अधिकारी है, उसके लिये यह कुछ पैदा ही नहीं हुआ।

अज्ञ के लिये नानात्व है, तज्ज्ञ के लिये नानात्व का निषेध है। श्रुतियों में नानात्व की निन्दा है—**नानात्वं निन्द्यते**। कठोपनिषद् कहती है—**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।**

विशेष के ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। यही नानात्व है। इन बहुत से विशेषों में जो एकत्व है, उसी का नाम ज्ञान है। गीता, उपनिषद् तथा श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ इसी का प्रतिपादन करते हैं। यह एकत्व का ज्ञान ही दुःखों का निवर्तक है। ईशोपनिषद् कहती है—**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।**

तो जो यह कार्य है, यह कारण है, यह दृश्य है, यह द्रष्टा है, यह धार्य है, यह धारक है, आदि जो भेद बताये, वे मूल तत्त्व को समझने के लिये हैं। यह मूल क्या है? विचार करके पाते हैं कि जगत् का मूल कारण केवल सत्ता नहीं है क्योंकि सत्ता में परिवर्तन नहीं होता, सत्ता में कोई जन्म नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं होता। इसलिये उपनिषद् कहती है कि जगत् के मूल में चैतन्यसत्ता है। चैतन्यसत्ता में जन्म नहीं हो सकता क्योंकि यह हमारा अपना स्वरूप है जो कि हर हाल में साक्षी ही रहता है। इस साक्षी का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता। यह तो आत्मानुभवस्वरूप है।

पर इस अज आत्मा को जाने कैसे? इसे विधिमुखेन नहीं जाना जा सकता। अर्थात् 'यह ऐसा ऐसा है', इस प्रकार इसे नहीं बतलाया जा सकता। तो इसे जानने की दूसरी पद्धति है निषेधमुख पद्धति। अर्थात् यह 'ऐसा, ऐसा नहीं है', यह बतलाना। माण्डूक्यकारिका कहती है—

स एष नेति नेति व्याख्यातं निह्नुते यतः।
सर्वमग्नाह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते।।

आत्मा किसी भी शब्द से ग्रहणयोग्य नहीं है। अतः यह श्रुति उसके विषय में बतलाये हुए सभी भावों का निषेध करती है। इसी निषेध रूप हेतु के द्वारा, यह अज आत्मा प्रकाशित होता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में इस निषेधमुख पद्धति से अनेक बार ब्रह्म का निरूपण किया गया है—**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च, मर्त्यं चामृतञ्च, स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च**—2.3.1।

ऐसा नहीं है कि केवल मूर्त ही ब्रह्म की उपाधि है, अमूर्त भी उसकी उपाधि ही है। गति भी वही है, स्थिति भी वही है। ब्रह्म इन दोनों उपाधिविशेषों से रहित मन और वाणी का अविषय है। इसलिये नेति-नेति कहकर श्रुति में उसका निर्देश किया जाता है। पदार्थ में रहने वाले किसी भी विशेष को वाणी से ही प्रकाशित

किया जा सकता है। यह निर्विशेष है, अतः वाणी इसे प्रकाशित नहीं कर सकती। इसलिये उसके विषय में 'नेति नेति' यही वेद का आदेश है। इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्य का सत्य' यह उसका नाम है। **'अत आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्'।** यह एक ही वाक्य इस उपनिषद् में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

श्रीमद्भागवत में इसे ही अतद्व्यावृत्ति कहा गया है। तद् है ब्रह्म, उससे भिन्न जो कुछ भी है, वह सब अतद् ही है। इस अतद् की व्यावृत्ति करके अर्थात् अतद् को हटाकर जो कुछ भी शेष बचे, वही ब्रह्म है। सब कुछ को हटाकर जानना ही इसे जानने की विधि है। विधिमुखेन इसका प्रकाश करना असंभव है। इसलिये मुमुक्ष एवं विचारशील पुरुष परमपद के अतिरिक्त वस्तु का परित्याग करते हुए नेति नेति के द्वारा उसका निषेध करते हुए, ऐसी वस्तु प्राप्त करते हैं, जिसका कभी निषेध नहीं हो सकता, यही भगवान् विष्णु का परमपद है।

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्, यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।। श्रीमद्भागवत 12.6.32

यह दो बार नेति नेति क्यों कहा है? इसलिये कि एक से मूर्त का निषेध किया है, दूसरे से अमूर्त का। एक से साकार का निषेध होता है, दूसरे से निराकार का। निराकार से विशेष साकार है और साकार से विशेष निराकार है। अतः साकार और निराकार, ये दोनों ही विशेष रूप हैं। अतः सर्वविशेष का निषेध करने के लिये **अशेषविशेषनिषेधावधित्वेन** परमात्मा का निरूपण है। बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में कहा है कि विशेषों के प्रतिषेध के अतिरिक्त ब्रह्म का उपदेश है ही नहीं। सारे विशेषों का प्रतिषेध कर देने के बाद जो रह जाता है, वही ब्रह्म है। पर यह 'बचना' सामान्य बचने से भिन्न है। 10 में से 9 घटाये तो? शेष बचा 1, यह 1 अव्यय नहीं है, क्योंकि इसमें कुछ जोड़कर इसे बढ़ाया जा सकता है और इसमें से कुछ घटाकर इसे घटाया जा सकता है।

पर सृष्टि का निषेध करके यह जो बचता है, वह इस प्रकार का 'शेष' नहीं है, बल्कि यह अशेष है। इसमें कुछ भी शेष नहीं है, न प्रकृति है, न माया है, न जगत् है। इसमें कुछ भी जोड़कर इसे बढ़ाया नहीं जा सकता है और इसमें से कुछ भी घटाकर इसे घटाया नहीं जा सकता है, अतः यह अशेष है। इसीलिये भागवत में कहा—**निषेधशेषो जयतादशेषः।**

बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे अध्याय में मूर्त, अमूर्त का प्रश्न उठाकर, प्रश्न उठाते हैं कि यह पृथ्वी किसमें ओतप्रोत है? उत्तर देते हैं—पृथ्वी जल में ओतप्रोत है अर्थात् जल के अतिरिक्त पृथ्वी कुछ भी नहीं है। जैसे कपड़ा सूत में ओतप्रोत है, तो सूत के अतिरिक्त कपड़ा कुछ भी नहीं है। जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में ओतप्रोत है।

कस्मिन् खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्च? और यह आकाश किसमें ओतप्रोत है? तो कहते हैं—कहाँ तक कहें विस्तार, आत्मा में ही सब ओतप्रोत है। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्त में कहते हैं—**स एष नेति नेति इति आत्मा।** अर्थात् न पृथ्वी, न जल, न अग्नि, न वायु, न आकाश। यह तो समझाने के लिये उपाय है। इसी प्रकार चौथे अध्याय में विश्व, तैजस, प्राज्ञ का वर्णन करके अन्त में वही कहते हैं—पाँचवें तथा छठवें अध्याय में भी वही कहते हैं—**स एष नेति नेति इति आत्मा।** अर्थात् न विश्व है, न तैजस है, न प्राज्ञ

है, न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है। ये तो बस आत्मा को जानने के उपाय हैं। फिर कहते हैं—**अगृह्यो नहि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्यते**, आदि—बृहदारण्यकोपनिषद् 4.2.4। यह नेति नेति से वर्णन किया हुआ आत्मा इदमित्थन्तया अग्राह्य है। जिसमें कुछ पदार्थ की सत्ता न हो उसे अगृह्य कहते हैं।

यह अपवाद की विधि है। घट का निषेध किया, घट का जो स्थान था, उसका निषेध किया, घट का जो काल था, उसका निषेध किया, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का निषेध किया, उनके कारण पञ्चभूतों का निषेध किया, उनके कारण पञ्चतन्मात्रों का निषेध किया, अहंकार का निषेध किया, देवतासहित आधिभूत, अध्यात्म के त्रैत का निषेध किया, स्थूल, सूक्ष्म कारण का निषेध किया, प्रकृति, प्रकृतिविकृति तथा विकृति का निषेध किया, हर ब्रह्माण्ड में रहने वाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश का निषेध किया, देश, काल, वस्तु का निषेध किया, तो अब रह क्या गया? वही रह गया जो इन सारे निषेधों को देख रहा है। यही है सारे निषेधों की अवधि। यह कौन है? हमीं इन सारे निषेधों को देख रहे हैं, अतः जानें कि बस निषेधों के बाद हमीं शेष रह गये हैं।

नेति नेति के द्वारा अपने से अन्य सभी का निषेध हो गया, तो जो यह 'प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अपना आपा' बचा है, उसका निषेध तो कोई भी नहीं कर सकता। वह तो स्वयंप्रमाण है। यही आत्मतत्त्व है। यह खण्ड-खण्ड है कि अखण्ड? खण्ड तो उपाधियों से प्रतीत होते हैं। जब सारी उपाधियों का ही निषेध हो गया तो खण्ड कैसा? यह तो अखण्ड है। उपाधियाँ ही अध्यस्त होती हैं। उनके निषेध के बाद जो यह बचा है, यही तो सर्वाधिष्ठान है। इसी पर तो सारा जगत् अध्यस्त होकर प्रतीत हो रहा है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति।। श्रीमद्भागवत—11.21.43

श्रीमद्भागवत में कहा है कि सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्ड में देवताओं के रूप में मेरा ही वर्णन करती हैं, ज्ञानकाण्ड में आकाशादिरूप से मुझमें ही अन्य वस्तुओं का आरोप करके, उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियों का बस इतना ही तात्पर्य है कि मेरा आश्रय लेकर, मुझमें भेद का आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं, और अन्त में सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठान रूप में मैं ही शेष रह जाता हूँ।

इस सर्वात्मस्वरूप अधिष्ठान की सिद्धि में न तो वृत्तिव्याप्ति चाहिये, न फलव्याप्ति चाहिये। वह तो ज्यों का त्यों है। यह तो किसी वस्तु की, महावाक्य की भी अपेक्षा नहीं रखता। महावाक्य भी कल्पितविधया ही उसमें प्रमाण होता है, वस्तुविधया नहीं। इसी से कहा है—

प्रमाता च प्रमाणञ्च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते।।

आत्मा है, इसमें क्या प्रमाण है? प्रमाण माँगते हो तो बतलाओ, कि यह कैसे मालूम पड़ता है कि प्रमाण है? जिसकी सत्ता के होने से प्रमाण का होना सिद्ध होता है, प्रमाता का होना सिद्ध होता है वह अपना आपा ही तो है।

यदि कहो कि वह कितना बड़ा है? बड़प्पन तो देश में नापा जाता है। यदि कहो कि कितनी उमर है उसकी? वह तो काल में नापी जाती है। यदि कहो कि कितना वजन है? तो वह तो वस्तु में नापा जाता है। इसलिये जब तक अपवाद पक्का नहीं होता, तब तक नेति नेति का सच्चा ज्ञान नहीं होता। तभी तक वेदान्त में प्रमाण की आवश्यकता होती है। इसीलिये शंकराचार्य भगवान् कहते हैं—**अविद्यावद् विषयाणि प्रत्यक्षाणि प्रमाणानि शास्त्राणि च।** जब तक अज्ञान है, तभी तक प्रमाण और शास्त्र की आवश्यकता है। जब अज्ञान निवृत्त हो गया तब प्रमाण और शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। नेति नेति तक तो पदों और वाक्यों की पहुँच है किन्तु नेति नेति के आगे जो रह जाता है उसमें किसी की पहुँच नहीं है।

भेदसंसर्गहीनत्वं पदवाक्यार्थतात्मनः।
दुःसम्भाव्यः स आत्मायं आत्मनैवानुभूयते।।

सुरेश्वराचार्य भगवान् कहते हैं कि इसमें भेद का किचित् भी संसर्ग नहीं होता, इसलिये किसी भी पद या वाक्य का अर्थ आत्मा नहीं होता है। वह तो—**स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्**—अवधूतगीता। नेति नेति करने के बाद, जो शेष बचे, वह स्वयं ही तत्त्व है, स्वयं ही ज्ञान है।

इसलिये माण्डूक्यश्रुति प्रयत्नपूर्वक द्वैत का निषेध करती है। द्वैत का निषेध होने पर, जो है, सो है, उसमें कोई द्वैत नहीं, कोई खण्ड नहीं, कोई परिच्छेद नहीं, कोई अज्ञान नहीं। नेति नेति का अर्थ है समस्त उपाधियों का निषेध। उपाधियों का निषेध होने पर जीव की उपाधि अन्तःकरण का निषेध और ईश्वर की उपाधि माया का भी निषेध हो जाता है। इस प्रकार उपाधिजन्य सारे कार्यों का निषेध हो जाने पर, केवल आत्मतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है, जो कि उपाधिजन्य नहीं है। इस प्रकार उसका अजन्यत्व स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। सारे वेद और उपनिषद् इस अजातवाद का ही उद्घोष करते हैं। अजातवाद पर अनेक श्रुति प्रमाण हैं—**अहमेव स्वयमिदम्**—ऋग्वेद/**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति**—ईशावास्योपनिषद्/**स एवेदं सर्वम्**—छान्दोग्योपनिषद्/**दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं** जगत्—तेजोबिन्दूपनिषद्/**न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम्**—आत्मोपनिषद्/**त्वमेव सर्वं त्वमेव सर्वं, न किञ्चिदस्ति त्वद्व्यतिरिक्तम्**—नारायणोपनिषद्/**अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः**—महोपनिषद् आदि।

उपनिषदों के पारिभाषिक शब्दों के निर्वचन तथा व्युत्पत्ति

आत्मा—यास्क ने आत्मन् शब्द की निरुक्ति की है—**आत्माततेर्वा आप्तेर्वा अपि वाप्त इव स्यात् यावद् व्याप्तिभूत इति** (निरुक्त 3/15)। अर्थात् आत्मन् शब्द **अत सातत्यगमने** अथवा **आप्लृ व्याप्तौ** धातु से निष्पन्न है।

आत्मा वह है जो सम्पूर्ण में व्याप्त सा हो। इस प्रकार **अतति=सततं गच्छति, व्याप्नोति वा आत्मा।** इस व्युत्पत्ति से व्यापकता आत्मा का स्वरूपगत धर्म मान्य है। सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उणादि सूत्र 4/15/4) के अनुसार अत् धातु से मनिण् प्रत्यय के द्वारा आत्मन् की निष्पत्ति होती है। यास्क कहते हैं—**एभ्यः पर आत्मा। तान्यस्मिन्नेकीभवन्ति** अर्थात् इन्द्रियादि से परे आत्मा है, जिसमें इन्द्रियादि सब एकत्व लाभ करते हैं। इस

प्रकार यास्क ने आत्मा के तीन अर्थ लिये हैं—

1. कोई भी व्याप्तिशील तत्त्व।

2. अङ्गी तत्त्व, जिसमें अङ्ग रूप से तत्त्वान्तर स्थित हो।

3. परमचेतन तत्त्व, जिसमें अन्य अवान्तर चेतन तत्त्वों का संघात बनता हो।

भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने केनोपनिषद् 4/1 के भाष्य में, उद्धरण में चार व्युत्पत्तियों का समाहार किया है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।

अर्थात् विषयों की प्राप्ति, आदान और भोग तथा निरन्तर सत्ता के आधारों पर 'आत्मा' कहा जाता है।

वेद में कभी-कभी पुत्र को आत्मा कहा जाता है—**आत्मा वै पुत्रनामासि** (तैत्तिरीय संहिता 2/11 तथा शतपथ ब्राह्मण बृहदारण्यक भाग 14/9/4) कौषीतकी उपनिषद्—**आत्मा त्वं पुत्र**। ऐसे स्थलों पर पुत्र पर आत्मत्व का लाक्षणिक आरोप है, जिसमें सन्तानतन्तु की बीजगत अविच्छिन्नता का तात्पर्य निहित है।

वेदों में वायु को भी आत्मा कहा जाता है—**आत्मा ते वातः** ऋग्वेद (7/89/2) यह इसलिये कहा जाता है कि वह 'सदागति' है।

वेद में जब **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (ऋग्वेद 1/115/1) कहा जाता है, तब परमतत्त्व जैसे अर्थ में आत्मा का उपचरित अर्थ होता है।

जब **आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्** अर्थात् आत्मा दक्षिणा को वर्म बनाता है और विज्ञानवान् है, (ऋग्वेद 10/10/7/7) ऐसा कहा जाता है, तब आत्मा का अर्थ जीव होता है। तब इसका अर्थ होता है—**देहेन्द्रियादिकं सर्वं परार्थमतति व्याप्नोति, अधितिष्ठति इत्यात्मा।**

इस प्रकार आत्मा का अर्थ अन्तर्यामी जीवात्मा भी है। इसीलिये व्यष्टि रूप में आत्मा को नियन्ता कहा जाता है।

उपनिषदों में प्रतिशरीर आत्मा को प्राज्ञ कहा गया है। **शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः**—बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/35।

आत्मा का व्यष्टि रूप जीव है, जो शरीर की गुहा में स्थित है। **अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा जन्तोर्निहितो गुहायाम्** (कठोपनिषद् 2/20, श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/20) इसी को मुण्डकोपनिषद् 2/2/7 में **'दिव्ये ब्रह्म पुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः'** कहा गया है। यह गुहा और ब्रह्मपुर हृदय ही है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—**तस्यैतदेव निरुक्तम्—हृद्ययमिति तस्माद् हृदयम्**—छान्दोग्योपनिषद् 8/33। अतः हृदि अयम् हृदयम् इस व्युत्पत्ति से आत्मा को हृदय में रहने के कारण उपनिषदों में 'हृदय' भी कहा जाता है। इसीलिये श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि वस्तुतः समष्टि आत्मा ही व्यष्टि रूप से हृदय में रहता है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।। श्वेताश्वतर 4/17

जीवात्मा अर्थ में आत्मा की व्युत्पत्ति होगी—**यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह** अर्थात् विषयों की प्राप्ति, आदान और भोग करने वाला आत्मा है। इसे अथर्ववेद में 'आत्मन्वद्' भी कहा गयाहै। यह इसलिये कि यही परम आत्मा ही सभी जीवात्माओं का अधिष्ठान है, आधार है। अतः सर्वव्यापक परमात्मा भी यही है। जीव जगत् की सीमाओं से परे इस अनुपहित परम आत्मा का उपनिषदों में विशेष प्रतिपादन है। इसमें प्रमाण है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मानमभि सं विवेश।। माध्यन्दिनी वाजसनेयी संहिता 32/11

अर्थात् सभी भूतों, लोकों, दिशाओं और विदिशाओं को व्याप्त कर प्रथम सृष्टि में उपस्थित होकर सब ओर से ऋत के आत्मा में प्रवेश कर गया। इससे परे कुछ नहीं है। **सा काष्ठा सा परा गतिः।।** कठोपनिषद् 6/7-8।।

एतमात्मानमेत आत्मानोन्ववस्यन्ति।। कौषीतकी उपनिषद् 6/7-8 सभी आत्मा इसी आत्मा में पर्यवसान लेते हैं। अथवा—**आत्मैवाभूत् विजानतः।।** ईशावास्योपनिषद् 6/7

ज्ञानी के लिये सब कुछ आत्मा ही हो जाता है और वह सभी में आत्मा को देखता है। इसी प्रकार—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/11

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषात्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। कठोपनिषद् 2/23, मुण्डकोपनिषद् 3/2/3

यह आत्मतत्त्व प्रवचन, मेधा अथवा बहुत शास्त्र ज्ञान से नहीं पाया जा सकता है। वही जिसका वरण कर लेता है उसी के समक्ष अपने स्वरूप को विवृत कर देता है। इसलिए यह अपरोक्षानुभूति है—

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।

जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।। श्वेताश्वतर 3/31

अर्थात् मैं इस जरा रहित सर्वात्मा, सर्वगत पुरातन तत्त्व को जानता हूँ, जिसका जन्म नहीं होता और वह नित्य है।

परमात्मा अर्थ में आत्मा की व्युत्पत्ति होगी— **यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।** अर्थात् निरन्तर सत्ता का आधार 'आत्मा' है।

इस प्रकार उपनिषदों में आत्मा के दो अर्थ हैं—जीवात्मा और परमात्मा।

ईश्वर—"ईश ऐश्वर्ये" धातु से **स्थेशभासपिसक्वसो वरच्** (पा० सू० 3/2/174) अतः पाणिनि के अनुसार 'वरच्' प्रत्यय होकर ईश्वर शब्द निष्पन्न होता है। ईश्वर सामान्यतः ईश्वरत्व विशिष्ट का अर्थ देता है।

अतः किसी भी विभूतिशाली को सापेक्ष रूप से ईश्वर कहा जा सकता है। जिसमें ईश का शील धर्म तथा साधुकारिता हो (पा० सू० **आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु** 3/2/134) पाणिनीय सूत्रों में सापेक्ष "ईश्वर" के ही प्रयोग स्वामी या अधिपति अर्थ के साथ पाये जाते हैं। महाभाष्यकार ने कहा है—**ईश्वरतेश्वरभावः** (महाभाष्य 2/3/9) अर्थात् ईश्वर का भाव ईश्वरता या ऐश्वर्य है। इस 'वरच्' प्रत्यय से बने हुए 'ईश्वर' शब्द का स्त्री रूप '**अजाद्यतष्टाप्**' सूत्र से ईश्वरा होता है।

यदि वह स्वयं ईश्वरत्व विशिष्ट हो, किन्तु ईश्वर की स्त्रीमात्र हो, तो 'ईश्वरी' भी हो सकता है। ईश्वरी बनाने के लिये उणादि 'वरट्' प्रत्यय से बना हुआ 'ईश्वर शब्द लेना होगा। अश् धातु से **अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च** इस उणादि सूत्र 5-57 से उणादि 'वरट्' प्रत्यय लगाकर भी 'ईश्वर' शब्द निष्पन्न होता है। टित् प्रत्यय होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में इससे **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (पा० सू० 4/1/48) से ङीप् प्रत्यय करके 'ईश्वरी बनता है।

काल—संज्ञा पद "काल" मृत्यु एवं समय का अर्थ देता है परन्तु विशेषण पद के रूप में "काल' कृष्ण पर्याय है। पाणिनि ने काल समय तथा वेला को एक सूत्र में बद्ध किया है (**कालसमयवेलासु तुमुन्** 3/3/167)। यहीशब्द समय पर्याय के रूप में विचारणीय है। इसी का फलितार्थ मृत्यु है। काल नित्य द्रव्य सत्ता की शक्ति या जीवात्मा के सम्बन्ध में कोई अनिर्वाच्य तत्त्व है या नहीं? इस विषय में दार्शनिक वैमत्य पाया जाता है। कुछ प्रस्थानों में ईश्वर ही काल है। निघण्टु में गत्यर्थक "कालयति" का पाठ है। तदनुसार—**कालः कालयतेर्गतिकर्मणः**। (नि० 2/25/7)। **स हि सर्वाणि भूतानि कालयति क्षयं नयति**। (दुर्ग)

अर्थात् गत्यर्थक "कल" या "काल" धातु से "काल" की निष्पत्ति है। अतः सभी प्राणियों का क्षय करने वाला काल है। पाणिनीय धातु 'कल क्षेपे' से कालयति रूप बनता है। क्षेप प्रेरणापर्याय है जिससे गति का ही अर्थ आता है। सदैव पुरो गति देने वाला पदार्थ काल है। गीता 10/30 में आया है—**कालः कलयतामहम्।**

अर्थात् कलना करने वालों में परमेश्वर कालरूप है। शाङ्कर भाष्य में कलन को गणना पर्याय बताया गया है। अतः "**कल गतौ संख्याने च**" इस पाणिनीय धातु से इसकी निष्पत्ति स्वीकृत है। अर्थात् गणना पर्याय संख्यानार्थक कल धातु से घञ् प्रत्यय करने पर काल शब्द की निष्पत्ति है।

जीव—'जीव प्राणधारणे' धातु से 'क' प्रत्यय के साथ कर्तृवाच्यकृदन्त से 'जीव' की निष्पत्ति है—**जीवतीति जीवः** (पाणिनि अष्टा०—सूत्र—3/1/135) यह प्राणधारण का कर्ता जीव है। यह आत्मा का वह स्वरूप है जो संसारावस्था में प्राणादि से विशिष्ट रहता है। इसका विविध दर्शनों में वैविध्य के साथ विचार हुआ है किन्तु उपनिषद्, गीता, भागवत एवं ब्रह्मसूत्र की सामग्री ही सभी वैदिक दर्शनों का आधार रही है। स्थूल रूप से परे भगवान् का सूक्ष्म अव्यक्त रूप है जो न तो स्थूल रूप की तरह आकारादि गुणों वाला है और न देखने, सुनने में आता है। वही सूक्ष्म शरीर है। इसी सूक्ष्म शरीर में जब आत्मा का आरोप होता है या प्रवेश होता है तब वह 'जीव' कहलाता है। इसका बार-बार जन्म होताहै। जीव जब भगवान् के स्वरूप को भूल जाता है तब वह अपने को अलग मान बैठता है, इसी से जीव को संसार चक्र में आना पड़ता है तथा उसे जन्म-पर-जन्म और मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती है। यह मनुष्य योनि ज्ञान और विज्ञान का मूल स्रोत है। जो इसे पाकर भी

अपने को परमात्मा नहीं जान लेता उसे कहीं किसी भी योनि में शान्ति नहीं मिलती।

प्रकृति या प्रधान—प्रधत्ते सर्वमात्मनि अथवा प्रकृष्टं धानमनेन, इन अर्थों में प्र उपसर्ग पूर्वक धा धातु से ल्युट् च (पा० सू० 3.3.115) से ल्युट् प्रत्यय करके प्रधान शब्द निष्पन्न होता है।

इस प्रधान को ही प्रकृति भी कहा जाता है। **प्रकृष्टा कृत्तिः कार्यं यस्याः** अथवा प्रकरोति इति, इन अर्थों में प्र उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्**' (पा० सू० 3.3.174) इस सूत्र से क्तिच् प्रत्यय करके बनता है।

ब्रह्म—सारे भारतीय दर्शनों का मूल स्रोत उपनिषद् ही है तथा सारे उपनिषद् एक स्वर से जिस तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वही वेदान्तवेद्य ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द "बृंहिर् वृद्धौ" से निष्पन्न होता है। यह धातु अन्तर्भाविण्यर्थ है। अतः इसका अर्थ बृंहति इति ब्रह्म न होकर 'बृंहयति वर्धयति प्रजाः इति ब्रह्म'है।

बृंह धातु से उणादि सूत्र "बृंहेर्नोऽच्च" से मनिन् प्रत्यय करके तथा धातु के न् को अत् आदेश करके ब्रह्मन् शब्द निष्पन्न होता है। अखिल विश्व में व्याप्त वह परम सत्ता जो सर्वव्याप्त है, वह ब्रह्म है। सर्वव्याप्त होने का अर्थ है कि ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ वह नहीं हो। अर्थात् समस्त विश्व उसी पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो निर्गुण, निराकार, चिन्मात्र सर्वव्यापक तत्त्व है, जो जगत् का अधिष्ठान है, वह क्रियाशून्य तत्त्व ब्रह्म है।

ब्रह्मा—वही निर्गुण, निराकार, चिन्मात्र सर्वव्यापक तत्त्व जब त्रिगुणों से सम्पन्न होता है, तब उसमें क्रियाकारित्व उत्पन्न होता है। तब उस क्रियाशून्य तत्त्व ब्रह्म का ही नाम ब्रह्मा हो जाता है। ब्रह्मा पद की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार कहते हैं कि—**ब्रह्मा सर्वविद् यः सर्वं वेदितुमर्हति/ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः** (नि० 1/8/1)।

सर्वविद्यः का अर्थ है—**सर्वं वेदितुमर्हति। सर्वां विद्यां वेद इति सर्वविद्यः। तथाविधो ह्यासावधिकारी त्रयीविद्यासंयुक्तो येनासौ सर्वमेव वेदितुमर्हति अतोऽयं ब्रह्मा भवति।** प्रश्न होता है कि यह सर्वविद्यत्व उसमें आया कहाँ से? तो ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि—**त्रय्या विद्यया।** (ऐतरेय ब्राह्मण 5.5.8)

यज्ञ में सर्वज्ञ को ब्रह्मा कहा जाता है, जिसे अपेक्षित समस्त विषय का ज्ञान होना चाहिये। शास्त्र से परिवृढ (वृद्धि प्राप्त) को (उपचारतः) ब्रह्मा नाम दिया गया है क्योंकि ब्रह्मतत्त्व सर्वतः परिवृढ है (परिव्याप्त है)।

ऋग्वेद में 'ब्रह्माणि' यह पद नपुंसकलिङ्ग में आया है। (ऋ० 1.3.5, 6)। इसका अर्थ वैदिक धर्म है। अमरकोष में कहा गया है कि—वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः। अर्थात् नपुंसकलिङ्ग ब्रह्मन् शब्द के वेद, तत्त्व एवं तप अर्थ है तथा पुल्लिङ्ग ब्रह्म शब्द (ब्रह्मा) ब्राह्मण तथा प्रजापति का वाचक है।

माया—विश्वं माति मिमीते वा अस्याम् इति माया। यह माया शब्द अदादिगण के मा माने धातु से अथवा जुहोत्यादिगण के माङ् माने शब्दे च, धातु से '**माच्छाससिभ्यो यः**' इस उणादि सूत्र 4.109 से य प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।

लोक में प्रायः छल या मिथ्या प्रतिभास के अर्थ में इसका प्रायोगिक व्यवहार किया जाता है, किन्तु वेदान्त में ब्रह्म की शक्ति के अर्थ में इसके प्रयोग होते हैं। प्रतिपति में परिच्छेद लाने वाला तत्त्व माया है। निघण्टु में इसे प्रज्ञापर्याय कहा गया है (निघण्टु 3/9) इसी प्रकार यास्क ने भी "प्रज्ञा" अर्थ ही किया है। छन्द, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत एवं भव्य आदि जो कुछ भी वेद कहते हैं, उस सबसे मायी विश्व की सृष्टि करता है जिसमें जीव माया द्वारा बद्ध रहता है। माया प्रकृति तथा मायी परमेश्वर है। जिसके अंशों से यह समस्त जगत् व्याप्त है।

मनस्—मनु अवबोधने धातु से औणादिक असुन् प्रत्यय द्वारा मनस् शब्द की निष्पत्ति की जाती है। चित्त के समान यह भी अतिप्राचीन वैदिक शब्द है। जिसे अन्तःकरण के रूप में सर्वसम्मत स्थान मिला है। **मनो मनोतेः** (नि० 4/1/5) अर्थात् मननार्थक "मन" धातु से मनस् निष्पन्न होता है। शरीर तथा बाह्य विषयों से पर इन्द्रिय हैं, उनसे पर मन, उससे पर बुद्धि, बुद्धि से पर आत्मतत्त्व है। यहाँ मन को इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ बताने से स्पष्ट है कि मन ही उनका परिचालक है और मन पर बुद्धि का नियन्त्रण है। गीता में मन की श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है कि—**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** 10/22।

❒

परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों पर औपनिषद सृष्टि प्रक्रिया का प्रभाव

डॉ० सुभाष चन्द्र सचदेवा 'हर्ष' ★

दार्शनिक जगत् में उपनिषदों में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया ने एक अभूतपूर्व भूमिका का निर्वाह किया है। यों तो प्राय:सभी भारतीय दर्शनों पर औपनिषद सृष्टि-प्रक्रिया का प्रभाव स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है, तथापि 'स्थालीपुलाक' न्याय से यहाँ सांख्य, वेदान्त एवं शैव दर्शन में परिलक्षित औपनिषद सृष्टि-प्रक्रिया के प्रभाव का विवेचन किया जा रहा है।

सांख्यदर्शन

(क) सृष्टि का कारण—सांख्य में सृष्टि के कारण के सम्बन्ध में कारणद्वय की मीमांसा की गई है—(i) उपादान कारण (ii) निमित्त कारण।

सांख्यानुसार मूल प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, परन्तु उसका कोई कारण नहीं है।[1] प्रकृति शब्द मूलतः किसी तत्त्व या पदार्थ का वाचक न होकर उपादान कारण का ऐसा पर्यायवाची शब्द है, जिसको सांख्य ने उपादान कारण के लिए मुख्यतः प्रयुक्त किया है।[2] पुरुष सृष्टि का निमित्त कारण है क्योंकि पुरुष से संयोग होने पर ही जड़ प्रकृति में चैतन्य का संचार होता है, परिणामतः नानाविध सृष्टि का विस्तार होता है।

सृष्टि-कारण विषयक सांख्यशास्त्र की इस मान्यता पर आंशिक रूप से औपनिषद सृष्टि-प्रक्रिया का प्रभाव है। जहां तक मूल-प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण मानने का प्रश्न है उसका उपनिषदों में संकेत उपलब्ध नहीं होता।

उपनिषदों में प्रायः आत्मा, परमात्मा एवं पुरुष[3] आदि शब्दों का समान अर्थ में प्रयोग हुआ है। ईश[4], केन[5] एवं बृहदारण्यकोपनिषद्[6] के अनुसार आत्मा (पुरुष) सृष्टि का निमित्त कारण है। इस दृष्टि से सांख्य पर उपनिषदों के प्रभाव का मूल्यांकन किया जा सकता है। उक्त उपनिषदों के अतिरिक्त ऐतरेयोपनिषद्[7] एवं

★ वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, हिन्दू कन्या महाविद्यालय, सोनीपत, हरियाणा

कठोपनिषद्[8] में आत्मा (पुरुष) को सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण स्वीकार किया गया है। निष्पक्षतः कहा जा सकता है कि सांख्य में पुरुष को भले ही सृष्टि का उपादान कारण स्वीकार नहीं किया गया परन्तु सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में पुरुष (आत्मा) को प्रतिष्ठित करके सांख्य ने उपनिषदों की ही मान्यता का अनुमोदन किया है।

सृष्टि क्रम—सांख्यदर्शनानुसार प्रकृति एवं पुरुष के (परस्पर सापेक्ष) संयोग से सृष्टि होती है।[9] उक्त सृष्टि का क्रम इस प्रकार है। सर्वप्रथम प्रकृति (मूल प्रकृति) से महतत्त्व या बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति होती है, पुनः महतत्त्व से अहंकार नामक तत्त्व उत्पन्न होता है और उस अहंकार से सोलह तत्त्वों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—ये पंच तन्मात्राएं तथा एकादश इन्द्रियाँ) की सृष्टि होती है। उक्तसोलह तत्त्वों में से भी क्रमशः शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रूपतन्मात्रा से अग्नि, रसतन्मात्रा से जल तथा गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी—इन पंचमहाभूतों की सृष्टि होती है।[10]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी प्रकारान्तर से प्रकृति एवं महेश्वर (पुरुष) के संयोग से (अवयव भूत से) समग्र विश्व को व्याप्त प्रतिपादित किया गया है।[11]

यद्यपि सांख्याभिमत सृष्टि-क्रम में पर्याप्त अंश पर्यन्त मौलिकता का समाहार हुआ है तथापि उस पर मुण्डक एवं कठोपनिषद् का यत्किञ्चित् प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि प्राण, मन एवं इन्द्रियों की उत्पत्ति के अनन्तर आकाश, वायु, ज्योति (अग्नि), जल (आपः) एवं पृथ्वी की सृष्टि हुई।[12] सांख्य ने भी एकादशेन्द्रिय (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय एवं मन) की उत्पत्ति के अनन्तर शब्द आदि तन्मात्राओं से क्रमशः आकाशादि पंचमहाभूतों की सृष्टि स्वीकार की है।

कठोपनिषद् में महत् तत्त्व से अव्यक्त (मूल प्रकृति) तथा अव्यक्त से पुरुष को पर (सूक्ष्म) बतलाया गया है।[13] इसे सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया का मूल कहा जा सकता है।

प्रकृति के तीन गुण

सांख्य की मान्यता है कि प्रकृति के द्वारा उत्पादित सृष्टि में जो वैविध्य परिलक्षित हो रहा है उसका मूल कारण है—प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् ये तीन गुण। 'सांख्यसूत्र' में उक्त तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही मूल प्रकृति कहा गया है।[14] डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी[15] का विचार है कि सांख्याभीष्ट उक्त तीनों गुणों की छान्दोग्योपनिषद् में 'त्रिवृत्करण' के रूप में उपलब्धि होती है। अतः सांख्य के तीनों गुणों की कल्पना का आधार 'छान्दोग्योपनिषद्'[16] में समुपलब्ध होता है।

सांख्याभिमत बुद्धिसर्ग

सांख्य में पचास भेदों वाले प्रत्यय सर्ग अथवा बुद्धि सर्ग का विशेष महत्त्व है। पाँच विपर्यय[17] (तमस, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र), नौ तुष्टि (प्रकृति, उपादान, काल एवं भाग्य तथा पाँच विषयों—

शब्दादि से उपरति), अठाईस अशक्ति (ग्यारह इन्द्रियों के उपघात, नौ तुष्टि एवं आठ सिद्धियों का अभाव) तथा आठ सिद्धि (ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, दु:खत्रयनाश एवं दान)—ये पचास बुद्धिसर्ग हैं।[18]

उक्त प्रत्ययसर्ग (बुद्धिसर्ग) पर पूर्णत: श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् में सृष्टिचक्र के बाह्य घेरे को पचास अरों से संयुक्त स्वीकार किया गया है।[19] ये प्रकारान्तर से पचास प्रत्यय सर्ग हैं जिन्हें सांख्यशास्त्र ने ग्रहण किया है।[20]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सांख्य प्रतिपादित क्रमिक सृष्टि एवं प्रत्यय सर्ग पर उपनिषदों का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

वेदान्त

वेदान्त प्रतिपादित सृष्टि-प्रक्रिया पर अन्य दर्शनों की अपेक्षा उपनिषदों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। डॉ० राममूर्ति शर्मा की मान्यता है कि अन्य भारतीय दर्शनों की तुलना में औपनिषद दार्शनिक पृष्ठभूमि : अद्वैत वेदान्त के अधिक निकट प्रतीत होती है।[21] संभवत: इसीलिए उपनिषदों को वेदान्त नाम से ही अभिहित किया जाने लगा। सदानन्द की 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्'[22] जैसी उक्तियों के मूल में यही धारणा दृष्टिगोचर होती है।

सृष्टि का कारण

वेदान्त के सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के 'जन्माद्यस्य यत:'[23] नामक सूत्र के आधार पर ब्रह्म सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण सिद्ध होता है।[24]

यहाँ यह शङ्का संभावित होती है कि जिस प्रकार दण्ड आदि निमित्त कारण घटादि कार्यों में व्याप्त देखे जाते हैं, उस प्रकार परमात्मा (ब्रह्म) की स्थिति नहीं है। अत: ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण कैसे हो सकता है? दूसरे, जहाँ तक परमात्मा (ब्रह्म) की उपादानकारणता का प्रश्न है, वह भी ब्रह्म के विषय में उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि चेतनस्वरूप ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण कैसे हो सकता है? वेदान्तसार में उक्त दोनों शङ्काओं का समाधान करते हुए कहा गया है कि अज्ञान से उपहित चैतन्य की प्रधानता के कारण ब्रह्म (चैतन्य) निमित्त कारण है तथा अपनी उपाधि (अज्ञान) की प्रधानता के कारण उपादान कारण है।[25] सुप्रसिद्ध वेदान्ताचार्य नृसिंह सरस्वती[26] ने ब्रह्म में उक्त कारणद्वय की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि जिस प्रकार अयस्कान्त (चुम्बक) के सम्पर्क से जड़ लोहे में भी क्रिया देखी जाती है उसी प्रकार चैतन्य के संसर्ग से जड़ रूप अज्ञान में भी चेष्टा देखी जाती है, अत: वह निमित्त कारण है। इसी प्रकार आकाशादि प्रपञ्च के माया के उपादान कारण होने से माया शक्ति सम्पन्न मायावी ब्रह्म भी उपचार से उपादान कारण भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन पर प्रधानतया तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रभाव है, बादरायण (वेदव्यास) ने उक्त उपनिषद् को प्रधान साक्ष्य मानकर वेदान्तिक सिद्धान्तों की पुष्टि की है।[27] तैत्तिरीयोपनिषद् के साथ-साथ ऐतरेय, प्रश्न,

कठ, मुण्डक, छान्दोग्य, माण्डूक्य एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ब्रह्म अथवा उसके लिए अन्य प्रयुक्त (सत्, रुद्र एवं प्राज्ञ आदि) विशेषणों द्वारा उसे सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण प्रतिपादित किया गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म से ही प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति एवं अन्ततः उसमें ही उनकी लीनता का वर्णन किया गया है।[28] उत्पन्न करने के उपरान्त स्थिति (पालन) प्रदान करने का सामर्थ्य चेतनसत्ता में ही सम्भव है, वह चेतन सत्ता ब्रह्म है, और उत्पत्ति तथा स्थिति (पालन) का निमित्त होने से निमित्त कारण है। उसमें प्राणियों का लय तभी हो सकता है जब वह प्राणियों का उपादान कारण हो, जैसे घटादि टूटने के उपरान्त अपने उपादान कारण मिट्टी आदि में मिल (लीन हो) जाते हैं। अतः उपनिषद् वचनानुसार ब्रह्म का उपादान कारणत्व भी सिद्ध हो जाता है।

ऐतरेयोपनिषद् के **स इमाँल्लोकानसृजत**[29] नामक वचन से भी ब्रह्म का सृष्टिकारणता में उपादान एवं निमित्तकारणत्व सिद्ध होता है।

प्रश्नोपनिषद् में सृष्टि विस्तार के संकल्प वाले प्रजापति द्वारा 'रयि' और 'प्राण' की सर्वप्रथम रचना किये जाने का वर्णन उपलब्ध होता है। उक्त तत्त्वद्वय (रयि एवं प्राण) की सृष्टि का उद्देश्य यह था कि 'ये अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न करेंगे।"[30] यहां स्पष्टतः ब्रह्म का सृष्टि कार्य में निमित्त एवं उपादानकारणत्व ध्वनित होता है क्योंकि रयि और प्राण की सृष्टि निमित्त कारण को इंगित करती है और पुनः रयि और प्राण से अन्य सृष्टि का विस्तार ब्रह्म के उपादान कारण होने पर ही सम्भव है।

कठोपनिषद् में ब्रह्म को 'वशी' एवं 'एक रूप का अनेक रूपों में (बहुधा) विस्तार करने वाला' प्रतिपादित किया गया है।[31] यहाँ सृष्टि के 'वशी' रूप में जो वर्णन है वह ब्रह्म के निमित्त कारणत्व का द्योतक है तथा एक रूप को अनेक रूप प्रदान करने की क्षमता उपादान कारण में ही सम्भव है। अतः ब्रह्म कारणद्वय से समन्वित है।

मुण्डकोपनिषद् में मकड़ी, पृथ्वी एवं मनुष्य के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के उपादान एवं निमित्त कारणत्व का निरूपण किया गया है।[32]

शङ्कराचार्य की मान्यता है कि उपनिषदुक्त 'मकड़ी किसी अन्य उपकरण की अपेक्षा किये बिना स्वयं ही अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को रचती है'—इन वचनों द्वारा सृष्टिकर्ता की उपादानकारणता का अनुमोदन किया गया है।[33] उनका यह भी विचार है कि पूर्वोक्त दृष्टान्तों में 'सृजन' एवं 'गृह्णन' आदि वचनों के आधार पर ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण भी सिद्ध होता है, अतः उसे किसी अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं है।[34]

छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का आधार स्वीकार किया गया है।[35] अतः तैत्तिरीयोपनिषद् के समान यहाँ भी ब्रह्म का कारणद्वय (उपादान एवं निमित्त) से समन्वित होना सिद्ध होता है।

माण्डूक्योपनिषद् में प्राज्ञसंज्ञक ब्रह्म को जीवों की उत्पत्ति एवं लय स्थान अभिहित करने के साथ-साथ सबका हेतु भी बतलाया गया है।[36] सबकी उत्पत्ति का कारण होने से ब्रह्म का निमित्तकारणत्व तथा सभी प्राणियों को अपने में लीन (लय) करने के कारण उसका उपादान कारणत्व भी सिद्ध होता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म (रुद्र) को प्राणियों का स्रष्टा, रक्षक एवं अन्ततः उनको अपने में लीन करने वाला बतलाया गया है।[37] ये तीनों कार्य उसी में शक्य हैं जो सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण हो।

सृष्टि-उत्पत्तिक्रम

वेदान्त-सम्मत सृष्टिक्रम का त्रिविध वर्गीकरण किया जा सकता है—(क) सूक्ष्म भूतों की सृष्टि (ख) सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति (ग) स्थूल प्रपञ्च की सृष्टि।

(क) सूक्ष्म भूतों की सृष्टि

वेदान्तसार में सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति की क्रमिक व्याख्या करते हुए कहा गया है कि तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।[38] ये आकाशादि सूक्ष्म भूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहलाते हैं।[39]

उक्त सृष्टि-क्रम पर पूर्णतः तैत्तिरीयोपनिषद् की छाया है। उपनिषद् में भी इसी क्रम से ही पंच सूक्ष्म-भूतों की सृष्टि का निरूपण हुआ है। आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल (आपः) तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।[40] ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्त में सर्वथा औपनिषदिक मान्यता को आधार बनाकर यह सृष्टिक्रम स्वीकार किया गया है।

(ख) सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) की उत्पत्ति—

वेदान्त में सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर की भी संज्ञा दी गई है तथा उसके सत्रह अवयव स्वीकार किये गये हैं—पंच ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण), बुद्धि, मन, पंच कर्मेन्द्रिय (वाक्, हाथ, पैर, वायु एवं उपस्थ), वायु पञ्चक (प्राण, अपान, उदान, व्यान एवं समान)[41]

उपर्युक्त सत्रह अवयवों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है—

(1) ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण)—ये पाँचों आकाशादि के सात्त्विक अंशों से पृथक्-पृथक् क्रम से उत्पन्न होते हैं,[42] अर्थात् आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र, वायु के सात्त्विक अंश से त्वचा, तेज (अग्नि) के सात्त्विक अंश से चक्षु, जल के सात्त्विक अंश से जिह्वा एवं पृथ्वी के सात्त्विक अंश से घ्राण (नाक) इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

(2) पुनः बुद्धि एवं मन की उत्पत्ति आकाशादि के सम्मिलित सात्त्विक अंश से होती है।[43]

(3) कर्मेन्द्रिय (वाक्, हाथ, पैर, वायु एवं उपस्थ) पञ्चक की सृष्टि आकाशादि के रजोगुणांश से पृथक्-पृथक् क्रम से होती है,[44] अर्थात् आकाश के रजोगुण रूप अंश से वाक्, वायु के रजोगुण रूप अंश से पाणि (हाथ), अग्नि के रजोगुण रूप अंश से पाद (पैर), जल के रजोगुण रूप अंश से वायु और पृथ्वी के रजोगुण रूप अंश से उपस्थ इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

(4) प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान—यह वायु पञ्चक आकाशादि के सम्मिलित रजोगुण अंश से उत्पन्न होता है।[45]

उक्त सृष्टि प्रक्रिया पर श्वेताश्वतरोपनिषद्[46] का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(ग) स्थूल प्रपञ्च की सृष्टि

स्थूल प्रपञ्च की सृष्टि में पञ्चीकृत भूतों की विशिष्ट भूमिका है। पञ्चीकरण की प्रक्रियानुसार आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी—इन पाँचों में से एक-एक को दो बराबर भागों में विभक्त करके पुनः पहले अर्द्धांशों को चार-चार भागों में बाँट कर तथा पंचभूतों के अर्धांश में अपने को छोड़कर द्वितीय अर्धांशों के चतुर्थांश को मिला देने से पंचभूत पञ्च हो जाते हैं।[47] यह प्रक्रिया इस प्रकार प्रस्तुत की जासकती है—

आकाश=आकाश 1/2+वायु 1/4+अग्नि1/4+जल1/4+पृथ्वी1/4

वायु=वायु1/2+आकाश1/4+अग्नि1/4+जल1/4+पृथ्वी1/4

अग्नि=अग्नि1/2+आकाश1/4+वायु1/4+जल1/4+पृथ्वी1/4

जल=जल1/2+आकाश1/4+वायु1/4+अग्नि1/4+पृथ्वी1/4

पृथ्वी=पृथ्वी1/2+आकाश1/4+वायु1/4+अग्नि1/4+जल1/4

पञ्चीकरण की इस प्रक्रिया पर छान्दोग्योपनिषद् अभीष्ट त्रिवृत्करणश्रुति का पूर्ण प्रभाव है। यह 'वेदान्तसार' के रचयिता ने भी स्वीकार किया है तथा त्रिवृत्करणश्रुति को पञ्चीकरण प्रक्रिया का उपलक्षण माना है।[48] त्रिवृत्करण की प्रक्रिया[49] के अनुसार अग्नि, जल एवं पृथ्वी में से प्रत्येक का आधा अपना होता है तथा शेष दो का चौथाई-चौथाई अंश होता है—

पृथ्वी=पृथ्वी1/2+अग्नि1/4+जल1/4

अग्नि=अग्नि1/2+पृथ्वी1/4+जल1/4

जल=जल1/2+अग्नि1/4+पृथ्वी1/4

एवंविध पञ्चीकरण पर स्पष्टतः त्रिवृत्करण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पञ्चीकृत भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्य इन ऊपर-ऊपर स्थित तथा तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल और पाताल इन क्रमशः नीचे-नीचे स्थित लोकों की, ब्रह्माण्ड की तथा ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत विद्यमान चार प्रकार के स्थूल शरीरों[50] (जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज प्राणियों) की तथा उनके योग्य अन्नपानादि की उत्पत्ति होती है। उक्त वेदान्तिक सृष्टि प्रक्रिया पर स्पष्टतः प्रश्न[51], मुण्डक[52], तैत्तिरीय[53], छान्दोग्य[54] एवं बृहदारण्यकोपनिषद्[55] का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

शैव दर्शन

शैव सम्प्रदाय में 'रुद्र' अथवा शिव को सृष्टि का कारण स्वीकार किया गया है।[56] उक्त सिद्धान्त पूर्ण रूप से उपनिषदों के अनुकूल है। मुख्य उपनिषदों में शिव का रुद्र नाम ही अधिक प्रचलित है। 'रुद्र' शिव के स्वरूप की सर्वाधिक विवेचना श्वेताश्वतरोपनिषद् में की गई है। डॉ० रानाडे के अनुसार श्वेताश्वतरोपनिषद् शैव मत का प्रतिनिधि उपनिषद् है।[57]

उक्त उपनिषद् में रुद्र (शिव) को ही जगत् का कर्ता (कारण), अधिष्ठाता एवं संहारकर्ता बतलाया गया है।[58] प्रश्नोपनिषद् में प्राण को रुद्र का पर्याय मानते हुए उसे सृष्टि का संहर्ता प्रतिपादित किया गया है।[59]

सृष्टि-प्रक्रिया—शैव सम्प्रदाय की सृष्टि-प्रक्रिया सांख्य से प्रभावित है। अतः शैव सम्प्रदाय की सृष्टि प्रक्रिया पर उपनिषदों के प्रभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। हम पहले ही सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया पर उपनिषदों के प्रभाव का विवेचन कर चुके हैं, अतः विज्ञ पाठकगण उसी के आधार पर स्वतः ही समझ सकते हैं कि औपनिषद सृष्टि प्रक्रिया ने शैव सम्प्रदाय की सृष्टि प्रक्रिया को किस सीमा तक प्रभावित किया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि औपनिषद सृष्टि-प्रक्रिया ने अपने परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों को पर्याप्त अंश तक प्रभावित किया है। विषय को एक निश्चित सीमा में रखते हुए यहाँ केवल सांख्य, वेदान्त एवं शैव दर्शन को आधार बना कर उक्त विवेचन किया गया है।

सन्दर्भ सङ्केत

(1) मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। (ईश्वर कृष्ण रचित 'सांख्यकारिका'3)
(2) डॉ0 रामकृष्ण आचार्य 'सांख्यतत्त्व कौमुदीसंहिता' सांख्यकारिका, पृ0 23
(3) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदाजनानां हृदये सन्निविष्टः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/12)
(4) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशावास्योपनिषद् 1)
(5) श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः....भवन्ति। (केनोपनिषद्, 2)
(6) (क) आत्मैवेदमग्रआसीत् पुरुषविधं....य एवं वेद। (बृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/1)
(ख) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते.....स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्....मनुष्या अजायन्त। (वही, 1/4/3)
(7) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। (ऐतरेयोपनिषद् 1/1/1)
(8) एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। (कठोपनिषद्, 2/1/12)
(9) पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।। (ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका-21)
(10) प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।। (वही, 22)
(11) मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/10)
(12) एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी।। (मुण्डकोपनिषद् 1/2/3)
(13) महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। (कठोपनिषद् 1/3/11)
(14) सत्त्वरजतमसां साम्यावस्था मूल प्रकृतिः। (सांख्यसूत्र, 1)
(15) डॉ0 ब्रजमोहन चतुर्वेदी, 'सांख्यकारिका, पृ0 160
(16) यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपाम्,
यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणि इत्येवसत्यम्। (छान्दोग्योपनिषद् 6/4/1)
(17) योगसूत्र में विपर्यय के पाँच भेदों को ही पाँच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश) अभिहित किया गया है।

योगसूत्र पर लिखे गये 'योगभाष्य' में स्पष्टतः कहा गया है-क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इति अर्थः। (देखें-पतञ्जलि कृत योगसूत्र 2/3 पर योग-भाष्य)

(18) पञ्चविपर्ययभेदाभवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशति भेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः।। (सांख्यकारिका 47)

(19) तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति प्रत्ययराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्।। (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1/4)

(20) डॉ0 वेदवती वैदिक श्वेताश्वतरोपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन, पृ0 244

(21) डॉ0 राममूर्ति शर्मा, वेदान्तसार, भूमिका, पृ0 14

(22) सदानन्द रचित वेदान्तसार, 3

(23) ब्रह्मसूत्र 1/1/2

(24) पं0 श्री जीवनशङ्कर तैत्तिरीयोपनिषद् और ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् अङ्क, पृ0 66

(25) अज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधि प्रधानतयोपादानं च भवति। (वेदान्तसार, 11)

(26) यथायस्कान्तसन्निधानेजडमयं लौहं चेष्टते तथा चैतन्यसन्निधाने जडमयमज्ञानं चेष्टते। (सुबोधिनी, पृ0 15)

(27) पं0 जीवनशङ्कर याज्ञिक, तैत्तिरीयोपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् अङ्क पृ0 64

(28) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1/1)

(29) ऐतरेयोपनिषद् 1/1/2

(30) तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत त तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। (प्रश्नोपनिषद् 1/4)

(31) एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति। (कठोपनिषद् 2/2/12)

(32) यथोर्णनाभिः......विश्वम्।। (मुण्डकोपनिषद्, 1/1/7)

(33) उर्णनाभिर्लूताकीटः किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्यस्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानेव तन्तून्। (मुण्डकोपनिषद् 1/1/7 पर शाङ्कर भाष्य)

(34) यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपेक्षात्। (वही)

(35) सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्। (छान्दोग्यपनिषद्, 3/14/1)

(36) एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। (माण्डूक्योपनिषद्, 6)

(37) एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वाभुवनानि गोपाः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/2)

(38) तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। (वेदान्तसार, 12)

(39) एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। (वही)

(40) तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशसंभूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः। अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1)

(41) सूक्ष्मशरीराणि सप्तादशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति। (वेदान्तसार, 13)

(42) ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणाख्यानि। एतन्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते। (वही)

(43) एते पुनराकाशादिगत सात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। (वही)

(44) कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोऽंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। (वेदान्तसार, 13)

(45) एतत्प्राणादि पञ्चकमाकाशादिगतरजोऽंशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते। (वही)

(46) तमेकनेमिं त्रिवृत्तं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्ययराभिः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/4)

(47) द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्व स्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते।। (पञ्चदशी, 1/17)

(48) अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। (वेदान्तसार, 15)

(49) तासां त्रिवृतं.....व्याकरोत्। (छान्दोग्योपनिषद् 6/3/3)

(50) चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाणडजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। (वेदान्तसार, 16)

(51) अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति। (प्रश्नोपनिषद् 1/14)

(52) सोमात्पर्जन्य औषधयः पृथिव्याम्। पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः।। (मुण्डकोपनिषद् 2/1/5)

(53) पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। (तैत्तिरीयोपनिष 2/1)

(54) तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति। (छान्दोग्योपनिषद् 6/3/4)

(55) यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्......पशुभ्य एकं प्रायच्छत्। (बृहदारण्यकोपनिषद् 1/5/1)

(56) यदुवंशी, 'शैवमत', पृ0 31

(57) Svetasvatara seems to have been written in the interest of Saivism.
(R.D. Ranade, A constructive study of Indian Philosophy, p. 511)

(58) यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्चविश्वाधियोरुद्रो महर्षिः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/4)

(59) इन्द्रस्त्वं प्राणः तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। (प्रश्नोपनिषद् 2/9)

उपनिषदें और बुद्ध

पं० मूलचन्द अवस्थी ★

भारतीय जीवन दर्शन उपनिषदों की मानसी गङ्गा से आपूरित है। भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति मानवता के श्रेष्ठ सिद्धान्तों की स्थापना के लिए उपनिषदों की चिर ऋणी है। औपनिषदिक ऋषियों की स्वच्छन्द-संयमित प्रतिभा तत्त्वबोध के माध्यम से उस उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है जो उन्नत एवं आदर्श है, सान्त एवं पूर्ण है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त ज्ञान अथवा अज्ञान में हमारा चिन्तनशील मन उपनिषदों की अध्यात्ममयी विचार तरङ्गों से आप्यायित रहता है। ज्ञान गङ्गा की इन्हीं लहरों के मध्य तैर-तैर कर हम जीवन की सर्वविध समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान अर्थात् कुछ मूल्यवान् मोती निकालते रहते हैं। कण-कण में, क्षण-क्षण में जीवन को आन्दोलित-अनुप्राणित करने वाली यह आध्यात्मिकता हमें निःसत्य-निःशेष न होने देगी, ऐसा विश्वास है।

भारतीय तत्त्वचिन्तन की परम्परा का मूलस्रोत उपनिषद् साहित्य है। चिन्तन के इस चमत्कारिक संग्रह में समग्र विश्व को हतप्रभ कर देने की सामर्थ्य है। यह सत्य है कि भारतीय जीवन की समग्रता से परिचय के लिए उपनिषद् साहित्य ऐसा वातायन है जिसमें से प्रत्येक दार्शनिक चिन्तन के लिए वायु और प्रकाश ग्रहण करता ही है। आत्मा के अनुभवों को जानने एवं अन्यान्य तथ्यों के विश्लेषण के लिए भगवान् बुद्ध को भारतीय प्रतिभा के उत्कृष्ट ग्रन्थ उपनिषद् उपलब्ध थे—अभिधम्म कोश, 4-109। उपनिषदों की पंक्तियों तथा बौद्ध विचारधारा के सम्यक् परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन अपने आपमें नितान्त मौलिक सिद्धान्त नहीं था, अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि उसने अधिकांशतः उपनिषदों की महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं से ग्रहण की थी। इस रूप में बौद्ध दर्शन उपनिषदों का अपार ऋणी है।

प्राचीनतम उपनिषदों के विचारक ऋषि-मनीषी, निश्चित रूप से बुद्ध के पूर्ववर्ती थे जिनमें प्रवाहण, जैमिनि, उद्दालक, आरुणि, श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य, सत्यकाम, जाबाल और जनक वैदेह आदि प्रमुख हैं जिन्होंने किसी न किसी प्रकार ज्ञात या अज्ञात रूप में बुद्ध पुरुष के निर्माण में योगदान दिया। बुद्ध पूर्णतः बुद्धिवादी थे। वे किसी भी तथ्य को विश्वास की कच्ची नींव पर रखना नहीं चाहते थे। प्रत्युत् तर्कबुद्धि की कसौटी पर सब तत्त्वों को कसना उनकी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था।

★ प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद, उ० प्र०

वस्तुतः उपनिषदीय युग का अवसान काल तथा बौद्ध युग का प्रारम्भ काल एक ही था और एक धीरे-धीरे दूसरे में विलीन हो रहा था। बुद्ध ने स्वयं स्वीकार किया है कि आत्मसंस्कृति के प्रयत्न द्वारा जिस धर्म की स्थापना उन्होंने की है वह नवीन धर्म नहीं, उपनिषदों के प्राचीन धर्म का ही पुनरीक्षण है, एक पुरातन आर्य मार्ग है। यह वही प्राचीन मार्ग है जो पूर्व काल में सम्यक् रीति से ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों द्वारा अनुसरित हुआ था। उसी मार्ग से मैं गया हूँ और उसी मार्ग से चलता हुआ मैं जरा एवं मृत्यु के विषय में भली प्रकार जान सका हूँ, भली प्रकार जान कर ही मैंने इसे भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों, पुरुषों एवं स्त्रियों से कहा है।

बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा के लिए बुद्ध ने उपनिषदों के नैतिक सिद्धान्तों की नए दृष्टिकोण से पुनरावृत्ति की तथा उन्हें क्रमबद्ध रूप में विकसित किया। उनकी शोकरहित करुणा तथा प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना निश्चित रूप से उपनिषदों की देन है। उपनिषदों के अनुकरण पर उन्होंने बहुदेववाद तथा अविचारपूर्ण कर्मकाण्ड के प्रति घृणा की भावना रखते हुए कर्म के सिद्धान्त और मोक्ष प्राप्ति की सम्भावना पर अधिक बल दिया है। उपनिषद् दर्शन के उत्कृष्ट सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देकर मानव जीवन की दैनिक आवश्यकताओं के अनुसार ढाल दिया है। भगवान् बुद्ध द्वारा प्रयुक्त 'श्रमण' शब्द उपनिषद् के आधार पर ही विश्लेषित है। बुद्ध ब्राह्मण सन्यासियों और बौद्ध भिक्षुओं को पूरे सम्मान के साथ ब्राह्मण शब्द से सम्बोधित करते थे तथा दोनों को एक ही श्रेणी में रखते थे। वस्तुतः व्यक्ति चाहे बौद्ध हो अथवा ब्राह्मण, वास्तविक सद्गुणों से सम्पन्न होने पर ही ब्राह्मण पद का अधिकारी होता है—**जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।**

सत्य के साक्षात्कार द्वारा परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रबल प्रेरणा बुद्ध ने औपनिषदिक सत्य से ग्रहण की थी—सत्यमेव जयते नानृतम्। उपनिषदों ने भी अन्धकार के प्रति हार्दिक घृणा एवं प्रकाश के प्रति प्रेम के गूढ़ रहस्यों को ही उद्घोषित किया है—**असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।** बुद्ध ने अपने धर्म की मौलिकताओं को उपनिषदों की परिधि में ही विकसित और विलसित किया है और अपने धर्म के माध्यम से उपनिषदों के तात्त्विक दर्शन को ही जनसाधारण में प्रचारित किया है।

बुद्ध ने उपनिषदों की आचार प्रधान शिक्षा को स्वीकार किया—आचारः प्रथमो धर्मः। उन्होंने मानव जीवन की समग्र वेदनाओं एवं दुःखों का मूल कारण आचारहीनता को निश्चित किया एवं सत्कर्मों के आचरण में मानव-जीवन की सुख-शान्ति-समृद्धि स्वीकार की। आचार की श्रेष्ठता के लिए बुद्ध ने मन की विशुद्धि पर विशेष बल दिया है। बाह्याडम्बर का विस्तार कर लेने से संयम और सत्य की उपलब्धि नहीं हो पाती है। कषाय वस्त्र धारण करने की अपेक्षा मन के कषायत्व (राग-द्वेष) का त्याग अनिवार्य है। असार संसार से वैराग्य की भावना रखते हुए माया-मोह को छोड़ कर भिक्षु होना उचित है। बौद्धों की यह प्रवृत्ति कि जिस व्यक्ति को संसार से घृणा हो जाए, पुत्र और धन की कामना का त्याग कर संन्यासी जीवन व्यतीत रकना चाहिए, बृहदारण्यक के उपदेश के समान हैं—**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चियत् जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।**

उपनिषदों में कहा गया है कि जीवन एक यज्ञ है जिसमें तपश्चर्या, साधु आचरण, सत्य भाषण आदि दक्षिणा है। बुद्ध हमारे हृदयों में जलने वाली काम, क्रोध, लोभ और मोह की ज्वाला को शान्त करने के लिए

कहते समय एक प्रकार से उपनिषदों की ही भाषा बोलते हैं।

उपनिषदों के अनुसार अद्वय तत्त्व अज है, अज ही अमर है—**न जायते म्रियते वा विपश्चित्**। न सत् का नाश सम्भव है न असत् की उत्पत्ति, इस एकत्व में नानात्व का अन्वेषण एक दुराग्रह है—**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यइह नानेव पश्यति**। बुदध की भी यही मान्यता है—**एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि**—सुत्तनिपात। बौद्ध दर्शन ने परम्परा से इस सिद्धान्त को ग्रहण किया। आचार्य गौड़पाद ने अजादिवाद के इसी सिद्धान्त से असत्वाद व शून्यवाद का अनुमोदन किया।

उपनिषत्कालीन ऋषियों ने आत्मा का हनन करने वाले लोगों के लिए अन्धकार से आवृत्त लोकों का प्रतिपादन किया है—**असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः, ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः**। बुद्ध ने भी स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से की गई शारीरिक यन्त्रणा की निन्दा की है। उनके अनुसार कठिन तपों और शरीर को सुखा देने वाले व्रत केवल कामनापूर्ति के विधायक हो सकते हैं, आत्मज्ञान के सहायक नहीं। आत्मा की प्राप्ति के लिए आत्मा को ही जानने, सुनने तथा समझने से आत्मा ज्ञात हो जाता है—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्**। सम्यक् सम्बुद्ध कां उपदेश भी अपने विशुद्धतम रूप में उपनिषदों के समान ही अन्तर्ज्ञान पर अवलम्बित था।

भगवान् बुद्ध विभज्जवादी दार्शनिक हैं। सत्य और असत्य का ठीक-ठीक सन्तुलन कर उपदेश देते हैं। उनके नैतिक और तात्त्विक विचार उपनिषदों के सत्य को अपरोक्षतः स्वीकार करते हैं। नचिकेता का कथन कि शरीर की मृत्यु के पश्चात् प्राणी के मनों में जो यह आशङ्का रहती है—**अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके**—यही बौद्धों के अनात्मवाद का आरम्भिक तत्त्व है। तब बौद्ध दर्शन को नास्तिक कहने से उपनिषद् दर्शन पर ही आघात् होता है। तथागत ही जिसे 'नास्ति' कहें तो कौन मनीषी 'अस्ति' की व्याख्या कर सकता है परन्तु तथागत तो 'अस्ति-नास्ति' कुछ भी नहीं कहते, वे केवल मौन हैं। औपनिषदिक ऋषि भी उस परम तत्त्व के विषय में मौन ही तो हैं। वस्तुतः उस परम तत्त्व का चिन्तन दुरूहता के कारण गूढ़ अथवा गोपनीय ही है—**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**। बुद्ध ने इसी मौन मार्ग का अवलम्बन लिया। यदि उपदेश काल में उनसे कोई शिष्य अतिप्रश्न कर बैठता—यह जगत् नित्य है या अनित्य, लोक सान्त है या अनन्त, जीव तथा शरीर भिन्न है या अभिन्न, तब बुद्ध इन्हें अव्याकृत मानकर मौन रह जाते थे। यही उचित भी था क्योंकि ये विषय अव्यारव्येय है शब्दतः अभिव्यक्ति से परे। सत्य तो यह है कि बौद्ध धर्म मध्यम प्रतिपदा—मध्यम मार्ग का प्रतिनिधि है। वह दो अन्तों की अपेक्षा मध्य मार्ग पर चलना श्रेयस्कर मानता है। उन प्रश्नों के उत्तर यदि सत्तात्मक दिये जाएँ तो यह होगा शाश्वतवाद-आत्मा को नित्य मानने की स्वीकारोक्ति और यदि निषेधात्मक दिये जाएं तो यह होगा उच्छेदवाद-आत्मा को नश्वर मानने वालों का मत। बुद्ध को दोनों मत अमान्य थे अतः इन अतिप्रश्नों के उत्तर में मौन ही समीचीन था।

उपनिषदों में सत्यकाम जाबाल के प्रति विद्याप्राप्ति के सम्बन्ध में जाति प्रथा सम्बन्धी उदारता का प्रदर्शन किया गया है। बुद्ध याज्ञिक ब्राह्मण भारद्वाज को जब उसके जाति भाव सम्बन्धी अहंभाव पर फटकारते हुए

कहते हैं—'जाति मत पूछ, आचरण पूछ .... नीच कुल का भी पुरुष धृतिमान् और पापरहित मुनि होता है ..... जिसने ब्रह्मचर्य पूरा किया है, वही यज्ञ उपनीत है,' तो वे प्रकारान्तर से उपनिषदों की ही भाषा का प्रवर्तन करते हैं। वर्ण भेद के प्रति यह प्रवृत्ति श्रौत युग की अपेक्षा उपनिषद् युग में लोकप्रिय थी। वर्ण व्यवस्था का पूर्ण खण्डन कर समाज को मानवतावादी आधार पर रचने का प्रथम प्रयास शाक्यमुनि ने ही किया था।

युद्ध के विषय में प्रसिद्ध था कि वे सोलह परिष्कारों वाली त्रिविध यज्ञ-सम्पदा को जानते थे। वे उद्घोष करते थे—ब्राह्मण लकड़ी जला कर शुद्धि मत मानो, यह बाहरी प्रक्रिया है। कुशुल लोग उससे शुद्धि नहीं बताते जो बाहर से भीतर की ओर उन्मुख होती है। ब्राह्मण! मैं दारुदाह छोड़ कर भीतर ही ज्योति जलाता हूँ। मैं नित्य आग वाला, नित्य एकान्त चित्त वाला होकर ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ। ये बुद्ध-वचन यज्ञों के जटिल विधानों से रहित निष्कपट पवित्रता की मनुस्मृति दिला रहे हैं जिन्हें उपनिषदों का समर्थन प्राप्त है।

इस प्रकार बुद्ध वचनों में अनेक प्रकार के सङ्केत हैं जो उपनिषदों की भावनाओं का प्रकाशन करते हैं। उपनिषदों के मनीषियों की उदात्त विचार परम्पराएँ बुद्ध युग में बुद्ध के अनुभव और व्यक्तित्व की अमिट छाप लेकर अभिव्यक्त होती हैं। अतः बुद्ध काल में अदृष्ट रूप से उपनिषदों के ज्ञान की परम्परा भारतीय वातावरण में प्रस्तुत थी। अवान्तरकालीन बौद्ध दर्शन उसी मार्ग पर अग्रसर होता है जिस पर उपनिषद् काल के ऋषिगण गये थे।

तथागत का यह विनम्र व्यक्तित्व था जिसके कारण न केवल विचारशील भारत अपितु विश्व का एक विशाल खण्ड उनके प्रति नमित हुआ। यज्ञमय धर्म में आस्था रखने वाले ब्राह्मण समाज ने भी उत्तरकाल में उनके विशाल व्यक्तित्व, चारित्रिक गुण एवं अपूर्व तपस्या के कारण उन्हें विष्णु का साक्षात् अवतार स्वीकार किया—

केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे।

❐

उपनिषदः कर्मकाण्डं च

डॉ० गणेश उमाकान्त थिटे ★

वैदिकसाहित्यस्य द्वौ भागौ स्तः। मन्त्रभागः, ब्राह्मणभागः च। ब्राह्मणभागे त्रयः उपभागाः। ब्राह्मणभागः, आरण्यकभागः, उपनिषद्भागः च। अत्रेदमवधेयं, यद् उपनिषदां समावेशः वस्तुतः ब्राह्मणभागे एव वर्तते। यद्यपि विवेचनस्य सौलभ्यार्थम् उपनिषदामुल्लेखः स्वतन्त्रतया भवति तथापि ब्राह्मणसाहित्यस्यैव भागभूतम्, उपनिषत्साहित्यम्। स्थूलतया ब्राह्मणभागस्य विषयः कर्मकाण्डम् उपनिषद्भागस्य च ज्ञानकाण्डम् इति वर्ण्यते तथापि तत्र संपूर्णतया वास्तविकम्। केवलं प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति इति न्यायमनुसृत्य तादृशं वर्णनं क्रियते। वस्तुतः ब्राह्मणभागेऽपि ज्ञानकाण्डं वर्तते उपनिषद्भागेऽपि कर्मकाण्डं वर्तते। केवलं ब्राह्मणभागे कर्मकाण्डस्य प्रमाणं ज्ञानकाण्डस्य प्रमाणापेक्षया अधिकं वर्तते। उपनिषद्भागे च ज्ञानकाण्डस्य प्रमाणं कर्मकाण्डस्य प्रमाणापेक्षया अधिकं वर्तते। अस्मिन् निबन्धे उपनिषत्साहित्ये यत् कर्मकाण्डं तस्य कश्चिद् विचारः प्रस्तुतः।

अन्नरूपस्य ब्रह्मणः यः प्रतिष्ठा इति उपासनां करोति सः प्रतिष्ठितो भवति, महान् इति यः उपासनां करोति स महान् भवति, मन इति यः उपासनां करोति स मानवान् भवति, नमः इति यः उपासनां करोति तस्मै सर्वे कामाः नमन्ति, ब्रह्म इति यः उपासनां करोति सः ब्रह्मवान् भवति, ब्रह्मणः परिमरः इति यः उपासनां करोति तस्य शत्रवः म्रियन्ते। (तैत्तिरीयोपनिषद् 3.90)

बृहदारण्यकोपनिषदि (6.4.14 तः आरभ्य) संततिप्राप्त्यर्थं विविधाः उपायाः विहिताः सन्ति। गौरवर्णः, एकं वेदम् अध्येतुं समर्थः दीर्घायुः च पुत्रः भवतु इति यदि इष्यते तर्हि दुग्धे पक्वः ओदनः घृतेन सह दंपतिभ्यां भक्षणीयः। पिङ्गलः, पिङ्गाक्षः द्वौ वेदौ अध्येतुं समर्थः दीर्घायुः च पुत्रः यदि इष्यते तर्हि दध्योदनः भक्षणीयः। श्यामवर्णः, रक्ताक्षः, त्रीन् वेदान् अध्येतुं च समर्थः पुत्रः भवतु इति यदि इष्यते तर्हि तिलैः सह पक्वः ओदनः ताभ्यां भक्षणीयः। विद्वान्, प्रसिद्धः सभागामी, वक्तृत्वसंपन्नः पुत्रः भवतु इति यदि इष्यते तर्हि गोमांसेन सह पक्वः ओदनः भक्षणीयः। अस्मिन् एव संदर्भे अग्निः अनुमतिः सविता इत्यादिभ्यः देवताभ्यः आहुतयः दातव्याः इत्यपि उक्तं वर्तते। संभोगसमये विष्णुः त्वष्टा, प्रजापतिः सिनीवाली, अश्विनौ इत्येतासां देवतानां मन्त्रपठनं कर्त्तव्यम्। प्रसूतिसमये पत्न्याः उपरि यथा वायुः....इत्यादि मन्त्रेण जलं प्रोक्षणीयम्।

★ रीडर, संस्कृत विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे, महाराष्ट्र

पुत्रजन्मानन्तरम् अग्निं प्रदीप्य अग्निमुद्दिश्य आहुतयः होतव्याः। पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे वाक् इति शब्दः त्रिवारम् उच्चारणीयः। तथैव तस्य वेदः इति एकं गूढं नाम कार्यम्।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि (2.5) संततेः दीर्घायुःप्राप्त्यर्थं कर्म विहितम्। तत्र प्रतिमासम् अमावास्यायाः अनन्तरं यदा चन्द्रः दृश्यते तदा तं प्रति हरितं तृणं प्रक्षेपणीयम् तथा च पुत्रवियोगदुःखेन रोदनं मम मा भवतु इति प्रार्थना करणीया। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि एव (2.7) उक्तं यद् पिता ग्रामान्तरात् यदा प्रतिनिवर्तते तदा तेन पुत्रस्य शिरः स्पृष्ट्वा प्रजापतिः इन्द्रः इत्यादीन् देवानुद्दिश्य मन्त्राः पठनीयाः तत्र च पुत्रस्य दीर्घायुःप्राप्त्यर्थं प्रार्थना कर्त्तव्या, त्रिः च शिरः अवघ्राय हिंकारः कर्त्तव्यः इति।

पापनाशनार्थम् अपः आचम्य सूर्यो मम पापं दूरीकरोतु इति प्रार्थना कर्त्तव्या। (कौ० ब्रा० उप० 2.5)

उपनिषद्ग्रन्थेषु बहवः अभिचाराः अपि विहिताः। अभिचारः वैदिककर्मकाण्डस्य अविच्छिन्नः भागः। सर्वेषु वैदिकेषु कर्मसु अभिचारः व्यापकरूपेण दृश्यते। इदं च वैशिष्ट्यम् उपनिषद्ग्रन्थेष्वपि प्रतीयते। यस्य पुत्रः नास्ति स यजमानः आप्यायस्व....(ऋ० 1.91.17), सं ते पयांसि (ऋ० 1.17,18)। यमादित्याः....(तै० सं० 2.3.5.3) इति एतान् मन्त्रान् पठित्वा शत्रोः पुत्राः, पशवः नश्यन्तु इति प्रार्थनां कुर्वीत (कौ० ब्रा० उप० 2.5) ब्रह्मज्ञस्य द्वेषं कुर्वाणः ब्रह्मज्ञेन वा द्विष्यमाणः नरः स्वयमेव नश्यति। (कौ० ब्रा० उप० 2.5) स्वस्य भार्यायाः नारं नाशयितुं पतिः आमपात्रे अग्निं प्रदीप्य तस्मिन् शरनामकं तृणं विपरीतं प्रक्षिपेत्। तस्मिंश्च समये अहं तव प्राणान् हरामि इत्याशयं प्रकटीकुर्वन्तं मन्त्रं पठेत्। एतत् कर्म जानता ब्राह्मणेन शप्तः कोऽपि नरः निरिन्द्रियो भूत्वा म्रियेत्। (बृहदारण्यकोपनिषद् 6.4.18) अन्येषां वस्तूनि प्राप्तुं कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदम् (2.2) अनुसृत्य एवं कर्म कर्त्तव्यम्। पौर्णमास्याममावस्यायां वा अग्निं प्रदीप्य तस्मिन् आज्याहुतीः जुहुयात्। एताः आहुतयः वाक्, प्राणः इत्यादिदेवताभ्यः दातव्याः भवन्ति। तथा च अन्यस्य यद् वस्तु इष्यते तत् सा देवता ददातु इति अपेक्षा तत्र प्रकटीक्रियते। लाङ्गूलोपनिषदि हनूमानेवं प्रार्थ्यते—मम सर्वान् शत्रून् छिन्धि, भक्षय, मां च रक्ष। एतादृशान् शब्दानुच्चार्य ओं ह्रां ह्रीं हुं हुं फट् घे स्वाहा इत्युच्चार्य आहुतिः होतव्या।

कस्याश्चित् स्त्रियाः वशीकरणार्थं पौर्णमास्याम् अमावास्यायां वा अग्निं प्रदीप्य तस्याः वाक्, प्राणाः, मनः, चक्षुः, कर्णः इत्यादयः सर्वे अंशाः मयि अर्पिताः भवन्तु इति अर्थं प्रकटीकुर्वतः मन्त्रान् पठित्वा, कर्ता आहुतीः जुहुयात्। ततः आहुतिगन्धम् आघ्राय, उच्छिष्टेन आज्येन स्वशरीरस्य अञ्जनं कृत्वा वशीकर्तुमिष्टां स्त्रियं स्पृशेत् तस्याः वा समीपे तिष्ठेत्। अथ वा वायुं पृष्ठतः कृत्वा तया वा संभाषेत। ततः सा वशीभवति। (कौ० ब्रा० उप० 2.3)

कानिचित् कर्माणि अध्यापकेन कर्त्तव्यानि तैत्तिरीयोपनिषदि विहितानि। तत्र बुद्धिम् अमृतत्वं च प्राप्तुं इन्द्रः प्रार्थ्यते। आत्मनः ज्ञानं सुरक्षितं तिष्ठतु इति हेतोरपि प्रार्थना क्रियते। विद्यार्थिनः मां प्रति आगच्छन्तु इति इच्छन् आचार्यः तादृशार्थेन उपपन्नान् मन्त्रान् पठेत् धात्रे आहुतीः दद्यात् यशस्वी, श्रीमानहं भवेयम् इतीच्छन्नाचार्यः भगमुद्दिश्य होमं कुर्यात्। (तै० उप० 9.4)

अक्ष्युपनिषदि चाक्षुष्मतीं विद्यां पठन् नरः न कदाचिदन्धो भवेत्। तस्य च कुले न कोऽपि अन्धः जायेत।

उपनिषद्ग्रन्थाः तत्त्वज्ञानपराः इति मन्यमानैः अस्माभिः तत्र वर्णितानि एतानि यातुधर्मात्मकानि कर्माणि अपि मनसि कर्त्तव्यानि। उपनिषदः यज्ञविरोधिन्यः, कर्मकाण्डपराङ्मुखाः अध्यात्मप्रधानाः च इति केचन विद्वांसः मन्यन्ते। ब्राह्मणानां प्राबल्यम् न स्वीकृतवद्भिः क्षत्रियैः उपनिषद्गताः विचाराः प्रकटीकृताः इति केचन विद्वांसः मन्यन्ते। तस्य मतस्यापि मर्यादाः एतादृशस्य कर्मकाण्डस्य अवलोकनेन स्पष्टीभवेयुः। उपनिषदः तत्त्वज्ञानपरायणाः परं 'धर्म' विषये उदासीनाः इति ये चिन्तयन्ति तेषामपि विचारः न समीचीनः इत्येतदनेन स्पष्टीभवेत्। वस्तुतः उपनिषद्ग्रन्थेषु यज्ञविरोधिनः विचाराः अपवादभूताः। उपनिषदः वैदिकीं यज्ञविषयकविचारसरणिं न केवलं समर्थयन्ते अपि तु स्वयमपि तत्र योगदानं कुर्वन्ति इति एतत् उपनिषत्सु कर्मकाण्डविषयकान् उल्लेखान् दृष्ट्वा सिद्धयति।

❐

रामचन्द्र पंडित विरचित छन्दोबद्ध दशोपनिषद्रहस्य –अल्पज्ञात स्वोपज्ञ ग्रन्थ

डॉ० मुकुंद लालजी वाडेकर ★

उपोद्घात—संस्कृत भाषा में अलग-अलग शास्त्रों से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ विद्वानों ने लिखे हैं। भारत के हर प्रदेश में से शास्त्रों में ग्रन्थ प्रणीत करने वाले पंडितों की परम्परा रही है। रामचन्द्र पंडित भी उन्हीं विद्वानों में से एक हैं, जिन्होंने न केवल एक ही शास्त्र में, अपितु अनेक शास्त्रों की अपनी विद्वता से अनेक शास्त्रों में स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया लेकिन उनका यह प्रदान आधुनिक संशोधकों के निदर्शन में अभी तक लाया नहीं गया है। इसलिए इस संक्षिप्त शोधपत्र में रामचन्द्र पंडित का संस्कृत साहित्य में प्रदान और विशेषतया उनका वेदान्तपरक संक्षिप्त ग्रन्थ दशोपनिषद्रहस्य के बारे में विश्लेषण किया गया है। वह अप्रकाशित वेदान्त ग्रन्थ हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में ही अभी तक रहा था जिसका अभ्यास और सम्पादन करके मैंने यह लेख लिखा है।

रामचन्द्र पंडित का परिचय—कोल्हापुर के सिद्धेश्वर महाराज के रामचन्द्र पंडित सबसे बड़े पुत्र थे। उनकी कुल परम्परा और कुल वृत्तान्त के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है। सिद्धेश्वर महाराज एक प्रथितयज्ञ भगवद्भक्त और साधुपुरुष थे। उनका जन्म चैत्र शुक्ल नवमी शकसंवत् 1664 याने 1743 ईसवी सन को हुआ था। उनकी माता का नाम गोदावरी और पिता का नाम रामभट्ट बाबा था। वे माध्यंदिन वाजसनेयी शाखा के थे और उनका गोत्र कृष्णात्रि था। वेद और अनेक शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन किया था। अद्वैतानंद, योगानंद और वैकुंठानंद जैसे महान् संतों के सम्पर्क में आने से उनका मन भी अध्यात्म की तरफ रुचि लेने लगा और बाद में दिव्य साधनों के कारण वे भी सिद्ध पुरुष बन गये। उनका जीवन अनेक चमत्कारिक कथाओं से जुड़ा हुआ है।

ऐसे तेजस्वी महापुरुष के रामचन्द्र पंडित पुत्र थे। उनका जन्म चैत्र कृष्ण नवमी को शक संवत् 1971 में याने 26 अप्रैल 1769 को हुआ। उन्होंने परम्परागत पद्धति से व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र,

★ जनरल एडिटर एवं प्रोफेसर, प्राच्य विद्या मंदिर, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ोदरा, गुजरात

श्रौतस्मार्त कर्म और मन्त्रशास्त्र का अध्ययन किया था। ऋग्वेद और यजुर्वेद का उनका अध्ययन ग्यारह साल की अल्प आयु में पूरा हुआ। बाद में उन्होंने विशिष्ट पंडितों के पास से व्याकरण, न्याय, श्रौत, मन्त्र, वेदान्त वगैरह शास्त्रों में प्रवीणता प्राप्त की। छन्दःशास्त्र और काव्यनाटकादि का परिशीलन उन्होंने किया ही था। ज्योतिषशास्त्र और संगीतशास्त्र में भी वे पारंगत थे। 23 वर्ष की आयु तक उन्होंने अनेक शास्त्रों और कलाओं में प्रागल्भ्य प्राप्त किया था। विद्वानों की वादसभा में भी अन्य विद्वान् का अपमान किये बिना खुद की विद्वत्ता प्रदर्शित करते थे। जीवन के परिणत काल में उनका जीवन ज्यादातर अध्यात्म की ओर झुका हुंआ था। उन्हें कर्म, ज्ञान और उपासना मार्ग में अधिक रुचि होने लगी और खुद विदेही जनक का आदर्श सामने रखकर जीवन जीने लगे। कोल्हापुर के राजा छत्रपति ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। राजा ने पूरा राज्य और महाराज यह खिताब भी उनको भेंट किया, लेकिन रामचन्द्र जी को उसमें कोई आसक्ति नहीं थी। उन्होंने वैशाख शुद्ध तृतीया शकसंवत् 1742 याने 24 अप्रैल 1830 को समाधि ग्रहण की।

पंडित जी रामजी के परम भक्त थे। प्रस्तुत दशोपनिषद्रस्य ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होंने श्री राम को प्रणाम करके मंगलारम्भ किया है। अन्तिम श्लोक में भी उन्होंने खुद को श्रीराम भगवान् के पदकमल का भृंग अर्थात् भ्रमर ऐसा वर्णन किया है। गुरु प्रसाद से ब्रह्म के साथ ऐक्य का बोध हुआ था, ऐसा अपने बारे में वे बताते हैं। अन्तिम पुष्पिका में वे अपना परिचय 'विद्वन्मुकुटालङ्कारहीरवर' और 'राजयोगिवर्य' ऐसा प्रस्तुत करते हैं।

रामचन्द्र पंडित के ग्रन्थ—रामचन्द्र पंडित ने संस्कृत और मराठी भाषा में अनेक विद्वत्तापरिपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। उनके बहुत से ग्रन्थ अप्रकाशित और अल्पज्ञात रहे हैं।

(1) **प्रातिशास्यज्योत्स्ना**—वेदलक्षण विषयक यह ग्रन्थ वैदिक व्याकरण और वेदपठन की दृष्टि से उपयुक्त है।

(2) **बैठ**—वैदिक ऋचाओं के संस्मरण के उपयुक्त वेदलक्षणविषयक ग्रन्थ।

(3) **कुण्डेन्दु**—कुण्डलक्षण विषयक यह ग्रन्थ नवग्रहों के पीठ वगैरह बनाने की प्रक्रिया के उपयुक्त। लीलावती—यह गणित का ग्रन्थ इसमें सरलता से स्पष्ट किया है। क्षेत्र के मापन के उपयुक्त गणित की युक्तियाँ इसमें पायी जाती हैं।

(4) **वृत्ताभिराम**—छन्दःशास्त्र का एक महत्त्व का ग्रन्थ कवियों और साहित्य शास्त्र के विद्वानों के उपयुक्त।

(4) **ईशावास्योपनिषद्भाष्य**—ईशावास्य उपनिषद् की व्याख्या। वेदान्त का ग्रन्थ।

(6) **अधिकरणसंग्रह**—ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों पर आधारित वेदान्तशास्त्र का छन्दोबद्ध ग्रन्थ।

(7) **दशोपनिषद्रहस्य**—स्वोपज्ञवृत्ति के साथ—वेदान्त का संक्षिप्त ग्रन्थ। अपनी खुद लिखी हुई वृत्ति के साथ।

(8) **श्रीरामलीलासहस्रनाम**—वैचित्र्यपूर्ण ढंग से लिखा हुआ स्तोत्र। राम भगवान् के जीवन और कार्य का विवरण, साथ में उनका सहस्र नाम भी पाया जाता है।

(9) **राममहिम्नस्तोत्र**—शिवमहिम्नस्तोत्र के समान राममहिम्नस्तोत्र।

इसके व्यतिरिक्त (10) शयनोत्सव, (11) प्रबोधोत्सव (12) भगवद्गीता—गीत-अभंग—भगवद्गीता के 700 श्लोकों पर विरचित 700 अभंगों (मराठी अभंग-स्तोत्र) का संग्रह। (13) अष्टावक्रगीता समश्लोकी (14) अगणित सुभाषित, आर्या, अभंग, पद, साकी वगैरह की रचना।

दशोपनिषद्रहस्य—सिद्धेश्वर महाराजा की गुरु परम्परा में यशवंत महाराज थे। अभी उनके वंशज हैं। उनके व्यक्तिगत ग्रन्थ संग्रह में से उनके अनुराग और असीम अनुग्रह के कारण मुझे दशोपनिषद्रहस्य यह हस्तलिखित ग्रन्थ मिला। रामचन्द्र पण्डित, उनका जीवन और वंश परम्परा के बारे में भी उन्होंने मुझे अवगत कराया। तेरह पत्र संख्या के देवनागरी सुंदर हस्ताक्षर में लिखित यह ग्रन्थ 10.4x30.4 सेंटीमीटर के कागज पर उपलब्ध है। मध्य में मूल ग्रन्थ और ऊपर तथा नीचे के स्थान में उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या दी गई है।

शीर्षक के अनुसार यह दस उपनिषदों के रहस्य बताने वाला छोटा सा, लेकिन अपूर्व छान्दोबद्ध ग्रन्थ है। हर एक उपनिषद् का रहस्य एक स्रग्धरा छन्द में विरचित श्लोक में प्रस्तुत किया गया है। ये श्लोक कवि ने खुद ग्रथित किये हैं। कुल बारह श्लोक है। पहला श्लोक उपोद्घात स्वरूप और मंगलारम्भ का है। अन्तिम श्लोक में कवि ने अपने बारे में और इस ग्रन्थ के बारे में बताया है। दूसरे श्लोक से ग्यारहवें श्लोक तक 10 श्लोकों में दस उपनिषदों का रहस्यमय और गूढ़ संदेश प्रस्तुत किया है। वे दस उपनिषद् हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा।।

इस ग्रन्थ में मुण्डक पहले और बाद में प्रश्न लिया है, यह परिवर्तन है। इस ग्रन्थ की और एक विशेषता यह है कि लेखक ने खुद हर एक श्लोक की वृत्ति लिखी है, जिसमें उन्होंने हर एक श्लोक को समझाने के लिए हर एक उपनिषद् के मूल अवतरणों को उद्धृत करके विषय को सरल किया है। वृत्ति में उपनिषदों के अतिरिक्त, भगवद्गीता, श्रीराम गीता, शांकरभाष्य, अपरोक्षानुभूति, भागवत, रामहृदय वगैरह ग्रन्थों से उद्धरण लिये हैं। शांकर सिद्धान्त के प्रति उनका आदरभाव स्पष्ट है।

इस प्रकार दस उपनिषदों के सारभूत रहस्य को छन्दोबद्ध ग्रन्थ में कवि ने प्रस्तुत किया है। विद्वानों के परिशीलन के लिए मूल श्लोकों का पाठ इस लेख के साथ दिया है।

दशोपनिषद्रहस्यम्

(श्रीमत्सिद्धेश्वरसूनुश्रीमद्रामचन्द्रपण्डितविरचितम्)

1. श्रीरामो लक्ष्मणाय स्वचरणशरणायोच एतद्रहस्यं
निष्कामैः कर्मभिः स्वैर्भवति शुचिमनो यस्य सोऽत्राधिकारी।
प्राप्य श्रीदैशिकास्याच्छ्रुतिशिर-उदितैस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैः
स्वात्मब्रह्मैक्यबोधं जनिमृतिरहितो मोदते नित्यमुक्तः।।
(ईशावास्योपनिषद्रहस्यम्)

2. सत्ये मय्येव भातं चरमचरमतोऽन्तर्बहिश्चाहमेको
मत्तोऽन्यन्नास्ति किंचिज्जगदपि सवितुर्मण्डले पूरुषोऽहम्।
इत्थं यस्य प्रबोधो गुरुवरकरुणापाङ्गतस्तस्य तृष्णा
संदेहो मोहशोकौ भयजननजरामृत्यवौ नैव सन्ति।।
(केनोपनिषद् रहस्यम्)

3. स्वान्तःप्राणाक्षिवाणीप्रभृति च विषयाभासकं यस्य योगाद्
यन्न प्राप्नोति चैतद्विदितमविदितं यद्भवेन्नात्मरूपम्।
इन्द्राद्या देवमुख्या अपि किल न विदुर्यस्य शक्तिं निगूढां
तद्बुद्धं येन सोऽसौ भवति नरवरोऽनन्तसौख्यप्रतिष्ठः।।
(कठवल्ल्युपनिषद्रहस्यम्)

4. सूक्ष्मात्सूक्ष्मो महीयान्महत उत धिया साधनैर्यो न लभ्यो
बुद्धिस्थो योऽशरीरो रविबुधदहना यस्य भासा विभान्ति।
षड्भिर्भावस्वभावै रहित उप सदास्तीतिरूपेण वेद्य-
स्तं साक्षात्कृत्य धीरो गुरुवचनबलाज्जायते नित्यशान्तः।।
(मुण्डकोपनिषद्रहस्यम्)

5. जायन्ते विस्फुलिङ्गा अनलत इह यद्वत्प्रदीप्तात्सरूपा-
स्तद्वत्सर्वेऽपि भावा खलु यत उदिता यान्ति यस्मिल्लयं ते।
अप्राणः सर्वविद्यः प्रणववरधनुः स्वात्मबाणैकलक्ष्य-
स्तं जानन्नात्मरूपे त्यजति स भवति ब्रह्मरूपो विशोकः।।
(प्रश्नोपनिषद्रहस्यम्)

6. प्राणः श्रद्धा खवायुज्वलनजलधरा इन्द्रियं मानसं च
भक्तं वीर्यं तपश्चाय सकलनिगमाः कर्मलोकाश्च नाम।
यस्माज्जाताश्च यस्मिन्विलयमुपगताः षोडशैताः कला यः
सर्वेषां संप्रतिष्ठा खलु तदधिगमाज्जायते वीतमृत्युः।।
(माण्डूक्योपनिषद्रहस्यम्)

7. जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिस्त्रितयमपि मतेस्तद्व्यपेक्षस्तुरीयः
सर्वेषां यस्तु साक्षी गुणमलरहितोऽप्यात्तनानाभिधानः।
भूताद्योऽचिन्त्य एकः स सकलजगतः प्रत्यगीशोऽयमात्मा
ब्रह्मोङ्काराधिगम्यं विदितमिति भवेद्येव स ब्रह्मभूतः।।
(तैत्तिरीयोपनिषद्रहस्यम्)

8. स्पृष्ट्वाकाशादिदेहावधिसकलमिदं तत्प्रविश्यान्तरस्थो
य: सर्वेषामधीशो नियमयति सदानन्दचिद्रूप एक:।
अन्नादीन्पञ्चकोशान्निजगुरुवचसा संविविच्यात्मभूतं
तं विद्वान्नित्यतृप्त: किल भयरहितो वर्तते सर्वभूत:।।
(ऐतरेयोपनिषद्रहस्यम्)

9. यो लोकाँल्लोकपालान्सकलमपि पुरा भोग्यजातं हि तेषां
स्पृष्ट्वान्त: संप्रविश्य स्थिरचरमखिलं प्रेरयत्यान्तर: स:।
दृष्ट्वा नात्रेषदन्यत्सकलजगदधिष्ठानरूपोऽहमेक:
प्रज्ञानं ब्रह्म येनाधिगतमिति स नावाप्तकामोऽमृत: स्यात्।।
(छान्दोग्योपनिषद्रहस्यम्)

10. मृद्रूपे ज्ञात एतद्घटमुखमखिलं तज्जमस्यानभिन्नं
तद्वच्छ्रीदैशिकेनानुभवति सततं तत्त्वमस्येवमुक्त:।
यस्मादाकाशमुख्यं भवति जगदिदं ब्रह्म तच्चाहमस्मी
त्येतन्मत्तो न भिन्नं स भवति मनुजो ब्रह्म न ब्रह्मवेत्ता।।
(बृहदारण्यकोपनिषद्रहस्यम्)

11. यस्यानन्दस्य मात्रा विविधसुखमिदं येन सर्वेऽपि जीवा:
प्राणन्त्यव्याकृतं प्राग्जगदिदमखिलं व्याकरोन्नामरूपै:।
अन्तर्यामी हृषीकाधिप इति विदितं व्यापकं ब्रह्म तत्रा-
हं ब्रह्मास्मीति वेत्तीति विलयमसवस्तस्य नैवोच्छलन्ति।।
(उपसंहार:)

12. श्रीरामाङ्घ्र्यब्जभृङ्गो गुरुचरणकृपापाङ्गलब्धैक्यबोधो
य: श्रीसिद्धेशसूनुर्विरचितममुना रामचन्द्राभिधेन।
यच्छ्लोकै: पङ्क्तिसंख्यैरिदमुपनिषदां सद्रहस्यं दशानां
ज्ञात्वार्थं संपठेद्योऽनुभवति स सुखं सद्गुरो: संप्रसादात्।।

इति श्रीमद्विद्वन्मुकुटालङ्कारहीरवरश्रीराजयोगिवर्यश्रीसिद्धेश्वरसूनुश्रीरामचन्द्रपण्डितविरचितं दशोपनिषद्रहस्यं समाप्तम्।।

❒

अवसाद से प्रसाद की ओर (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)

डॉ० प्रवेश सक्सेना ★

उपनिषद् वैदिक ऋषि की ज्ञान यात्रा का अन्तिम पड़ाव है, चरम परिणति है। उपनिषदों के चिन्तन की समस्या जगत् के आदिकारण को जानने की थी। पहले उन्होंने इस आदि कारण को प्राकृतिक जगत् में खोजा फिर उसे मनोवैज्ञानिक जगत् में तलाशा। इस खोज, तलाश या अन्वेषण की प्रक्रिया में उसे जिस 'रहस्यमय अनुभूति' की प्राप्ति हुई उसे ही 'परमसत्य', 'परमात्मा' या 'ब्रह्म' जैसी संज्ञाएं मिलीं। मानव जीवन का चरम उद्देश्य भी 'परम सत्य' का साक्षात्कार निश्चित किया गया परन्तु उपनिषद् के इस चरम-आदर्श की प्राप्ति जीवन से परे की वस्तु नहीं थी। वह समस्या मात्र सैद्धान्तिक भी नहीं थी। बिल्कुल व्यावहारिक, नैतिक, धार्मिक और जीवन की समस्या थी। उपनिषदों के चिन्तन ने तलाशा और पाया कि आत्मा और परमात्मा एक ही शरीर की हृदय गुहा में बसते हैं। जीवात्मा पाँच कोषों या सूक्ष्म शरीरों के भीतर है। वे हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। जीवन का उद्देश्य 'अन्नमयकोष' से 'आनन्दमयकोष' पहुँचना है या स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना है। इधर है 'अन्नमय प्राणमय कोष तो उधर है विज्ञानमय-आनन्दमय कोष। दोनों के मध्य में स्थित है 'मनोमय कोष'। मन के संकल्पों-विकल्पों से ही मनुष्य के उत्थान-पतन होते हैं, बन्धन-मोक्ष होते हैं।

उपनिषदों के ज्ञान को अध्यात्म विद्या कहा जाता है। यह विद्या सामान्य जनों की मानसिक समस्याओं का समाधान जुटा सकती है या नहीं—ऐसा संदेह बहुतों द्वारा प्रगट किया जाता है परन्तु सोचने की बात यह है कि जिस विद्या की दृष्टि में 'अमृतत्त्व' या 'आनन्द' ही चरम उद्देश्य हो वहाँ मनुष्य के मानसिक कष्ट, तनाव, अवसाद या अशान्ति रह ही कहाँ सकते हैं?

मनुष्य अपने आप में एक समस्या है और इसका कारण है, मनुष्य का मन। जब तक मन है, तब तक समस्याएं रहेंगी ही क्योंकि मनुष्य मन से ही चालित होता है और मन अपने आप में हमारी आदतों, हमारे पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक संस्कारों से बना है। आधुनिक मनुष्य कुछ विशिष्ट शक्तियों से युक्त है और कुछ विशिष्ट परिस्थितियों से प्रभावित है। इसलिए इसकी समस्या को विशेष सन्दर्भ में रेखांकित

★ रीडर, संस्कृत विभाग, जाकिर हुसैन महाविद्यालय (सान्ध्य) दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

किया जाना चाहिए तथा उसका समाधान भी उसी विशिष्ट प्रकार से किया जाना चाहिए। निरन्तर बढ़ते औद्योगीकरण, यंत्रीकरण, बाजार और विज्ञापन के नये-नये तरीके और टेलीविजन इन सबका एक गठबन्धन बन गया है जिसके द्वारा भोग के साधन-प्रसाधन बृहत् स्तर पर बनाकर महलों से लेकर झोपड़ियों तक में प्रक्षेपित किये जा रहे हैं। इस प्रक्षेपण से मनुष्यों में उपभोग की वस्तुएं खरीदने की ललक जगती है, नहीं खरीद पाने की स्थिति में ईर्ष्या, घृणा, हिंसा उत्पन्न होती है। वैसे भी इच्छाएं, आवश्यकताएं अनन्त हैं, उनका पूरा होना संभव नहीं होता। पर इन इच्छाओं, आवश्यकताओं या भोगों की मांग पूरा करके ही सुख मिलेगा, यही भ्रान्ति मानसिक समस्याओं को जन्म देती है। भय, असुरक्षा की स्थिति, धनी-निर्धन के बीच बढ़ती हुई खाई ऐसे अनेक तत्त्व हैं जिनके कारण व्यक्तिगत और समष्टिगत स्तर पर जीवन नष्ट हो रहा है। इन चिन्ताओं का हल, भ्रमपूर्ण स्थिति से मोक्ष दिलवाने का कार्य उपनिषदों के चिन्तन में ही निहित है।

सुख-शान्ति की खोज में, भोगों की मृगमरीचिका में भटक रहा है मनुष्य। सत्ता-सम्पत्ति की दौड़ में मनुष्य भीतर लौटने का मार्ग भूल गया है। अन्तर्मुखी होने का सुख वह नहीं जानता। इस अवस्था में उपनिषदों का चिन्तन व मनन ही हमें चिन्ता-तनावों से मुक्ति की राह सुझाता है। अतः यहाँ वर्णित ब्रह्म विद्या इस आधुनिक युग में भी नितान्त प्रासङ्गिक है।

उपनिषदों की शब्दावली में अविद्या है 'बन्धन' और विद्या है 'मोक्ष'। अविद्या में भेद, नानात्व और अहंकार होता है। यह अहंकार व भेद बुद्धि ही बन्धन में डालती है। इसके कारण जीवात्मा, इन्द्रियों, मन, बुद्धि अथवा शरीर से अपना तादात्म्य करने लगता है। वस्तु जगत् का ज्ञान बन्धन उत्पन्न करता है। अहंकार, स्वार्थ तथा वासनाएं या इच्छाएं ही मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य को, उसकी शान्ति को हानि पहुँचाती हैं। अहंकार से छूटकर विद्या द्वारा अपने तात्त्विक रूप ब्रह्म को पहचान कर, उससे तादात्म्य करने से बन्धन छूट जाते हैं। परम तत्त्व ब्रह्म के चिन्तन के साथ उसे प्राप्त करने के साधनों का विचार भी यहाँ उपलब्ध है। वास्तव में उपनिषदों में ज्ञान-कर्म अथवा दर्शन-जीवन में भेद नहीं किया गया है। इन साधनों पर विस्तार से विचार-विमर्श यहाँ उपलब्ध होता है। इनके पालन से, इनके माध्यम से जीवन का परम श्रेय अर्थात् शान्ति, मोक्ष या अमृतत्त्व पाया जा सकता है। ज्ञान, भक्ति, कर्म, अन्तर्मुखता, शुद्धि (मानसिक), गुरु से दीक्षा, योग, मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासनादि के द्वारा जीवन के चिर उद्देश्य को सिद्ध किया जा सकता है। इनमें से किसी एक साधन से भी हम भीतर की यात्रा शुरू करें। धीरे-धीरे अन्य विशेषताएं अर्जित करते हुए मंजिल तक पहुँच ही सकते हैं। आध्यात्मिक जीवन के इन आवश्यक तत्त्वों के भीतर समस्त नीतिशास्त्र भी समाहित हैं। इन तत्त्वों के माध्यम से जो परम रहस्यात्मक अनुभूति मिलती है, उससे वासनाओं संदेहों तथा भ्रमों का अन्त होता है जिसे नकारात्मक उपलब्धि कह सकते हैं। सकारात्मक लाभ के रूप में मिलती है ऊर्जा, शक्ति, निर्भयता और आनन्द।

एक वाक्य में यदि उपनिषद् विद्या को परिभाषित करना हो तो कह सकते हैं—

सा विद्या या विमुक्तये

अर्थात् विद्या वही है जो मोक्ष दिलवाए। दुःखों से छुड़वा दे। यहाँ दुःखों से भाव मानसिक कष्टों,

अवसादों या तनावों का ही है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि मानव की इन समस्याओं का समाधान मात्र सैद्धान्तिक स्तर पर नहीं है वरन् व्यावहारिक है। कारण मोक्ष की स्थिति कोई मरणोपरान्त की स्थिति नहीं है कि मर गये स्वर्ग पा लिया, तन-मन के कष्टों से छूट गये। यह इसी जीवन में व्यावहारिक धरातल पर सिद्ध की जाने वाली स्थिति है। ऋषियों ने तभी जीवन्मुक्तावस्था सिद्ध की थी। इतिहास में भी राजा जनक का उदाहरण यही सिद्ध करता है कि राज्य कार्य में संलग्न रहते हुए भी 'ऋषि' बना जा सकता है, 'अमृतत्त्व' पाया जा सकता है।

मानव जीवन में दु:ख को नकारा नहीं जा सकता किन्तु आनन्दस्वरूप परमेश्वर की सृष्टि में मात्र दु:ख ही दु:ख हो आनन्द कहीं हो ही नहीं, यह हो ही नहीं सकता। दु:ख ही दु:ख होता तो कौन जीता, कौन जीना चाहता? क्यों तो मनुष्य सौ या उससे भी अधिक का जीवन पाने की प्रार्थना करता? जीव के कल्याण के लिए ही तो भोगापवर्ग की रचना हुई है। ऐसे में जल में कमलवत् जीवन व्यतीत करते हुए भोगों को भोगते हुए 'अपवर्ग' अर्थात् मोक्ष की ओर उन्मुख रहते हुए ही अभीष्ट सिद्ध हो सकता है। तब अवसन्न होने का, खिन्नता या उदासी का प्रश्न ही निरस्त हो जाता है।

इसी भूमिका के परिप्रेक्ष्य में यदि उपनिषदों का अध्ययन किया जाए तो हमारी आधुनिकतम समस्या 'अवसाद' का समाधान मिल सकेगा। उपनिषदों की संख्या शताधिक है, परन्तु मुख्य उपनिषद् तेरह माने जाते हैं। इनमें से ही एक है 'ईशावास्योपनिषद्'। इसी उपनिषद् के मन्त्रों के अध्ययन से हम इस मनोवैज्ञानिक समस्या का हल ढूंढ़ने का प्रयत्न करेंगे तथा 'अवसाद से प्रसाद की ओर जाने की राह ढूंढेंगे।'

इस उपनिषद् का प्रथम मन्त्र सर्वप्रथम अखिल ब्रह्माण्ड में 'परम चेतन' की सत्ता की अभिव्यक्ति की बात करता है तथा इसी मन्त्र की दूसरी पंक्ति में एक विधेयात्मक आदेश है तो दूसरा निषेधात्मक आदेश है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

अर्थात् 'अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़ चेतन रूप जगत् है, यह सब ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रख कर त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें लोभ मत रखो, क्योंकि धन किसका है, अर्थात् किसी का भी नहीं। सर्वत्र एक दिव्य चेतना की उपस्थिति मनुष्य के मन को दो प्रकार से प्रभावित करती है। एक ओर तो वह मनुष्य को आत्मविश्वास तथा ऊर्जा से भरकर नकारात्मकता से बचाती है तो दूसरी ओर आस्तिकता का वह भाव मन में भरती है कि मनुष्य स्वत: दुष्कर्म से या पाप से बचता है। इस संसार के भोग-उपभोग इस सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी के लिए हैं तो पर उनका भोग उसे त्याग-पूर्वक करना चाहिए। यही विधेयात्मक आदेश है। 'तेन त्यक्तेन' का अर्थ कुछ विद्वान् इस प्रकार करते हैं कि 'इस संसार के त्याग से' अपने आपको स्थापित करो (भुञ्जीथा:)। 'यह आदेश सांसारिक जनों के लिए न होकर, संन्यासियों के लिए है'—ऐसा अर्थ वे करते हैं। 'परन्तु' त्यागपूर्वक भोग का अर्थ कर्मफल का इच्छा त्याग भी लिया जा सकता है जिसे गीता में निष्काम कर्म की संज्ञा मिली है। ऐसा कर्म ही मनुष्य को दु:ख से दूर रख सकता है, 'मा गृधः' निषेधात्मक आदेश है। 'गृध्' धातु के कई अर्थ होते हैं, लोभ करना, इच्छा करना, लालच करना, चाहना या इच्छुक होना आदि-आदि।

उपनिषद् भोगों को त्याग पूर्वक भोगने का हिमायती है। आसक्ति लोभ या लालच की प्रवृत्ति न हो, यही अभीष्ट है। इन्हीं शब्दों के साथ जुड़े हैं अन्तिम वाक्य, 'कस्य स्विद् धनम्'। कुछ लोग 'मा गृधः' के साथ इसे जोड़ कर पूरी पंक्ति का अर्थ करते हैं—'किसी के भी धन का लालच मत करो'। कुछ विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से इस पंक्ति का अर्थ किया है 'धन किसका है, अर्थात् किसी का भी नहीं। भोग दो प्रकार के हैं—भोग से भोग, त्याग से भोग। हम उतना ही खा सकते हैं, जितना पेट में समा सके, पच सके। उससे अधिक ग्रहण करने से शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। पर रसना के लालच में ऐसा ही होता है। यही बात कपड़े पहनने के सम्बन्ध में भी है। हजारों-हजारों जोड़े वस्त्र हों पर पहनेंगे तो एक बार में एक ही न। चार मकान हों पर एक ही स्थान में तो रह पाएंगे। दस कारें खड़ी हों द्वार पर, लेकिन कहीं जाना हो तो एक में ही न बैठेंगे। यही बात अन्य सब भोगों के सम्बन्ध में है। भावार्थ है भोग से भोग अमर्याद नहीं किया जा सकता। त्याग का पर्याय दान है। दान से भोग की सीमा नहीं है। सैकड़ों, हजारों, लाखों लोगों को भोजन-वस्त्रादि दान दिया जा सकता है। लोककल्याण के कार्यों की भी कोई सीमा नहीं है। दान से लाभान्वित होने वाले लोगों को सुखी देखकर प्राप्त होने वाला 'आनन्द' भी इसी तरह असीमित है। परन्तु मनुष्य स्वार्थपरता और लोभ की प्रवृत्तिवश ही भोगों का अतिसंग्रह करता जाता है। इसीलिए निर्धन और धनी के बीच की खाई बढ़ती जाती है। यही नहीं भोगों के अतिवाद से वह मन की शक्ति, सुख, चैन खो बैठता है और अवसाद, चिन्ता-तनाव का सिलसिला चल पड़ता है। लोभ (काम, क्रोध, तथा मोह भी) मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। सन्त जन इस शत्रु का जय करने का एक ही उपाय बताते हैं वह है त्याग या दान। ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मन्त्र भी मनुष्य के इस मूलभूत शत्रु का नाश करने की प्रेरणा देता है।

कर्म का सिद्धान्त गतिशीलता का द्योतक है। गतिशील रहकर मनुष्य अवसाद से, चिन्ता से मुक्त रहता है तथा दीर्घ जीवन पाता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः

'कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे'। 'कर्म' बहुआयामी शब्द है। प्रशस्ततम कर्म, श्रेष्ठ पुरुषार्थ, सत्कार सङ्गतिदानात्मक कार्य, जनता की भलाई के कर्म, लोक-संग्रह कारक कर्म सभी कर्म की परिधि में समा जाते हैं। कुछ लोग निष्काम कर्म से भी यहाँ अभिप्राय लेते हैं। ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से कर्म करके मनुष्य उनमें लिप्त नहीं होता और कोई मार्ग नहीं है जिससे मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त हो सके—

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

उपनिषद् के ऋषि जीवन से प्रेम करते हैं। जो जीवन से प्रेम करता है वह गतिहीन, अकर्मशील या दुष्कर्मों में लीन नहीं होसकता। जीवन के प्रति प्रेम का अर्थ स्वार्थ में लिप्त रहना नहीं है अपितु अपने जीवन तथा समाज या समष्टि के जीवन के लिए उपयोगी कर्म करना है। यों तो मनुष्य शारीरिक रूप से आलस्य में पड़ा भी रहे तो भी मन से तो निरन्तर कर्म करता ही रहता है। परन्तु दीर्घ-स्वस्थ (शारीरिक मानसिक दोनों रूप से) जीवन के लिए शारीरिक श्रम की अपनी महत्ता है। आधुनिक चिकित्सक भी तनाव मुक्ति के लिए शारीरिक व्यायाम की सिफारिश करते हैं।

अवसाद की नकारात्मक स्थिति जब असामान्य हो जाती है तब मनुष्य आत्मघात पर उतारू हो जाता है। अज्ञान और दुःख क्लेश रूपी महान् अन्धकार से आच्छादित जन 'आत्महन्ता' होते हैं, 'आत्मघाती' होते हैं, ऐसा इस उपनिषद् में वर्णित है।[1] मानव जीवन परम दुर्लभ है। इस जीवन में ही चिन्तन के उस परम स्तर तक पहुँचा जा सकता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सब प्राणियों को अपने में तथा सब जनों में स्वयं को देखता है।[2] ऐसा करने से उसके मन में, स्वार्थ से उपजी घृणा जैसी दुष्प्रवृत्ति नहीं रहती। स्वार्थ, लोभ और घृणा से ही मनुष्य शोक व दुःख में डूब जाता है परन्तु 'विजानतः' विशेष रूप से जिसने (चेतना की एकता को) जान लिया, पहचान लिया उसके लिए कैसा मोह!' कैसा शोक?[3] मन्त्र में 'अनुपश्यतः' शब्द विशेष अर्थ लिए है। सैद्धान्तिक रूप में यह मान लेना कि सबके भीतर एक आत्मा है, एक चेतना है, बहुत सरल है पर इसे व्यवहार में उतारना कठिन है, बहुत ही कठिन है। इसीलिए 'विजानतः' विशेष रूप से जानने वाले और अनुभव करने वाले और 'अनुपश्यतः' निरन्तर साक्षात् करने वाले (के लिए) जैसे शब्दों का प्रयोग यहाँ हुआ है। ऐसे व्यक्ति के कर्म सबकी सेवा, सबको सुख देने के लिए ही होते हैं। उसी में वह आनन्दमग्न रहता है।

इसी सन्दर्भ में यहाँ विद्या-अविद्या, संभूति-असंभूति की चर्चा हुई है। विद्या-अविद्या के माध्यम से ज्ञान मार्ग व कर्ममार्ग विवेचित हुआ है। उपनिषद् को न मात्र ज्ञान इष्ट है, न केवल कर्म। ज्ञानकर्म के समन्वय से ही 'अमृतत्त्व' पाने की बात यहाँ कही गई है।[4] 'संभूति' का अर्थ है 'अविनाशी परमेश्वर' तो असंभूति का 'विनाशशील'। इन दोनों का समन्वय ही मनुष्य को 'अमृत का भागी' बनाता है।[5] 'संभूति' का एक और अर्थ लिया जा सकता है 'सब के लिए ऐश्वर्य'—इस प्रकार यह संघ शक्ति का प्रतीक होगा। 'असंभूति' असंघ भावना अर्थात् वैयक्तिक स्वतन्त्रता की उद्घोषणा है। दोनों के समन्वित रूप का अर्थ होगा कि उपनिषद् केवल व्यष्टि कल्याण की बात नहीं करता अपितु समष्टि कल्याण के लिए प्रयत्नशील है। सच्चा मोक्ष वही है जो व्यक्ति के साथ समस्त को मुक्त करवाए, सबको आनन्द से सिंचित करे। जिस परमचेतना या परम तत्त्व की व्याख्या से यह उपनिषद् प्रारम्भ होता है, वह 'सत्य स्वरूप' है परन्तु 'सत्य' का मुख स्वर्ण पात्र से ढका है। आज के युग में जबकि देश में, विश्व में सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला है, यह मन्त्र बहुत सटीक है। सोने के लालच में ही तो सब रिश्वतखोरी व घोटाले होते हैं तथा सत्य ढका रह जाता है परन्तु 'सत्य स्वरूप' का साक्षात्कार करना जीवन का उद्देश्य हो तब सुवर्ण लोभ छोड़ना ही पड़ता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।[6]

इसीलिए प्रार्थना है कि मैं यवनिका, आवरण या पर्दा हटा कर सत्य का दर्शन कर सकूँ। हमारी बहुत सी समस्याएं चिन्ताएं तथा तनाव 'सत्य' का आश्रय न लेने से ही होते हैं। कहा भी जाता है कि एक झूठ को छिपाने के लिए सौ झूठ बोलने पड़ते हैं। पर एक 'सच' सबको हरा देता है—'सत्यमेव जयते'—परन्तु सत्य को स्वीकारने, बोलने व मानने का साहस होना चाहिए। नैतिक गुण के रूप में एक सत्य ही ऐसा है कि इसके पालन से अन्य गुण भी व्यक्तित्त्व में विकसित हो जाते हैं तथा मनुष्य निश्चिन्त रहता है।

इसी उपनिषद् के सोलहवें मन्त्र की अन्तिम पंक्ति—**योऽसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि**—'यह जो वह है

वह परम पुरुष (आप हैं), मैं भी वह हूँ—भक्ति की चरमावस्था को प्रकट कर रही है, जब विश्वात्मा तथा जीवात्मा में अभेद अनुभव किया जाता है। अभेद की यह अनुभूति आनन्द की भूमिका है। 'भेद' जहाँ है वहाँ दुःख है, कष्ट है, अवसाद है। अवसादमुक्ति के लिए 'स्व' का विस्तार करना नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य के जीवन में 'प्रार्थना' का विशेष महत्त्व है। यह प्रार्थना ही है जो मनुष्य को आत्मविश्वास से भरकर उसे अवसाद की, दुःख-क्लेश की स्थितियों से उबारती है। तभी ईशावास्योपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में प्रार्थना है—

'हे देव। हमें अच्छे मार्ग से ले जाकर अभ्युदय की ओर पहुँचा। सर्वज्ञ, सर्वत्र होने से तू हमारे सब कर्मों का साक्षी है। कुटिलता और पाप हमसे दूर हो। इसलिए हम नमस्कार पूर्ण वचन बार-बार कहते हैं।[7]

सुपथ-पुण्य, कुपथ-पाप दो मार्ग हैं। एक सुखशान्ति आनन्द की ओर जाता है, दूसरा दुःख अशान्ति व निरानन्द की ओर। उपनिषद् का ऋषि कामना करता है, प्रार्थना करता है, सुपथ की ओर चलने की। प्रार्थनाके साथ प्रयत्न भी जरूरी है तभी प्रार्थना सफल होती है। ईश्वर के प्रति विश्वास, नमन, प्रार्थना के शब्द कुटिलता से दूर हटाते हैं, सरलता की ओर ले जाते हैं। जहाँ सरलता है, सहजता है, सामान्यता है वहीं शान्ति है, प्रसाद है। अवसाद वहाँ रहता ही नहीं।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।[7]

सन्दर्भ सङ्केत

1. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
   तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।। ईशावास्योपनिषद् 3
2. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
   सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। वही 6
3. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
   तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। वही, 7
4. ईशावास्योपनिषद् 9-11
5. वही 12-14
6. वही 15
7. वही 18

Ishavasyopanishad : The most practical advice

Dr. Anil Shridhar Kane ★

Out of all the Upanishads the most practical one is Ishavasya. It talks about variety of things but the most appealing matter, which it deals with, is a piece of advice about how to live this life in a balanced manner. Everybody agrees that the extreme of anything is undesirable and should be avoided, but at hardly any other place in our scriptures, the secret of living full life is explained in such a short and effective way.

There are 18 mantras in this Upanishad each one is filled up with wisdom. Let us today talk about the mantra No. 9 and 11. Here the Rishi deals with two words, vidya and avidya. It is the normal understanding that if you have a line drawn and then draw another line bigger than the earlier line, then we call the earlier line the short line. Similarly, the ultimate knowledge about the Brahman is called vidya, then the various mundane arts normally 64, are considered as avidya. If we have understood this basic concept, let us see what the Upanishad talks about vidya and avidya. Let us see the 9th mantra as given :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।9।।

The meaning is like this. He who pursues avidya goes into darkness and he who remains absorbed in vidya or spiritual matters enters into greater darkness. That means if our pursuits are directed entirely on mundane matters throughout the life, then there is a problem. And if we neglect mundane matters and remain absorbed in pursuit of vidya only, then we will land into greater trouble. One is bound to get confused what to do. Neither one can look after the mundane matters nor one can get himself immersed into the spiritual matters. On the one side it is fire and the other side it is fire pan. This is what normally

---

★ Vice-Chancellor, M. S. University of Baroda, Vadodara, Gujrat

happens to every one when one is in the process of deciding his own behaviour.

Let us see what Upanishad says in the matter. We go to the 11th mantra, which is as follows :

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।11।।

The meaning of this mantra is that one must understand all the tricks of the world i.e. of the mundane knowledge to survive in this mortal world. Because only after swimming through the mortal world one can reach to the other end in the nether world. To acquire the nectar or the ultimate knowledge and to successfully cross the world around you; one will have to know all the tricks of the world. If one doesn't know, he will sink in this world itself and the whole purpose is lost. On the other side if you go on indulging into the mundane activities only, without bothering about the pursuit of the ultimate knowledge of the spiritual world, you shall face disaster in the nether world. In other words if one continues to indulge only in the mundane activities and masters the tricks of the world, he may be called a successful person; but he cannot be a happy person because he has not given or cared to give peace of mind to his own self by thinking about nether world or spirituality. If the intellect is used only for the pursuit of mundane matters and not stretched for looking into th realm beyond, which exists where the intellect ends, you will land up into instability and out of gear, with reference to the rhythm of the nature. Therefore the Upanishad categorically says that while trying to master and understand the basics of this world around us, we must spare some time and stretch our intellect beyond this sphere and try to find out the purpose of life. If some time is spent in this activity also then one would achieve the balance and get the best from both the sides and knowing both and keeping the balance between the two is the most practical way of life.

To stress the same point more clearly, two mantras are repeated i.e. 12th and 14th. They are :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः।।12।।
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते।।14।।

In these mantras the essence is the same; but two new words have been used "Sambhuti" for vidya i.e. ultimate knowledge and the word "asambhuti for avidya.

Taking the whole meaning of these two mantras together it very clearly tells us that, going into extreme in both direction i.e. either one remains absorbed only in the mundane matters, and not even try to scrach his intellect or he goes on madly after pursuit of knowing something which is beyond his intellect, neglecting his duties towards his family and the society at large, he will be a looser. That is why both this vidya and avidya or in otherwords sambhuti and asambhuti must be learned simultaneously. The combination for these two or knowing both together only will ultimately lead one to the 'Ultimate Truth' or Brahman. This is the most practical way of living full-fledged, gratified, peaceful life. Nowhere else this message is given, so clearly and penetratingly.

❐

ईशावास्योपनिषद् की त्याग भावना और गीता

डॉ० मीना शुक्ला ★

उपनिषदों में प्राथम्येन उल्लेख्य ईशावास्योपनिषद् के पहले ही मन्त्र में "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" कह कर त्याग-पूर्वक किसी भी फल के उपभोग का निर्देश किया गया है। सामान्यतया देखने पर इस वाक्य में स्पष्ट विरोधाभास लक्षित होता है। एक ही साथ त्याग भी और उपभोग भी सुनने में निश्चित रूप से अटपटा लगता है लेकिन औपनिषदिक ऋषि अपने कथ्य में पूर्णतया स्पष्ट हैं। वे यह बतलाना चाहते हैं कि मनुष्य को कोई भी कर्म जब करना चाहिए तो उसकी फल प्राप्ति के विषय में लोभग्रस्त नहीं होना चाहिए। जब कर्म किया है तो फल प्राप्त होगा ही। लेकिन उस फल के प्रति आकर्षण का भाव नहीं होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी प्राप्त वस्तु का अपनी जरूरत के अनुरूप ही उपभोग करे। ऐसा लगता है कि उपर्युक्त भाव से प्रेरित होकर भी बहुत बाद में हिन्दी-कवि रहीम ने कहा है—

सांई इतना दीजिए जामें कुटुम समाए।
मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाए।।

गीता के अठारहवें अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों में स्पष्ट रूप से त्याग की भावना का विवेचन हुआ है। यद्यपि इस प्रसंग में केवल त्याग की ही भावना का उल्लेख हुआ, किन्तु निश्चित रूप से त्याग के इस भाव में भोग की भावना अनुस्यूत है। बिना भोग के त्याग की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

गीता के अठारहवें अध्याय को सम्पूर्ण गीता का सार-संक्षेप माना जाता है। प्रारम्भिक पद्यों में संन्यास और त्याग दोनों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। गीता के पञ्चम अध्याय में जहां **सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी**[1] कह कर सभी कर्मों को मन से त्यागने के भाव को अभिव्यक्त किया गया है वहीं बारहवें अध्याय में **सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्**[2] में सभी कर्मों के फल को त्यागने के विषय में कहा गया है। इस तरह एक जगह कर्मों को त्यागने की बात कही गयी है तो दूसरी जगह कर्म-फलों को त्यागने का उल्लेख हुआ है। इस विरोधी भाव को स्पष्ट करने के लिए ही गीता में कहा गया है कि काम्य कर्मों का त्याग 'संन्यास' कहा जाता है, किन्तु सभी कर्मों के फल के त्याग को 'त्याग' कहा जाता है—

★ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, राँची कालेज, राँची, बिहार

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।[3]

उपर्युक्त श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि कामना-युक्त अर्थात् काम्य कर्मों का त्याग तो संन्यास है, लेकिन सभी कर्मों के फलों का त्याग ही त्याग है। दार्शनिक सम्प्रदायों में नित्य, नैमित्तिक और काम्य तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख हुआ है, जिनमें से काम्य कर्म मानवों को संसार-चक्र में उलझाने वाले होते हैं। अतः इन्हीं का त्याग करने से मानव संन्यास को प्राप्त करते हैं, ऐसा कहा गया है। 'पुत्रकामो यजेत', 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य काम्य कर्मों की ओर ही निर्देश करते हैं। ऐसे भावों के रहते मानव संन्यास को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी स्थान पर यह कहा गया है कि कर्म के फलों को पूरी तरह से त्याग देना चाहिए, अर्थात् कर्म के फलों के प्रति किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं रहनी चाहिए। इस भाव को गीता में पहले भी कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।[4]

उपर्युक्त वचन से यह प्रतीत होता है कि कर्म को त्यागने की बात नहीं कही गयी है, अपितु कर्मों के फल को त्यागने का उल्लेख हुआ है। अन्यत्र **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**[5] जैसे वाक्य में भी गीता में यह कहा गया है कि अपने-अपने कर्मों में लगा हुआ मनुष्य अन्ततः सिद्धि को प्राप्त करता है। इस तरह कर्मों के करने में दोष नहीं है, अपितु कर्मों के फल के प्रति अभिलाषा में दोष है। जब कोई व्यक्ति अपने कर्मों के फल की अभिलाषा करेगा तो निश्चित रूप से उस फल के प्रति लोभ-युक्त होगा और वह भोग में फंसेगा। फल का अभिलाषी सर्वदा अपने सामान्य कर्म का विशिष्ट लाभ प्राप्त करना चाहता है और अन्ततः उसकी यह फलाभिलाषा कभी भी समाप्त नहीं हो पाती है। ऐसी स्थिति में वह हर समय लोभी बना रहेगा और प्राप्त फल के प्रति उसके मन में कभी भी तुष्टि नहीं होगी। इसी भाव को ध्यान में रख कर ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि त्याग-पूर्वक उपभोग करना चाहिए।

यह स्वाभाविक है कि मनुष्य जब मृत्यु-लोक में विद्यमान रहेगा तो उसे अपने जीवन को संचालित करने के लिए उपभोग का सहारा लेना पड़ेगा, परन्तु वह उपभोग ऐसा होना चाहिए जिससे अन्य व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि नहीं हो। यह कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति यदि अपने प्राप्य फल का उपभोग करता है तो उससे दूसरे को क्या हानि होगी? किन्तु यह स्वाभाविक है कि जब मनुष्य अपने कर्म-फल को प्राप्त करता है तो उस फल के प्रति उसकी तृष्णा समाप्त नहीं होती है और इस तरह उसके मन में परिग्रह की भावना बढ़ने लगती है। यद्यपि वेदों से लेकर बाद तक के सनातन साहित्य में अपरिग्रह की भावना का स्पष्टीकरण हुआ है, किन्तु जैन-दर्शन में यह भावना मुखरित हुई है।

गीता में **गतागतं कामकामा लभन्ते**[6] वाक्य में यह प्रतिपादित किया गया है कि जो व्यक्ति काम्य कर्म करने वाले हैं वे सदैव इस संसार में आते-जाते रहते हैं।

गीता में यह प्रश्न उठाया गया है कि सबसे अच्छा होता है कि कर्मों का ही त्याग कर दिया जाए तो ऐसी स्थिति में कारण-रूप कर्म के अभाव में कार्य-रूप उसके फल भी समाप्त हो जायेंगे किन्तु इस लोक में

रहते हुए मनुष्य के लिये कर्म-रहित हो पाना सम्भव ही नहीं है। अतः गीता में कहा गया है कि यज्ञ, दान तथा तप इत्यादि कर्मों का त्याग कदापि नहीं करना चाहिए।[7]

श्री कृष्ण ने आगे वहीं कहा है कि यह त्याग भी तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस और तामस। इनमें से सर्वप्रथम तामस त्याग का विवेचन करते हुए गीता में कहा गया है कि मोह-वश नियत-कर्मों का त्याग तामस त्याग है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।[8]

कहने का अभिप्राय यह है कि कभी-कभी मोह-वश व्यक्ति ऐसे कर्मों को भी त्याग देता है जो उसके लिए करणीय है। ऐसे कर्मों के करने से उस व्यक्ति का आचरण तो पवित्र होता ही है, साथ ही ऐसे कर्मों से समाज में विद्यमान अन्य मानवों का भी उपकार होता है। ऐसे कर्मों का त्याग मोह-वश होता है, इसीलिये ऐसे त्याग को तामस त्याग कहा गया है।

आगे राजस त्याग का विवेचन करते हुए गीता में कहा गया है कि यदि व्यक्ति ऐसा समझ ले कि सभी कर्म दुःख-रूप ही हैं, अतः शारीरिक क्लेश के भय से ऐसे कर्मों का त्याग ही उचित है, तो ऐसे त्याग को राजस त्याग कहेंगे—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।[9]

जिस कर्म-फल में वैराग्य की भावना नहीं होती है, किन्तु उसके कर्म के अनुष्ठान को दुःखात्मक समझ कर कोई व्यक्ति उस कर्म का त्याग कर देता है और ऐसे त्याग में व्यक्ति अपने शरीर के प्रति लोभ-युक्त रहता है, इसीलिये ऐसे त्याग को राजस त्याग कहा गया है।

सात्त्विक त्याग का विवेचन करते हुए गीता में कहा गया है कि 'अवश्य ही इस शास्त्र-विहित कर्म को किया जाना चाहिए' ऐसा सोच कर जो व्यक्ति उसके फल के प्रति चिन्ता नहीं करता हुआ नियत-कर्म को करता है, ऐसे त्याग को सात्त्विक-त्याग कहते हैं—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।[10]

वस्तुतः वही त्याग त्याग है जिसमें मनुष्य कर्म तो करता है, किन्तु उसके फल के प्रति वह इच्छा नहीं रखता है। गीता के अठारहवें अध्याय के दूसरे श्लोक में जिस त्याग का उल्लेख हुआ है, वह वस्तुतः यही सात्त्विक त्याग है। ऐसी स्थिति में यद्यपि कर्म का त्याग तो नहीं होता है, किन्तु कर्म के फल के प्रति किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं रह जाती है, अतः ऐसा कर्म उस त्याग से भी बढ़कर है। इस अंश में ईशावास्योपनिषद् का त्याग-पूर्वक उपभोग करने वाला सिद्धान्त पूरी तरह से एक ही प्रतीत होता है।

जो सात्त्विक-त्यागी होता है वह ऐसे दुःख को भी सह लेता है जिसका परिणाम अन्ततः सुखदायक होता

है और ऐसे सुख की इच्छा भी नहीं करता है जो सांसारिकता में डालने वाले होते हैं।[11] त्यागी व्यक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए उपसंहार रूप में गीता में कहा गया है कि यद्यपि जो शरीरधारी होता है वह किसी भी तरह पूर्णतया कर्म का त्याग नहीं कर सकता है, अतः जो कर्म-फलों का त्यागी होता है उसे ही वास्तविक त्यागी माना जाएगा—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।[12]

गीता में स्पष्ट रूप से यही कहा गया है कि मानव शरीर धारण करने के कारण मनुष्य कर्म तो करेगा, परन्तु उस कर्म के प्रति लोभाविष्ट नहीं होगा। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए बताया है कि कर्मों के फल के प्रति आसक्ति का भाव त्याग कर यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों को अवश्य करना चाहिये—

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।[13]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य को कर्म तो करना चाहिए, परन्तु उस कर्म के फल के प्रति लोभ-युक्त नहीं होना चाहिए। ऐसा कर्म तभी हो सकता है जब मनुष्य उत्कृष्ट कर्मों को करता हुआ उन्हें अपने लिए नहीं अपितु उन कर्मों को समाज-हित के लिए करता है लेकिन जब किसी के कर्म का फल समाज को प्राप्त होगा तो स्वाभाविक है कि उस कर्म के फल की प्राप्ति उस व्यक्ति को भी होगी ही, क्योंकि वह व्यक्ति भी उस समाज का ही एक अंश है। इस तरह अपने ही द्वारा किये गये कर्म का फल उस व्यक्ति-विशेष को प्राप्त होगा, किन्तु उस व्यक्ति को ऐसा व्यवहार करना चाहिए मानो उस कर्म के फल के प्रति उसके मन में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है।

गीता का उपर्युक्त भाव पूर्णतया ईशावास्योपनिषद् के **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** इस भाव को अनूदित करता हुआ प्रतीत होता है। उपनिषद्-वाक्य यह बतलाता है कि प्राप्त वस्तु का त्याग-पूर्वक उपभोग करना चाहिए। यहाँ पर प्राप्त वस्तु का अभिप्राय कर्मों के फल से ही है। इस तरह गीता के 'कर्म फलों का त्याग' अथवा उपनिषद् के 'त्याग पूर्वक उपभोग' दोनों का अभिप्राय एक ही हो जाता है।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के उक्त भाव एक ही तरह का अभिप्राय देने वाले हैं, फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते हैं कि ईशावास्योपनिषद् से प्रभावित होकर ही गीता का यह अंश विरचित हुआ है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में विराजमान भाव के आधार पर ही उपनिषदों में तथा गीता आदि ग्रन्थों में भी मानवों के कर्म और उनसे प्राप्त होने वाले फलों के उपभोग का एक समान विवेचन हुआ है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. गीता 5.13
2. वही 12.11

3. वही 18.2
4. वही 2.47
5. वही 18.45
6. वही 9.21
7. वही 18.5
8. वही 18.7
9. वही 18.8
10. वही 18.9
11. वही 18.10
12. वही 18.11
13. वही 18.6

कठोपनिषद् का कथ्य

राजशेखर व्यास ★

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। इस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिपादन वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में किया गया है। मानव जीवन का लक्ष्य पारमार्थिक सत्य का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना है, जिसके लिए उपनिषद् प्रमाण ग्रन्थ हैं। कठोपनिषद् दस प्रमुख उपनिषदों में से एक है।

अब तक जगत् में ऐसा कोई मनुष्य नहीं हुआ होगा जिसके मन में मृत्यु के रहस्य को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हुई होगी। यह सदैव विवाद का विषय रहा है कि देह की मृत्यु के बाद किसी तत्त्व का अस्तित्त्व रहता है या नहीं। इसी विवादास्पद विषय को नचिकेता ने अपनी जिज्ञासा के रूप में साक्षात् यमराज के समक्ष रखा है, जिसका समाधान प्रस्तुत "कठोपनिषद्" में किया गया है। इसी कारण से आध्यात्मिक जगत् में इस उपनिषद् को विशेष महत्त्व एवं सम्मान प्राप्त हुआ है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें आत्मज्ञान के लिए आवश्यक विवेक वैराग्यादि गुणों का निरूपण भी अत्यन्त आकर्षक शैली में कथा के माध्यम से विस्तारपूर्वक किया गया है। ऐसा विवेचन अन्य उपनिषदों में नहीं मिलता है।

समस्त दस प्राचीन उपनिषदों में कठोपनिषद् सम्भवतः सबसे अधिक स्पष्ट है। उपनिषद् का अर्थ है ब्रह्म विद्या। कठ में ब्रह्मविद्या का निरूपण बहुत स्पष्ट मिलता है। उसके मुख्य तत्त्वों की पुनरावृत्ति कई बार हुई है। अन्य उपनिषदों की भाँति इसमें उपासना का भी वर्णन है, किन्तु उससे प्रतिपाद्य विषय में दुरूहता नहीं आई है। इसमें शुद्ध आत्मा अर्थात् ब्रह्म या परम सत् विवरण बड़े विस्तार से है। इस संसार की समस्त विभीषिकाओं और दुःखों का कारण अज्ञान है। मनुष्य अपनी सहज प्रकृति या बुद्धि के कारण अपने आपको शरीर मानता है। यही अविद्या है। "अहं" का अर्थ शरीर नहीं हो सकता है। मैं आत्मा, स्वयं प्रकाशस्वरूप, शाश्वत, नित्य, शुद्ध चेतनस्वरूप हूँ।" आत्मा को इस रूप में पहचानने बुद्धि और विवेक से उसे समझने और निर्मल दृष्टि से उसे देखने तथा अनुभव करने को ज्ञान कहते हैं।' 'नचिकेता' ने इसी आत्म-विद्या को जानने की आकांक्षा की और यमराज ने उसी का दर्शन कराया। इस कार्य में अनेक विधियों का उपयोग किया गया, किन्तु सम्पूर्ण वर्णन बड़ी सरल शैली में हुआ है। समस्त ग्रन्थ का यही प्रतिपाद्य विषय है। **स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा** अर्थात् "आनन्दमय आत्मा को प्राप्त कर वह प्रसन्न हो जाता है।" आत्मा परमानन्द स्वरूप है। आत्मा ही सुख का

★ कार्यक्रम उपनियन्त्रक, दूरदर्शन निदेशालय, मण्डी हाउस, नई दिल्ली

स्तोत्र है। वह आत्मा आत्मा ही रूप है। वह पहले से ही प्राप्त है। अतः उसकी प्राप्ति का अर्थ है उसे केवल जानना। उसे आम या सेब जैसी किसी वस्तु की भांति न प्राप्त किया जाता है और न उसका स्वाद लिया जाता है। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा इस शरीर में अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान है। अज्ञान में पड़ा मनुष्य यद्यपि अपने समस्त कार्य इस चैतन्य से ही करता है किन्तु वह इसे नहीं जानता है। अतः श्रुति आश्चर्य और दुःख के साथ कहती हैं :

उत्तिष्ठत! जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

"उठो जागो और महात्माओं के चरणों में बैठकर आत्मा को जानो, उसका दर्शन करो।" आत्मा का यह ज्ञान हमारे अज्ञान को नष्ट कर देता है। कठोपनिषद् में इसका वर्णन बार-बार हुआ है। विवेक और श्रद्धा से पूर्ण शिष्य उसे सुनकर और अध्ययन कर भली-भाँति जान सकता है। "मैं नित्य और परमानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ—मैं शरीर, इन्द्रियों और मन के परे हूँ" यह ज्ञान मनुष्य उपनिषद् सुनकर जान सकता है किन्तु वह पूर्ण ज्ञान ही है अतः उसका कोई बड़ा लाभ देखने में नहीं आता है, मन में आत्मा के इस स्वरूप की सतत स्मृति कि मैं शुद्ध, आनन्द स्वरूप, अज, अमृत आत्मा हूँ, ही पूर्ण ज्ञान है। गंगा की तरह सतत प्रवाहित यह ज्ञान ही अविद्या को नष्ट कर शाश्वत शान्ति प्रदान कर सकता है।

कोई इक्का-चालक भी सड़क के किनारे वेदान्त प्रवचन सुनकर क्षण भर के लिए आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यद्यपि उसने सुना कि वह आत्मा है किन्तु वह अपने आपको आत्मा के रूप में नहीं समझ सकता, क्योंकि उसका मन अपने शरीर और शरीर भाव में बहुत डूबा होता है। आत्म-भाव लाने के लिए उसके मन में कोई स्थान नहीं रहता है। उसका काम और लोभ से भरा मन नाना प्रकार के राग-द्वेष, आशा-निराशा, भय-चिन्ताओं से आक्रान्त होने के कारण मैं और मेरे मन का शरीर-भाव त्याग कर कुछ क्षणों के लिए भी आत्मा का चिन्तन, ज्ञान और अनुभूति शान्त सन्तुलित और एकाग्र मन में ही हो सकता है। काम-कलुषित और चिन्ता में व्याकुल मन उसे नहीं जान सकता।

कठोपनिषद् को पढ़ने, सुनने वाले यदि विवेकशील हुए तो उन्हें आत्मा के बारे में ज्ञान हो जायेगा अर्थात् अपनी बुद्धि में आत्मा की प्रकल्पना कर सकेंगे किन्तु आत्मा के इस ज्ञान से वह आत्मवित् नहीं हो जायेगा। यह ज्ञान पूर्ण नहीं है। यह आत्मा का प्रच्छन्न ज्ञान है। यदि श्रोता का मन शुद्ध, एकाग्र, श्रद्धावान् और शान्त हुआ तो वह आत्म-ज्ञान प्राप्त कर उसमें स्थिर हो सकता है। उसे आत्मा का सतत स्मरण रह सकता है। अतः यदि वेदान्त का श्रोता आत्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं और उससे अपना अज्ञान नष्ट कर परम शान्ति और आनन्द में मग्न होना चाहते हैं तो उन्हें अपना मन शुद्ध, शान्त और एकाग्र बनाना चाहिए। अतः मन्त्र में यह सम्मति स्पष्ट रूप से दी गयी है :

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

"जो व्यक्ति सदा पाप कर्मों में प्रवृत्त है और विभिन्न इन्द्रियों-भोगों में लिप्त है और जिसका मन शान्त

नहीं है उन्हें आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसीलिए वेदान्त में सर्व ब्रह्मज्ञान के साधक के लिए वैराग्यवान् होना आवश्यक माना गया है। वैराग्य, कामना की समस्त प्रकार की मलिनताएं नष्ट कर मन को शुद्ध और शान्त कर देता है। अन्य किसी उपनिषद् में वैराग्य का इतना स्पष्ट और सच्चा स्वरूप नहीं प्रस्तुत किया गया है जितना कठोपनिषद् में। कठोपनिषद् में ब्रह्मविद्या का आकांक्षी नचिकेता का मूर्तिमान रूप है।

ब्रह्मविद्या के अधिकारी का इतना विस्तृत वर्णन उपनिषद् साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। **तवैव वाहास्तव नृत्यगीते** अर्थात् ये वाहन और नाचती-गाती युवतियाँ आप अपने पास ही रखें। नचिकेता के आचार्य यमराज ने जब ये वस्तुयें उसे अर्पित की तो नचिकेता का सीधा-सा उपर्युक्त उत्तर था। यमराज नचिकेता के मन में कामनायें उत्पन्न करने में असफल रहा। वैराग्य और ध्यान के अभ्यास से मन क्रमशः शान्त और एकाग्र हो जाता है। आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान के लिए मन का एकाग्र होना नितान्त आवश्यक है।

चित्तैकाग्रता रूप योग मुक्त होने पर परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं और समस्त सुख-दुखों से मुक्त होकर निरपेक्ष पूर्णता और परम शांति प्राप्त की जा सकती है। वह योग क्या है जिसे ब्रह्मज्ञानी की अनिवार्य साधना बताया गया है? श्रुति स्पष्ट कहती है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।। कठोपनिषद् 6.10-11

"जब पाँच इन्द्रियाँ और मन नियंत्रित हो जाते हैं और बुद्धि भी स्थिर हो जाती है तो उस सर्वोच्च स्थिति को योग माना गया है।" यद्यपि प्राचीन ऋषि "स्थिरामिन्द्रियधारणाम्" अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ और मन के नियंत्रण को योग कहते हैं यही योग आत्मज्ञान, परमानन्द और पूर्णता प्राप्त कराने में सहायक होता है। किन्तु आजकल पूर्व और पश्चिम के पुस्तक-पाठियों ने उसका गलत अर्थ समझ लिया है। वे योग का अर्थ कुछ चमत्कार, सिद्धियाँ अथवा मन और इन्द्रियों की अद्‌भुत शक्ति मानने लगे हैं। योग की पुस्तकों में कुण्डलिनी शक्ति और उसके जाग्रत करने की प्रक्रिया का वर्णन पढ़ कर उसमें योगी बनने की इच्छा उत्पन्न होती है। उन्हें आत्मज्ञान की इच्छा नहीं होती है। वे आत्मज्ञान हेतु योग का अभ्यास नहीं करते। वास्तविक योग मन की एकाग्रता है और उपनिषद् आध्यात्मिक साधकों को इसी योग का अभ्यास करने को कहते हैं।

वैराग्य और मन की एकाग्रता के बिना आत्मज्ञान सम्भव न होने के कारण हर साधक को किसी भी मूल्य पर इन दोनों का अभ्यास करना चाहिए। कठोपनिषद् के मन्त्रों का यही तात्पर्य है। अतःसर्वप्रथम शुभ गुण सम्पन्न बनो, ईश्वर पूजा आदि शुभ कार्य करो, उसके सुन्दर रूप का ध्यान करो, उसका सतत स्मरण करो और इन सबके द्वारा अपने मन को शुद्ध करो। उपासना का भी अभ्यास करो, अर्थात् जप, ध्यान और सगुण परमात्मा के सुन्दर गुणों का चिन्तन करो। निष्काम सेवा और उपासना से मन के विक्षेप दूर होंगे और मन क्रमशः शुद्ध होता जायेगा। तब निश्चय ही आत्मज्ञान होगा। आत्मज्ञान प्राप्त कर आत्मभाव में ही रहने का अभ्यास करो। कठोपनिषद् को सुनने-पढ़ने से इसकी जानकारी भली-भाँति हो जाती है।

वेदान्त प्रवचन की कक्षाओं में केवल बैठ कर और सुनकर ही सन्तुष्ट न हो जाओ। आत्मा का बौद्धिक ज्ञान केवल प्रारम्भिक सीढ़ी है। यह मत समझो कि यही अन्तिम स्थिति है। यदि आप आत्मा का स्पष्ट और आनन्दमय दर्शन चाहते हैं तो निश्चय ही आपको इसके बाद कई सीढ़ियाँ पार करनी होंगी। 'कठोपनिषद्' इसी महिमावान् ब्रह्मविद्या का उपदेश देता है। निरन्तर कठिन आध्यात्मिक साधना करते हुए सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना ही जीवन है। "अपनी आत्मा का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त कर कभी सन्तुष्ट मत हो जाओ। आत्म रूप होने का प्रयास करो और आत्मा ही बनो।" यही कठोपनिषद् का कथ्य है।

❑

कठोपनिषद् का प्रतिपाद्य

वेदाचार्य डॉ० रघुवीर वेदालंकार ★

कठोपनिषद् की कहानी सुविदित है कि महर्षि अरुण के पुत्र उद्दालक ने सर्वमेध नामक यज्ञ में बूढ़ी तथा दूध न देने योग्य गऊओं को भी दान में दे दिया। ऐसा करना उसके पुत्र नचिकेता को अच्छा नहीं लगा। उसने अपने पिता से एतद्विषयक प्रश्न किया। यह प्रसङ्ग हमें यह बतलाता है कि व्यक्ति को सर्वदा उत्तम पदार्थ ही दान में देने चाहिए अन्यथा दाता का अनिष्ट ही होगा। नचिकेता इसे भी स्पष्ट करते हुए कहता है—**अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।** अर्थात् अनुपयोगी तथा महत्त्वहीन पदार्थों का दाता सुखरहित लोकों को प्राप्त करता है। नचिकेता ने तीन दिन तक निराहार रहकर यम के द्वार पर उनकी प्रतीक्षा की। पिता ने क्रोध में कह दिया था कि तुम्हें मृत्यु को दूँगा। इस मृत्यु के द्वार पर नचिकेता स्वयं पहुंच जाता है। इसे ही कठोपनिषद् में यम भी कहा गया है। यहाँ पर मृत्यु का अर्थ वह मृत्यु नहीं है जो कि प्राणी मात्र के प्राणों का हरण करती है अपितु मृत्यु से तात्पर्य यम नामक आचार्य से है। अथर्ववेद में आचार्यो मृत्युः (अ० 11/5/14) कह कर इसे बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया गया है। आचार्य को मृत्यु इसलिए कहते हैं कि वह गुरुकुल में प्रवेशार्थी बालक के पूर्व जन्म को बिल्कुल ही तिरोहित करके विद्या समाप्ति के पश्चात् उसे नया जन्म एवं वर्ण प्रदान करता है।

इस प्रसङ्ग से विद्यार्थी या ज्ञानार्थी की योग्यता पर भी प्रकाश पड़ता है कि उसके अन्दर विद्या अथवा ज्ञान प्राप्ति की इतनी उत्कट अभिलाषा होनी चाहिए जैसी कि नचिकेता में थी। कि आचार्य को घर पर न पाकर वह अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करता। भला ऐसे जिज्ञासु को अपनी अभीष्ट प्राप्ति से कौन रोक सकेगा। नचिकेता की दृढ़ता एवं जिज्ञासु वृत्ति का ही यह परिणाम था कि यमाचार्य बाहर से लौटकर आने पर, घर पर अतिथि के रूप में नचिकेता को प्रणाम करते हैं। यम का यह व्यवहार हमें अतिथि के महत्त्व को बतलाता है कि एक गृहस्थ के लिए अतिथि सर्वोपरि है। किसी भी अवस्था में उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इसीलिए यमाचार्य ब्रह्मविद्या के श्रेष्ठ आचार्य होने पर भी बालक नचिकेता को प्रणाम करते हुए कहते हैं—अतिथिर्नमस्यः अर्थात् अतिथि सर्वथा प्रणम्य है।

अतिथि, वह भी भूखा यदि किसी के घर पर रह जाए तो यह महान् अनर्थकारी है। अतिथि को अपने से भी पहले भोजन कराना चाहिए। यदि किसी के घर पर अतिथि भूखा रह जाता है तो उसके इष्ट-आपूर्ति आदि

★ रीडर, संस्कृत विभाग, रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कार्य, आशा, प्रतीक्षा आदि सभी नष्ट हो जाते हैं। वशिष्ठ स्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है कि जिसके घर पर अतिथि बिना भोजन किये रह जाता है उसके सभी पुण्य नष्ट हो जाते हैं।1 अतिथि यज्ञ का इतना महत्त्व होने के कारण ही इसकी गणना पञ्च महायज्ञों में की गयी है। यमाचार्य नचिकेता को केवल प्रणाम करके ही सन्तुष्ट नहीं होता अपितु वह उसके तीन दिन निराहार रहने के बदले तीन वर देना चाहता है। यद्यपि नचिकेता की प्रतीक्षा में यमाचार्य को कोई दोष न था किन्तु क्योंकि नचिकेता यमाचार्य के घर पर भूखा रहा, इसलिए गृहपति को घर से दूर होने पर भी दोष लगेगा। इस दोष का निवारण यमाचार्य वर देकर करना चाहते हैं तथा इसके बदले 'स्वस्ति मे ऽस्तु' कहकर अपने कल्याण की कामना करते हैं। इसका भाव यह है कि यदि स्वयंकृत् या अन्य किसी भी कारण से अतिथि की उपेक्षा हो जाती है तो गृहपति को तुरन्त ही उसका प्रायश्चित करना चाहिए। अन्यथा महान् अनर्थ होगा।

अतिथि यज्ञ के समान ही पितृ यज्ञ भी हमारे लिए परम आवश्यक है। यदि सन्तान के कारण उसका पिता दुःखी या क्रोधित होता है तो ऐसी सन्तान का कल्याण नहीं हो सकता। नचिकेता के ऊपर भी उसका पिता क्रोधित था। इसीलिए नचिकेता अन्य प्रलोभनों को छोड़कर सर्वप्रथम अपने पिता की प्रसन्नता एवं शान्ति का ही वर मांगता है। यह प्रसङ्ग इस बात को भी द्योतित करता है कि यदि पिता किसी कारण से क्रुद्ध भी हो जाए तो भी सन्तान को बदले में क्रोध न करके पिता की क्रोध शान्ति का ही यत्न करना चाहिए। वेद में माता को भूमि से भी गुरुतर तथा पिता को आकाश से भी उच्चतर कहा गया है।[2] नचिकेता इस तथ्य से भली-भांति परिचित है।

अतिथि एवं पितृ यज्ञ के समान देवयज्ञ भी हमारे लिए अति महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए नचिकेता भी द्वितीय वर के द्वारा इस विषय में जिज्ञासा करता है। यज्ञ को 'इष्टकामधुक्' इष्ट कामनाओं का देने वाला कहा गया है। इसीलिए 'स्वर्गकामो यजेत' जैसी उक्तियां शास्त्रों में विद्यमान हैं। कठोपनिषद् के प्रकरण से एक तथ्य यह भी ध्वनित होता है कि देवयज्ञ को विधि-विधानपूर्वक ही करना चाहिए। इसीलिए नचिकेता यज्ञवेदी, इष्टिका आदि के बारे में सभी कुछ पूछ लेता है। नचिकेता न केवल प्रश्न पूछकर उसका उत्तर सुनता है अपितु यमाचार्य के द्वारा बतलायी गयी यज्ञ प्रक्रिया को ज्यों का त्यों सुना भी देता है। इससे नचिकेता की मेधा बुद्धि तथा धारणा शक्ति का पता चलता है। एक जिज्ञासु को इतना ही सतर्क एवं मेधावी होना चाहिए, निरुक्त कार भी ऐसा ही कहते हैं।[3]

इसके उपरान्त नचिकेता आत्म विषयक प्रश्न पूछता है। आत्मा शरीर से अतिरिक्त है या नहीं। है तो वह मृत्यु के पश्चात् कहाँ जाती है। ब्रह्म को कैसे प्राप्त किया जासकता है, इत्यादि प्रश्न अध्यात्म परक हैं जो नचिकेता की अध्यात्म वृत्ति के परिचायक हैं। नचिकेता के इस प्रश्न के उत्तर को यमाचार्य टालना चाहते हैं तथा वे उसे कोई अन्य वर मांगने के लिए कहते हैं। वस्तुतः यमाचार्य उसे टाल नहीं रहे हैं अपितु उसकी परीक्षा ले रहे हैं। उसकी अध्यात्म वृत्ति, वैराग्य, मुमुक्षत्व आदि को तोल रहे हैं क्योंकि उचित पात्र के बिना किसी को भी अध्यात्म ज्ञान नहीं देना चाहिए।

प्राचीन काल में जिज्ञासु स्वयं ही चल कर अध्यात्म वेत्ता आचार्यों के पास ज्ञान लेने जाया करते थे। वे

उनकी कठोर परीक्षा लिया करते थे तथा सत्पात्र जानकर ही अध्यात्म ज्ञान दिया करते थे। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सुकेशा आदि छह ऋषि-महर्षि, पिप्पलाद के पास आत्मज्ञान लेने गये थे। उन्होंने सर्वप्रथम उन्हें एक वर्ष तक तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि के साथ व्यतीत करने को कहा था। आज अध्यात्म विद्या इतनी सस्ती हो गयी है कि वर्तमान गुरु विज्ञापनों, प्रदर्शन आदि के माध्यम से अतुल धन व्यय करके जनता को उपदेश, श्रवणर्थ आमन्त्रित करते हैं। यहाँ पात्र-कुपात्र का भी कोई ध्यान नहीं होता। फल यह होता है कि ये सभी आयोजन निष्फल रह कर केवल वक्ता को ही महिमामण्डित करते हैं अन्य कुछ नहीं।

नचिकेता का आत्म विषयक प्रश्न न तो इतना सरल था तथा न ही छोटा कि थोड़े से उत्तर से ही उसे शान्त कर दिया जाता। इसीलिए यमाचार्य विस्तार से आत्म सम्बन्धी सभी शङ्काओं का समाधान करते हैं। वे अध्यात्म विद्या के योग्यतम आचार्य थे तभी तो नचिकेता कहता है आपके सिवाय दूसरे किसी वक्ता को मैं प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मा का क्या स्वरूप है, परमात्मा कहाँ रहता है, उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, परमात्मा को प्राप्त करने का फल क्या है, इत्यादि सभी प्रश्नों पर यमाचार्य स्वयं ही विस्तार से प्रकाश डालते हैं। इसी प्रसङ्ग में कठोपनिषद् में योगदर्शन की प्रक्रिया भी प्रतिध्वनित हो उठती है। कठोपनिषद् यद्यपि योग का ग्रन्थ नहीं है किन्तु इसका लक्ष्य भी आत्म तत्त्व की प्राप्ति है। यही स्वरूपावस्थिति योग का लक्ष्य है जिसे पतञ्जलि 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थाम्' सूत्र द्वारा कह रहे हैं। दोनों का लक्ष्य अविद्या रूपी ग्रन्थ को नष्ट करना है। उपनिषद्कार इसे इस रूप में कह रहे हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।। कठो० 2/6/15

योग दर्शन का लक्ष्य भी अविद्या को नष्ट करना है क्योंकि इसके बिना स्वरूपावस्थिति नहीं होसकती। इसीलिए पञ्चक्लेशों में अविद्या को ही सर्वप्रमुख बतलाते हुए इसे सभी का उत्पत्ति स्थान कहा है।

परमात्म दर्शन के पश्चात् व्यक्ति को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन उपनिषद् इस प्रकार करते हैं—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।। कठो० 2/5/13

यह ब्रह्म किसे तथा किस प्रकार प्राप्त होताहै, इस विषय में उपनिषद् कहते हैं—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। कठो० 1/2/24

दुश्चरित अशान्त तथा असमाहित व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त यह ब्रह्म प्रवचन, श्रवण, तर्कबुद्धि आदि से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह स्वयं जिसे स्वीकार कर लेता है, उसी के द्वारा प्रापणीय होता है (कठो० 1/2/23) योगदर्शन में इसे ही ईश्वर प्रणिधान नाम दिया गया है। ईश्वर प्रणिधानी व्यक्ति की समाधि सिद्ध होती है—ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।[4]

इस प्रकार कठोपनिषद् में यमाचार्य के तृतीय वर के माध्यम से लगभग वे ही बातें कही गयी हैं जो योग दर्शन में वर्णित हैं। दोनों का प्रतिपाद्य तो एक है ही, प्रापणीय को प्राप्त करने के विषय में भी दोनों एक ही है।

इस प्रकार कठोपनिषद् महायज्ञों के विधान पूर्वक लौकिक कर्त्तव्यों को करते हुए ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. यस्य नाश्नाति वासार्थी ब्राह्मणो गृहमागतः।
   सुकृतं तस्य यत्किञ्चित् सर्वमादाय गच्छति।। वसि0 स्मृ0 8/4/5
2. माता गुरुतरा भूमेः पितोच्चरश्च रवात्।
3. यमेव विद्याःशुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रहेचर्योपपन्नम् तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।।

Psychological investigation of the Māṇḍūkya Upaniṣad : Consciousness according to Nyāya and Mīmānsa

Dr. Gauri Chattopadhyaya ★

The Māṇḍūkya Upaniṣad presents in a conclusive manner the metaphysical grammar of Advaitic thouht. The metaphysical grammar in question centres round the postulation of reality as non-relational consciousness, proffering, as it were, the view that consciousness is not a by-product of subject-object relation. In other words, it goes against the epigenetic theories of consciousness, such as we find in abundance in almost non-Advaitic systems of Indian philosophy, but highlighted specially in the views of Nyaya and Mīmāṃsā, in which consciousness supervenes on a subject-object relation. Such a view has been brought out in detail by A.C. Mukerji in his Nature of Self and, even, in more detail by S.K. Saksena in Nature of Consciousness in Hindu Philosophy.

According to the view of Nyaya-Vaisesika, consciousness which supervenes on a subject-object relation is not a product of matter as accepted by the materialists. The materialists not taking the self as different from matter or body, believe that every material object is composed of the four elements of earth, water, fire and air[1]. So our body being material is also composed of the above four elements. But, there is difference between any material object, say a table, and a living body. The living body has got consciousness and this is lacking in the table. This consciousness in the living body is explained by the materialists by saying that the same four elements, when combine in certain proportion to construct the living body, consciousness as an attribute, is produced.

★ **Reader, Deptt. of Philosophy, Allahabad University, Allahabad, Uttar Pradesh**

This theory is refuted by the Nyaya-Vaisesika on the following ground—If consciousness is considered as an attribute of the body, then a question will arise, whether it is an essential attribute or natural or accidental. It cannot be essential, as we sometimes find body without consciousness. Dead body is devoid of consciousness. The stateof trance is also devoid of consciousness. It cannot be the natural attribute, as it does not last as long as the body lasts. It cannot even be accidental, as its cause is the body itself. Further, consciousness cannot be the attribute of that of which one is consicous; but of that which is conscious[2]. Attributes of the body are something to be perceived, but one's own consciousness is not perceived by others.

Nyaya believes that there are certain non-material elements in the universe. Among these elements come cognition, desire, aversion, volition and the feelings of pain and pleasure. These elements being momentary or changing cannot be substance. These are rather attributes of the spiritual substance called self. These different elements are modes of consciousness and, hence, it can be said that consciousness is an attribute produced and supported by the self or spiritual substance.

Nyaya does not take consciousness as an essential attribute of the self. This means that the self, which is the substratum of the consciousness, is not always conscious. As a matter of fact, the self is an unconscious principle capable of being qualified by the states of consciousness[3]. It is true that consciousness cannot exist apart from the self but the self is not necessarily conscious. In other words, the status of consciousness depends upon the self as self may exist without consciousness; but consciousness needs a support. Kaṇāda explains the quality of consciousness by saying that when a jar is put in the fire, red colour is produced. Similarly consciousness as an attribute in the self is produced or generated in the waking state by the conjunction of the self with manas.[4] It is an intermittent attribute of the self.

A.C. Mukerji says in the ''Nature of Self'' that, it is interesting to see how the germ of the Naiyāyika's theory of consciousness is implicit in the psychological analysis of knowledge. If we analyse perception, we will find three things or factors in it : (1) the object of perception, (2) the subject of perception and (3) the process of perception. Actually, the last factor is nothing but the result produced by the object upon the subject. Hence, the perception which is a by-product of subject-object relation reveals the object to the subject and the subject or the self is, as A.C. Mukerji says, ''something over and above the perceptual process which inheres in it''.[5] Without having any substratum, perception will be floating, hence, self is a substance which supports perception or knowledge or

consciousness. In other words, consciousness is the attribute of the self.

Prabhakara, on the other hand, takes consciousness as the karma or the action of the self. Hence, the relation between the consciousness and the self is not that of dharma and dharmī, but that of act and agent. This consciousness as an action produces jñātatā or cognisedness in the objects and, because of this, they are known.

According to Nyaya, the consciousness or knowledge reveals objects, but while knowing it, it is made an object of knowledge first and then is known by after-knowledge or second knowledge. This theory is known as anu-vyavasāya. But this doctrine is faulty and has already been discussed in the fourth chapter. Prabhakara never takes consciousness which can be made as an object. "Consciousness is like the light of the lamp which in one flash illumines not only an external object, 'viṣaya', but also itself 'sva' and its substrate, the ātman or aham or the knower exactly as the lamp illumines an object itself and its substrate the wick."[6] This svataḥprakāśatva is a great contribution of the Prabhakara school of thought.

One very important point needs to be discussed here. The Vedāntins also believe the self-luminosity of consciousness[7] but, while believing this, they take self and consciousness as synonyms. Prabhakara believing in the self-luminosity of consciousness, does not take it to be one with self. Like the Naiyayikas, Prabhakaras take self and knowledge or consciousness as different. For Prabhakaras in every cognition is a tripuṭi samvit and it involves (1) viṣaya-samvit, (2) aham-samvit and (3) sva samvit. Hence, aham samvit is different from sva-samvit.

In the process of perception, self occupies the central place. The problem arises when it is asked as to how the self, as to which reveals the object itself be known?

Śaṅkara, who believes self consciousness to be identical[8], believes that they cannot be known in the way in which objects are known. But, there are philosopher-like Naiyāyikas[9], William James, Prof. Alexander, etc., who believe that self is known in the same manner, in which other objects are known. According to these philosophers, that very thing is known, which is an object. Hence, self is one of the objects among other objects. So we can derive from this, that whatever exists must be an object. And, therefore, we will have to reject the self considering it to be the non-entity, like hare's horn and, as a result, the theory of no-soul will be established.

But to give meaning to both the object of perception and the process of perception, self cannot be denied. In the language of A.C. Mukerji, "..self which is the knower of all

objects cannot itself be denied without reducing the psychological analysis to a logical camouflage, and as the self cannot be known as an object, it is something sui generis that is known, not as an object, but as the object to which all objects are referred as the inexpungable basis''[10]. James Ward and Prabhakara both support the view that self can be known as subject and not as an object.

Sridhara and William James both seem to support the above view, because they believe that integration or unification is involved in perceptual knowledge[11]. We can discuss here how Sridhara considers unification in perceptual knowledge. According to him, when we see the colour of a nice fruit, we remember its taste which was experienced on a previous occasion; this remembrance creates in us, a desire to eat the fruit, followed by an effort for its attainment. This effort, in its turn pruduces a modification in the organ of taste, in the form of salivation flowing from the roots of the teeth. Now, this flow of saliva cannot be due to any intelligence in the sense-organ itself, because each of the two sense-organs engaged in the perception of the fruit, perceives one quality only, one perceives the colour while, the other, perceives the taste; and, consequently, the sight of the colour could not bring about recognition of the taste. But, as a matter of fact, we do find this modification in taste. Hence, there must be some unitary principle apart from the sense-organs, which cognises both, and which remembers the taste on seeing the colour.

From the above discussion, we can conclude that Nyaya-Vaisesika thinkers do not take consciousness as the quality of matter (as taken by the materialists), but as the quality of the unconscious soul-substance[12]. At the same time, they believe that matter has no synthetic function; but the self has. Now the question arises—if, the soul substance, which is clearly declared by the Naiyāyika Jayanta Bhatta as material, when it is not connected with consciousness (as it is not the essential quality of the self), then how can the synthetic function of the self be explained? Another question may be put forth—can the synthetic function belong to consciousness? When it has already been said that matter cannot have synthetic function in one place, then, in the other place, it cannot be said that the soul-substance has it (as it is declared unconscious or material). If, on the other hand, it is admitted that it belongs to the quality consciousness, this will mean, as A.C. Mukerji says ''this function belongs to an intermittent quality of the soul and not to its essential nature. Such a trannsient consciousness cannot evidently discharge the function of a synthetic principle which, therefore, must be a permanent principle. Thus, the possiblity of synthesis remains unexplained within the assumptions of the psychological theory of self.'[13]

Now it can be concluded that Sridhara has not really explained the synthetic character of perception, though, he has given it a place in his theory. He has taken self as a permanent principle; but self being unconscious, we find materialistic and objectivistic implications of the theory of self. According to Śaṅkara, no aggregation in combination is explicable without the supposition of a conscious permanent principle[14]. Nyaya-Vaiśeṣika philosophers have accepted self as a permanent principle, which is unconscious and James has accepted self as 'passing thoughts', that is, may be a conscious principle; but not a permanent one. Hence, both have failed to explain the aggregation or combination.

Both the Nyaya and Vaisesika thinkers accept that the self is known in the same manner, in which other objects are known. According to these philosophers, that very thing is known which is an object. Hence, self is one of the objects. In this case, the object which is called the self must be brought under the category of substance attribute[15]. The substance in such a theory must be something in addition to the attribute and, if the attribute is taken to be knowledge or consciousness (and which it is) the substance must inevitably be an unconscious something. Thus, in the language of A.C. Mukerji, pan-objectivism leads necessarily to materialism[16].

Moreover, the Nyaya admits the reality of a soul-substance to account for the unity of our unconsciousness. It also takes self as unconscious. Now the question is-can recognition be possible by the unconscious self? If the self assumed by the Nyaya were not an eternal consciousness witnessing the series of mental states, it cannot recognise or remember. As Śaṅkara says "Even for him who maintains that consciousness fails in those states (that is, in the deep sleep or in the state of trance), it is not possible to speak of a failure not witnessed by consciousness."[17]

References & Notes

1. Ether is rejected because it is not an object of perception.
2. Radhakrishnan, S. Indian Philosophy, Vol. II, p. 146
3. Radhakrishnan, S. Indian Philosophy, Vol. II. p. 149
4. Prabhakaran also takes auxiliary of the self to be the contact of the mind with the self. (Jha, G.N. Prabhakara School of Pūrva Mīmāṃsā, p. 76)
5. Op. cit., p. 151
6. Saksena, S.K. Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, p. 61
7. Ibid., p. 73-74
8. सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म—Taittirīya Upaniṣad 2./1/1

9. It is prameya among prameyas.
10. Op. cit., p. 153.
11. This unification according to Sridhara is clearly the self but not accordcing to W. James, op. cit, p. 161
12. According to Prabhakara also self is regarded as material. Jha, G.N., op. cit., p. 76
13. Op. cit., p. 167
14. Śaṅkara's Bhāṣya II. 2.18
15. Both Śaṅkara and Caird believe that the application of catergory substance-attriubute to consciousness is the fundamental fallacy of this type of spiritualism. (See Mukerji, A.C., op. cit., p. 147).
16. Ibid., p. 170
17. Śaṅkara's Bhāṣya II. 3.18

❑

यजुर्वेदीय कैवल्योपनिषद् : एक अध्ययन

डॉ० भवानी लाल भारतीय ★

वैदिक ब्रह्मवाद तथा अध्यात्म के निरूपक ग्रन्थों में उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यों तो इन ग्रन्थों की संख्या शताधिक है, किन्तु इनमें ईशोपनिषद् से लेकर श्वेताश्वतर पर्यन्त एकादश उपनिषद् ही प्रमाण कोटि में आते हैं। आचार्य शंकर तथा अन्य दार्शनिकों ने इन्हीं पर अपने भाष्य लिखे हैं। अवशिष्ट उपनिषद् नामधारी रचनाएं या तो किसी विशिष्ट उपासना पद्धति को प्रधानता देकर लिखी गई हैं अथवा वे किसी सम्प्रदाय-विशेष में स्वीकार्य देवी-देवताओं के महत्त्व का निरूपण करती हैं। विष्णु, शिव, देवी, सूर्य तथा गणेश इन पञ्चदेवों को लक्ष्य में रख कर अनेक उपनिषद् रचे गये। इसी प्रकार साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड तथा मत-मतान्तरों के बाह्याचारों को प्रधानता देने वाले उपनिषदों की भी रचना हुई। मुसलमानी शासन काल में तो किसी मनचले ने आधी संस्कृत और आधी फारसी में एक अल्लोपनिषद् भी लिख डाला और उसे अथर्ववेदीय साहित्य में परिगणित कर लिया।

उपर्युक्त ग्यारह उपनिषदों के अतिरिक्त कैवल्य और महानारायणीय—ये दो उपनिषद् ऐसे हैं, जो साम्प्रदायिक भावनाओं से पृथक् रह कर परम तत्त्व का सुन्दर निरूपण करते हैं। ऋषि दयानन्द ने भी कैवल्योपनिषद् को अपने ग्रन्थों में इसीलिए एक आध स्थान पर उद्धृत किया है। कैवल्योपनिषद् का आकार लघु है। इसके दो खण्ड हैं और समस्त श्लोक संख्या 26 है। 'ओं भद्रं कर्णेभिः' तथा 'स्वस्ति न इन्द्रो' इन दो श्रुतियों से आरम्भ होने वाला यह उपनिषद् महर्षि आश्वलायन तथा परमेष्ठी (ब्रह्मा) के संवाद रूप में निबद्ध हुआ है। महर्षि आश्वलायन परमेष्ठी के निकट जाकर कहते हैं—

अधीहि भो भगवो ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां
सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्।
यथाऽचिरात्, सर्वपापं व्यपोह्य
परात्परं पुरुषं याति विद्वान्।।[1]

हे भगवन्! आप मुझे उस श्रेष्ठ ब्रह्म विद्या का उपदेश दें जो अत्यन्त गूढ़ है तथा सत्पुरुषों द्वारा सदा

★ प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, पञ्जाब (भू० पू०)

सेवित है। उस ब्रह्म विद्या को जान कर विद्वान् लोग अपने सर्व पापों से शीघ्र छुटकारा पाकर परात्पर पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धा भक्तिध्यानयोगादवैहि।।[2]

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः।

परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति।।[3]

इस पर प्रजापति परमेष्ठी ब्रह्मा ने कहा—यह ब्रह्म विद्या न तो मात्र कर्म से प्राप्त होती है और न प्रजाओं, धन अथवा अकेले त्याग से ही इसे प्राप्त किया जाता है। इसे प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, भक्ति और ध्यान योग अपेक्षित है। इनके आचरण से ही वह गुहा में स्थित (हृदयदेश में विराजमान) श्रेष्ठ परमात्मा प्राप्त होता है, जहाँ यतिगण अपनी साधना के द्वारा पहुंचते हैं।

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताःपरिमुच्यन्ति सर्वे।।[4]

जिन शुद्ध हृदय वाले साधकों ने वेदान्त विद्या का गूढ़ अध्ययन कर उसके निश्चित अर्थ को जाना है, जिन्होंने संन्यास और योग का आचरण किया है, वे यतिगण ही परान्तकाल तक ब्रह्म लोक में निवास करते हैं। लौकिक वासनाओं से पृथक् होकर वे अमृत तत्त्व को प्राप्त करते हैं।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरश्शरीरः।

अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्यभक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य।

हत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।।[5]

ऐसे साधक को चाहिए कि वह एकान्त स्थान में सुखासन पर बैठे। पवित्र होकर अपनी गर्दन, सिर तथा सारे शरीर को सीधा रखे। पश्चात् भक्तिपूर्वक अपने गुरु को प्रणाम करे तथा समस्त इन्द्रियों का निरोध करे। हृदयकमल में विराजमान शुद्ध, मलरहित परमात्मा का चिन्तन कर शोक का त्याग करे।

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।

तमाऽऽदिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।।[6]

वह परमात्मा कैसा है? वह अचिन्त्य है, हमारे चिन्तन तथा विचार में नहीं आ सकता। अव्यक्त तथा अनन्त है। कल्याण स्वरूप है, प्रशान्त है, अमृत है तथा वेद एवं सृष्टि का कारण है। उसका न आदि है, न मध्य है और न अन्त है। वह विभु सर्वत्र व्यापक, चिदानन्द स्वरूप, रूप रहित, अद्भुत है। अगले श्लोक में उसका वर्णन पौराणिक शिव से प्रभाव ग्रहण कर किया गया है—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्त साक्षिं तमसः परस्तात् ।।

वह परमात्मा उमा (पार्वती) का सहायक है, परमेश्वर प्रभु है। त्रिलोचन है, नीलकण्ठ है तथा प्रशान्त है। उसका ध्यान कर मुनिगण समस्त प्राणियों के कारणभूत सर्व साक्षी अज्ञानान्धकार से परे

परमात्मा तक पहुंचते हैं।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।

स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः।।[8]

वह परमात्मा सृष्टि रचयिता होने से ब्रह्मा है, कल्याणकारी होने से शिव है, ऐश्वर्यशाली होने से इन्द्र कहलाता है, अविनाशी होने से अक्षर है, परम तथा स्वाधिकार से प्रतिष्ठित स्वराट् (अपना ही शासक) है। सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु कहलाता है, निखिल जीव जगत् की चेतना का आधार होने के कारण प्राण है, प्रलय काल में सारी सृष्टि का समाहार करने के कारण काल है। तेजस्वी होने के कारण अग्नि है और भक्तों को आह्लादित करने के कारण चन्द्रमा कहलाता है।

स एव सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।।[9]

वही परमात्मा जो कुछ हो चुका है, अथवा जो भविष्य में होने वाला है उसका नियामक एवं स्वामी है। इसे जान कर ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है, मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

सम्पश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना।।[10]

जो परमात्मा को सब प्राणियों में देखता है तथा सब प्राणियों में उस परमात्मा को देखता है, इस प्रकार ब्रह्म को सर्वत्र देखने वाला ही परमात्मा को प्राप्त करता है। इससे मित्र उसे प्राप्त करने का कोई अन्य कारण नहीं है।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।

ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डितः।।[11]

अपनी आत्मा को नीचे की अरणि (समिधा) बनाये तथा प्रणव (ओंकार) के जप को ऊपर की अरणि बनाये। इन दोनों अरणियों की रगड़ से (मंथन से) ज्ञानाग्नि प्रकट होती है। इस प्रकार के अभ्यास से विद्वान् अपने सांसारिक पाशों को जला देता है।

स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।

स्त्रियमन्नपानादि विचित्रभोगैः स एव जाग्रतपरितृप्तिमेति।।[12]

यह जीव सांसारिक आकर्षण (माया) से मोहित होकर शरीर में रहता हुआ समस्त सांसारिक कृत्य करता है। यहाँ शरीर में रहते हुए नारी संग, अन्न पानादि विचित्र भोगों को भोगता है तथा जागृत रहता हुआ इन भोगों से परितृप्ति प्राप्त करता है।

स्वप्ने स जीवः सुख-दुःख भोक्ता स्वमायया कल्पित जीव लोके।

सुषुप्ति काले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।।[13]

तत्पश्चात् स्वप्नावस्था में जीव सोता हुआ भी अपनी माया (चिन्तन शक्ति) के द्वारा नाना प्रसंगों की

कल्पना करता है और तदनुरूप सुख-दु:खों को भोगता है, अनुभव करता है किन्तु सुषुप्ति काल में सब कुछ विलीन हो जाता है, ऐसा लगता है मानो सब कुछ तमसाच्छन्न हो गया है। यह सुषुप्ति अवस्था है।

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।

पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवः ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्।

आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च।।[14]

तत्पश्चात् अन्य जन्म के कर्मों के कारण वह प्रबुद्ध जीव जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति रूपी तीन पुरों में यथारुचि क्रीड़ा करता है। उसकी इन क्रियाओं का आधार वह आनन्दस्वरूप, अखण्ड ज्ञानमय परमात्मा ही है जिसमें उक्त तीनों अवस्था रूपी पुरत्रय विलीन हो जाते हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।।[15]

इस परमात्मा से ही मनुष्य के प्राण, मन तथा इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी भी इसी से अपना अस्तित्व धारण करते हैं।

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्।।[16]

जो परब्रह्म, सर्वात्मा है, समग्र विश्व का आयतन है, महान् है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म नित्य है वह चेतन तत्त्व है। जीव भी उसी की भांति चेतन तत्त्व है। चेतना दोनों में समान है।

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त्यादिप्रपंचं यत्प्रकाशते।

तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।।[17]

यह संसार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था वाले प्रपञ्चों से प्रकाशित है। इसे जो ब्रह्म से व्याप्त जानता है, वह सारे बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।

तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।[18]

तीनों लोकों (पृथ्वी, द्यौ तथा अन्तरिक्ष) में जो कुछ भोग्य है, जो जीवात्मा भोक्ता है तथा उनके भोग योग्य पदार्थ हैं, उन सबसे विलक्षण साक्षी तथा चेतन मात्र सदाशिव परमात्मा ही है। वह सांसारिक भोगों से सर्वथा निर्लिप्त तथा पृथक् है।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।

मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्।।[19]

वह परमात्मा जो ब्रह्म तथा अद्वय (अद्वितीय) है, कहता है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि मुझसे उत्पन्न हुई है, मुझमें ही स्थित है तथा प्रलयकाल में मुझमें ही लीन होती है। सृष्टि का निमित्त कारण परमात्मा है।

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि।।[20]

परमात्मा स्वमहिमा का कथन करता है—मैं ही सूक्ष्म से सूक्ष्म हूँ, उसी प्रकार उस विचित्र विश्व में महान् से महान् हूँ। मैं पुरातन पुरुष हूँ, ईश-स्वामी हूँ, स्वप्रकाशस्वरूप हूँ तथा कल्याणकारी होने से शिव रूप हूँ।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्।।[21]

मैं (परमात्मा) हाथ, पांव से रहित हूँ। मेरी शक्ति अचिन्त्य है, विचार तथा चिन्तन में नहीं आ सकती। मैं बिना नेत्रों से सब देखता हूँ तथा बिना कानों के सब सुनता हूँ। विविक्त भाव रख कर मैं सब कुछ जानता हूँ। मुझे जानने वाला कोई नहीं है। मैं सदा चेतन स्वरूप हूँ।

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।।[22]

विभिन्न वेदो में मैं ही जानने योग्य हूँ—वेदान्त तत्त्व को जानने वाला तथा वेद के यथार्थ ज्ञान का ज्ञाता भी मैं ही हूँ। मुझमें न पुण्य है और न पाप, मेरा कभी नाश नहीं होता। मेरा न तो जन्म होता है और न अन्य प्राणियों की भाँति मुझमें देह, इन्द्रियां तथा लौकिक बुद्धि रहती है।

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्।।[23]
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्।।[24]

इति प्रथमः खण्डः

न तो मुझे भूमि, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश आदि भूतों के समान मानो, मैं तो इनका रचयिता तथा धारक हूँ। इस प्रकार मुझे परमात्म रूप, भौतिक कलाओं से रहित, अद्वितीय तथा प्राणियों के हृदय गुहा में रहने वाला, केवल साक्षी रूप, सत् असत् से पृथक् जो शुद्ध परमात्मा जानता है वह भी उस कल्मषरहित परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

ग्रन्थ माहात्म्य—

यः शतरुद्रीयमधीते सोऽग्निपूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति, ब्रह्महत्यात्पूतो भवति।
कृत्याकृत्यात्पूतो भवति। तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति। अत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत्।।[1]

जो शतरुद्री (वेदों में रुद्र परमात्मा के नाम वाचक मन्त्र) का अध्ययन करता है, वह अग्नि के तुल्य पवित्र हो जाता है, वह मदिरापान के पाप से मुक्त हो जाता है, ब्रह्म हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है, कृत्य और अकृत्य (कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य) से पृथक् हो जाता है। इस प्रकार मुक्त पुरुषों के आश्रित हो जाता है। आश्रमस्थ व्यक्तियों को सदा, सर्वदा इस शतरुद्रीय संहिता का जप करना चाहिए।

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यफलमश्नुते।।
कैवल्यं फलमश्नुत इति।।[2]

इति अथर्ववेदीय कैवल्योपनिषत्समाप्ता।

संसार सागर को नष्ट करने वाले इस ब्रह्म ज्ञान को जान कर तथा प्राप्त कर साधक कैवल्य (मोक्ष) रूपी फल को प्राप्त कर लेता है। दो बार का पाठ ग्रन्थ समाप्ति का सूचक है।

पुनः 'भद्रं कर्णेभिः' तथा 'स्वस्ति न इन्द्रो' मन्त्रों से शान्तिपाठ यह मन्त्र ऋग्वेद (1/89/8) तथा यजुर्वेद में पठित है। इसका साधारण अर्थ है—हे यज्ञिय देवगण, हम अपने कानों से कल्याणमय वचन सुनें, आँखों से कल्याणमय दृश्य देखें तथा स्वस्थ अङ्गों और शरीर से आपकी स्तुति करते-करते देव प्रदत्त आयु को भोगें। 'स्वस्ति न इन्द्रो' मन्त्र में इन्द्र, पूषा, अरिष्टनेमि तथा बृहस्पति संज्ञक परमात्मा से कल्याण की प्रार्थना की गई है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने इस उपनिषद् के 'स ब्रह्मा स विष्णुः' (1/8) को उद्धृत कर उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"सब जगत् के बनाने से ब्रह्मा, सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु, दुष्टों को दण्ड दे कर रुलाने वाले से रुद्र, मंगलमय और सबका कल्याणकर्ता होने से शिव, जो सर्वत्र अविनाशी, स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रलय में सबका काल और काल का भी काल है, इसलिए परमेश्वर का नाम कालाग्नि है।"

❐

प्रश्नोपनिषद् : प्रश्न अनेक-समाधान एक

डॉ० प्रभु दयालु अग्निहोत्री ★

जिज्ञासा मनुष्य की सहज वृत्ति है और यही समस्त ज्ञान-विज्ञान और दर्शन का मूलाधार है केनोपनिषद् का तो प्रारम्भ ही जिज्ञासा से हुआ है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रे क उ देवो युनक्ति।।[1]

रात-दिन अबाध गति से दौड़ने वाला यह मन किसके आदेश से इधर-उधर भागता है? यह प्राण किनके निर्देशन से गतिमान है। मनुष्य किसकी अनुज्ञा से वाणी का प्रयोग करते हैं और वह कौन है जो नेत्र और श्रोत्र को काम में लगाता है?

श्वेताश्वतर में इस सामान्य जन संवेद्य प्रश्न से आगे बढ़ कर एक जटिल प्रश्न उठा—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।[1]

हे ब्रह्म वेत्ताओं! यह तो बताओ कि तुम लोग जिसे जगत् का कारणभूत मान कर ब्रह्म नाम से बुलाते हो, वह कौन है? हम लोग कहाँ से उत्पन्न हुए हैं और किसके कारण जी रहे हैं। हमारी स्थिति किसमें है अर्थात् हमारा आधार क्या है? और किसके अधीन रहकर हम सुखों और दुःखों की मिली-जुली व्यवस्था के भीतर सारा व्यवहार कर रहे हैं।

ये ही मूल प्रश्न हैं जिनके समाधान का प्रयत्न चिन्तक मनीषी युग-युग से करते आये हैं। प्रश्नोपनिषद् में भी ऐसे ही प्रश्न लेकर भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, शिवि का पुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्रीय सौर्यायणी, कोसल निवासी आश्वलायन, विदर्भ देशीय भार्गव, कात्यवंशीय कबन्धी—ये छः ज्ञान पिपासु विद्वान् पिप्पलाद ऋषि के समीप आये। पिप्पलाद अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से एक के प्रमुख थे। उन्होंने अथर्व संहिता का अपना स्वतन्त्र संस्करण तैयार किया था और उनकी शिष्य परम्परा में यही संस्करण प्रामाणिक माना जाता था। उनकी गणना ब्रह्मवेत्ताओं में थी। वैदिक विद्वान् प्रातः-सायं सपत्नीक अग्निहोत्र करते थे। गुरुओं के पास रिक्तपाणि

★ कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश (भू० पू०)

जाने की प्रथा नहीं थी। सो जिज्ञासु लोग उनके पास समिधा और कुश लेकर जाते थे। अतः ये लोग भी समित्पाणि होकर ऋषि के पास गये और बोले—भगवन्! हम लोग ब्रह्म तत्त्व की खोज में आये हैं। सो आज हमारी जिज्ञासा को शान्त कीजिये। पिप्पलाद ने कहा कि पहले तुम लोग एक वर्ष तक श्रद्धा, तप और ब्रह्मचर्य के साथ मेरे आश्रम में रहो। उसके पश्चात् जो भी चाहो, पूछ लेना। मुझे ज्ञान होगा तो मैं अवश्य बताऊँगा। वर्ष भर बाद कात्यायन कबन्धी ने ऋषि के समीप जा कर प्रश्न किया—भगवन्! ये प्रजायें भिन्न-भिन्न रूपों में कैसे कहाँ से उत्पन्न होती हैं? अर्थात् सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न होती है—

भगवन् कुतो ह व इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति। 1.3

पिप्पलाद ने उत्तर दिया—

प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।
रयिं च प्राणं चेत्येतौ में बहुधा प्रजाः करिष्येत इति।। 1.4

अर्थात् सृष्टि रचना की इच्छा से प्रजापति ने तप किया और तप करके रयि और प्राण की एक जोड़ी उत्पन्न की। सोचा कि ये विविध प्राणियों का निर्माण करेंगे। आगे समझाते हुए कहा कि सूर्य ही प्राण है और रयि चन्द्रमा है। अथवा यह जो कुछ स्थूल या सूक्ष्म है, वह सब रयि है। इस प्रकार यह सब मूर्त रयि ही है—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा।
एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः। 1.5

और यह जो गृह्याग्नि, जठराग्नि, वाडवाग्नि आदि के रूप में अग्नि या ऊर्जा दिखायी देती है, वही प्राण है और यह सहस्र किरणों वाले आदित्य का ही रूप है—

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।। 1.8

सूर्य प्राणों का आयतन है, अमृत है, अभय और परम गति या अन्तिम गन्तव्य स्थान है। जो उत्कृष्टतम, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और अध्यात्म विद्या के द्वारा सूर्य लोक को जीत लेते हैं, वे सूर्य लोक को प्राप्त कर उसी के तेज में विलीन हो जाते हैं और जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं—

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभियजन्ते।
एतद् वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः। 1.10

इसका आशय यह है कि तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या साधन हैं। आत्मान्वेषण लक्ष्य है और जन्मान्तर मुक्तिफल है।

प्रजापति को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि काल प्रजापति है, अथवा अन्न प्रजापति है। जो दिन में संभोग करते हैं वे प्राण का क्षय करते हैं क्योंकि दिन प्राण का प्रतीक है किन्तु जो रात्रि बेला में रति करते हैं, वे ब्रह्मचर्य का ही पालन करते हैं। अन्न इसलिये प्रजापति है क्योंकि उसी से उत्पन्न रेतस् के द्वारा सन्तति का विस्तार होता है—

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।। 1.14

जो तप, ब्रह्मचर्य और सत्य का अनुष्ठान करते हैं, उन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। दूसरा प्रश्न विदर्भ के भार्गव ने किया कि प्रजा का संधारण कितने देवता करते हैं और उनमें श्रेष्ठ कौन है? पिप्पलाद ने उत्तर दिया—वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक्, मन, नेत्र और श्रोत्र। शरीर इन्हीं से बना है, अतः ये धारक हैं किन्तु इनमें प्राण वरिष्ठ है जो स्वयं को प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान इन पाँच भागों में विभक्त कर शरीर को गिरने से बचाये रखता है। जैसे रानी मक्खी के छत्ते से बाहर निकलने पर सारी मक्खियाँ बाहर निकल जाती हैं और उसके स्थिर हो जाने पर शेष सब भी स्थिर भाव से आ बैठती हैं, ऐसे ही वरिष्ठ प्राण के स्थिर रहने पर अन्य सब स्थिर रहते हैं और उसके बाहर जाते ही सारे प्राण बाहर निकल जाते हैं तब शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। जैसे रथ के पहिये की नाभि में सारे अर समाये रहते हैं ऐसे ही सब कुछ प्राण में समाया रहता है—

तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद् यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति। 2.4

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।। 2.6

प्राण ही प्रजापति है। वही गर्भ में विचरने तथा जन्म लेने वाला है—**प्रजापतिश्चरति गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।** 2-7। **प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।।** 13

आग ने प्राण की स्तुति करते हुए कहा—तुम इन्द्र हो, रुद्र हो और तुम्हीं सूर्य हो। तुम पर्जन्य होकर बरसते हो। हे प्राण! तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ व्रात्य ऋषि हो, विश्व के धारक हो और संहारक भी।—

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋर्षिरता विश्वस्य सत्पतिः। 2.11

फिर आश्वलायन कौसल्य ने पूछा—भगवन्! यह प्राण उत्पन्न किससे, कैसे होता है? किस प्रकार इस शरीर में आता है? किस प्रकार शरीर से बाहर निकल जाता है और कैसे आन्तर तथा बाह्य जगत् को धारण करता है। उत्तर में मुनि ने बतलाया कि यह प्राण आत्मा से उत्पन्न हुआ है और जैसे मनुष्य की छाया उसके अधीन रहती है, ऐसे ही यह आत्मा के अधीन रहता है। मन के द्वारा किये हुए संकल्प से किसी के शरीर में पहुँचता है और जैसे कोई सम्राट राज्य की व्यवस्था के लिये अधिकारियों की नियुक्ति भिन्न-भिन्न ग्रामों में करता है ऐसे ही मुख्य प्राण भी अपने अङ्गभूत पाँचों प्राणों को शरीर के पृथक्-पृथक् भागों में कार्य पर लगाता है—

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे। यथा सम्राडेवाधिकृतान्। विनियुङ्क्ते एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते। 3.3-4

मरते समय जिस आत्मा का जैसा संकल्प होता है, उसका मन जिस भाव का चिन्तन करना है, उस संकल्प के सहित मन, इन्द्रियों के साथ मुख्य प्राण में स्थित हो जाता है। वह जीव को संकल्प के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में ले जाता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति। 3.10

चौथा प्रश्न सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा—भगवन् इस शरीर में कौन-कौन सोते हैं और कौन जागते रहते हैं। वह कौन है, जो स्वप्न देखता है? स्वप्न का सुख किसको प्राप्त होता है? और ये सब पूर्णतया किसमें स्थित रहते हैं? पिप्पलाद ने उत्तर दिया—देखो! अस्त होते हुए सूर्य की सारी किरणें एक तेजोमण्डल में इकट्ठी हो जाती हैं और फिर सूर्य के उदित होने पर वे पुनः बाहर बिखर जाती हैं। ऐसे ही सुषुप्ति काल में सारी इन्द्रियाँ एक परमदेव मन में एकत्र हो जाती हैं। इस कारण उस बेला में यह जीव न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न आस्वाद ग्रहण करता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न कुछ ग्रहण करता है और न आनन्द भोग करता है, न चलता है। उस समय सब यही कहते हैं कि यह सो रहा है। तब शरीर रूपी नगर में पाँच प्राण रूप अग्नियाँ ही जाग्रत् रहती हैं—

यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्हि एषपुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, नानन्दयते, न विसृजते, नेयायते। स्वपितीत्याचक्षते 4.2 **प्राणाग्नयएवैतस्मिन्पुरे जाग्रति।** 4.3

स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा अपनी विभूति का अनुभव करता है। पहले देखे हुए को ही बार-बार देखता है। सुने हुए को ही पुनः-पुनः सुनता है। पूर्वानुभूत विषयों का ही बार-बार अनुभव करता है। साथ ही अनदेखे, अनसुने, अननुभूत, विद्यमान और अविद्यमान सब कुछ का अनुभव करता है। स्वयं ही सब कुछ बन कर देखता है किन्तु जब जीवात्मा तेज से अभिभूत होता है तो वह स्वप्न नहीं देखता। शरीर में सुख-दुःख का अनुभव जीवात्मा को ही होता है। जिस प्रकार अनेक पक्षी आकर एक ही वृक्ष पर बसेरा लेते हैं, ऐसे ही सारी इन्द्रियाँ और उनके विषय आदि सब कुछ आत्मा में विश्राम पाते हैं। आत्मा विज्ञान स्वरूप है। वही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा और कर्ता है और वह आत्मा परमात्मा में स्थित होता है—

अत्रैष देवः स्वप्ने, महिमानमनुभवति, यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः-पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति। स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति। स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते। एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते। 4.5-9

पञ्चम प्रश्न शैव सत्य काम ने पूछा कि जो कोई जीवन भर ओङ्कार का अभिध्यान करता है उसे किस लोक की प्राप्ति होती है। ऋषि ने बतलाया—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति। 5.7

ओङ्कार में तीन मात्रायें हैं—अ+उ+म्। इनमें से एक वर्ण को लक्ष्य बना कर उपासना करने वाले को

ऋचायें इसी लोक में ले आती हैं। दो का ध्यान करने वाले को यजुस्, अन्तरिक्ष में ले जाते हैं और तीनों मात्राओं से युक्त और म् का ध्यान करने वाले को साम मन्त्र उस ब्रह्मलोक में ले जाते हैं जिसे ज्ञानी लोग ही जानते हैं। ब्रह्म लोक में वह शान्त, अजर, अमर और अभय बन जाता है।

छठा प्रश्न सुकेशा भारद्वाज ने पूछा—भगवन् षोडश कला वाला पुरुष कौन है? मुझसे यह प्रश्न कोसल देश के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने पूछा था। मैं नहीं बता सका। मैंने उससे कह दिया कि मैं जानता होता तो अवश्य बतला देता क्योंकि जो अनृत बोलता है वह जड़मूल से सूख जाता है। अतः मैं झूठ-मूठ तो तुम्हें बहका नहीं सकता— **समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्** 6.1। तो आप मुझे बतला दीजिये। पिप्पलाद ने बताया कि इस शरीर के भीतर ही वह पुरुष है जिसमें सोलह कलायें प्रकट होती हैं। **इहैवान्तः शरीरेसोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति।** महासर्ग की रचना करने वाले महापुरुष ने विचार किया कि ब्रह्माण्ड में ऐसा कौन सा तत्त्व स्थापित किया जाय कि उसके न रहने पर मैं भी उससे बाहर निकल जाऊँ और रहने पर बना रहूँ। यह सोचकर उसने प्राण की सृष्टि की और प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, तेजस्, जल, पृथ्वी, इन्द्रियाँ, मन, अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और लोकों के नाम का सृजन हुआ। ये सोलहों अङ्ग इसी पुरुष के हैं और वह पुरुष तुम्हारे भीतर स्थित है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम-रूपों वाली बहुत सी नदियाँ समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं, तब उनका न स्वतन्त्र नाम रह जाता है, न रूप। उसी प्रकार इस सर्वदर्शी पुरुष की ये सोलहों कलाएँ पुरुष की अन्तिम आधार पुरुष रूप ही हैं। उसे पाकर ये उसी में विलीन हो जाती हैं। तब इनके पृथक् नाम और स्वरूप नष्ट हो जाते हैं और ये सब एक पुरुष नाम से ही जानी जाती हैं। वही षोडश कला पुरुष अकल और अमृत भी है—वही परब्रह्म है। इसके आगे कुछ नहीं—

स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मा लोकालोकेषु च नाम च। स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यस्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। 6.4-5

तब उन दोनों जिज्ञासुओं ने एक स्वर से पिप्पलाद की पूजा की और कहा कि आप हमारे पिता हैं। जो हमें अविद्या के पार लगा दिया है। आप को नमः।

सत्य तो यह है कि एक पुरुष की यदि ब्रह्म के रूप में कल्पना करें तो उसकी ये सोलह कलाएँ अंश हैं। इनका क्रमपूर्वक वर्णन न करके ऋषि ने मात्र परिगणन कर दिया है तथापि ब्रह्म की प्राप्ति इनके व्यवस्थित अनुष्ठान से ही सम्भव है। यह पुरुष रूप ब्रह्म अन्य कहीं नहीं, इस मनुष्य रूप घट के भीतर अवस्थित है, उसे पाने के लिए दूर-दूर भटकने की नहीं, अपने भीतर झांक कर देखने की आवश्यकता है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।। कठोपनिषद् 3.12

❒

मैत्रायणी उपनिषद् : स्वरूप, प्रतिपाद्य एवं वैशिष्ट्य

डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय ★

उपनिषत्साहित्य में, मैत्रायणी उपनिषत् का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा का प्रतिनिधित्व करती है। इसके लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार रामतीर्थ ने इसे **मैत्रायणीनां श्रुतिमौलि** कहा है। संक्षेप में इसे 'मैत्र्युपनिषत्' भी कहा जाता है। इस उपनिषत् के आद्य आंग्ल अनुवादक प्रो० कावेल का अभिमत है कि यह किसी लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थ का अंश है। इसके एक हस्तलेख या पाण्डुलिपि में, जो पहले बर्नेल के अधिकार में थी और बाद में मैक्समूलर के पास चली गई, इसे 'मैत्रायणी ब्राह्मणोपनिषत्' कहा गया है। यह संभावना अस्वाभाविक भी नहीं प्रतीत होती क्योंकि ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य इत्यादि उपनिषदें विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग के रूप में ही मिलती हैं। मैत्रेयी उपनिषद् के नाम से इसका एक सारांश संकलित संस्करण भी हस्तलेख के रूप में उपलब्ध है। शाखा के साथ ही, 'मैत्री' नाम उपनिषद् के प्रमुख तत्त्ववेत्ता के नाम का भी द्योतक है। प्रतीत होता है कि आचार्य मैत्री से ही मैत्रायणी शाखा का प्रवर्तन हुआ होगा। मैत्रायणी उपनिषत् की गणना तेरह प्रमुख उपनिषदों में की जाती है। शंकराचार्य ने यद्यपि इस पर भाष्य तो नहीं रचा, लेकिन ब्रह्मसूत्र-भाष्य में उन्होंने इसका उद्धरण दिया है। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें इसकी प्रामाणिकता पर आस्था थीं। फिर, विषय की दृष्टि से यह वेदान्त की प्रतिपादिका भी है।

मैत्रायणी उपनिषत् की प्राचीनता के विषय में, विद्वानों के मध्य विभिन्न धारणाएं दिखलाई देती हैं। मैत्रायणी शाखा की सन्धिजन्य विशेषताएं और ध्वनियाँ इसमें यथावत् मिल जाती हैं—इस कारण मैक्समूलर ने, जिन्हें इसका दूसरा आंग्ल अनुवादक होने का श्रेय प्राप्त है, इसे प्राचीन ही माना है।[1]

विण्टरनित्स[2], डायसन[3] और राधाकृष्णन्[4] ने इसे अर्वाचीन कहा है। उनके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

(1) इसमें वेद विरुद्ध सम्प्रदायों—विशेष रूप से बौद्ध मत का उल्लेख हुआ है। (2) शंकराचार्य इसके विषय में पूर्णतया मौन हैं। (3) छान्दोग्य, बृहदारण्यक, काठक, श्वेताश्वतर, प्रश्न इत्यादि उपनिषदों के पुष्कल उद्धरण इसमें मिलते हैं। (4) इसमें 'सुर', 'क्षेत्रज्ञ', 'निर्मम', 'विग्रह', 'नास्तिक्य' इत्यादि शब्दों का उन अर्थों में प्रयोग हुआ है, जो परवर्ती काल के हैं। (5) इसमें सांख्य दर्शन में विकसित तत्त्वों की उपलब्धि होती है।

इन तर्कों में विशेष बल नहीं है, क्योंकि बौद्ध मत का इसमें नाम्ना उल्लेख नहीं हुआ है। 'नैरात्म्यवादी'

★ विज़िटिंग प्रोफेसर ऑफ संस्कृत, सोरबोन नूविल युनिवर्सिटी ऑफ पेरिस, पेरिस, फ्रांस

जिस विचारधारा का उल्लेख है, वह भी बौद्धों का संकेत नहीं करती—उससे प्राचीन भारतीय चार्वाकादि मत ही विवक्षित प्रतीत होते हैं। बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन या मण्डन तो इसमें दूर-दूर तक नहीं है। अन्य उपनिषदों के वाक्य या वाक्यांश ग्रहण करने की बात जहाँ तक है, वह ब्राह्मणों और उपनिषदों में एक सामान्य प्रवृत्ति है। सांख्य दर्शन का भी इसमें नाम्ना उल्लेख नहीं है। हाँ, कुछ ऐसे विचारों की अस्पष्ट सी झलक अवश्य इसमें मिल जाती है, जिन्हें आगे चलकर सांख्य सिद्धान्तों में समाविष्ट किया गया।

जहाँ तक मेरी धारणा है, प्रारम्भ के छह प्रपाठक तो निश्चित ही उपनिषदों के युग के हैं—हाँ, अन्तिम प्रपाठक के कुछ अनुवाक अवश्य उतने प्राचीन प्रतीत नहीं होते। सप्तम प्रपाठक के ये अंश उत्तर उपनिषदयुगीन लगते हैं, जब साम्प्रदायिक आग्रह दृढ़ होने लगे थे। शंकराचार्य ने संभवतः इस पर भाष्य इसलिए नहीं किया, क्योंकि अन्य उपनिषदों की तुलना में यह उन्हें अपेक्षाकृत सुबोध प्रतीत हुई होगी। इस उपनिषत् की प्राचीनता निश्चित ही सूत्रकाल से पहले की है, क्योंकि योग सूत्र (पतञ्जलि कृत) से इसकी योग विषयक अवधारणाएं भिन्न हैं। इसमें केवल छह योगाङ्ग माने गये हैं—यम और नियम का समावेश योगाङ्गों में नहीं किया गया है। छह में भी तर्क नामक एक भिन्न योगाङ्ग का समावेश है। पातञ्जल योगसूत्र के विषय में यह कहा जाता है कि उसमें यम और नियम का योगाङ्गों के रूप में समावेश जैन सिद्धान्तों के प्रभाव वश किया गया। प्राचीन योगाङ्ग छह ही थे—अभिप्राय यह कि योगाङ्गों के सन्दर्भ में मैत्रायणी उपनिषत् प्राचीन परम्परा का अनुगामी है। यह संयोग की ही बात है कि बौद्ध दर्शन में भी छह योगाङ्ग ही माने गये हैं—यम और नियम को वे पञ्चशील में अन्तर्भूत मान लेते हैं।

मैत्रायणी उपनिषत् में योग-साधना का जो स्वरूप मिलता है, वह गीतोक्त परम्परा के अनुरूप प्रतीत होता है। गीता में कहा गया है कि वास्तव में योग की परम्परा विवस्वान्, मनु, ऐक्ष्वाकु के क्रम से प्रवर्तित हुई थी जो बाद में अनेक राजर्षियों की मिली, लेकिन आगे वह छिन्न हो गई।[5] मैत्रायणी उपनिषत् के तत्त्वजिज्ञासु बृहद्रथ भी ऐक्ष्वाकु ही हैं। योगाभ्यास के अन्य विधानों में भी अद्भुत साम्य है। इसलिए, यह उपनिषत् निश्चित ही सूत्र काल से पहले की है।

स्वरूप—आकार-प्रकार की दृष्टि से मैत्रायणी उपनिषत् न लघु है और न बृहत् ही। इसका कलेवर मध्यम श्रेणी का है। सम्पूर्ण उपनिषत् सात प्रपाठकों में विभक्त है। प्रपाठकों का अवान्तर विभाजन अनुवादकों में हुआ है। प्रपाठकक्रम से अनुवाक संख्या क्रमशः 7, 7, 5, 6, 2, 38 और 11 हैं। सबसे बड़ा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रपाठक है छठा, जिसमें उपनिषद् की मूल विचारधारा का प्रतिपादन विस्तृत रूप से हुआ है—एक प्रकार से यही प्रपाठक इसका सर्वस्व है।

मैत्रा० उप० में तत्त्व-चिन्तन और उसके सम्प्रेषण की परम्परा

इस उपनिषत् के आरम्भ में, ब्रह्मविद्याविषयिणी विचारधारा का सम्प्रेषण करते हुए यद्यपि हमें सर्वप्रथम शाकायन्य नामक महानुभाव ही दिखाई देते हैं, लेकिन वे स्वयं इसके चिन्तन का श्रेय नहीं लेते। वे अत्यन्त आदरपूर्वक यह उल्लेख करते हैं कि उन्हें ज्ञान की यह परम्परा भगवान् मैत्रि से मिली। मैत्रि से पहले की कड़ी

में वालखिल्य नाम के ऋषियों का उल्लेख है, जिन्हें यह ज्ञान क्रतु नामक प्रजापति से प्राप्त हुआ था। इस प्रकार, मैत्रायणी उपनिषत् की तत्त्व-चिन्तन-परम्परा क्रतु संज्ञक प्रजापति से प्रवर्तित हुई, लेकिन उसे विधिवत् पुरोवर्तित करने का श्रेय मैत्रि और उनके पश्चात् शाकायन्य को ही है। वालखिल्यों से यह ज्ञान किसे मिला, इसका उल्लेख इस प्रसंग में नहीं है। मैत्रि का महत्त्व, इस कारण भी है कि वे मैत्रायणी शाखा के सम्भवतः प्रवर्तक हैं।

राजा बृहद्रथ एक सच्चे एवं निष्ठावान् तत्त्व जिज्ञासु के रूप में हमारे सामने अवतरित होते हैं। वे तत्त्व-चिन्तन में दीक्षा लेने से पूर्व समस्त लौकिक भोगों को भोगने के बाद उनकी वास्तविक निस्सारता को जान चुके हैं, अपने से पहले के अन्य राजर्षियों के जीवन से भी शिक्षा ले चुके हैं तथा यथार्थ वैराग्य से प्रेरित हैं। मैत्रायणी शाखा में उनका वही स्थान है, जो काठक शाखा में नचिकेता का है। नचिकेता की तरह, उनसे भी पहले शाकायन्य ने आत्म-ज्ञान की दुरूहता की चर्चा कर उससे विरत रहने और दूसरा वर माँगने के लिए कहा, लेकिन वे अविचलित रहे और अन्ततः आत्मा के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान में उन्हें सफलता भी मिली। आत्म तत्त्व की जिज्ञासा से पूर्व, सुदीर्घ काल तक वे तपोनुष्ठानपूर्वक आत्मशोधन भी करते हुए दिखलाई देते हैं। जहाँ तक शाकायन्य की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उनका उल्लेख अन्यत्र भी है। मैत्रायणी उपनिषत् की तरह 'काठक संहिता' में भी उनका उल्लेख है—

एतद्ध वा उवाच जातः शाकायन्यः शंखं कौष्यम् (काठ० सं० 22.7)।

इससे स्पष्ट है कि शाकायन्य मात्र मिथकीय व्यक्ति न होकर एक इतिहाससिद्ध तत्त्वचिन्तक है।

विषयावतरण-क्रम एवं प्रतिपादित विषय

मैत्रायणी उपनिषद् का प्रारम्भ ब्रह्म यज्ञ से अग्नि-चयन की समानता स्थापित करते हुए होता है। कहा गया है कि अग्नि-चयन करने के बाद ही प्राण संज्ञक आत्मतत्त्व का ध्यान अथवा विचार करना चाहिए। इक्ष्वाकु वंशी सम्राट बृहद्रथ, जो पुत्र को अपने स्थान पर अभिषिक्त कर लौकिक दृष्टि से आप्त काम हो चुके हैं, जगत् की अनित्यता को जान चुके हैं तथा तपस्या करते हुए लगभग तीन वर्ष बिता चुके हैं, आत्मवेत्ता महापुरुष शाकायन्य के सम्मुख उपस्थित होकर आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा व्यक्त करते हैं। शाकायन्य उन्हें कठिनाइयाँ बताकर आत्मज्ञान की चेष्टा से विरत करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन बृहद्रथ अपने मार्ग पर अडिग रहते हैं और अन्त में शाकायन्य के सदुपदेशों से सफलता प्राप्त करते हैं।

उपनिषत् का मूल विषय ब्रह्म विद्या ही है, लेकिन उससे पूर्व आत्मा के स्वरूप और उसके साक्षात्कार की विभिन्न प्रविधियों का निरूपण किया गया है। उपनिषत् का लक्ष्य तो साधक को अद्वैत तत्त्व की अनुभूति कराना ही है, लेकिन द्वैत भाव की व्यावहारिक उपादेयता को भी यह तिरोहित नहीं करती। निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि अद्वैतोन्मुख द्वैत की समीक्षा ही इस उपनिषत् का दृष्टिकोण है।

प्रपाठक और अनुवाक-क्रम से इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम प्रपाठक—(1) ब्रह्म यज्ञ के उल्लेख पूर्वक प्राणसंज्ञक आत्मतत्त्व के विचार का प्रस्ताव;

(2) राजा बृहद्रथ के द्वारा शाकायन्य के सम्मुख आत्मतत्त्व विषयिणी जिज्ञासा की प्रस्तुति, शरीर की निस्सारता का उल्लेख, कामोपभोग की व्यर्थता, पूर्ववर्ती चक्रवर्ती राजाओं के निदर्शन तथा प्राणी की स्थिति जलहीन अन्धे कूप में पड़े मेढक के सदृश बतलाना।

द्वितीय प्रपाठक—(1) बृहद्रथ की जिज्ञासा कि आत्मा क्या है? यह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण में से ही कोई एक है अथवा उससे विलक्षण वस्तु है?

(2) उपर्युक्त जिज्ञासा के उत्तर में शाकायन्य के द्वारा आत्मा के सामान्य स्वरूप का निरूपण कि यह स्थूल शरीर से ऊपर उठकर सूक्ष्म शरीर में जाने वाली है, क्षीण न होने वाली है, अन्धकार को हटा देने वाली है इत्यादि।

(3) शाकायन्य के द्वारा अपनी ज्ञान-परम्परा का उद्घाटन—उनका यह कथन कि उन्होंने ब्रह्म विद्या सीधे उन भगवान् मैत्रि से प्राप्त की, जिनसे वालखिल्य सदृश तेजस्वी ऋषियों ने भी यह ज्ञान अर्जित किया था।

(4-5) आत्म तत्त्व का स्वरूप।

(6) प्रजापति के द्वारा प्रजा-सृष्टि, तदनन्तर प्रजाओं को सक्रिय करने के लिए प्रजापति का स्वयं उनके भीतर वायु के रूप में प्रवेश। पुरुष वैश्वानर अग्नि के रूप में है, जिसके द्वारा खाया हुआ अन्न पचाया जाता है। बुद्धि में पुरुष की स्थिति मनोमय, प्राण शरीर, प्रकाश स्वरूप, सत्यसङ्कल्प और आकाशात्मा—इन पाँच रूपों में है। पुरुष ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयों का सेवन करता है। रथ का रूपक भी यहीं है।

(7) आत्मा ही काम्य है, वह अच्छे-बुरे कर्मों से अप्रभावित तथा तीनों अवस्थाओं से रहित है। वास्तव में वह अकर्ता है, किन्तु कर्ता के समान प्रतीत होती है।

तृतीय प्रपाठक—(1-4) भूतात्मा का विवरण, वही शुभाशुभ कर्मफलों से अभिभूत होती है। 'भूत' शब्द तन्मात्राओं का वाचक है। शरीर ही वास्तव में भूतात्मा है। इसमें आत्मा की स्थिति कमल पर स्थित जल-बिन्दु के सदृश है। गुणों से परिचालित होने के कारण यह कलुषित होकर अपने को ऐसे बांध लेती है, जैसे बहेलिए के जाल में पक्षी बंध जाते हैं। कर्मानुसार यह विभिन्न योनियों में संचरण करती रहती है। भूतात्मा का कर्तृत्व—वह अनेकत्व को प्राप्त करती है।

(5) तमोगुण और रजोगुण जन्य विकृतियाँ—मोह, भय, विषादादि।

चतुर्थ प्रपाठक—(1-2) भूतात्मा की प्रवृत्ति, वह किस प्रकार चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करती है।

(3-4) आत्मा को भूतात्मा के प्रभाव से मुक्त करने के उपाय, वेद विद्या के द्वारा आत्म-ज्ञान की उपलब्धि, अपने आश्रम-धर्म के अनुरूप आचरण का निर्देश, वेदोक्त कर्म की स्वधर्म रूपता, तपस्या से तत्त्व की प्राप्ति, सत्त्व से मनोबल और उससे पुनः आत्म-ज्ञान की उपलब्धि का विवरण। तपोनुष्ठान से साधक का ब्रह्म प्राप्ति के द्वार तक पहुँचना—तदनन्तर ब्रह्म भाव की उपलब्धि।

(5-6) अग्नि, वायु, आदित्य, काल, यम, प्राण, अन्न, ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु—इन देवों में कौन ध्येय

है—इसका विचार। अग्न्यादि देवों की परब्रह्म स्वरूपता तथा समस्त जगत् की ब्रह्ममयता।

पञ्चम प्रपाठक—(1) ऋषिकुत्सायन के द्वारा साक्षात्कृत ब्रह्म-स्तुति।

(2) गुणों के वैषम्य से जगत्सृष्टि का प्रतिपादन—तीन देवों की तीन गुणों से सम्बद्धता का निरूपण।

षष्ठ प्रपाठक—(1-2) आत्मा की प्राण और आदित्यात्मकता—एक की शरीर में स्थिति और दूसरे के द्वारा जगत् को प्रकाशित किया जाना। एक बाह्यात्मा और दूसरी अन्तरात्मा। सूर्य की गति और प्राण की गति की समानता। प्राणात्मा का देह के भीतर, हृदय-कमल में निवास। आकाश की कमलरूपता, दिशाओं और उपदिशाओं का इसकी पंखुरियों के रूप में विवेचन; प्राण और आदित्य का इसके आस-पास विचरण।

(3-5) ओङ्कार और व्याहृतियों के साथ गायत्री मन्त्र से उपासना; ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूप; अमूर्त ही सत्य है, वही ब्रह्म है, वही ज्योति है, वही आदित्य है और वही ओङ्कार है। प्रणव और उद्‌गीथ, ओङ्कार प्राण और आदित्य की नादमयी देह है—अग्नि, वायु और आदित्य इसके तीनों लिङ्ग हैं; ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु का इसमें निवास है; गार्हपत्यादि अग्नियाँ इसकी मुख हैं। ऋक्, यजुष् और साम से यह विज्ञानवान् है। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों इसके काल हैं; तीनों लोकों से इसकी सम्बद्धता। अन्न, जल और चन्द्रमा से इसका आप्यायन। प्राण, अपान और व्यान से इसकी प्राणवत्ता। ओङ्कार अक्षर की परापर ब्रह्मरूपता।

(6-7) तपोनुष्ठान से जगत् के अस्तित्व की विवेचना; ओङ्कार की व्याख्या; भू, भुवः, स्वः—इन व्याहृतियों से जगत् का कथन; सावित्री मन्त्र की व्याख्या।

(8) विभिन्न देवों के साथ आत्मा का समीकरण। इसे जानने की आवश्यकता का प्रतिपादन।

(9-10) आत्मा की आत्मा और परमात्मा के क्रम से उभयात्मकता। अतः आत्मा की ही ध्यातव्यता। मन की शुद्धि के उपाय। विशेष प्रकार के आत्म-यज्ञ का विधान। (सांख्य सम्मत) महदादि तत्त्वों का कथन। जागतिक तत्त्वों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की विवेचना। पुरुष का भोक्तृत्व।

(11-14) अन्नमय प्राण का विवरण; अन्न की काल-कारणता। काल की सूर्य से उत्पत्ति, विभिन्न अयनों, मासों और नक्षत्रादि का विवरण; काल की उपासना ब्रह्मरूप में करने का निर्देश।

(15) ब्रह्म की कालरूपता तथा अकाल रूपता; आदित्य से पहले का रूप अकाल और आदित्य से प्रवर्तित रूप सकाल; संवत्सर की प्रजापति, काल, अन्न, ब्रह्मनीड और आत्मा की रूपवत्ता।

(17) परमात्मा के द्वारा आकाश तत्त्व से लेकर समस्त जगत् का चेता मात्र रूप में प्रबोधन। जगत् की उत्पत्ति परमात्मा के ध्यान से हुई है।

(18) प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि—इन छह अङ्गों से युक्त योगानुष्ठान-पद्धति का निरूपण।

(19-21) अन्य यौगिक साधनाओं (लम्बिकायोग) का विवरण; निरात्मभाव (उज्मनीभाव) की उपलब्धि का उपाय।

(22) ब्रह्म के शब्द और अशब्द रूपों के ध्यान की विधि। ओङ्कार की इन दोनों के मध्य में स्थिति।

नाद-साधना की विधि।

(23-24) ओङ्कारोपासना-विधि।

(25) योग का 'योग' नाम जोड़ने के कारण पड़ा, क्योंकि साधक प्राण, ओङ्कार और अनेकरूपात्मक समस्त विश्व को एक साथ जोड़ता है अथवा ये सभी उसके लिए अपने को जोड़ते हैं। इससे प्राण, मन और इन्द्रियों की एकता। समस्त हानिकारक भावों का तिरोधान।

(26) मछेरे की उपमा—जैसे मछेरा जल में रहने वाली मछलियों को जाल से पकड़कर उनसे उदराग्नि में होम करता है, वैसे ही साधक प्राणों को ओङ्कार के माध्यम से ऊपर उठाकर आत्मा अथवा ब्रह्म रूपी निर्दोष अग्नि में होम करता है। इससे वह तपी हुई पृथ्वी की तरह हो जाता है—अप्राण तत्त्व प्राण तत्त्व के संस्पर्श से प्रदीप्त हो उठता है।

(27) एकाग्रता के अभ्यास से चित्त की वासनाएं वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे जमीन में गड़ा हुआ टुकड़ा शीघ्र ही मिट्टी में मिल जाता है, और कुम्हार के काम का नहीं रहता है।

(28-29) द्वारपाल का रूपक—यह द्वारपाल सम्मोहन, तृष्णा, ईर्ष्या, आलस्य, निद्रा, पाप, अभिमान, क्रोध, लोभ तथा कामनाओं के रूप में ब्रह्म प्राप्ति के द्वार पर प्रथम बाधा के रूप में अड़ा है, जिसका निवारण संन्यास, धैर्य और ओङ्कार-साधना के द्वारा ही किया जा सकता है। तदनन्तर योगाभ्यास के द्वारा अन्नमयादि विभिन्न कोशों को पार करके आनन्दमय कोश तक पहुँचने का आह्वान किया गया है। यह उपलब्धि छह मास में संभव है। ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन करके शाकायन्य का मौनावलम्बन।

(30) योग साधना की सामान्य विधि। स्वाध्याय, यम-नियमों के पालन तथा अध्यवसाय, संकल्प एवं अभिमान के परित्याग पर विशेष बल। शाकायन्य बृहद्रथ संवाद की सम्पन्नता। सृष्टि, स्वर्ग और अपवर्ग—इन सबके मूल कारण के रूप में आदित्य का कथन।

(31) आत्मा के द्वारा ही इन्द्रियादि की प्रवृत्ति का निरूपण।

(32) आत्मा सत्य की भी सत्य है—उसी से प्राणों, लोकों, वेदों, देवों और प्राणियों के आविर्भाव का कथन।

(33-34) अग्निहोत्र विषयिणी उपासना का विधान। अग्निहोत्र की आध्यात्मिक दृष्टि से की गई प्रतीकात्मक व्याख्या। ध्यान के आलम्ब का निरूपण। चित्त की शान्ति और प्रसन्नता का उपपादन। अमनीभाव का निरूपण।

(35) अग्नि प्रभृति देवों की मन्त्रमयी स्तुति।

(36) ब्रह्म ज्योति की द्विविधरूपता—प्रथम शान्त है और दूसरा समृद्ध अर्थात् सजीव है। अग्निष्टोमादि के अनुष्ठान का महत्त्व। अध्यात्म-साधना में कर्मकाण्ड की उपादेयता।

(36) ओङ्कार के माध्यम से परमात्मा की उपासना का विधान। अग्निहोत्र का महत्त्व।

(38) अग्निहोत्र।

सप्तम प्रपाठक—इसके प्रथम सात अनुवादों में सविता की उपासना विभिन्न देवों, छन्दों, स्तोत्रों और ऋतुओं इत्यादि के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपणपूर्वक की गई है। सप्तम अनुवाक में आत्मा के महत्त्व का प्रतिपादन है।

(8) आत्म ज्ञान प्राप्ति के मार्ग की बाधाएं—इसी के साथ ज्ञान-प्राप्ति के अनधिकारियों का भी निरूपण है।

(9) नैरात्म्यवादी विचारधारा के उद्भव का पौराणिक विवरण—इस विचारधारा के अध्ययन का निषेध। अनुवाक के अन्त में कठोपनिषत् के तीन मन्त्रों के आत्म ज्ञान के सन्दर्भ में उद्धरण।

(10) प्रजापति के द्वारा देवों को आत्मवादी ज्ञान-दान और असुरों को नैरात्म्यवादी ज्ञान-दान।

(11) समस्त तैजस तत्त्व की एकता और सहिष्णुता। आत्मज्ञान के अनन्तर साधक की स्थिति।

विषय-वस्तु का विश्लेषण

इस प्रकार मैत्रायणीय उपनिषत् की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु अत्यन्त व्यापक, व्यवस्थित और व्यावहारिक है। आत्मा और परमात्मा, जीवात्मा और भूतात्मा, अध्यात्म और कर्मकाण्ड, योगाभ्यास और आत्मचिन्तन—इन सभी के समुचित समाधान का प्रयत्न इसमें परिलक्षित होता है। अध्यात्म के सैद्धान्तिक पक्षों के साथ ही व्यावहारिक और आचारनिष्ठ पक्षों का भी इसमें यथोचित सन्निवेश हुआ है।

भाषा और शैली—इस उपनिषत् की भाषा सामान्यत: ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के सदृश है, लेकिन मैत्रायणी शाखागत विभिन्न भाषिक विलक्षणताएं इसमें हैं। स्पष्टता और सुबोध प्रतिपादन की शैली इसे वैशिष्ट्य प्रदान करती है।

उपलब्ध भाष्य, विभिन्न संस्करण और अनुवाद—यह प्रायेण विदित तथ्य है कि इस पर आद्य शंकराचार्य का भाष्य नहीं मिलता लेकिन परिव्राजक शिरोमणि रामतीर्थ की 'दीपिका' टीका उसके अभाव को अनुभव नहीं होने देती। रामतीर्थ की व्याख्या अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण तथा शास्त्रीय उद्धरणों और अवतरणों से सम्पन्न है। यह विशद और विस्तृत व्याख्या मूल के अभिप्राय को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है। टीकाकार का योग-साधना विषयक अत्यन्त गम्भीर अनुभव भी इसमें सहायक सिद्ध हुआ है। इस टीका के साथ मैत्रायणी उपनिषत्[6] का (संभवत:) सर्वप्रथम भारतीय संस्करण सन् 1895 ई० में, आज से 103 वर्ष पूर्व, आनन्दाश्रम, पूना से 'उपनिषदां समुच्चय:' के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण आज दुर्लभ हो गया है। इसके बाद, 20वीं शताब्दी के छठे दशक के मध्य में, वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित उपनिषदों के एक संग्रह में इसका मूल भाग मात्र प्रकाशित हुआ है। हस्तलेखों के आधार पर, इसके कुछ अंग्रेज़ी-अनुवाद तो 19वीं शताब्दी में ही प्रकाशित हो गये थे, जिनमें ई० बी० कॉवेल तथा मैक्समूलर कृत अंग्रेज़ी अनुवाद क्रमश: 1870 तथा 1884 ई० में प्रकाशित हैं। डॉ० राधाकृष्णन[7] ने भी इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है, जो 1953 ई० में छपा है। फ्रांसीसी भाषा में इसका अनुवाद किया है, प्रो० लुई रेनू ने, जो पेरिस से प्रकाशित है।

References & Notes

1. What imparts to this Upaniṣad, according to my opinion, an exceptionally genuine and ancient character, is the preservation in it of that peculiar Sandhi, which thanks to the labours of Dr. Von Schroder. We now know to be characteristic of this Śhākhā. In that Śhākhā final un accented 'अ' and 'ए' are changed into 'आ' if the next word begins with an accented vowel except 'अ'.□Sacred books of the east, vol. I & II. Intro.
2. प्राचीन भारतीय साहित्य, विण्टरनित्स, (हिन्दी अनुवाद) प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ0 207
3. Sixty Upaniṣads., Part I, p. 49
4. Principal Upaniṣads. p. 49
5. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता नष्टो योगः परन्तप।। श्रीमद्भगवद्गीता 4-1-2
6. The Upaniṣads, Sacred books of the east, vol. I, 1879, vol II. 1884.
7. Principal Upaniṣads, George Allen & Alnwin Ltd. London, 1953.

❐

उपनिषत्सु भारतीयसंस्कृतिः

डॉ० इन्द्र नाथ झा ★

संस्कृतवाङ्मयस्य स्वरूपद्वयं विद्यते—वैदिकं लौकिकञ्च। भारतीयसंस्कृतिर्द्वयोरेव स्वरूपयोस्तिष्ठति। तत्र वेदान्तरूपेण प्रतिष्ठिता उपनिषदस्तु संस्कृतिसंरक्षिकाः प्राणभूताश्च सन्ति। अयमुपनिषच्छब्दस्तु व्यापकोऽस्ति। उप नि उपसर्गपूर्वक सद् धातोः क्विपि प्रत्यये कृते 'उपनिषत्' शब्दो व्युत्पन्नः। षद्लृ (विशरणगत्यवसादनेषु) धातोः क्रमशः विनाशः, गतिः (प्राप्तिः), शिथिलीकरणादयोऽर्था भवन्ति। एवं या विद्या सांसारिकमोहमायां समाप्य ब्रह्मत्वं गमयति प्रापयति जन्ममरणादिबन्धनञ्चावसादयति शिथिलयति सा एव उपनिषत्। अर्थात् अविद्याया विशरणं विद्याया आप्तिः सांसारिकजननमरणरूपदुःखानां च शिथिलीकरणं विमुक्तिर्वा यत्र भवन्ति सा एव ज्ञानाभाररूपा उपनिषत्। कथितञ्चाद्यशङ्कराचार्येण—**उपनिषीदति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्याञ्च शिथिलयति ब्रह्म च गमयतीति उपनिषद्।** अन्यापि व्याख्या उपनिषदोऽस्ति, यदनुसारेण सन्निधौ उपवेशनम्। अर्थात् गुरोः समीपमुपविश्य ज्ञानप्राप्तिर्यत्र भवति सैवोपनिषद्। इयमेव व्युत्पत्तिः साम्प्रतं प्रचलिता व्यवहारसम्मता च प्रतीयते। यतः कस्यापि दुरूहविषयस्य वास्तविकावगतिर्गुरोरेव भवति। गुरुः अतिविश्वस्तमन्तेवासिनमेव सावधानतया महनीयां ब्रह्मविद्यां पाठयतीति छान्दोग्योपनिषद्। आचार्यशङ्करेणापि कठोपनिषद्भूमिकायामिदमेवोक्तम्।[1] **उप ब्रह्म सामीप्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्,** एवं यया ब्रह्म सन्निधिरवाप्यते सा एवोपनिषदित्यत्रापि गुरोः सान्निध्यं तस्माद्विद्याप्राप्तिर्ध्वन्यते।

यद्यपि सांसारिकबन्धनमुक्तयेऽध्यात्मज्ञानार्जनाय ब्रह्मप्राप्त्यै चोपनिषदः प्रमाणभूतास्सन्ति, योगिनोऽध्यात्मवेत्तारश्च अत्रैव ज्ञानं लभन्ते। किन्तु उपनिषदामियं सङ्कुचिता सीमा नास्ति। वस्तुतो भारतीय-संस्कृतेरिमे प्रमाणभूता ग्रन्थास्सन्ति। वैदिककालादारभ्य अद्यावधि भारतस्य या विकसिता संस्कृतिर्दृश्यते, सम्पूर्णविश्वे चास्य या सांस्कृतिकमहत्ता स्थापिताऽस्ति तत् न केवलं वैदिकग्रन्थेभ्य एव किन्तु सर्वविद्यासमन्वितेभ्य उपनिषद्ग्रन्थेभ्योऽपि। वस्तुतो भारतीयज्ञानस्योपनिषदोऽमूल्यनिधयस्सन्ति। वैदिकधर्मस्य मूलतत्त्वनिरूपिका वेदान्तदर्शनस्य प्रस्थानत्रये प्रथमा इमा उपनिषदः श्रवणात्मिका सर्वज्ञानप्रदायिकाश्च विश्वेऽस्मिन् विख्याता विद्यन्ते। स्वकीयाध्यात्मिकज्ञानगौरवोद्घोषं कुर्वन्त्य उपनिषदो भारतीयां चिन्तनधारां संस्कृतिञ्चाखिलविश्वे प्रसारयन्ति।

★ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष; संस्कृत विभाग, श्री लक्ष्मी किशोरी महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार

प्रकृते, 'उपनिषत्सु भारतीयसंस्कृति' रिति विचारविषये संस्कृतिशब्दस्तावद् विवेचनीयो भवेत्। लौकिक-जीवने सभ्यता-संस्कृतिरिति पदद्वयं समानार्थकत्वेन ज्ञायते किन्तु द्वयोर्भिन्नताऽस्ति। अत्र केवलं 'संस्कृति' रेव विचारणीया। तत्र सम्पूर्वक कृ धातोर्भूषणार्थे सुडागमे क्तिन् प्रत्यये च कृते संस्कृतिशब्दो निष्पन्नो भवति, यस्यार्थो भवति परम्परागतोऽनुस्यूतः संस्कारः, किं वा भूषणभूता सम्यक् कृतिरित्यप्यन्योऽर्थः। संसाररूपिबीजानुसारेणैव कर्मरूपी वृक्षो जायते। एवं तदनुरूपकर्मणा चेष्टया वा मनुष्यः स्वजीवने समस्तक्षेत्रेषु उन्नतिं कृत्वा सुखशान्तिमवाप्नुयादित्येव लक्ष्यं स्यात्। तथाविधोन्नतिविधायिकाश्चेष्टा एव भूषणभूताः साधु चेष्टाः कथयितुं शक्यन्ते। जनानां लौकिकपारलौकिकौ सर्वाभ्युदयानुकूलविचारावेव संस्कृतिरस्तीत्यत्र न कोऽपि संशयलेशः। सभ्यतातो व्यापिका संस्कृतिर्मनुष्यस्य सम्पूर्णजीवनं संस्कारयति। सभ्यतया केवलं बाह्याचार एव लक्ष्यते किन्तु संस्कृतिर्जीवनव्यापिनी चेतनाऽस्ति। संस्कृत्या सभ्यता प्रभाविता भवति न खलु सभ्यतया संस्कृतिरिति विशेषः। भारतीयदर्शनानुसारं संस्कृतेः पञ्चावयवा भवन्ति—धर्मः, दर्शनम्, इतिहासः, वर्णः, सामाजिकरीतयः प्रथा वा। तत्र संस्कृतिशब्दस्य लक्ष्यार्थो धर्मस्य विद्यादीनां च उन्नतिरेव परं वाक्यार्थोऽस्ति संस्कारस्य शुद्धेः क्रिया। प्राकृतं वस्तु यस्मिन् रूपे सामान्यतया प्राप्यते तत्संस्कृतं वस्तु कथयितुं न शक्यते। वस्तुतः कस्मादपि स्थूलधातोः सूक्ष्म-शुद्धतत्त्वग्रहणक्रिया एव संस्कृतिः। लोके संस्कृतिद्वारा उत्तममानसिक-सामाजिकगुणाः प्रादुर्भवन्ति।

भारतीयसंस्कृतेः काश्चन विचारधारास्सन्ति। इमा विशेषता अन्यत्र नावलोक्यन्ते। इमास्सन्ति जनन-पुनर्जन्मवादः, अतिथिसत्कारः, यज्ञः, औदार्यम्, ब्रह्मचिन्तनम्, लिप्सामुक्तिः, त्यागः, पुरुषार्थप्राप्तिः, पारस्परिकसौहार्दम् गुरुशिष्यपरम्परादयः। इमानि सर्वाणि तत्त्वानि उपनिषन्निबद्धानि मिलन्ति। अत्रत्या ऋषिमुनयः सर्वत्र भगवद्दृष्ट्याऽऽत्मभावनां निगदन्ति। पृथिव्यां यत्किञ्चित् स्थावरजंगमात्मकं वस्तु विद्यते तत्सर्वमीश्वरेण जगत्पालकेन वास्यम् आच्छादनीयमस्ति। ईश्वरोऽन्तर्यामिरूपेण सर्वं शास्ति। सर्वान्तर्यामी एव जगदात्माऽस्ति। एवम्भूतया भावनया युक्तः पुत्रादि-एषणात्रयरहितो जनः कस्यचिद्धनाकाङ्क्षा न कुर्यात्। परद्रव्येषु यस्य भावना लोष्ठवद् भवति सर्वेष्वेव जन्तुषु यस्य भावनाऽऽत्मवद् भवति स एव पण्डितः कथ्यते, इयं तु भारतीयसंस्कृतिः सामान्येन किन्तु प्रमाणभूतासूपनिषत्सु तु अतोऽधिकं चिन्तनं कृतं दृश्यते। क्षणभङ्गुरमनित्यम्प्रति कस्यापि आकर्षणं न भवेत्। अत्रत्या संस्कृतिर्विद्यते—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्यां इति। इयमेव मानसिकता स्यात्संसार-सागरोद्धाराय। अस्य कृते उपनिषदेव उपजीव्यत्वेनास्माकमग्रे समुपस्थिता भवति। भवसागरोद्धाराय उपनिषत्साहित्यमेवास्माकं भवति सहायकम्। सम्पूर्णं विश्वमस्या एवोपनिषत्प्रोक्तं संस्कृतेः आदरं करोति। अत्र समेषां संस्कृतितत्त्वानां यथासम्भवं समासेन विवेचनं कृतमस्ति।

भारतीयसंस्कृतेरुपनिषत्प्रोक्ता या विशेषताश्चर्चितास्सन्ति तासां क्रमानुसारविवेचनप्रसंगे प्रथमं तावत् पुनर्जन्मसिद्धान्तो विवेचनीयः। पुनर्जन्मप्रसंगे भारतीयचिन्तनमस्ति यद् यस्य जन्म भवति तस्य मरणं मरणान्तरं च पुनर्जन्म शाश्वतमेवास्ति। भगवता कृष्णेन अर्जुनाय इदमेव प्रोक्तम्।[2] भगवद्वचनमिदम् उपनिषत्सु सुष्ठु प्रोक्तमस्ति। नचिकेतसं प्रति उपदेशं कुर्वाणो यमो निगदति यत् धनमोहान्धप्रमादग्रस्तश्चजनः सम्परायः (परलोकः) अस्ति इति न जानाति। स खलु अविद्याग्रस्तो भवति यः खलु विद्वान् वर्तते स मम मरणं निश्चितं,

मरणानन्तरं च सुकृतदुष्कृतानुसारं स्वर्गनरकप्राप्तिरवश्यमेव भविष्यतीतिधिया सुकृतं प्रत्येवोन्मुखस्तिष्ठति किन्तु यो विद्याविहीनो भवति स प्रमादग्रस्तो वारंवारं मम यमस्याधीनतां प्राप्नोति अर्थात् जननमरणादिकष्टात् स मुक्तो न भवति। दुष्कृतानुसारं यमराजवशत्वं स प्राप्नोत्येव। यमराजस्य अनेन कथनेन[3] उपनिषत् जनन-मरण-पुनर्जननादिदर्शनम्प्रति अस्मान् ज्ञापयति। शङ्कराचार्योऽस्मादेव जननमरणबन्धनान्मोचयितुं भगवन्तं मुरारिं निवेदयति।[4] कठोपनिषदो दृढमिदं मतमस्ति यत् जीवात्मैव जननमरणादिप्रभावितो भवति न परमात्मा। कस्यचिदपि जनस्य मृत्योरिदं न ज्ञेयमस्ति यत् तद्देहस्थितपरमात्मामृतः। आत्मा तु नित्यः शरीरमात्रमनित्यमस्ति। आत्मा जराजीर्णं शरीरं विहायान्यत्र गच्छति, अयं न म्रियते न वा हन्यते।[5] एवं शरीरं विनश्यति आत्मा तु स्थिरस्तिष्ठति। श्रीमद्भगवद्गीतायामर्जुनम्प्रति कृष्णस्येयमेवोक्तिर्दृश्यते। कठोपनिषद् वाक्यविचारणानन्तरं सम्यग् ज्ञातुं शक्यते यच्छरीरं नश्यति, आत्मा तद्विहायान्यं शरीरं प्राप्नोति! अयमेव सिद्धान्तः पुनर्जन्मदर्शनं द्रढयति। स्वयमाचार्यशङ्करः स्वशरीरं त्यक्त्वाऽऽत्मानं राज्ञोऽमरुकस्य मृतशरीरे संस्थाप्य सांसारिकविषयवासनां ज्ञातुं यतते इति श्रूयते। एवमात्माऽजरोऽमरश्च। आत्मा जीर्णशरीरं त्यजति अन्यं चाप्नोतीति पुनर्जन्मसिद्धान्तस्य उद्घोषकमेव। विवेकवतोऽविवेकिनो विवेचनप्रसंगे कथितमस्ति यत् यो जनो विवेकी वर्तते, तथाविधो विज्ञानवान्, संयतचित्तः, सदाशुचिर्व्यक्तिः तत्पदं मरणानन्तरम्प्राप्नोति, यतः पुनरागमनस्य काऽपि शङ्का न भवति।

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदाशुचिः।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।। कठोपनिषद् 1/3/8

एतादृगेव स्थानमेव परमं धाम उच्यते। भगवान् श्री कृष्णोऽपि श्रीमद्भगवद्गीतायां (8/21) कथितवानस्ति—

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

यद्यपि चार्वाकादिसिद्धान्तस्तद्विपरीतः किन्तु सामान्यजनेष्वपि पुनर्जन्म एव व्यावहारिकं प्रतीयते। समाजेऽनेका घटनाः श्रुताः यत्र कोऽपि बालकः पूर्वजन्म स्मृत्वा विह्वलो भवति पूर्वसम्बन्धिनां विषये विशदेन ज्ञापयति च। अतश्चार्वाकमतं केवलं ग्रन्थगतमेव, पुनर्जन्मसिद्धान्तः पूर्णतः दृढो वर्तते। पुनर्जन्म न भवत्विति धियैव मनीषिणो विभिन्नधार्मिकमार्गानुसरणं तन्निस्ताराय कुर्वन्ति।

अतिथिसत्कार—भारतीयसंस्कृतेः परमं तत्त्वमस्ति अतिथिसत्कारः। जनमानसे, मन्ये, अतिथिसत्कारः पूर्णतः सम्पृक्तो जातः। अतो यादृशो मातरम्प्रति, पितरम्प्रति, आचार्यम्प्रति वर्तते तद्वदेव अतिथिं प्रत्यपि भवेदिति भारतीयमनीषिमन्तव्यम्। अत्र मातृ-पितृ-गुरवो देवतारूपेण पूजयितव्या इत्युपनिषन्मतम्। एतैरेव सह अतिथिरपि पूज्यः।[6] कठोपनिषद्यपि ब्रह्मजिज्ञासुर्नचिकेता यदा यमलोकं गच्छति तदा यमः तत्र विद्यमानो नासीत्। यदा स प्रतिनिवृत्तो भवति तदा रात्रित्रयं यावत् ब्राह्मणोऽतिथिरनश्नन् अतिष्ठत् इति ज्ञापितः पत्न्या मन्त्रिभिश्च। कठोपनिषदनुसारं 'यस्य गृहेऽतिथिर्ब्राह्मणो भोजनमकृत्वा वसति तस्य गृहस्थस्य ज्ञाताज्ञातवस्तुप्राप्तेराकाङ्क्षास्तत्संयोगात्प्राप्तव्यफलानि प्रियवचनफलानि, यज्ञादेः प्राप्तफलानि, उद्यान-कर्म-पुत्र-

पशुजन्यसुकृतादीनि स्वत एव विनश्यन्ति।[7] निश्चयतः इमामेवोपनिषद्भावनामवलम्ब्य जनमानसे श्लोकोऽयं प्रवर्तते—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।

स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति।।

भारतीयसंस्कृतौ गृहस्थानामवश्यकर्त्तव्यतयाऽतिथिसेवा समर्थिता। शास्त्राण्यपि धर्ममिमनुमोदयन्ति, तद्यथा—

अतिथिः किल पूजार्ह : प्राकृतोऽपि विजानता।

अन्यच्च—**उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।**

पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः।।

उपनिषद्वचनं समर्थयन् मनुरप्याह यत् सज्जनगृहस्थगृहे यदि अन्नं नास्ति तदपि तृणभूमिजलवाणीति वस्तु-चतुष्टयेन तु अतिथिः सत्कारमर्हति तद्यथा—

तृणानिभूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।। मनुस्मृतौ 3/10

मनुमतानुसारेण देववत्पूज्योऽतिथिः सर्वथाऽप्रणोद्यो न प्रत्याख्येयः।

याज्ञवल्क्येनापि अयमेव विचारः प्रकटितः—"अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः (1/107)। पराशरानुसारेण यस्य गृहाद्भग्नाशोऽतिथिः प्रतिनिवर्तते, तस्य पितरस्तु पञ्चदशवर्षाणि यावत् श्राद्धवस्तून्यपि ग्रहीतुम् समर्था भवन्ति। तद्विचारानुसारमतिथिस्तु गोत्राचरणस्वाध्यायादिविषयेऽपि किमपि प्रष्टव्यो न भवति यतः स सर्वदेवमयो भवति।[8] एवं यया बुद्ध्या कठोपनिषदि अतिथेर्माहात्म्यमुदीरितमस्ति सा संस्कृतिः लौकिकसंस्कृतकालेऽपि प्रकर्षेणातिष्ठत्। तस्या एवच्छायाऽद्यापि दृश्यते। अन्यत्रापि कथितमस्ति यत् गृहमागतोऽतिथिः सर्वथैव पूज्यः।[9] अतिथेर्वैशिष्ट्यमाश्रित्यैव यमः दिनत्रयावस्थानकारणान्नचिकेतसे त्रीन् वरान् दत्तवान्।

यज्ञः—भारतीयसंस्कृतौ यज्ञस्यात्यधिकम्महत्त्वमासीत्। भिन्न-भिन्नकाले राजानः यथायोग्यमावश्यकतानुसारं विश्वजित्-राजसूयाश्वमेधादियज्ञान् विधाय राजकीयजीवनसाफल्यं कृतकृत्यतां चानुभवन्ति स्म। महाकविभासकथनानुसारं मनुपुत्रेक्ष्वाकु-शर्याति-ययाति-राममान्धातृ-नाभाग-नृगाम्बरीषप्रभृतयः स्वधनकोशराज्यादिभिस्सह विनष्टाः। किन्तु क्रतुभिर्यज्ञैस्तेऽद्यावधि जीवन्ति पृथिव्याम्—

इक्ष्वाकुशर्यातिययातिराममान्धातृनाभागनृगाम्बरीषाः।

एते सकोशाः पुरुषाः सराष्ट्रा नष्टाः शरीरैः क्रतुभिर्धरन्ते।।[10]

एवं यज्ञमहत्त्वं विचार्य स्वोत्कर्षाय च राजकृतयज्ञानां परिपाटी भारतीयसंस्कृतिसम्बद्धाऽऽसीत्। कठोपनिषदि राज्ञो वाजश्रवसो विश्वजिद् यज्ञस्य वर्णनं मिलति यस्मिन् सर्वस्वदानस्य व्यवस्थाऽस्ति। किन्तु पुत्रमोहाद् राजा जराजीर्णगवादि-अदेयदानं कृत्वा कृतकार्यो जातः। इमामेव विसंगतिमवलोक्य बालोऽपि पुत्रो नचिकेता तं

पृच्छति—**तत कस्मै मां दास्यसीति**। प्रथमं तु पुत्रप्रश्नः श्रुतिपथं नानीतः किन्तु वारं वारं श्रुत्वा क्षुब्धो जनको वाजश्रवा **मृत्यवे त्वा ददामीति** प्रत्युवाच। एवं सति बालको नचिकेता यमलोकं गच्छति। तत्र यद् वृत्तमभवत् तत्तु कठोपनिषदध्ययेन सुतरां ज्ञेयम्। विश्वजिद्यज्ञवर्णनं महाकविकालिदासेनापि रघुवंश (सर्ग 5) महाकाव्ये कृतमस्ति। बृहदारण्यकोपनिषदि प्रथमे भागे मधुकाण्डे षड् ब्राह्मणाः (भागाः) सन्ति। अत्र द्वितीये काण्डेऽश्वमेधयज्ञस्य रहस्यात्मकता, तत्फलञ्च वर्णिते स्तः।। चतुर्थे ब्राह्मणे राजसूययज्ञस्यापि वर्णनम्मिलति। यत्र ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपविशन्ति इत्युल्लेखोऽस्ति। राजसूययज्ञो राज्ञा दिलीपेनापि अनुष्ठित इति रघुवंशम्।

औदार्यम्—भारतीयसंस्कृतिः प्राचीनकालादेव औदार्यसम्पन्ना आसीत्। उपनिषत्साहित्येष्वपि अस्य स्पष्टच्छाया दृश्यते। धनं प्रति पराकाष्ठाप्राप्तलिप्सा न स्यादिति ध्वनिरत्र सहजेन ज्ञायते। **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः** (कठोपनिषद् 1/1/27) इति मन्त्रस्तामेव भावनां प्रकटयति। वाजश्रवा राजसीभावान्वितो यदाऽदेयदानं करोति स्म तदा उदारचेता पुत्रो नचिकेता क्षुब्धमनसा तं पृच्छति आत्मविषये कस्मै स दीयत इति। अन्यथा पितृभावमवलोक्य स्वार्थञ्च विचार्य शान्तोऽपि भवितुं शक्नुयादिति। निजताभावं परित्यज्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इति भावना उपनिषत् कालिक्येवास्ति। दानं तु कर्त्तव्यमेव किन्तु न खलु रजोयुक्तेन किंवा तमोभावसमन्वितेन मनसा प्रत्युत **श्रद्धया देयम्** (तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/1-3) इत्यौदार्यस्यैव प्रमाणम्।

इत्यत्र भारतीयसंस्कृतिगतौदार्यभावनैव दृश्यते अन्यथा कस्यचिदपि उत्थापनस्य कामनैव कथं स्यात्? आत्मना सह सम्पूर्णमानवसमाजस्य वर्तते हितकामना उपनिषदाम्परममुद्देश्यम्। ऋत्विक् प्रस्तोता नामकः यज्ञे पवमानाख्यस्तोत्रजपं कुर्यात्। समेषां मंगलकामनया सोऽनेन मन्त्रेण जपं कुर्यात्—"असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति।" (बृहदारण्यकोपनिषद् 1/3/27)। अत्र ध्यातव्यं यत् मृत्युः असत् अमृतत्त्वं च सत् विद्येते। एवं मृत्योः अमृतत्त्वं प्रति नयनस्य प्रार्थना क्रियते। पुनर्मृत्युस्तमः अमृतत्त्वं च ज्योतिर्विद्यते अतोऽन्धकारात्प्रकाशोन्मुखीकरणम्प्रार्थितमत्र।

ब्रह्मचिन्तनम्—परमात्मचिन्तनम्—ब्रह्मचिन्तनमुपनिषदां श्रेष्ठमालोच्यवस्तु विद्यते। कठोपनिषदि जिज्ञासोर्बालकस्य ब्रह्मविषयकाः प्रश्नाः ग्रन्थस्य ब्रह्मचिन्तनपरकत्वमेव ज्ञापयन्ति। ऐतरेयोपनिषदपि ब्रह्म ज्ञानस्य महान् ग्रन्थोऽस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे त्रयोऽध्यायास्सन्ति। तृतीयाध्याये 'प्रज्ञान'स्य महिमा वर्णितोऽस्ति। इदमेव प्रज्ञानं ब्रह्म अस्ति बृहदारण्यकोपनिषद्विचारेण आत्मा एव ब्रह्म वर्तते।[11] बृहदारण्यकोपनिषदि पत्नीं मैत्रेयीं धनपराङ्मुखीमवलोक्य प्रसन्नो भूत्वा याज्ञवल्क्यस्तदग्रे आत्मतत्त्वं प्रतिपाद्य समेषां भूतानामाश्रयमात्मानमेव बोधयति। मिथिलेशजनकस्य सभायां तत्त्व (ब्रह्म) ज्ञानव्याख्यानेन सर्वानेव ब्रह्मज्ञानिनः पराजित्य राजानं मैत्रेयीं च ब्रह्मज्ञानमुपदिशति। आत्म (ब्रह्म) विषये तस्योद्घोष आसीत् यत् आत्मैव द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योअनुभवयोग्यश्चास्ति।[12]

उपनिषद्ग्रन्था वस्तुतो भारतीयसंस्कृतिज्ञानागाराणि सन्ति। परं ज्ञानं श्रद्धां विना लब्धुमशक्यम्—**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्** (गीता 4/39)। विद्धातुरेव विद्याशब्दस्य मूलमस्ति। अनयैव विद्यया सर्वं लब्धुं शक्यते—"किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।' कल्पलतासदृशीयं विद्याऽस्ति यया न केवल ऐहिकं वस्तु एव, प्रत्युत देवलोकोऽपि प्राप्तुं शक्यते।[13] यो जनो विद्यामविद्यां च सहैव जानाति सोऽविद्यया (कर्मणा) मृत्युं

तीर्त्वा विद्ययाऽमृतं प्राप्नोति अर्थात् अमरतां लभते।[14] भारतीयेयमेव संस्कृतिः सर्वान् लोकान् पाठयति। यदि अनयैव पद्धत्या सांसारिककार्यम्भवेत् तर्हि परमोद्देश्यम्प्राप्तुं कोऽपि सन्देहो न भवेत्। सांसारिकमोहजालादीनि त्यक्त्वा यदा वैदेशिकजनाः शान्तिकामनां कुर्वन्ति तदा तेषां शान्तिकेन्द्रम्भवति भारतमेव। यतोऽत्र वेदोपनिषद् भगवद्गीताप्रभृतयः सन्ति ज्ञानप्रदायकानि वस्तूनि। वस्तुतो यादृशी शान्तिरुपनिषत्प्रभृतीन् ग्रन्थानधीत्य मिलति तादृशी अन्यत्र नावाप्यते। इयमेव विशिष्टता भारतीयसंस्कृतिगर्भितोपनिषदामस्तीति।

पुरुषार्थप्राप्तिः—धर्मार्थकामास्सन्ति त्रिवर्गश्रेण्याम्। पुरुषार्थस्य प्रथमत्रीणि तत्त्वानीमान्येव। चतुर्थो विद्यतेऽपवर्गो मोक्षः। त्रिवर्गप्राप्तेरनन्तरं सर्वेषां जनानामिच्छा भवति मोक्षस्यैव। यावत्पर्यन्तं मोक्षप्राप्तिर्न जायते तावत् सर्वाङ्गपुरुषार्थसिद्धिर्न भवति। मोक्षस्यार्थो भवति सांसारिकबन्धनान्मुक्तिः। अन्तकाले कोऽपि जनः सांसारिकमोहबन्धनं विस्मृत्य चिरशान्तिं कामयते किन्तु तदानीं स निरवलम्बस्तिष्ठति। यतो जीवनकाले किमपि तस्य कर्म शान्तिमार्गबाधकमेव भवति। अस्यां स्थितौ किं कर्त्तव्यमिति धिया निरुपायो जनो यदि उपनिषच्छरणं गच्छेत् तर्हि तस्य निस्तारः सम्भवेदेव। मुमूर्षुर्जनोऽन्तिमे काले कामयते यदिदानीं मृत्युपथं गच्छतो मम प्राणाः अध्यात्मपरिच्छेदं विहायाधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलम् अमृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यताम्। अग्नौ हुतं शरीरं भस्मान्तं भूयात्। स आत्मानं प्रतिनिवेदयति। स कथयति—ओं क्रतो? प्रतीकात्मकत्वात् हे मम संकल्पात्मक मानस। अधुना यत्स्मर्त्तव्यं, तत्स्मर कृतं सुकृतं दुष्कृतं वा स्मर, स्मर। कृतमिति सर्वं पारलौकिकीं शान्तिम्प्राप्तुमेव भगवतः अभ्यर्थना विद्यते—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।।[15]

चिरशान्तिकामनया, मन्ये, पश्चात्तापं कुर्वन् मुमूर्षुः पठतीमं मन्त्रम्। इयमेवास्ति उपनिषत्कालिकी संस्कृतिर्याऽद्यावधि सम्पूर्णजगन्मानसम् आन्दोलयति। पश्चात्तापः पापं नाशयतीति भारतीयसंस्कृतिः। अतो मुमूर्षुः कमपि पापनिवारकं मार्गमनवलोक्यान्ततः अग्निमेव याचते स्वकर्मफलभोगाय सन्मार्गेण मां गमय। जन्ममरणादि-आवागमन निर्विण्णः शोभनेन मार्गेण गमयितुं याचतेऽग्निम्। कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत श्वेताश्वतरोपनिषद्यपि जननमरणभयात् त्रातुं रुद्रदेवः प्रार्थितोऽस्ति।[16]

सहास्तित्त्वपारस्परिकसौमनस्यादिभावना कठोपनिषदो महत्त्वपूर्णं वस्तु विद्यते। गुरुशिष्यपरम्परायां इमानि वचनानि उपजीव्यत्वेन अन्यत्रापि अङ्गीकर्त्तव्यानि सन्ति। **ओं सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।** इत्यादि वाक्यानि भारतीयसंस्कृतेर्मूलमन्त्रास्सन्ति। यत्र गुरुः शिष्यश्चात्मना सह द्वयोरेव हितकामनां कुरुतः।

सत्यविजयः—सांसारिकजीवने सत्यासत्यविवेचनं प्राचीनकालादेव प्रचलितमस्ति। यथा धर्माधर्मविषये धर्मस्य जयो भवति तथैव सत्यासत्ययोः सर्वदैव सत्यस्य विजयोऽभवत्।[17] सत्यमेव जयते इति तु स्वातन्त्र्योत्तर भारतस्य मूलमन्त्ररूपेण आदृतमस्ति। सत्यस्योत्कर्षप्रदर्शनाय कथितमस्ति यत् सत्यं वक्तव्यम्। धर्मः समाचरणीयः। सत्यात्प्रमादो न विधेय इति।[18] सत्यमेव ज्ञानं नान्यत्—**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1/1)। सत्यस्येमामेव विशिष्टतां दृष्ट्वा कथितम्—**सत्यान्नास्ति परो धर्मः।**

भारतीयसंस्कृतेरियं विशेषताऽस्ति यदत्र गुरुः सैद्धान्तिकेन सह व्यावहारिकज्ञानमपि शिष्याय प्रयच्छति। प्रकारान्तरेण अन्यानपि बोधयन् यमो नचिकेतसं कथयति—आत्मज्ञानविमुखा जन्तवः—उत्तिष्ठत् जाग्रत अज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः। केन प्रकारेण इदं भवेदिति—श्रेष्ठाचार्यान् प्राप्य तत्समीपं गत्वा निबोधत अवगच्छत। (कठ० 1/3/14)।

एवमुपनिषत्साहित्यग्रन्थानधीत्य सम्यगिदं ज्ञातुं शक्यते यदत्र भारतीयसंस्कृतिः सर्वांशतः सन्निहिताऽस्ति। इदमपि ज्ञायते यद् भारतीयमनीषिणां समग्रचिन्तनधारा धर्म-दर्शन-संस्कृति-उच्चादर्श-नैतिकसिद्धान्ताश्च उपनिषत्प्रभाविताः सन्ति। तथा चात्रत्यौ आचार-विचारौ संस्कृतिसम्बद्धौ वर्तते। समग्ररूपेण यदि उपनिषत्संस्कृतिं विचारयामस्तर्हि ज्ञायते यत् —

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

इत्येव मानसिकताऽत्रत्याऽस्ति। इदमेव कारणं यत् वैदेशिकमहिला महती विदुषी श्रीमती एनी बेसेण्ट महोदया उपनिषद्विद्यां प्रशंसयन्ती कथितवती यद् भारतवर्षस्येदं ज्ञानं मानवचेतनाया अद्भुतं सर्वोच्चं च फलमस्तीति।

सन्दर्भ सङ्केताः

1. सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति।
2. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।। श्रीमद्भगवद् गीतायाम् 2/27
3. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
   अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।। कठोपनिषदि 1/2/6
4. पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
   इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे।। चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम् 8
5. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। कठोपनिषदि 1/2/18
6. मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। तैत्तिरीयोपनिषदि 11/11/1-3
7. आशाप्रतीक्षे संगतंसूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
   एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे।। कठोपनिषदि 1/1/8
8. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
   पितरस्तस्य नश्यन्ति दशवर्षाणि पञ्च च। पराशरस्मृतौ1/45
   न पृच्छेद्गोत्राचरणे न स्वाध्यायं श्रुतं तथा।
   हृदये कल्पयेद् देवं सर्वदेवमयो हि सः।।1/48
9. महाभारतशान्तिपर्वणि-कपोत व्याध कथा
10. पञ्चरात्रम् 1/25
11. अयमात्मा ब्रह्म 2/5/19
12. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः 2/4/5

13. विद्यया देवलोकः–बृ0 उ0 1/5/16
14. विद्यां चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
    अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। ईशावास्योपनिषद् मन्त्र 11
15. तत्रैव–मन्त्रः 17
16. अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते।
    रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।। 4/21
17. सत्यमेव जयते नानृतम्–मुण्डकोपनिषद् 3/1/16
18. सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्न प्रमदितव्यम्।। तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/1-3

उपनिषत्कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था की अवधारणा

डॉ० सविता रस्तोगी ★

किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति कह सकते हैं। समस्त सामाजिक जीवन का परमोत्कर्ष संस्कृति में ही होता है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा उपकर्ष संस्कृति द्वारा ही मापा जाता है। उसके द्वारा ही समाज को संघटित किया जाता है इसीलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति जिन आधारशिलाओं पर स्थित है उन्हीं में से एक आधारशिला वर्ण व्यवस्था की है। वर्ण व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति को सामूहिक या समष्टि हित की ओर ले जाना। परिवार, देश और राष्ट्र सभी में सुव्यवस्था बनी रहे और सभी अपने-अपने नियत कर्त्तव्य पथों पर आरूढ़ होकर निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होते रहें—इस उद्देश्य से ही आर्य संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृञ्' वरणे या वरी धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चुनना या वरण करना। संभवतः यह चुनाव व्यवसाय का रहा होगा। ऋग्वैदिक समाज के आरम्भिक काल में वर्ण का प्रयोग रंग के अर्थ में हुआ है। ऊषा को 'अरुण वर्ण' तथा रात्रियों को 'कृष्णवर्ण' कहा गया है (ऋग्वेद 1/73/7) आरम्भिक चरण में वर्ण व्यवस्था का कोई स्वरूप नहीं था, उस समय दो ही वर्ण थे—आर्य और आर्येतर (दास-दस्यु)। यही आर्य आगे जाकर तीन भागों में विभक्त हो गये अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा दस्यु-दासों को शूद्र वर्ण में स्थान दिया गया। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का विकास अचानक न होकर एक क्रमिक विकास का परिणाम रहा है। उत्तर वैदिक काल में इसकी उत्पत्ति को दैवी उत्पत्ति बताकर समाज को व्यवस्थित करने का प्रयास हुआ। ब्रह्मा के चार अङ्गों से चार वर्णों की उत्पत्ति ही नहीं बतायी गयी अपितु सम्पूर्ण विश्व को उसी यज्ञानुष्ठाता पुरुष का ही अंश बताया गया, जिसमें चर-अचर सभी का समावेश है।

उपनिषदों में चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के अङ्ग से नहीं मानी गयी है, उपनिषद्काल में वर्ण भेद की

★ अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई स्वशासी महाविद्यालय, ग्वालियर, मध्य प्रदेश

भावना वर्तमान थी, वर्ण व्यवस्था का अस्तित्व हम पुरुष सूक्त के समय तक पाते हैं, जो निश्चित रूप से उपनिषदों के पूर्ववर्ती हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् का मत है कि विश्व की आदिसत्ता ब्रह्म है, किन्तु उसे अपने एकत्व रूप से संतोष न हुआ। एकाकी होने के कारण उसे कुछ अभाव सा प्रतीत होता था इसलिए उसने एक श्रेयस् क्षत्रियवर्ण की सृष्टि की। इस प्रकार आदि ब्रह्म से इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईश आदि देवताओं की सृष्टि हुई, वे स्वर्गलोक के क्षत्रिय वर्ण हैं, पुनः क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि के बाद भी ब्रह्मा को संतोष न हुआ तो उन्होंने विश्वदेव (वैश्य) के रूप में वसु, रुद्र, आदित्य और मरुत् का सृजन किया फिर भी उसे एक अभाव का अनुभव हुआ तो उसने स्वर्ग में शूद्र वर्ग की सृष्टि की, जिसका प्रतिनिधि पूषण है। पुनः अपने को पूर्णता प्रदान करने के लिए ब्रह्म ने धर्म की स्थापना की जो इन पृथक्-पृथक् वर्गों को एक सूत्र में बांधता है। अंत में ब्रह्म ने अग्नि का स्वरूप धारण किया जो देवताओं का ब्राह्मण है। ये चारों वर्ण के देव प्रगति तथा कल्याण के लिये ही बनाये गये थे—बृह० उप० 1/4, 11/5, छान्दोग्योपनिषद् 5/10/7। स्वर्ग के वर्ण विधान के आदर्श पर ही पृथ्वी पर भी वर्ण विधान हुआ, इस सिद्धान्त के अनुसार संसार का वर्ण विधान स्वर्ग के वर्ण विधान का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस उल्लेख से चारों वर्णों की उत्पत्ति, उनके देवता तथा ब्रह्म की श्रेष्ठता ज्ञात होती है।

उपनिषदों में वर्ण की उत्पत्ति का आधार कर्मणा कहा गया है, विभिन्न कर्मों के लिये ब्रह्मा ने इन्हें उत्पन्न किया था, इन कर्मों का सम्पादन अमृतत्त्व का साधन कहा गया है—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।। मु० उप० 1/1/8

उपनिषदों में कर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है—"जो जैसा करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है" इस लोक प्रचलित कहावत का मूल हमें बृहदारण्यकोपनिषद् के **यथाकारी यथाचारी तथाभवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुभवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्मकुरुते। यत्कर्मकुरुते तदभिसम्पद्यते।** (4/4/5)। इस वाक्य में देखने को मिलता है। उपनिषदों का गम्भीर चिन्तन और परम सत्य का साक्षात्कार कर्मनिष्ठा पर आधारित है। उपनिषदों ने आत्मद्रष्टा ऋषियों के जीवन में सक्रियता तथा कर्त्तव्यनिष्ठा को बड़ा महत्त्व दिया है।

मनुष्य को ब्रह्मज्ञानियों में वरिष्ठ तथा श्रेष्ठ होने के लिये अपने कर्मों को श्रेष्ठ बनाना होता है **क्रिया-वानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः** (मुण्ड० उप० 3/1/4) इन्हीं श्रेष्ठ कर्मों का फल व्यक्ति को मिलता है। पापकर्म का फल तथा पुण्य कर्म का फल पुण्य होता है।

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन (बृह० उप० 3/2/13) छान्दोग्योपनिषद् में सभी वर्णों को अपने-अपने कर्मों को ही सम्पादित करने के लिये कहा गया है। मनुष्य को पूर्व जन्म के कर्म का फल इसी जन्म में प्राप्त होता है। कर्म के आधार पर ही उसका विभिन्न योनियों तथा वर्णों में जन्म होता है। जो प्राणी

अच्छे कर्म करते हैं उनका जन्म मनुष्य योनि में भी उच्च वर्ण में होता है, जो दुष्कर्मी होते हैं वह बुरी योनि को प्राप्त होते हैं यथा कुत्ता, शूकर अथवा चाण्डाल।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। (छा० उप० 5/10/7)

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण व्यवस्था में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से ही इन विचारों को प्रस्तुत किया गया है। जिससे प्रत्येक वर्ण का व्यक्तित्व सामाजिक मर्यादानुरूप अपने-अपने कर्मों का सम्पादन करे।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन कुछ राजाओं ने ब्रह्म विद्या में इतनी दक्षता एवं ख्याति प्राप्त कर ली थी कि ब्राह्मणों ने भी उनसे ज्ञान ग्रहण किया। उदाहरणार्थ—याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से (शतपथ ब्राह्मण 6/2/115) बालाकि गार्ग्य ने काशिराज अजातशत्रु से **दृप्तबालाकिर्हानुचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाच अजातशत्रुः सहस्त्रमेतस्यां वाचि दद्‌मो जनको इति वै जना धावन्तीति।** (बृह० उप० 2/1) श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैबलि से और पंच ब्राह्मणों ने कैकयराज अश्वपति से (छा० उप० 5/2) ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था।

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रो न्वहमस्मीति। सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्‌गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्‌गोत्रस्त्वमसि.....(छा० उप० 4/4/1)।

वास्तव में इसी लचीलेपन में उस समय की वर्ण व्यवस्था की वास्तविकता और दृढ़ता निहित थी। उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्डों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। कर्मकाण्डों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र इतने क्लिष्ट थे कि बिना पुरोहितों के यह कार्य संभव नहीं था। साथ-साथ यह भी विचार था कि मन्त्रों का गलत उच्चारण करने वाले को दण्ड भी मिलता है, जिसमें पुरोहित के हाथ टूट जाने तथा मृत्यु तक होने का उल्लेख है (शत० ब्रा० 1/7/3/19, 6/2/1/37)। इसी प्रकार सम्पूर्ण समाज ब्राह्मणों पर आश्रित सा हो गया। यही मुख्य कारण था कि ब्राह्मणों ने जो व्यवस्था या क्रम दिया उसे मानने को सभी लोग विवश हो गये। यहाँ प्रत्येक वर्ण के महत्त्व तथा उनके गुणकर्म सम्बन्धी चिन्तन का वर्णन किया गया है।

ब्राह्मण के चारों वर्ण में सबसे पहले उत्पन्न होने का उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। साथ ही वेदों में ब्रह्मा के मुख अर्थात् शरीर के सर्वप्रथम भाग से उत्पन्न होने का विचार भी प्राप्त होता है। इस आधार पर इस काल के समाज में ब्राह्मण की सर्वोच्च स्थिति स्वतः सिद्ध है। ब्राह्मणों को दिव्य और देवता स्वरूप माना गया है—**एते वै देवाः प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणः** (तै० आ० 2/15) उसे इतना महत्त्व देने का कारण संभवतः यह था कि ब्राह्मण यज्ञ के माध्यम से सभी वर्णों में तेज तथा कल्याण की कामना करता है" (शुक्ल यजु० 18/48)। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—"विद्याध्ययन ही सर्वोच्च तप है" (बृ० उप० 7/8/10),

इसको पूर्ण कर ब्राह्मण सर्वोच्च बनता था। ब्राह्मण को ऐश्वर्य और विलास से मुक्त रखने के लिए भिक्षावृत्ति पर ही निर्भर रहना आवश्यक बताया गया है (कौ० उप० 93/104)। यही कारण है कि ब्राह्मण को सांसारिक ऐश्वर्य न देकर उसका गौरव बनाये रखा और उसे राजा से भी ऊपर महत्त्व दिया गया।

ब्राह्मणों का एक प्रमुख गुण सच बोलना बताया गया है। सत्यकाम जाबालसे गौतम ने जब उसका गोत्र पूछा तो माता द्वारा कही बात उसने बता दी तब गौतम ने कहा—तुम ब्राह्मण ही हो क्योंकि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई सत्य को पूर्ण स्पष्ट नहीं कह सकता—**तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये। न सत्यादगा इति....।** (छा० उप० 4/4/5)। ब्राह्मणों को अध्ययन-अध्यापन तथा यज्ञीय कार्यों से सम्बन्धित कार्य करने का उल्लेख भी प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलता है।

सामाजिक व्यवस्थाकारों ने क्षत्रिय वर्ण को दूसरा स्थान दिया था। अथर्ववेद (2/15/4) में 'क्षत्र' शब्द को शक्ति का बोधक माना गया है। अथर्ववेद (5/17/9) में 'राजन्य' शब्द भी क्षत्रिय के लिये आया है। उपनिषदों में इसकी उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि ब्रह्म ने सुरक्षा के लिये इन्हें उत्पन्न किया। **तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये....सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैव अंततः उपनिश्रयति।** (बृ० उप० 1/4/11) वेदों में इनका कार्य रक्षा करना बताया गया है और इसीलिये इनकी उत्पत्ति बाहु (भुजाओं) से बतायी है (यजु० 31/10/1) (अथर्ववेद 19/6/6)।

उपनिषद्काल में ब्राह्मणों की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा तथा कर्मकाण्डों के क्लिष्ट होने के कारण क्षत्रिय अपनी दार्शनिक शक्ति और तार्किक बुद्धि के द्वारा ब्राह्मणों से अपनी श्रेष्ठता व्यक्त कर रहे थे। उस समय क्षत्रिय वर्ग का सर्वोपरि राज्य था। **यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति। तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति।** (छा० उप० 5/3/7)

बृहदारण्यकोपनिषद् हमें बताती है कि जब आरुणि जैबलि के यहाँ जिन्हें वे अपने से श्रेष्ठ मानते थे, शिष्य बनकर रहने की इच्छा से गये तभी जैबलि ने उन्हें आत्मज्ञान प्रदान किया। कौषातकि उपनिषद् में राजा चित्र गार्ग्यायणी ने, समित्पाणि तथा विनम्र भाव से अपने पास आने के कारण ब्राह्मणत्व का अधिकारी मानकर आरुणि का अभिवादन किया और उन्हें आत्म ज्ञान की शिक्षा दी—**स (आरुणिः) ह समित्पाणिः चित्रं गार्ग्यायणिं प्रतिचक्रमे उपायनीति। तं होवाच ब्रह्मार्होऽसि गौतम यो मानमुपागाः। एहित्वा ज्ञापयिष्यामीति** (कौ० उप० 1/1) इन सभी अवतरणों से ब्राह्मण वर्ग की अपेक्षा क्षत्रिय वर्ग की भौतिक तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्रमाणित होती है।

इसके विपरीत बृहदारण्यकोपनिषद् तथा कौषितकि उपनिषद् में कई स्थलों पर देखते हैं कि जब अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्य राजा अजातशत्रु के ज्ञानार्जन हेतु जाता है तो अजातशत्रु ने कहा कि यह साधारण नियम के विरुद्ध है कि एक क्षत्रिय ब्राह्मण को अध्यात्म ज्ञान की दीक्षा दे किन्तु जब दोनों का आपस में संलाप हुआ तो अजातशत्रु अपनी श्रेष्ठता का अनुभव कर गार्ग्य को दीक्षा देने से अपने को रोक न सके। (बृ०

उप० 11/1/15) उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण क्षत्रियों की अपेक्षा आध्यात्मिक ज्ञान में श्रेष्ठ थे किन्तु कभी-कभी कोई क्षत्रिय भी किसी ब्राह्मण से अधिक ज्ञानी निकल जाता था।

एक ओर ब्राह्मण तथा दूसरी ओर क्षत्रिय ही आध्यात्मिक संस्कृति के संरक्षक थे। इस प्रकार आधुनिक युग की भाँति समाज के निम्न वर्ग का मनुष्य भी समुचित योग्यता सम्पन्न होने पर समानता का अधिकारी हो सकता था।

"वैश्य" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ही हुआ है अन्यत्र विश् शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है समूह। किन्तु उत्तर वैदिक काल में विश् शब्द तृतीय वर्ण को व्यक्त करने लगा था। इस काल में इनकी उत्पत्ति प्रजापति की जांघों से हुई बतायी गयी है (यजु० 31/10/1)। वैश्यों के द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख मात्र पशु प्राप्त करने के लिए था—**पशुकामः खलु वैश्यो भजते** (तै० सं० 2/5/10/2।)

उत्तर वैदिक काल के प्रारम्भिक चरण में वैश्यों की स्थिति ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के समान थी। इन्हें यज्ञ करने का अधिकार था। वैश्यों के लिये जगती छंद वाले दो मन्त्रों को पढ़ने का विधान थे। (ऐ० ब्रा० 1/9) इससे पशु की प्राप्ति होती थी, किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वैश्य भी यज्ञाग्नि की स्थापना कर सकते थे (तै० ब्रा० 1/1/4/8) इससे स्पष्ट है कि तीनों वर्ण समान थे किन्तु धीरे-धीरे वैश्यों की स्थिति समाज में गिरने लगी, सूत्र काल में तो स्पष्ट रूप से वैश्यों को यज्ञ से वंचित कर दिया गया। (ब्रा० श्रौ० सू० 3/1/1/1) यद्यपि संख्या में तो वैश्य बहुत अधिक थे किन्तु उनका उल्लेख वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में बहुत कम आया है। यही कारण है कि सामाजिक व्यवस्था में उनकी स्थिति हीनतर ही दृष्टिगत होती है।

ऋग्वैदिक समाज में अनार्य (दास-दस्यु) ही शूद्र कहलाते थे किन्तु बाद में शूद्रों की श्रेणी में अन्य लोग भी आ गये। यही कारण था कि प्रारम्भ में इनकी संख्या कम थी, जिसमें बाद में पर्याप्त वृद्धि हो गयी। ऋग्वैदिक समाज में वर्णों में अन्तर्भाव जहां बहुत कम दिखायी देता है वहाँ बाद के समाज में इस अन्तर में वृद्धि हो गई। इस काल में कोई भी व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तन नहीं कर सकता था, क्योंकि यह धारणा बन चुकी थी कि पूर्व जन्म के कार्यों के अनुसार ही व्यक्ति का वर्णानुसार जन्म होता है। वर्ण व्यवस्था के जन्मना हो जाने से ही शूद्रों को निम्न श्रेणी में रखकर चौथा स्थान दिया गया। उत्तर वैदिक सामाजिक चिन्तकों ने भी ऋग्वैदिक विचारधारा का अनुसरण कर शूद्रों की उत्पत्ति प्रजापति के पैरों से बतायी है, तथा अन्य सभी वर्णों के प्रिय होने की कामना की है—**प्रियस्य सर्वे पश्यत उतशूद्र उतायै** (अथर्व० 15/62/1, 19/32/8 (12))

धर्म सूत्र में शूद्र वर्ण को काले वर्ण का कहा गया है एवं शूद्रों की उत्पत्ति असत्य से बतायी है— (आपस्तम्ब सू० 1/9/27/11, बोधायन सू० 2/1/59) बृहदारण्यकोपनिषद् में शूद्रों के देवता के रूप में 'पूषन्" का उल्लेख आया है तथा ब्रह्मा ने उपर्युक्त तीनों वर्णों की शारीरिक सेवा करने की दृष्टि से शूद्र को उत्पन्न किया। वैसे जो न पढ़-लिख सकता हो वह स्वयं शूद्र भाव को प्राप्त हो जाता है। शूद्र को तीनों वर्णों की पुष्टि करने वाला पोषक कहा गया है क्योंकि वह शरीर से सेवा करता है। यह पृथ्वी भी पूषा है क्योंकि वह भी इस जड़ चेतन रूप सम्पूर्ण जगत् का भरण-पोषण करती है—**स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत**

पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च (बृ० उप० 1/4/13)।

उत्तर वैदिक काल में शूद्रों को उपनयन संस्कार से च्युत माना गया है, इसका अधिकार केवल द्विजों को ही था, यहाँ भी शूद्रों को अन्य वर्णों से पृथक् किया गया है। मुख्य रूप से शूद्रों का कार्य यद्यपि सेवा करना था किन्तु जहाँ तक सामाजिक स्थिति का सम्बन्ध था, समाज में उसकी अन्य वर्णों के समान उपयोगिता थी। शतपथ ब्राह्मण (13/6/2/10) में कहा गया है कि शूद्र श्रम का मूर्तिमान रूप है, उसी पर सारा राष्ट्र टिका हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक विचारधाराओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों ने चारों वर्णों की व्याख्या के लिये जो नियम बनाये उनसे अन्तः सम्बन्ध की एक एकात्मकता तिरोहित हो गयी, जो ऋग्वैदिक समाज में स्थापित हुई थी। ऋग्वैदिक सामाजिक विचारधारा से पृथक् ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों के द्वारा निर्धारित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के मूल में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां थीं जो कि वेदों के सामाजिक जीवन से भिन्न रूप धारण कर चुकी थी। श्रुतियों तथा उत्तर वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था की जो भिन्नता देखने को मिलती है, उसका कारण ये ही परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियाँ हैं।

❐

उपनिषद् काल में स्त्रियों की स्थिति

डॉ० अरविन्द महाजन ★

आरण्यक एवं उपनिषद् को वैदिक साहित्यों के वर्गीकरण में संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद रखा गया है। वस्तुतः 'वेद' शब्द का अर्थ है—'ज्ञान', 'सर्वोच्च ज्ञान'।[1] अतः 'वेद' का तात्पर्य किसी ग्रन्थ विशेष (जैसे कुरान) या किसी काल विशेष में रचित अथवा संकलित ग्रन्थ समूह (जैसे पालि त्रिपिटक) नहीं, बल्कि यह एक साहित्य समूह है जो कई शताब्दियों में विकसित हुआ और वाचा के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी अक्षुण्ण बना रहा। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत क्रमागत तीन वर्ग की साहित्यिक रचनायें आती हैं और प्रत्येक वर्ग में कई एकल रचनायें हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

संहिता अथवा मन्त्र : जैसा कि नाम से विदित होता है, ये ऋचायें, स्तुतियाँ, प्रार्थनायें, यज्ञ-मन्त्रों का संकलन है।

ब्राह्मण : ये दीर्घकाय गद्य साहित्य है जिनके अन्तर्गत ऋचाओं के अनुमानित अर्थ, उनके प्रयोग-नियम, उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी कथायें और उन कथाओं का यज्ञादि कृत्यों के साथ सम्बन्ध तथा उन कृत्यों का गुह्य अर्थ आदि समाहित है। एक प्रकार से इन्हें ब्राह्मणों के धर्म एवं दर्शन का मूलाधार कहा जा सकता है।

आरण्यक एवं उपनिषद् : इनमें से कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों में समाविष्ट हैं या उनसे सम्बद्ध है और कुछ पृथक रचनाओं के रूप में विद्यमान हैं। इनमें ब्रह्माण्ड, देवता, मनुष्य आदि पर ऋषियों एवं आचार्यों के दार्शनिक चिन्तन एवं आख्यान सन्निहित हैं।

उपनिषद् कई हैं और इनकी संख्या एक सौ पचास तक बतायी जाती है। इनमें कई तो अत्यन्त प्राचीन हैं जबकि कई अन्य इतिहास के विभिन्न चरणों में उपनिषदों के समूह में समाहित हुए। विद्वानों ने प्राचीनतम उपनिषदों की तिथि 600 ई० पू० निश्चित की है, इस प्रकार उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों के ही समकालीन कहा जा सकता है और प्रस्तुत लेख का आधार यही प्राचीनतम उपनिषद् हैं।

उपनिषद् आचार्यों द्वारा शिष्यों को दिये गये दार्शनिक आख्यानों का संग्रह है, अतः इनके आधार पर तत्कालीन सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकाल पाना एक दुष्कर कार्य है। अधिसंख्य उपनिषदों में स्त्रियों से सम्बन्धित कोई उद्धरण नहीं मिलते, केवल छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में ही यदा-कदा

★ पटना संग्रहालय, पटना

स्त्रियों से सम्बन्धित उद्धरण प्राप्त होते हैं। ये उद्धरण अथर्ववेद के कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्रों द्वारा स्थापित संस्कारों के बीच के चरण को प्रकाशित करते हैं और इस दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेद से सम्बद्ध है और इसके काल को भारतीय इतिहास में स्त्रियों की दशा के सम्बन्ध में सर्वोत्तम कहा जा सकता है। जब स्त्रियाँ दार्शनिक समुदायों में नामांकित हुईं, उन्होंने विभिन्न दार्शनिक आख्यानों में भागीदारी की, सफलतापूर्वक विभिन्न दार्शनिक वाद-विवादों में हिस्सा लिया और जीवन-दर्शन के सर्वोच्च सत्यों को प्रकाशित किया।

छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है और विद्वान् इसे बृहदारण्यक के समकालीन मानते हैं क्योंकि दोनों उपनिषदों में वर्णित कुछ नामों एवं उद्धरणों में काफी समानता है। इस उपनिषद् में चोरी के लिये मृत्यु दण्ड की व्यवस्था, पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्णित मिथक तथा जीवात्मा के सिद्धान्त सम्बन्धी विवरण इसे मनुस्मृति के काफी निकट ले जाते हैं परन्तु यहाँ यह कहना कठिन है कि क्या ये बाद के अन्तर्वेशन हैं अथवा छान्दोग्य एवं मनुस्मृति में वर्णित ये प्रसंग एक ही स्रोत से उद्धृत हैं। इसके अतिरिक्त इसमें चोर से अपना अपराध स्वीकार करवाने अथवा चोर के वचन की सत्यता की परख की जो विधियाँ बनायी गयी हैं वे आदिम समाज की द्योतक हैं। साथ ही सत्यकाम जाबाल नामक व्यक्ति का ब्राह्मण समाज में प्रवेश सामाजिक व्यवस्था के उस काल को इंगित करता है जब ब्राह्मण धर्म एक सामाजिक संस्था के रूप में तथा जन्मना जाति-व्यवस्था स्थापित नहीं हो पाये थे।

छान्दोग्य उपनिषद् के पहले दो अध्यायों में विवाह सम्बन्धी धार्मिक क्रियाओं का विशद् विवरण है। प्रथम अध्याय आठ सूक्तों का है जो विवाह एवं संतानोत्पत्ति के समय किये जाने वाले अनुष्ठानों से सम्बन्धित है। प्रथम सूक्त का वाचन विवाह के समय अग्नि में आहुति डालने के साथ किया जाना चाहिये। दूसरा सूक्त दीर्घ जीवन एवं संतति प्राप्ति के लिये प्रार्थना है। तृतीय सूक्त एक वैवाहिक प्रण है जिसे मानना दम्पत्ति के लिये बाध्य है। यहाँ दम्पत्ति की एकात्मकता की भावना भी परिलक्षित होती है। जब कहा जाता है, 'तेरा हृदय मेरा होगा और मेरा यह हृदय तेरा होगा।' चौथे और पाँचवें सूक्त में दम्पत्ति को आशीर्वचन हेतु विभिन्न देवों, यथा अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य आदि की प्रार्थना की गयी है। छठा सूक्त एक मन्त्र है जिसका पाठ संतान-जन्म पर अग्नि में आहुति डालते समय किया जाना चाहिये। सातवें एवं आठवें सूक्त में संतति के स्वास्थ्य, समृद्धि एवं उत्कर्ष के लिये प्रार्थना है।

छान्दोग्य उपनिषद् में ही सर्वप्रथम अल्प-वयस्क पत्नी का उल्लेख आता है। दसवें खण्ड के प्रथम प्रपाठक के प्रारम्भ में ही कहा गयाहै कि जब ओला वृष्टि से आचार्यों का विनाश हो गया तब उषस्ति चाक्रायण (व्यक्ति) अपनी कौमारिका पत्नी के साथ इभ्यग्राम में रहने लगा परन्तु उपनिषदों में जो वैवाहिक कर्मकाण्ड एवं कृत्य वर्णित हैं उनका सम्बन्ध स्पष्टतया वयस्क जनों के साथ परिलक्षित होता है। अतः उक्त काल में अल्प-वयस्क पत्नी को अपवाद के रूप में ही लिया जा सकता है।

तत्कालीन समाज को प्रकाशित करने वाली एक दूसरी कथा जानश्रुति नामक व्यक्ति की है जो ब्राह्मण ग्रन्थों की शिक्षा की इच्छा लेकर रैक्व नाम ब्राह्मण के पास गया और उसे एक सहस्र गायें, एक कंठहार और

एक जोड़ी खच्चरों से जुता रथ उपहार स्वरूप प्रदान किया परन्तु जानश्रुति चूँकि शूद्र था इसलिए रैक्व ने उपर्युक्त उपहारों को लेने से मना कर दिया। तब जानश्रुति ने अपनी पुत्री का विवाह ब्राह्मण से करने का प्रस्ताव किया और इस पर ब्राह्मण रैक्व ने अपनी सहमति प्रदान की। ब्राह्मण का सोचना था कि इस कन्या, जो उसकी भार्या होगी के माध्यम से जानश्रुति को ब्राह्मण ग्रन्थों की शिक्षा दी जा सकती है।[2] इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग से उपनिषद्-काल में एक शूद्र कन्या का ब्राह्मण से विवाह की जानकारी मिलती है।

तत्कालीन सामाजिक दशा और स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश डालने वाली एक अन्य कथा सत्यकाम जाबाल की है जिसने आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति का इच्छुक होकर अपनी माता से कहा कि मैं वेद अध्ययन के उद्देश्य से ब्रह्मचारी होना चाहता हूँ, मेरा गोत्र क्या है? इस पर उसकी माता ने कहा कि मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है क्योंकि अपनी युवावस्था में मैं दासी (सेविका) के रूप में इधर-उधर कार्य करती थी, उसी दौरान मैंने तुम्हें अपने गर्भ में धारण किया; मेरा नाम जबाला है और तुम सत्यकाम हो, अतः तुम स्वयं को सत्यकाम जाबाल कह सकते हो। तत्पश्चात् सत्यकाम गौतम हारिद्रुमत नामक ऋषि के पास गया और अपनी इच्छा बतायी। जब ऋषि ने उसका गोत्र जानना चाहा तो उसने ऋषि को अपनी माँ द्वारा कही गयी बातें बतायी। इस पर ऋषि ने कहा कि तुमने सच्चाई नहीं छुपाई और इस प्रकार से सत्य केवल ब्राह्मण ही कह सकता है, अतः मैं तुम्हें अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करता हूँ।[3]

पति एवं पत्नी दोनों मिलकर ही एक इकाई का निर्माण करते हैं, पत्नी अर्द्धांग है और पत्नी के बिना पुरुष अर्द्ध मात्र है, ये विचार सर्वप्रथम बृहदारण्यक उपनिषद् में व्यक्त किये गये हैं।[4]

बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय का सम्पूर्ण चतुर्थ ब्राह्मण पुत्र के लिये अनुष्ठानों को समर्पित है और इसे धार्मिक कर्त्तव्य बताया गया है।[5] यहाँ स्त्री की तुलना यज्ञीय वेदों से की गयी है जिसमें अर्पित आहुति का फल पुत्र है। जो स्त्री इन अनुष्ठान सम्बन्धी कृत्यों में पति के आदेश की अवहेलना करती है या अनिच्छा प्रकट करती है, उसकी न केवल निन्दा की गयी है[6] अपितु पति को इस कार्य हेतु बल-प्रयोग के लिये भी आदेशित किया गया है।[7]

उपर्युक्त अध्याय एवं ब्राह्मण में मन्त्र-पाठ के रूप में एक धार्मिक कृत्य का उल्लेख है जिसमें पत्नी अपने प्रेमी के विनाश का उद्योग करती है। इस कृत्य में पत्नी एक आर्द्र मृत्पात्र में अग्नि को रख कर पात्र के विपरीत दिशा में कुश फैला देती है, और तत्पश्चात् कुश को घी में लपेट कर विपरीत दिशा से अग्नि में अर्पित करती है। ऐसा समझा जाता था कि यह क्रिया जिसके लिए की गयी है उसका विनाश निश्चित है।[8] इसमें निहित उद्देश्य संभवतः श्रोत्रियों को दूसरे की पत्नी के साथ सम्बन्ध से बचाना था।

इसके बाद पुत्र प्राप्ति हेतु किये जाने वाले विभिन्न अनुष्ठानों एवं कृत्यों का वर्णन है, परन्तु यहाँ एक शिक्षित पुत्री का होना भी अत्यावश्यक बताया गया है जो बाद में अपने पति का विभिन्न धार्मिक कार्यों में पूर्णतया सहयोग करे।[9]

कहा गया है कि जो व्यक्ति शिक्षित पुत्री की आशा रखता है उसे घी में पके तिल एवं तण्डुल (चावल) का सेवन करना चाहिए।' शंकराचार्य ने इस पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि पुत्री की शिक्षा का सम्बन्ध

उसके गृह व्यवस्था एवं इससे सम्बन्धित कार्यों में प्रवीणता से है, उसे वेद अध्ययन का अधिकार नहीं है।[10] परन्तु पद के मूल पाठ से यह कदापि परिलक्षित नहीं होता कि पुत्री की शिक्षा सिर्फ गृह व्यवस्था तक ही सीमित है और उसे वेद अध्ययन का अधिकार नहीं था। यहाँ निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् काल तक स्त्रियों को वेद अध्ययन से वंचित नहीं किया गया था।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि विवाह, दाम्पत्य-प्रेम, संतानोत्पत्ति एवं उनका पालन-पोषण आदि को व्यक्ति का धर्म बताया गया है। इन्हें आनन्द प्राप्ति का माध्यम कदापि नहीं समझा जाना चाहिये। इस प्रकार के प्रत्येक कार्य जिनके साथ मन्त्र-पाठ एवं अनुष्ठान भी सन्निहित है, उतनी ही गम्भीरता से किया जाना चाहिए जितनी गम्भीरता से यज्ञादि कार्य। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों की रचना तक स्त्रियों को भोग्या के रूप में न देख कर उसे पुरुष के साथ धार्मिक कर्त्तव्यों में बराबर का भागीदार समझा जाता था।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ही गार्गी-याज्ञवल्क्य संवाद वर्णित है। तृतीय अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण का प्रारम्भ ही गार्गी के प्रश्न से होता है।[11] यह संवाद यह परिलक्षित करता है कि इस काल में धार्मिक वाद-विवाद में सामर्थ्य रखने वाली स्त्रियों को विद्वत्सभाओं में भाग लेने की अनुमति थी, साथ ही इससे तत्कालीन स्त्रियों के बौद्धिक स्तर की भी झलक मिलती है।

गार्गी को वचक्नु की पुत्री बताया गया है परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वह विवाहित थी अथवा अविवाहित। षष्ठ ब्राह्मण (तृतीय अध्याय) में आगे कहा गया है कि याज्ञवल्क्य जनक की सभा में विराजमान थे, गार्गी वहाँ आयी और याज्ञवल्क्य से ब्रह्म की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इसी अध्याय में अष्टम ब्राह्मण से स्पष्ट होता है कि गार्गी के जनक-सभा में आने का उद्देश्य परम सत्य को जानना था, न कि याज्ञवल्क्य को पराजित करना या उनके ज्ञान की परीक्षा लेना।[12] तृतीय अध्याय के अष्टम ब्राह्मण का प्रारम्भ भी गार्गी के संवाद से होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ही वर्णित एक दूसरा महत्त्वपूर्ण संवाद मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का है। यह संवाद दो अलग-अलग स्थानों पर वर्णित है।[13] प्रथमतः उल्लिखित विवरण में संवाद को महत्ता दी गयी है जबकि बाद वाले प्रसंग को मैत्रेयी संवाद के रूप में नामांकित किया गया है। यद्यपि दोनों संवादों का उद्देश्य एक ही है परन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि एक ही प्रसंग दो स्थानों पर क्यों उल्लेखित है। दोनों संवादों के सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होताहै कि द्वितीय अध्याय में वर्णित प्रसंग मूल है जबकि चतुर्थ अध्याय में उल्लिखित प्रसंग बाद में जोड़ा गया। दोनों उल्लेखों के मध्य एक लम्बा अन्तराल का होना अवश्यम्भावी है, जब मूल पाठ को मैत्रेयी संवाद के नाम से जाना गया। पहले वाले पाठ में मैत्रेयी एवं कात्यायनी दोनों का नामोल्लेख है परन्तु उन्हें स्पष्टतः पत्नी नहीं कहा गया है, जबकि दूसरे पाठ में स्पष्टतया उन्हें याज्ञवल्क्य की पत्नियाँ कहा गया है। इनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी (जो ब्रह्म ज्ञान की इच्छा रखती हो) थी और कात्यायनी सांसारिक प्रवृत्ति वाली।[14] याज्ञवल्क्य ने जीवन के अगले चरण में अनुरत होने को सोचकर कहा,[15] (यह अंश पहले पाठ में नहीं है। पहले पाठ में कहा गया है) 'मैत्रेयी, मैं जीवन के इस धरातल से ऊपर उठना चाहता हूँ; यदि तुम सहमत हो तो मैं (मेरे पास जो है) तुम्हारे और कात्यायनी के बीच बांटना चाहूँगा'।[16] पहले पाठ में

संन्यास के लिये 'उदयस्यम्' शब्द का प्रयोग किया गया है जबकि बाद के पाठ में इसके लिये 'परिव्राजिश्यम्' शब्द व्यवहृत है। इससे भी बाद वाले पाठ के काल का अनुमान किया जा सकता है क्योंकि परिव्राजकों की संस्था परवर्ती बुद्ध काल में विकसित एवं लोकप्रिय हुई।

फिर भी, बृहदारण्यक उपनिषद् के दोनों संवाद उपनिषद् कालीन नारी के उदारतम चरित्र को उजागर करते हैं। मैत्रेयी ने सम्पत्ति-विभाजन के अपने पति के निर्णय पर कहा कि यदि सम्पूर्ण धरा की सम्पत्ति भी मेरी हो जाय तो क्या मैं इसके माध्यम से अमरत्व को प्राप्त कर सकती हूँ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि धन-सम्पत्ति या उसके माध्यमसे होने वाले कार्यों से अमरत्व प्राप्ति सम्भव नहीं है। यह सुनकर मैत्रेयी ने कहा कि मैं उस वस्तु का क्या करूँगी जो मुझे जीवन-मरण के धरातल से ऊपर नहीं उठा सकता है, आप मुझे बतायें कि आप मृत्यु के परे क्या जानते हैं। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य ने विस्तारपूर्वक इस विषय पर चर्चा की, मैत्रेयी को जीवन-मरण के धरातल से ऊपर उठने का मार्ग बताया और वानप्रस्थ को चले गये।[17]

उपनिषद् काल में स्त्रियों की दशा का आकलन बौद्ध भिक्षुणियों की चर्चा के बिना अपूर्ण कहा जायेगा। ये बौद्ध भिक्षुणियाँ जिन्हें 'थेरी' कहा गया है, उपनिषदों में वर्णित उपर्युक्त स्त्रियों के लगभग समकालीन थीं। 'थेर' का अर्थ होता है—'गुरुतर ज्ञान का स्वामी' यानि जिसकी अवस्था का भान उम्र से नहीं वरन् ज्ञान से हो। 'थेर' का ही स्त्रीलिंग 'थेरी' है। थेरी गाथा नामक बौद्ध साहित्य इन्हीं थेरियों के जीवन चरित् का संकलन है। वस्तुतः थेरी गाथा में उन अग्रगण्य थेरियों के जीवन चरित् एवं वचन संकलित हैं जो बुद्ध के काल में ही परिव्रजित हुईं। त्रिपिटक में द्वितीय स्थान प्राप्त सुत्त पिटक के अन्तर्गत थेरी गाथा को स्थान दिया गया है। विद्वानों का कथन है कि प्रारम्भिक अवस्था में इनका स्वरूप मौखिक था, मौर्य काल में इनका संकलन हुआ और इन्हें लिपिबद्ध किया गया।[18]

प्रारम्भ में एक सौ स्त्रियाँ संघ में आयीं जिनमें तिहत्तर थेरियों की गाथा ही संकलित है। इनमें समाज के हर वर्ग की स्त्रियाँ थीं। इनमें सुमेधा जैसी राज-कन्या (क्रौंच राज की पुत्री) थी तो महाप्रजापति गौतमी जैसी महारानी (शाक्यों के प्रधान शुद्धोधन की महिषी एवं बुद्ध की पालक माता) भी। इनमें इषिदसी जैसी श्रेष्ठी कन्या थी तो भद्द कुण्डलकेशा, उत्पलवर्णा जैसी धनिक वणिक पुत्रियाँ भी। इनके साथ ही अम्बपाली, अद्धकेशी, पद्मावती, विमल जैसी गणिकाओं एवं वेश्याओं को भी बौद्ध-संघ में स्थान मिला। इनके अतिरिक्त कई विधवायें एवं ब्राह्मण स्त्रियाँ भी संघ में शामिल हुईं।[19]

इन थेरी-गाथाओं से उस काल की स्त्रियों के उदात्त चरित्र, बौद्धिक स्तर, आत्म निर्णय की स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन आदि की जो झलक मिलती है वह उनके समाज में स्थान तथा परिवार में उनकी महत्ता को स्पष्टतया परिलक्षित करता है।

अतः उपर्युक्त विवरणों के आलोक में उपनिषद् काल में स्त्रियों की स्थिति अच्छी ही कही जायेगी। उन्हें भोग्या नहीं वरन् समाज निर्माण में पुरुष के साथ बराबर का भागीदार बताया गया है। पुरुष एवं स्त्री दोनों मिलकर ही एक इकाई का निर्माण करते हैं। जीवन सम्बन्धी किसी भी निर्णय में स्त्री (पत्नी) की सहमति आवश्यक थी, जैसा कि याज्ञवल्क्य ने वानप्रस्थ ग्रहण करने के पूर्व अपनी पत्नी की सहमति चाही थी। इसी

प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति का विभाजन करना चाहा था, इससे यह भी विदित होता है कि स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार था। शिक्षित पुत्र के साथ-साथ शिक्षित पुत्री की भी आशा की जाती थी ताकि वह पुरुष का बराबर सहयोग कर सके। उपनिषद् में वर्णित प्रसंगों से तत्कालीन स्त्रियों के उच्च बौद्धिक स्तर की भी झलक मिलती है परन्तु यह भी विदित होता है कि उपनिषद् काल में ही स्त्रियों के आत्म-स्वातन्त्र्य एवं इच्छाओं के हनन के माध्यम से उनकी अधःगति प्रारम्भ हो चुकी थी, जैसा कि एक स्थान पर पति की अवहेलना करने वाली स्त्री की निन्दा की गयी है और ऐसी स्थिति में पति को बल प्रयोग के लिये भी आदेशित किया गया है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् काल में स्त्रियों की दशा की तुलना उपनिषद्-पूर्व काल की स्त्रियों से करने पर उनकी ह्रासोन्मुख दशा का भान होता है। उपनिषद् काल में स्त्रियों की भूमिका मुख्य रूप से गृह-कार्यों एवं गृह-व्यवस्था तक ही सीमित रह गयी थी, जबकि उनकी पूर्ववर्ती बहनों ने युद्ध आदि में भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।[20] उपनिषद् काल में युद्ध, उत्पादन आदि कार्य पुरुषों के लिये नियत कर दिये गये। उपनिषद् काल में कन्याओं के विवाह की आयु भी कुछ वर्ष कम कर दी गयी।[21] इनके बावजूद भी उपनिषद् काल में स्त्रियों की दशा परवर्ती काल की स्त्रियों की तुलना में बहुत अच्छी कही जायेगी।

सन्दर्भ सङ्केत

1. रमेश चन्द्र मजूमदार : एन्शियेन्ट इंडिया (दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास-1977, आठवां संस्करण), पृ0 33
2. छान्दोग्य उपनिषद् (गोरखपुर : गीता प्रेस वि0 सं0 1994), II, 4.2
3. वही, IV. 4
4. बृहदारण्यक उपनिषद्, शंकर द्वारा टीका सहित संपादित एवं अनुवादित (गोरखपुर : गीता प्रेस वि0 सं0 2033), I. 4.17
5. वही, IV. 4.2
6. वही, IV. 4.3
7. वही, IV. 4.7
8. वही, IV. 4.16
9. वही, IV. 4.17
10. वही
11. वही, III. 6.1
12. वही, III. 8.2
13. वही, II. 4 एवं IV. 5
14. वही, IV. 5
15. वही
16. वही, II. 4.1
17. वही, II. 4.1 और आगे एवं IV. 5.1 और आगे
18. एच0 कर्न : मैनुअल ऑफ इंडियन बुद्धिज्म (स्ट्रास्सबर्ग 1896), पृ0 2,9
19. सांग्स ऑफ दी सिस्टर्स (थेरी गाथा का अंग्रेज़ी अनुवाद), श्रीमती रीज़ डेविड्स द्वारा अनुदित (लन्दन 1909)
20. विश्पला (ऋगवेद I. 116.14), मुद्गलानी (ऋग्वेद x. 102.2)
    वृत्रासुर की माता (ऋग्वेद VII. 78.5 एवं VIII. 3.19)
21. रमेश चन्द्र मजूमदार (संपा0) : दी वेदिक एज़ (लन्दन 1951), पृ0 452

उपनिषदों के सन्देश तथा वर्तमान युग

रामनाथ सहगल ★

विश्व के साहित्य में परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान का नाम वेद है। वेद का ज्ञान प्राचीनतम है। उपनिषदों ने वेद के गहन ज्ञान की गुत्थियों को सरलतम विधि से प्रकट किया है। अतः उचित रूप में उपनिषदों को ज्ञान गंगा कहा जा सकता है। उपनिषदों के ज्ञान से मधुर-सलिल पान करने पर मानव मानस पवित्र हो जाता है। उपनिषदों में समता, ऋजुता, बन्धुता, दया, क्षमा और शान्ति के मूल्य निहित है। उपनिषदें आत्म-विद्या, ब्रह्मविद्या और योग विद्या से सुरभित हैं। जिनकी आभा से सारा संसार भासित होता है। परमेश्वर का सौरभ भक्त को आनन्दित करता है। उपनिषदें मुमुक्षुओं के लिये मोक्ष का मार्ग, कर्मशीलों के लिए कर्म का मार्ग,उपासकों के लिये उपासना का मार्ग प्रशस्त करती हैं। उपनिषदें सत्य की साधना, आत्म कल्याण एवं आत्ममुक्ति का एवं ऋषि-महर्षियों के अनुभवों का परिणाम है। अतः स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है उपनिषदों का एक-एक वाक्य विश्व के मानव समाज के लिये महान् सन्देश है। उपनिषदें मानव जीवन को सुखी बनाने और परमेश्वर का साक्षात्कार करने की ओर प्रवृत्त करती हैं।

ईशोपनिषद् की स्थापना में जीवात्मा को उपदेश करते हुए कहा गया है—इस संसार के कण-कण में भगवान का वास है। संसार की प्रत्येक वस्तु में भगवान बसा हुआ है। भगवान सर्वव्यापक है। जब-जब यह जीवात्मा अपने सांसारिक अहम् और प्रपंच को छोड़ कर समर्पण-भाव से भगवान् का साक्षात्कार करने के मार्ग पर चलता है, तब-तब उसके आन्तरिक मार्ग के अन्धेरे छँटते एवं छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

उपनिषद् के इस संदेश में सुस्पष्ट रूप से कहा गया है हृदय की जो संदेह की ग्रन्थियाँ हैं वे छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सभी प्रकार के संदेह मिट जाते हैं, कर्मफल की आसक्ति हट जाती है। परमात्मा के साक्षात्कार करने पर जिन ऋषि, महर्षि और मनीषियों ने सत्य की साधना के जटिलतम मार्ग को अपना कर सफलता प्राप्त की है उनका अनुभव यही कहता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि ईशोपनिषद् में **ईशावास्यमिदं सर्वम्** में जो संदेश दिया गया है वह विश्व के मानव को चौंका देने वाला सत्य है। ऐसे ही इसी उपनिषद् के दूसरे

★ महामन्त्री, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

सन्देश में व्यावहारिक सत्य को उजागर करते हुए कहा है **यत्किञ्च जगत्यां जगत्** यह जो संसार प्रत्यक्ष हमारी आँखों से दिखाई देता है। परिवर्तनशील है, स्थायी नहीं, टिकाऊ नहीं, क्या इस उपनिषद् के संदेश की सच्चाई से कोई भी मानव मुँह मोड़ सकता है? इस विस्तृत वसुन्धरा पर कितने प्राणी आए और काल कवलित हो गये। आज उनका दुनिया में कुछ भी शेष नहीं। यदि कुछ शेष है तो निष्काम भाव से किये गये कर्मों की गाथा। ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र का तीसरा सन्देश है **तेन त्यक्तेन भूञ्जीथाः** मनुष्य का यह स्वभाव है अपने श्रम से जिन पदार्थों को अर्जित करता है उनको छोड़ता नहीं, ममत्व स्थापित कर लेता है। ममता ही दुःखों की जननी है। दुःखों के आगार में आदमी न फंसे, इसलिये उपनिषदों का सन्देश आदमी के मार्ग को प्रशस्त करते हुए कहता है—संसार के पदार्थ परमात्मा ने भोग के लिये दिये हैं। भोगने चाहिए परन्तु त्यागपूर्वक। आज के आदमी को तो इस संदेश का अवश्य ही पालन करना चाहिए क्योंकि आदमी दुःखों से बचना चाहता है और दुःखों से बचने का उपाय है त्याग।

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र का मानव मात्र के लिये चौथा संदेश है **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** यह संसार का ऐश्वर्य किसका है? दूसरे के धन का लोभ नहीं करना चाहिए। यह समस्त ऐश्वर्य तो भगवान का है। जीव अल्पज्ञता के कारण संसार के धन को अपना समझता है। अपना समझकर धन का संग्रह करता है। दुनिया के पदार्थों और धन का संग्रह ही लोभ पैदा करता है। आज का मानव धन के लोभ के कारण अनन्त पाप करता है। पापों से दुःख भोगता है। मानवमात्र के दुःखों की निवृत्ति के लिये आज के युग में उपनिषद् का यह सन्देश अतीव महत्त्वपूर्ण है कि विश्व के समस्त ऐश्वर्य को प्रजापति का समझो। जैसे विद्या अध्ययन करने के लिये छात्र विद्यालय में आते हैं और अवकाश की घंटी बजने पर विद्यालय को छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक मनोरंजन करते हुए अपने घर को चले जाते हैं। ऐसे जीवात्मा भी इस संसार रूपी पाठशाला में कुछ ज्ञान प्राप्त कर, कुछ शुभ कर्म कर, मोह ममता से रहित होकर अपने शरीर को स्वतः छोड़ दे तो शाश्वत् शान्ति की प्राप्ति होती है।

उपनिषदें ज्ञान का आगार हैं। आत्म-विद्या, ब्रह्म-विद्या, योग विद्या, प्राण विद्या, कर्मविद्या, दर्शन विद्या आदि का विस्तृत अनुभव जन्य, व्यावहारिक श्रेष्ठ ज्ञान है। उपनिषदें विद्या को परिभाषित करते हुए लिखती हैं **सा विद्या या विमुक्तये** ऐसी विद्या को प्राप्त करने के लिये जब-जब मनुष्य में जिज्ञासा हो तब-तब मनुष्य **गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिश्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** गुरु के पास जाए। गुरु कैसा हो, विद्वान् और ब्रह्म निष्ठ हो। श्रद्धा-नम्रता के साथ दोनों करों में समिधा लेकर जाए। रिक्त हस्त कभी न जाए। श्रद्धा और नम्रता गुण ग्रहण की क्षमता को प्रकट करता है। उपनिषदों के समस्त संदेशों एवं समस्त शिक्षाओं का एक ही तात्पर्य है—जीवन का सुख और परमात्मा की प्राप्ति। इन दोनों मार्गों में जो बाधायें आती हैं उनको सत् साहस से, कर्मठता से, ज्ञान से, सहजता और ऋजुता से दूर करता हुआ, योग्य गुरु को प्राप्त करे। इसलिये उपनिषदों में विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति, परा, अपरा, लौकिक एवं पारलौकिक, श्रेय, प्रेय सबका विशद् वर्णन है। उपनिषदों के ज्ञान ने विश्व के चिन्तनशील बड़े से बड़े आदमी को प्रभावित किया है। दाराशिकोह, शोपनहार, मैक्समूलर, राधाकृष्णन्, महर्षि दयानन्द और आदि शंकराचार्य इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

वर्तमान युग में आज के आदमी के पास पहले के आदमियों की अपेक्षा अधिक साधन सम्पन्नता दिखाई

देती है। इस अधिक भौतिकतावादी साधनसम्पन्नता ने विश्व को दुःखों के सागर में धकेल दिया। आज का मानव पशुता में जीता है। अकर्मण्यता का शिकार है। अयोग्यता से आगे बढ़ना चाहता है। चापलूसी चमक रही है। सज्जनता ने नीचता का स्थान ग्रहण कर लिया है। संस्कृति की जगह विकृति का विकास है। मानसिक सन्तुलन समाज से खो चुका है। राग-द्वेष की भट्टियां, काम क्रोध की ज्वालाएं, लोभ-मोह के पाश, अहंकार का बीभत्स वातावरण दिखाई देता है। सत्य की जगह झूठ का बाजार गर्म है। चुगली, चोरी, चालाकी, रिश्वत, मिलावट, छल-कपट, पाखण्ड जीवन मूल्य बनकर घर कर गये हैं। भौतिक साधनों से उन्नति करने वाले अपवित्रता के कारण दुःखी और आत्मग्लानि की आग में जल रहे हैं। जीवन की यह कृत्रिमता, आडम्बरपूर्ण जीवन शैली पता नहीं इस मानव समाज को कौन से गहरे दुःख के समुद्र में डुबोएगी। यही कारण है कि आज का साधन सम्पन्न समाज दुःखी है। इस दुःखी मानव समाज को वर्तमान युग में सुखी बनाने के लिए यही सर्वोपरि सन्देश है कि हम सब अपने जीवन में, कार्य व्यापार में, व्यवहार में, बोलचाल में सत्य-पवित्रता का ग्रहण करें। इसी में मानव समाज का कल्याण है और यही उपनिषद् का सन्देश है।

❐

आज के सन्दर्भ में ईशोपनिषद् की राजनीतिक अभिव्यक्ति

डॉ० दामोदर महतो ★

ईशोपनिषद् वा ईशावास्योपनिषद्—दोनों ही शब्द प्रचलित हैं। चूँकि इसका प्रारम्भ **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्** से होता है इसीलिए यह उपनिषद् ईशावास्य+उपनिषद्=ईशावास्योपनिषद् अथवा ईशा+उपनिषद्=ईशोपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है। 'ईश' शब्द अदादिगणीय ईश ऐश्वर्ये (To rule over) धातु से 'क' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है—मालिक, स्वामी, शक्तिशाली, सर्वोपरि, धनाढ्य, शासक प्रभृति।

कठोपनिषद् में आत्मा-परमात्मा दो शब्द प्रचलित हैं। आत्मा से अभिप्राय है जीवात्मा अर्थात् सांसारिक प्राणी जबकि परमात्मा का 'परम' विशेषण के कारण परम आत्मा अर्थात् सबसे बड़ी आत्मा (सबका पिता, सबसे बड़ा, सर्वशक्तिमान्, Almighty) अर्थ बोध्य होता है। उसी परमात्मा से संसार की सारी जीवात्माएं अनुस्यूत हैं। जब तक उस परमात्मा से जीवात्मा का सम्बन्ध रहता है तब तक वह जीवित कहलाता है और जब उससे सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तो वह फ्यूज़्ड फिलामेंट की तरह मृत हो जाता है।

आज के सन्दर्भ में 'ईश' हमारे राजनेता हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर शाश्वत् है जबकि सांसारिक शासक नश्वर है। उस सांसारिक ईश (शासक) द्वारा प्रदत्त जो भी Assignment है उसे निष्काम एवं त्याग भाव से कर्त्तव्य समझकर सम्पन्न करना चाहिए क्योंकि उस पद से सम्बद्ध लाभात्मक योजना देश के सभी लोगों के लिए है। यदि उसे वैयक्तिक समझकर भोगा गया तो निश्चित रूप से वह 'घोटाला' हो जायेगा क्योंकि राष्ट्र का धन किसी (व्यक्ति विशेष) का नहीं है। एतदर्थ राष्ट्र की प्रत्येक योजना व पद से जुड़े लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वह त्याग भाव से पद-सम्बद्ध कार्यों को सम्पन्न करे।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।

विधि-सम्मत कार्यों को करते हुए ही नेता, पदाधिकारी व कोई व्यक्ति अपने कार्यकाल को पूरा करने की इच्छा करे। इस प्रकार त्याग भाव से राष्ट्राध्यक्ष के लिए किये गये कर्म उस मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे अर्थात् उस मनुष्य को कर्मबन्धन नहीं जकड़ेगा। सचमुच इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग भी नहीं है।

★ आचार्य, संस्कृत विभाग, तिलका माँझी विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार

कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

विधि-विपरीत कार्यों को करने वाला साहसी व्यक्ति सचमुच आत्महन्ता है क्योंकि आत्मा की हत्या किये बिना मनुष्य कोई भी अनुचित कार्य नहीं करता। एक बार जब मनुष्य अपनी आत्मा को मारकर कोई कार्य करता है तो वह लगातार उसे करता चला जाता है जिसके फलस्वरूप वह घोर अन्धकार से आवृत अर्थात् अज्ञान एवं दुःख क्लेश रूप असुर लोक को प्राप्त करता है। यहाँ असुर लोक से अभिप्राय है—गलत अपराधी गिरोहों में शामिल होना। आत्मा को मारकर किसी की हत्या, किसी का अपहरण व किसी का बलात्कार आदि आसुरी कार्यों में लिप्त होना। दरअसल आत्मा के मरने के बाद आदमी इसके सिवा कहाँ जा सकता है? आज या तो पुलिस काउण्टर में मारा जाता है या फिर सलाखों के पीछे अन्धेरे कमरे में बाक़ी जिन्दगी गुज़ारता है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

इस तथ्य का गीता भी सोलहवें अध्याय में समर्थन करती है।1 मरणोपरान्त भी आत्मा छिन्न-भिन्न निम्नतम योनियों में भटकता रहता है। इसीलिए जब लोगों को उसकी योग्यता एवं व्यक्तित्त्व के अनुरूप श्रेष्ठ व परम पद प्राप्त होते हैं, जो प्रायेण दुर्लभ हैं, राष्ट्र सेवा एवं जीवन का परम ध्येय मानकर उसे निष्पन्न करना चाहिए। यह उसके अधीन है लेकिन आत्मा की आवाज़ को अनसुनी कर जो लूटने, खसोटने व संग्रह करने में जुट जाते हैं वे तो मैनिया बीमारी से ग्रस्त हो असमय में संसार से बदनाम हो, 'घोटालेबाज' की संज्ञा से विभूषित होकर काल-कवलित हो जाते हैं। इसीलिए ईशोपनिषद् की उपर्युक्त बातें सर्वथा सत्य हैं।

दरअसल लोगों को श्रेष्ठ व परमपद प्राप्त करने के पश्चात् यह बड़ी गलतफहमी हो जाती है कि उसे कोई नहीं देख रहा है जबकि उसका नियोक्ता अपने चारचक्षु से हर पल उसकी हरेक गतिविधि को देख रहा है। इसीलिए तो कुछ लोगों को असमय में पदच्युत कर दिया जाता है या फिर बाद में सलाखों के भीतर ढकेल दिया जाता है। सी० बी० आई० या उच्च समिति द्वारा जाँच सब उसी राष्ट्र शासक के संकेत से होता है। वह नियोक्ता सभी प्रकार के Action लेने में समर्थ है।

वह चलता है और नहीं भी चलता है। आज राष्ट्रकुल की बैठक में भाग लेने जाना तो दूसरे दिन दिल्ली में उपस्थित रहना। हर घड़ी, हर जगह, हर शख्स व हर घटना की सूचना उसे मिलती रहती है। इसीलिए सम्पूर्ण राष्ट्र उसके अन्दर है या फिर सम्पूर्ण राष्ट्र के वह बाहर भी है।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—गीता भी इस बात को पुष्ट करती है।[2]

जो व्यक्ति राष्ट्र शासक को अच्छी तरह जानता है, वह निश्चित रूप से सम्पूर्ण राष्ट्र के अवाम को अपने से अलग नहीं मानता और न ही अपने को मुल्क के अवाम से अलग गिनता है। ऐसी स्थिति में वह किसी पद की गरिमा या राष्ट्र के कर्त्तव्य को कलंकित नहीं करता। वे महापुरुष लोहिया, जे० पी० के रूप में हमारे बीच समय-समय पर आते रहते हैं। उस महापुरुष को अपने हाड़-मांस के काय की फिक्र ही कब होती है? वह तो कालज्ञ, सर्वनियन्ता और चिरस्मरणीय हो जाता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

इसके अतिरिक्त दो तथ्य और सामने आते हैं—(1) अविद्या और (2) विद्या। जो व्यक्ति उदासीन हो कुछ हल्का-फुल्का कार्य करते हैं अर्थात् आज की भाषा में ठकुरसोहाती या गिफ्ट संस्कृति का पोषण करते हैं वह व्यक्ति सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त तो करता है लेकिन लोहिया या जे० पी० नहीं बनता। कुछ तो अपनी पद-महिमा का बखान करता है, भाषणबाजी करता है लेकिन उसका कोई ठोस कार्यक्रम नहीं होता। वह कुछ समय के बाद सबों के बीच तिरोहित हो जाता है, भले ही वह घोटालाबाज भी नहीं हो लेकिन उसकी बेमकसद ज़िन्दगी से क्या लाभ?

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।

दोनों ही तथ्यों के परिणाम अलग-अलग हैं। यह बात बड़े-बड़े मनीषी स्वीकार करते हैं और जो दोनों तथ्यों को समझकर अपने जीवन में साथ-साथ सम्पन्न करते हैं वे ऐश्वर्यशाली मरकर भी अमर हो जाते हैं—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

उपर्युक्त तत्त्वों की तरह 'असम्भूति' तथा 'सम्भूति'—भी दो तत्त्व हैं। 'असम्भूति' से अभिप्राय है अपने सगे-सम्बन्धियों, निकट के पुरजन-परिजनों को लाभान्वित करना। 'सम्भूति' से अभिप्राय है—राष्ट्र शासक की प्रशंसा में जुटा रहना, ठकुरसोहाती जिसकी ज़िन्दगी का लक्ष्य है। अवाम से अलग-थलग रहने वाला न तो राष्ट्र शासक की निगाह में प्रिय होता है और न कार्यहीन होने के कारण अवाम का। वह हर हाल में असम्भूति के उपासक से भी ज्यादा गुमनाम हो जाता है। यह तर्कसंगत व मनीषी पुरुषों के द्वारा विविक्त तथ्य है।

यह प्रश्न उभरकर सामने आता है कि किसी व्यक्ति को उस राष्ट्रशासक की प्राप्ति के लिए उनसे किस प्रकार की प्रार्थना करनी चाहिए? ईशोपनिषद् के अनुसार—सबका भला चाहने वाला, सबों का पोषक, सत्यस्वरूप वह राष्ट्रशासक सांसारिक चाकचिक्य के आवरण से पीछे सुरक्षित स्थान में रहता है जहाँ सीधे किसी की पहुँच नहीं है। क्योंकि वहाँ तक पहुँचने के मार्ग में कई जगहों पर सुरक्षा गार्ड है जो उन (Boss) के पास तक पहुँचने में रोकता है। कार्यकर्ता (भक्त, अवाम) उस राष्ट्रशासक के श्रीमुख का दर्शन करना चाहता है। वह उनसे प्रार्थना करता है कि कृपया अपने सुरक्षा गार्डों को हटा लें। हे हमकार्यकर्ताओं के नेता, हे भक्तों के पोषक, हे मुख्य ज्ञानस्वरूप, हे सबके नियन्ता, हे प्रजाओं के पति अर्थात् ब्यूरोक्रैट्स के प्रिय शासक! आप अपने सुरक्षागार्ड, तामझाम सबको हटा लें और अपना कल्याणमय पहले वाला विशुद्ध रूप दिखायें। मैं कल्पना से आपके दिव्य स्वरूप (शासक के स्वरूप) को देख रहा हूँ। हे स्वामि! मैं वही हूँ। मैं आपके क्षेत्र में अहर्निश आपके लिए काम करने वाला वही कार्यकर्ता हूँ—

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।

हे हम लोगों पर कृपा करने वाले, क्षेत्र में काम करने वाले यज्ञमय नेतृभगवन्! आप मुझको स्मरण करें। मैं आपका वही समर्पित कार्यकर्ता हूँ। कृपया आप मुझको स्मरण करें। मैंने क्षेत्र में आपके लिए जो काम किया

है, उन कर्मों को स्मरण करें—

ऊँ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।

अन्त में, वह दूसरे सीनियर अग्नि सरीखे तेजस्वी कार्यकर्ता से पैरवी के तौर पर निवेदन करता है कि हे नेताजी, आप हमें उस परम धनरूप शासक की सेवा में पहुँचने के लिए सुन्दर शुभ मार्ग से ले चलें। हे नेताजी, आप हमारे सम्पूर्ण कार्यकलापों को जानने वाले हैं। इसीलिए आप हमारे इस मार्ग के बाधक तत्त्वों (पापों) को दूर कर दें। इसके लिए मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ और भविष्य में भी नमस्कार के वचन कहता रहूँगा—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।

हे प्रभो! मैं अपने इस पञ्चतत्त्वों से बने शरीर को राष्ट्र सेवा के लिए आपको समर्पित करता हूँ। मुझे स्वार्थ में इस शरीर से कोई प्रयोजन नहीं—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

वैदिक साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज के परिप्रेक्ष्य में जितनी प्रासंगिकता ईशोपनिषद् की है उतनी अन्य की नहीं।

सन्दर्भ सङ्केत

(1) गीता–अध्यात्म 16, श्लोक 16, 19, 20
(2) वही 7.7

वर्तमान त्रासदी और अद्वैत वेदान्त

डॉ० रंजना गुप्ता ★

20वीं सदी का अन्त और 21वीं सदी का आरम्भ होने वाला है। इस समय को क्रान्तियों की पराकाष्ठा कहा जा सकता है। विज्ञान के बढ़ते ज्ञान एवं विस्तार ने जीवन-जगत् के सभी क्षेत्रों में चाहे वह औद्योगिक हो या आर्थिक—एक ऐसी क्रान्ति ला दी है कि यदि आज दो सौ वर्ष पूर्व का मानव कालप्रवाह में चलकर एकाएक आ जाये तो हतप्रभ होकर रह जायेगा। निस्सन्देह आज विज्ञान के पंखों पर सवार होकर मानव-सभ्यता विकास के नये आयाम उपस्थित कर रही है। किन्तु यह कितनी दुःखद एवं मार्मिक बात है कि एक ओर तो मनुष्य नक्षत्रों तक छलांग लगा रहा है, तो दूसरी ओर वह स्वयं ही सम्पूर्ण विश्व को मृत्यु की विभीषिका में झोंकने की तैयारी कर रहा है। अपनी ओर बढ़ते हुए इस सर्वनाश को देखकर भी शक्ति एवं सत्ता के मद में चूर हो कर वह उसे अनदेखा करने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर विकास का गुणगान है तो दूसरी ओर आर्थिक राजनैतिक सहित सभी क्षेत्रों में संकटग्रस्त स्थिति की चर्चा की जा रही है। इन सभी में प्राकृतिक पर्यावरण के नष्ट होने की चिन्ता सर्वोपरि है। इसका प्रमुख कारण मनुष्य में निहित साम्राज्यवाद की भूख है। इसी भूख की पूर्ति हेतु उद्योग के क्षेत्र में महान् क्रान्ति हुई और विशालकाय कल-कारखाने लगे। इससे उत्पादन की मात्रा इतनी बढ़ी कि उसे खपाने के लिये बाजार की आवश्यकता पड़ी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अविकसित एवं विकासशील देशों पर विकसित देशों (अमेरिका, ब्रिटेन आदि) ने आधिपत्य जमाकर, उन्हें कच्चा माल देने और बना माल खरीदने के लिए विवश किया। भारत पर अंग्रेज़ी शासन के कई कारणों से एक कारण वह भी था। औद्योगीकरण से सम्पन्न सभी ने जहाँ वश चला वहीं पंजे गड़ाने शुरू कर दिये। इससे स्पर्धा का आरंभ हुआ और विभिन्न राष्ट्रों में युद्ध शुरू हो गया। इन दो सौ वर्षों में हजारों छुटपुट युद्धों के साथ दो बड़े विश्व युद्ध हुये। इनसे हुई जानमाल की क्षति आज भी उपस्थित है।

दुःख तो यह है कि छोटे बड़े युद्धों के परिणाम को देखकर भी विश्व युद्ध की हवस शांत नहीं हुई है। आज भी न केवल आक्रमण की तैयारी है वरन् आज भी प्रलयंकर अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण धड़ाधड़ हो रहा है। इस प्रकार एक ओर बढ़ती आणविक शक्ति का प्रकोप है तो दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र में हुई क्रान्ति के कारण

★ व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, गर्दनीबाग, पटना, बिहार

नित्य खुलते कल-कारखानों से निकलता है कचरा और धुआं। इन सबों ने मिलकर प्रकृति के पर्यावरण को ही नष्ट नहीं किया है—वरन् मनुष्य के स्वास्थ्य को ही चौपट करके रख दिया है।

निस्सन्देह जब मर्यादाएँ टूटती हैं और जीवन-मूल्य शक्ति, सम्पन्नता एवं सत्ता बन जाते हैं तब "सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्" जैसे शब्द खोखले हो जाते हैं। प्रेम, त्याग और तप जैसे शब्द जो जीवन को निखारते एवं संवारते हैं, विकृत हो जाते हैं। कामुकता एवं व्यभिचार को छूट मिल जाती है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र की आत्मा ही मृतप्राय नहीं होती, वरन् इसका एक दुष्परिणाम जनसंख्या की वृद्धि भी होती है। आज जिस तेजी से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है उस तेजी से उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन नहीं बढ़ सकते। न तो पृथ्वी को रबड़ की तरह खींचकर बढ़ाया जा सकता है और न उत्पादन दिन दूना रात चौगुना हो सकता है। वन कट रहे हैं, भूमिरक्षण एवं रेगिस्तानों का विस्तार हो रहा है। अधिक-से-अधिक प्राप्ति की आकांक्षा में भूमि बंजर हो रही है। इससे सम्पूर्ण पर्यावरण असन्तुलित हो गया है जिसका प्रभाव ऋतुचक्र पर इतना गहरा पड़ रहा है कि वह भी अस्त-व्यस्त हो चुका है।

कहा जा सकता है कि एक ओर आणविक शक्ति से उत्पन्न दुष्परिणाम हैं अर्थात् अंतरिक्ष का बढ़ता हुआ तापमान जो ध्रुव प्रदेशों की बर्फ को गलाकर जल-प्रलय जैसी स्थिति बना सकता है, हिम प्रलय ला सकता है, धरती के अन्तरिक्ष-कवच ओज़ोन को कभी भी क्षीण कर सकता है जिससे ब्रह्माण्डीय किरणें धरती के जीवन को भूतकाल का विषय बना सकती हैं; तो दूसरी ओर है—मनुष्य का नैतिक पतन और इसके फलस्वरूप जनसंख्या में अबाध वृद्धि, प्रदूषण एवं गंदगी, राष्ट्रव्यापी भ्रष्टाचार और घूसखोरी, बेकारी और गरीबी, शिक्षा के क्षेत्र में गिरावट और अव्यवस्था एवं इन सबों से उत्पन्न हिंसा का तांडव, गोला-बारूद के ढेर, कुंठा से ग्रस्त मानवता। क्या यही विकास है? क्या यही सभ्यता है? यदि हां तो ऐसे विकास और ऐसी सभ्यता का कोई अर्थ नहीं है। जब तक मनुष्य-मनुष्य में आपसी सौहार्द्र उत्पन्न नहीं होता, जब तक मनुष्य-मनुष्य के बीच धर्म, मज़हब, जात-पाँत, ऊँच-नीच आदि की झूठी दीवारें गिर नहीं जातीं, जब तक मनुष्य अपनी खोई अस्मिता को पुन: पहचान नहीं लेता तब तक चाहे वैज्ञानिक प्रगति हो या आर्थिक, सभी कुछ व्यर्थ है।

यहां यह प्रश्न अक्षय-वट सा हमारे सामने उपस्थित होता है कि निराशा एवं हताशा की इस विकट परिस्थिति में जबकि सम्पूर्ण मनुष्य जाति विध्वंस के ढेर पर खड़ी है—कैसे बाहर निकाला जाये? किस प्रकार सृजन की गति को सही अर्थों में जीवित किया जाये? वह कौन-सा जीवन-दर्शन हो सकता है जो मनुष्य को उसके होने का सही अर्थ बताये ताकि खोई मनुष्यता पुन: उठ खड़ी हो?

यदि हम निष्पक्ष ढंग से, खुले हृदय और मस्तिष्क के साथ विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि अपने सार्वभौमिक मूल्यों के कारण निस्सन्देह शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-वेदान्त की अवधारणा ही ऐसा अखण्ड और सार्वभौमिक दर्शन हो सकती है। इसका कारण है—इसके वे मूलभूत सिद्धान्त जो जीवन जगत् के व्यावहारिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक अर्थात् सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् जैसे सभी पक्षों के समन्वयात्मक एवं समुचित विकास पर इस प्रकार आधारित है कि मनुष्य को इस जगत् में उसकी वास्तविक पहचान कराते हुए मनुष्य-मनुष्य के बीच सद्भावना पैदा करता है। यहां यह स्पष्ट करना अनुचित न होगा कि

अद्वैत का अर्थ उस रूप में एक नहीं है जैसा कि हमारे यहां के और विदेशों के मूर्धन्य विद्वान् प्रायः मान लेते हैं और इसकी तुलना अन्य दर्शनों यथा, ब्रेडले, स्पिनोज़ा आदि के दर्शन के साथ करने लगते हैं। अद्वैत की तुलना यदि किसी के साथ हो सकती है तो वह केवल स्वयं अद्वैत है, क्योंकि जिस रूप में ये सभी विद्वान् "एक" की चर्चा करते हैं उस रूप में शंकर ने "एक" की चर्चा नहीं की। उनके लिए अद्वैत का अर्थ है—जहाँ किसी प्रकार का द्वैत अथवा विरोध नहीं रहता और न रहता है—कोई भेद (यथा रामानुज एक सत्य मान कर उसमें स्वगत भेद मानते हैं। विशिष्ट अद्वैतवाद) न ही भेदाभेद है (निम्बार्क ने भेदाभेद माना है।) जिस प्रकार सभी नदियाँ आपस में मिल कर एक विशाल समुद्र का निर्माण करती हैं, जहां हम यह नहीं कह सकते कि यह गंगा का जल है अथवा यमुना का ठीक इसी प्रकार से सभी जहां घुल मिल जाते हैं, वही अद्वैत है। इसलिये इसका पहला मूलभूत सिद्धान्त है कि जो भी जहां है—गतिमय या अगतिमय, सभी एक दिव्य शक्ति और बल जिसे ब्रह्म कहा जाता है, के द्वारा चालित है।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की स्वीकृति है। अन्य सभी दर्शन सांख्य, मीमांसा से लेकर गाँधी, टैगोर आदि के दर्शन ईश्वर और विश्व में, पदार्थ और आत्मा में, सत् और असत् में, ईश्वर और मनुष्य में एक कल्पित भेद मानकर चलते हैं। ईसाई धर्म और मुस्लिम धर्म तो मूलतः ईश्वर और शैतान की अवधारणा पर ही आधारित है। एकमात्र अद्वैत का ही दृष्टिकोण है कि अन्तिम विश्लेषण में सब कुछ ईश्वरीय अभिव्यक्ति है। गीता में भी श्री कृष्ण भगवान् अर्जुन से कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। (10/41)

अर्थात् जो भी विभूतियुक्त अर्थात्, ऐश्वर्ययुक्त, कांतियुक्त एवं शक्तियुक्त वस्तु है, उन सभी को तू मेरे तेज के अंश की अभिव्यक्ति जान।

वस्तुतः जगत् का होना ईश्वरीय लीला है। इसी तथ्य के समानान्तर निष्कर्ष पर आधुनिक विज्ञान भी पहुँच रहा है। आरंभ में न्यूटन के विज्ञान में पदार्थ एवं ऊर्जा के बीच विभेद माना जाता था, किन्तु आइंस्टाइनोत्तर निष्कर्ष यह है कि जो कुछ भी अस्तित्त्व में है वह ऊर्जा का ही रूप है, वह कण के रूप में अभिव्यक्त हो या लहर के रूप में, सबमें एक ही ऊर्जा है। अतः एकीकृत बल के जिस सिद्धान्त के परीक्षण में संसार भर के वैज्ञानिक जुटे हैं उसी सिद्धान्त की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति सर्वव्यापी ब्रह्म की अवधारणा में हुई है। ऋग्वेद में कहा गया है—

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा।। (6/36/4)

अथवा,

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुञ्चन्त्यश्वान्।
दशा शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्।। (5/62/1)

अर्थात् सत्य से आवृत एक सत्य है, जहाँ सूर्य या दिव्य ज्योति अर्थात् सत्य घोड़ों अर्थात् ज्योति की यात्रा को उन्मुक्त कर देते हैं। दिव्य, ऐश्वर्य, समृद्धि, ज्ञान, बल एवं आनन्द आदि की सहस्र धारायें एकत्र हो

जाती हैं, ऐसे दिव्य सूर्य के रूप में वह कल्याणतम रूप देव एक है।

यह ब्रह्म ही प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा बन कर उसमें विद्यमान है। इसलिये जीवात्मा उस ब्रह्म का ही स्वरूप है, उससे अलग नहीं है। जब तक वह माया, मोह, राग, द्वेष, लोभ आदि की दीवालों से घिरा रहता है तब तक उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता। किन्तु जैसे ही वह अपनी इन क्षुद्र तृष्णाओं से ऊपर उठ जाता है, उसे अपने ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और मृत्यु उपरान्त वह उसी में मिलकर उससे एकाकार हो जाता है। इसे हम एक रूपक के माध्यम से समझ सकते हैं। जब अग्नि प्रज्जवलित होती है तब सहस्रों चिंगारियाँ उससे उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में लीन हो जाती हैं। ठीक ऐसा ही जीवात्माओं के साथ है। भामती में भी कहा गया है—

जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म। (ब्र० सू० 1/4/3)

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—

य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यऽमात्मा न वेद।
यस्यात्मा शरीरेय आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याभ्यमृतः।।

अर्थात् "जो परमेश्वर आत्मा में ठहरा हुआ आत्मा से भिन्न है, उसको यह आत्मा नहीं जानता है और जिस परमेश्वर का आत्मा शरीर है, वह आत्मा के अन्दर है तथा आत्मा का नियमन करता है, अन्तर्यामी है, अमृत है।"

"सभी जीव या मनुष्य ब्रह्म-स्वरूप ही है—यह वह महान् अन्तर्दृष्टि है जो सम्पूर्ण विश्व में अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। यदि ऐसा न होता तब आज जो मनुष्य मनुष्य में घृणा द्वेष है, आज जो हिंसा की होली खेली जा रही है, वह सब कुछ न होता। किन्तु दुर्भाग्यवश हम भारतीयों ने भी इस परम सत्य को भुला दिया है कि हम सभी में वही एक परमात्मा अभिव्यक्त है। इस परम सत्य को हम पुनः ज्ञान योग अर्थात् ज्ञान की साधना से, अथवा भक्तियोग अर्थात् भाव की साधना से, अथवा कर्मयोग अर्थात् समर्पित कर्मभाव से, अथवा राजयोग अर्थात् दिव्यानन्द के पथ से—अर्थात् इनमें से किसी भी मार्ग पर चल कर प्राप्त कर सकते हैं। यह सच है कि शंकराचार्य ज्ञान के उपासक थे। किन्तु शंकराचार्य की अवधारणा को थोड़ा उदार बनाते हुए विवेकानन्द, अरविन्दो आदि जैसे महान् विचारकों के द्वारा प्रतिपाद्य वेदान्त को सन्निहित करते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति इन चारों मार्गों में से किसी के द्वारा ही आत्मज्ञान लाभ कर सकता है।

अब यदि हम सभी एक ही आध्यात्मिक सत्ता के स्वरूप हैं, उसी के अंश हैं तब हमारा यह विश्व एक विशाल कुटुम्ब है और हम उसके सदस्य। उपनिषदों में कहा गया है—अमृतस्य पुत्राः—अमरत्व की सन्तान—अर्थात् हम सभी अमरत्व की सन्तान हैं, कोई पापी, दुर्बल, चापलूस तथा सातवें आसमान में बैठे किसी अदृश्य अस्तित्त्व के आगे गिड़गिड़ाने वाले विनीत प्राणी नहीं हैं जैसा कि अन्य धर्म स्वीकार करते हैं। हम निस्सन्देह अमृत की सन्तान हैं क्योंकि हमारी चेतना के भीतर उसी एक ब्रह्म का प्रकाश और शक्ति है। यह प्रकाश और शक्ति काले-गोरे, स्त्री-पुरुष, एशिया-यूरोप, सम्पूर्ण चराचर जगत् में अभियक्त हो रही है। ऐसी उदात्त भावना विश्व में अन्यत्र कहां मिलेगी जो कि सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक सूत्र में यूँ पिरो दे जिस प्रकार एक माला में

मोती गूँथे हों और वह भी ऐसे मोती जो स्वयं में ब्रह्मस्वरूप हैं। अद्भुत है यह भावना। विशाल हृदय की सूचक और सत्य की परिवाहक भी। ऐसा ज्ञान इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है।

इस अखण्ड सत्य के विपरीत अपने-पराये का भेद क्षुद्रता और संकीर्णता का परिचायक तो है ही, अज्ञान का सूचक भी। यही वह भावना है जो आज हम सबों के हृदय में घर कर गई है। इसने हम सबों को किस प्रकार एक दूसरे से दूर कर दिया है इसे कोई मूढ़ भी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हिंसक-वृत्ति को देखकर समझ सकता है। ऐसी परिस्थिति में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की अवधारणा ही एकमात्र ऐसी अवधारणा है जो कि हमारे बीच की छद्म दीवारों को गिरा सकती है। जब हम सभी एक ही कुटुम्ब के, एक ही परिवार के सदस्य हैं तो लड़ाई-झगड़े का प्रश्न कहाँ उठता है? एक दूसरे का गला काटने अथवा एक-दूसरे के विनाश की कल्पना कहां उठती है? एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगल जाये जिस प्रकार किसी तालाब की बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, यह बात कहां पैदा होती है? ये सभी कुछ इस बात का साक्ष्य या प्रमाण है कि जिस विकास की, जिस सभ्यता की आज प्रशंसा-अनुशंसा करते हम नहीं थकते वह तब तक आधा-अधूरा है जब तक कि हममें "वसुधैव कुटुम्बकम्" का ज्ञान नहीं हो जाता और ऐसा तभी संभव है जब हममें यह आत्मज्ञान हो कि हम सभी उसी एक परमात्मा की सन्तानें हैं।

"वसुधैव कुटुम्बकम्" के दृष्टिकोण से देखने पर हमें जहाँ यह ज्ञान होता है कि हम सभी एक विशाल परिवार के सदस्य हैं वहीं हम इस सत्य पर पहुँचते हैं कि अन्ततः सभी धर्म एक है क्योंकि सभी आध्यात्मिक पथ एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (1/64/46)

मुण्डकोपनिषद् (3/2/8) में भी कहा गया है कि जिस प्रकार प्रपात और नदी धरती के विभिन्न भागों से उत्पन्न होकर भी अन्ततः एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं, इसी प्रकार यदि हमें किसी एक स्थान को जाना हो, मान लें दिल्ली ही जाना हो तो हम विभिन्न रेलगाड़ियों से अथवा हवाई जहाज से, अथवा कार आदि से जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, अद्वैत वेदान्त का यह निश्चित मत है कि सभी धर्म अन्ततः अमृतज्ञान में ही समाप्त होते हैं और यह आत्मज्ञान "ब्रह्मज्ञान" है अर्थात् हम सभी उसी एक ब्रह्म के अंश हैं, हम वही हैं।

अपनी इस विशाल अन्तर्दृष्टि के कारण ही वेदान्त सार्वभौमिक धर्म बन जाता है क्योंकि यह दिव्यत्व की ओर गति की अनन्त संभावनाओं को स्वीकार करता है, यह किसी बने-बनाये समाधान तक हमें सीमित नहीं करता। ये एक ऐसी अद्वितीय एवं उदात्त भावना (बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय) की स्वीकृति है जो किसी अन्य जाति एवं धर्म में नहीं क्योंकि यहाँ प्राणीमात्र के कल्याण की कामना है। इसी भाव के कारण ही विवेकानन्द, भगवान दास, अरविन्दो आदि इसे ही विश्व का सार्वभौम धर्म मानते हैं। काश! प्राणिमात्र के कल्याण की यह उदात्त भावना आधुनिक काल के मनुष्यों में जीवित रहती। काश! प्राणी मात्र एक-दूसरे की प्रगति में सहायक होते। काश! यदि ऐसा होता है तो क्या मनुष्य अपने प्रमाद एवं अज्ञान के वशीभूत होकर अपने ही हाथों इस धरती के पर्यावरण को नष्ट कर देता? हमने जल-स्रोतों को प्रदूषित किया, हवा को सांस लेने योग्य न छोड़ा, प्रकृति को ध्वंस किया, वन्य जीवन को नष्ट किया। क्यों? केवल तथाकथित विकास के

नाम पर, अथवा अपनी शक्ति एवं बाहुबल का प्रदर्शन करने हेतु अथवा तात्कालिक लाभ प्राप्त करने की अतृप्त आकांक्षा से परिभूत होकर? आखिर क्यों हमारे कारण हजारों प्रजातियां विलुप्त हो गईं जबकि हमारे कारण ही हजारों विलोप के कगार पर हैं? अपनी क्षुद्र आकांक्षा की तुष्टि हेतु बाघों, हाथियों आदि का संहार करना तो आम बात हो ही गयी है, यह हमारी क्षुद्र वृत्ति का ही तो प्रमाण है। उचित ही है- आज इस यांत्रिक युग में मनुष्य भी एक यंत्र बनकर रह गया है और उसके जीवन का कोई मोल नहीं रहा है।

आज की तुलना में यदि हम प्राचीन भारत के इतिहास के पृष्ठ उलटें तो उस समय के ऋषि मुनियों के विचारों से अवगत होने पर प्रतीत होता है कि वे निश्चय ही भविष्य-द्रष्टा थे। उन्हें ये भलीभाँति ज्ञात था कि मनुष्य प्रकृति से पृथक् नहीं वरन् उसका ही भाग है। उसकी चेतना के विकास के पीछे सम्पूर्ण प्रकृति, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। अत: उसे सभी जीवों से ही नहीं वरन् पेड़-पौधों यहां तक कि नदी आदि के प्रति भी सद्व्यवहार करने का उपदेश दिया गया। तुलसी, पीपल आदि वृक्षों को जल से सींचना, इनकी पूजा अर्चना करना जो आज भी हमारे यहाँ होती है, इसी विचारधारा का परिणाम है। हमारे यहां तो नदी को भी माता कहकर जो सम्मान दिया गया, वैसा सम्मान इस धरती पर किसी अन्य जाति ने कभी दिया क्या? अद्वैत वेदान्त इस तथ्य को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करता है क्योंकि एक वही ब्रह्म ही तो इस चराचर जगत् में अभिव्यक्त हो रहा है। जब कण-कण उसी अखण्ड की उद्घोषणा है तब कैसी हिंसा? किसकी हिंसा? क्यों है यह उठा-पटक? क्यों है यह लड़ाई?

उत्तर पाने के प्रयास में हम पुन: उसी बिन्दु पर पहुंच जाते हैं कि हम सभी ने इस तथ्य को भुला दिया है कि हम सभी एक ही परमात्मा के अंश होने के कारण एक ही कुटुम्ब के सदस्य हैं। यहां यह भी कहा जा सकता है कि हमारे यहां कुछ तथाकथित विद्वान् अपने आलेखों, वार्ताओं आदि के माध्यम से इस तथ्य को अभिव्यक्त करते रहे हैं। निस्सन्देह वे ऐसा कर रहे हैं किन्तु मात्र कथनों में, व्यवहार में नहीं चरितार्थ होता है यह सत्य। हम आज के दार्शनिकों अथवा दर्शनशास्त्र पढ़ाने वाले मार्मिक विद्वानों को ही लें। हमें उनके आचार-विचार को देखने, सुनने एवं विश्लेषण करने के पश्चात् यह अनुभव होगा कि आज के परिवेश में शुद्ध दार्शनिक कोई नहीं है अशुद्ध राजनीतिज्ञ सभी हैं। दु:खद यह है कि जिस शास्त्र को अन्य सभी शास्त्रों की जननी होने का गौरव और इसलिये इसके मर्मज्ञों को समाज को विकास पथ पर ले जाने का उत्तरदायित्व प्राप्त है, वही आज अनाचार, अत्याचार एवं कदाचार की मूर्ति बने बैठे हैं और अपनी कुटिल चतुराई से न केवल देश-विदेशों में पूजित एवं सम्मानित ही नहीं हो रहे हैं वरन् उन्होंने तो निपुणता के साथ दर्शनशास्त्र का अर्थ ही बदल दिया है। हम भारतीयों को अपने प्राचीन साहित्य पर इसलिये तो गर्व होता है कि जीवन और विचार दोनों में ही कोई भिन्नता नहीं थी, आचार-विचार एक थे, कथनी-करनी समान थे। इसी समानता के आधार पर चार्वाक—जिसके मूल में "जब तक जियो सुख से जियो क्योंकि जीवन यहीं और अभी है, दूसरा कोई जीवन नहीं है"—हम आलोचना करते रहते हैं। आज तो लोगों की मनोवृत्ति चार्वाक को भी पीछे छोड़ चुकी है क्योंकि व्यवहार और विचार दो बातें हैं। दूसरों को सुन्दर-सुन्दर शब्दों में उपदेश दो और खुद उनका पालन कभी मत करो। अपने वचनों का जो पालन करे वह महामूर्ख है। हाथी में दो प्रकार के दाँत होते हैं—एक

दिखाने का दूसरा खाना खाने का। आज के मनुष्यों की हालत हाथी के दाँतों के समान ही है—व्यवहार में कुछ और, विचार में कुछ और। यत्र तत्र सर्वत्र इसके उदाहरण आपको मिल जायेंगे।

निश्चित रूप से परिवर्तन इस धरती का सत्य है। पेड़ों की शाखों से पुरानी पत्तियाँ टूटती हैं, नई पत्तियाँ आती हैं, कली फूल बनकर बिखर जाती है, नई कली खिलती है, एक जीवन आता है, एक जाता है। दिन यूँ ही गुज़रते जाते हैं और जीवन गतिमान् रहता है। कहा जाता है कि गति जीवन है, स्थिरता मृत्यु। नदी का पानी निरन्तर बहता रहता है, गंगाजल, कहलाता है और देवों पर चढ़ता है, किन्तु तालाब का पानी स्थिर रहता है, सड़ जाता है। जो जन्मेगा वह मरेगा और जो मरेगा पुनः जन्म लेगा। समुद्र, नदियों से पानी वाष्प बन कर उड़ जाता है। फिर वही बादल बन कर नदियों, समुद्र आदि में बरस जाता है। यही जीवन चक्र है, ऋतु चक्र है, प्रकृति का चक्र है। परिवर्तन और परिवर्तन—परिवर्तन की दिशा यदि प्रगति की दिशा है, सृजन की दिशा है, बीज के अंकुरित होने से लेकर छायादार वृक्ष बन कर पुनः नये उन्नत बीज को जन्म देने की दिशा है, तब परिवर्तन जीवन है, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है। इसके विपरीत यदि परिवर्तन विध्वंसकारी है, वृक्षों के उजड़ने और पृथ्वी के बंजर होने की दिशा में प्रवाहित है सब कुछ तब परिवर्तन मृत्यु है और विप्लवकारी है।

इस धरती पर इधर दो सौ वर्षों में जो अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है और इस परिवर्तन से जिस सभ्यता का उदय हुआ है वह विध्वंसकारी है क्योंकि यह मनुष्य में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की भावना को जागृत करने के स्थान पर मनुष्य को मनुष्य से दूर करता है और उसे क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तु में रूपान्तरित कर देता है। आज सर्वत्र ऐसा ही है। मनुष्य या तो स्वयं को बेच रहा है या खरीद रहा है। मान-सम्मान सभी कुछ यहाँ खरीदे और बेचे जा रहे हैं। सम्पूर्ण संसार एक मण्डी बन कर रह गया है। आज से पूर्व ऐसी प्रलयंकारी स्थिति कभी न थी। ऐसा नहीं कि अचानक ही ऐसा हो गया है। प्राचीन काल में भी समय-समय पर भयंकर स्थितियाँ आयीं किन्तु मनुष्य तब भी थोड़ा समझदार था और उसने स्वयं को बचा कर, मानवीय सभ्यता को बचा लिया। महाभारत का युद्ध कम विनाशक न था। पर आज सब कुछ तहस-नहस हो चुका है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य जितना अधिक शक्ति सम्पन्न होता जा रहा है उतना ही क्रूर एवं बर्बर भी। लाशों के ढेर और बहता हुआ रक्त उसमें संवेदना नहीं जगाते वरन् उसमें एक संतुष्टि का भाव जगाते हैं। कई ज्योतिषियों ने तो भविष्यवाणी भी की है कि यदि इसी प्रकार विध्वंस का नृत्य इस धरती पर चलता रहा तो इस सदी के अन्त तक धरती का सफाया हो जायेगा। कुछ लोगों ने तो प्रलय की तिथि भी घोषित कर दी है किन्तु यह सभी कुछ आज भी रुक सकता है। विनाश के मुख में जा रही सभ्यता को आसानी से सृजन की गोद में डाला जा सकता है यदि हम (जैसा कि पहले कहा जा चुका है) उन्हें इस सत्य का ज्ञान करा दें कि वस्तुतः यह जो अनेकता, विभिन्नता दिखाई दे रही है वह वास्तविक सत्य नहीं, वास्तविक सत्य तो इसके पीछे है। शंकर ने कहा था ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या। अर्थात् ब्रह्म सत्य है जगत् उसकी तुलना में मिथ्या है। जगत् के मिथ्या होने का अर्थ यह नहीं है कि वह है ही नहीं, सब कुछ शून्य है जैसा कि बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन मानते हैं। इस विश्व में शून्य जैसी कोई वस्तु नहीं है और असत्य का अर्थ पूर्णतया निषेध नहीं है, वरन् जो जहां है नहीं वहां उसे आरोपित कर लेना। अब अपने अस्तित्व से कौन इन्कार कर सकता है। हमें जो प्रतिदिन के अनुभव होते हैं उससे भी हम इन्कार

नहीं कर सकते। शंकर इस अर्थ में जगत् को मिथ्या कहते भी नहीं। उनका कथन यही है कि अनेकता भ्रम है, पूर्ण सत्य नहीं। वे सत्य के दो लक्षण बताते हैं—

1. सत्य का अपरिवर्तनशील रहना,
2. उसे परिवर्तनशील, वस्तुओं में अभिव्यक्त करना।

समुद्र की लहर एक दूसरे से भिन्न होकर भी क्या पूर्णतया भिन्न है? बिजली से जब पंखा चलता है तब उसकी पत्तियाँ घूमती हैं, केन्द्र नहीं घूमता है जबकि वही घूमने का मूल कारण है, किन्तु पंखा चलने की स्थिति में वह भी हमें घूमता हुआ दिखाई देता है। इतना ही नहीं हमें पंखे की पत्तियों के बीच जो रिक्त स्थान है, वह भी कहां दिखाई देता है? पृथ्वी को लें। यह सूरज के चारों ओर इतनी तीव्रता से घूम रही है कि इसके परमाणुओं के बीच में रिक्त स्थान का हमें पता नहीं चलता, यहां तक कि इसके घूमने का भी हमें पता नहीं चलता क्योंकि हम भी इसके साथ-साथ घूम रहे हैं। धरती के विपरीत सूरज स्थिर है। किन्तु हमें सूरज घूमता दिखाई देता है। सर्वत्र ऐसा ही है जो दिखाई देता है वह पूर्ण सत्य नहीं, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार किसी बात को समझाने के लिये जब हम किसी रूपक या उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं तब वह केवल प्रतीक होता है सत्य को समझाने का बस। सत्य अनुभूत होता है। इसे हम अपने जीवन में अनुभव कर सकते हैं ठीक वैसे ही जैसे कि सुख, दुःख को। पुनः मेरा सुख या दुःख मेरा है किसी अन्य का नहीं और उसे दूसरे किसी को मैं पूर्णतया सही सही उसी रूप में नहीं बता सकती। जिस रूप में मैं स्वयं अनुभव करती हूँ, ठीक इसी प्रकार से सत्य स्वयं अनुभूत किया जा सकता है बताया नहीं जा सकता। बुद्ध ने कहा—आत्मदीपो भवः। अर्थात् अपना दीपक स्वयं बनो। स्वयं दीपक बने बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक हमें स्वयं अपने होने का सही अर्थ ज्ञात न होगा, जब तक कि हम स्वयं से अपरिचित रहेंगे तब तक हम भले ही ज्ञान का ढेर एकत्रित करते जायें, वह हममें एक दूसरे के प्रति स्पर्धा का भाव उत्पन्न करेगा और ऐसा भाव हिंसा उत्पन्न करेगा। इसलिये अनिवार्य है कि हम स्वयं को पहचानें। हमारे भीतर स्वबोध के होने से ही हम सम्पूर्ण चराचर जगत् के प्रति सहानुभूति, करुणा, प्रेम आदि जैसे उदात्त भाव रख पायेंगे। इन कल्याणकारी एवं मुदित भावनाओं के जागृत होने पर ही हममें मानवता पनपेगी और तभी विनाश की ओर जा रही मानवता में हम नव-प्राण फूँक कर उसे सृजन की ओर ले जायेंगे। यदि ऐसा करने में हम समर्थ नहीं हो पाते तब कितने ही आख्यान-व्याख्यान हम मानवता के ऊपर देते रहें, कितनी ही गंभीर चर्चा करने का नाटक करते रहें सभी व्यर्थ है। यदि मनुष्य मनुष्य में समानता के भाव नहीं उदय होंगे तब यूँ ही राष्ट्रों में स्पर्धा होती रहेगी। मनुष्यता रोती रहेगी। हमारे जैसे विकासशील देश की हालत तो और भी बुरी होती जायेगी। हमारे नेता कितनी भी विकास की चर्चा करें सभी कुछ तब तक व्यर्थ है जब तक मनुष्य-मनुष्य में एक दूसरे के प्रति हिंसा है, भूख है, गरीबी है, बेकारी है, निरक्षरता है, अज्ञान है। सभी कुछ ठीक हो सकता है यदि हम आज भी वेद, उपनिषदों में अभिव्यक्त अवधारणा को जिसे शंकर ने अपने विचारों से पुनः जागृत किया था, उसे फिर से जन मानस तक पहुँचाये।

सच है, विज्ञान और तकनीकी ने हमें अथाह शक्ति दी है। इस शक्ति के कारण हमने परमाणु युग में

प्रवेश करके जीवन को सरल और सम्पन्नतापूर्ण बना दिया है और प्रतिदिन इसे सरल से सरलतम बनाये जाने के प्रयास हो रहे हैं। इसी की सहायता से हम गरीबी, भूख, कुपोषण, निरक्षरता, बेरोजगारी आदि जैसी महाकाल समस्याओं से लड़ सकते हैं। इसके द्वारा हम उन रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो आज भी हमारे लिये जिज्ञासा एवं रोमांच का कारण है। किन्तु ऐसा तब हो सकता है जबकि मनुष्य का अस्तित्त्व धरती पर बचा रहे और उसे अपनी सुप्तावस्था में पड़ी अस्मिता का ज्ञान हो सके, जबकि वह भली-भाँति यह जान ले कि यह विश्व एक विशाल परिवार है और हम सभी इस परिवार के सदस्य हैं और इसलिये हमें एक दूसरे के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि अद्वैत वेदान्त की मूलभूत शिक्षाओं को जीवन का आदर्श बनाया जाये। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है—

वेदाहमेतं पुरुष महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्

अर्थात् अन्धकार से परे सूर्य के सदृश्य तेजवान उस महान् अस्तित्त्व को मैं जानता हूँ, उसे जान कर ही तुम मृत्यु से विजयी हो सकते हो, अमरत्व का और कोई मार्ग नहीं है। उपनिषद् जिस अमरत्व की चर्चा करते हैं, वह केवल मृत्यु के अनन्तर जीते रहने में नहीं है वरन् वह तो जन्म और मृत्यु का अतिक्रमण करने में है और यह तब संभव है जबकि हम चेतना की उस अवस्था को पा लें जिसे पा लेने के पश्चात् और कुछ भी पाना शेष नहीं बचता। इसी के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि चेतना की इस अवस्था को पा लेने का स्वाभाविक परिणाम है—विज्ञान शक्ति का सदुपयोग करते हुए इस धरती को सुन्दर और कल्याणकारी बनाना। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं और तब ही मनुष्य-जाति का सही अर्थों में विकास होगा और हम कह सकेंगे कि हम 21वीं सदी के मनुष्य हैं। अन्ततः—

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि।। ऋग्वेद (5/51/15)

❐

उपनिषद् एवं प्राचीन भारत में शिक्षा

डॉ० किरण टण्डन ★

भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम। इनमें से ब्रह्मचर्याश्रम तथा विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ और समावर्तन—ये चार संस्कार हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली से सम्बन्धित हैं। हमारे प्राचीन भारतीय मनीषी मानव-जीवन में शिक्षा के महत्त्व को जानते और मानते थे। 'शिक्षा' शब्द 'शिक्ष विद्योपादाने' धातु से 'अ' एवं 'टाप्' प्रत्यय संयुक्त करके निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ है—'शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा'। अर्थात् जिस प्रणाली से विद्यार्थी विद्या प्राप्त करता है, उसे शिक्षा कहते हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में शिक्षा को प्रशंसनीय बनाने वाले सभी तत्त्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से जब हम उपनिषत्साहित्य का सिंहावलोकन करते हैं, तो पाते हैं कि उसमें विद्यार्थी जीवन से सम्बन्धित संस्कार, गुरु शिष्य का सम्बन्ध, गुरु के गुण-कर्त्तव्य, शिष्य के गुण-कर्त्तव्य एवं शिक्षा के विषय आदि महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा स्थान-स्थान पर हुई है। शिक्षा की दृष्टि से उपनिषद् शब्द का अर्थ समझना भी महत्त्वपूर्ण है। उपनिषद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

उपनिषादयति सर्वानर्थकसंसारं विनाशयति संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति। ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।

अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है। यह रहस्यभूत आत्मतत्त्व का भी बोध कराने वाली विद्या है, इसलिए भी उपनिषद् नाम सार्थक है। वेदों के अन्त में होने के कारण इनको वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों की संख्या 100 से अधिक है। इनमें से ईशोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् आदि कुछ ऐसे उपनिषद् हैं, जिनमें उपर्युक्त विषय मुख्य रूप से प्रस्तुत किये गये हैं।

शिक्षा के द्वारा विद्या प्राप्त करने से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।—ईशावास्योपनिषद्, 11

★ रीडर, संस्कृत विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

विद्या का प्रमुख स्रोत है वैदिक साहित्य। और जब शिष्य विद्या की शिक्षा गुरु से ग्रहण करता है, तो ऐसी ही शिक्षा से सांसारिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार संसार में अभ्युदय दिलाने वाली विद्या परा है तथा सांसारिक बन्धन से छुटकारा दिलाने वाली विद्या अपरा है—

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। —1/5

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के सन्दर्भ में विद्यार्थी जीवन से सम्बद्ध तीन संस्कारों के संकेत उपनिषत्साहित्य में मिलते हैं। यथा कठोपनिषद् में कहा गया है—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। —1/9 का पूर्वार्ध।

(यम ने नचिकेता से कहा कि) हे ब्रह्मन्! आप हमारे अतिथि हैं, और तीन रात्रि तक हमारे घर में बिना खाये-पिये रहे। इस मन्त्र का अर्थ जब हम यम को गुरु तथा नचिकेता को शिष्य मानकर करते हैं तो अथर्ववेद की अधोलिखित पंक्ति का साम्य प्रतीत होता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः। —अथर्ववेद, 11/5/3

अर्थात् आचार्य शिष्य को तीन रात्रियों तक अपने आश्रम में रखते हैं, तो उसका दूसरा जन्म होता है। इसके बाद उपनयन संस्कार करके वह उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश देते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में उपनयन संस्कार का स्पष्ट संकेत मिलता है—

गौतम, तीर्थेनेच्छासा उपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास।।—6/2/7

राजा प्रवाहण ने गौतम से कहा कि वह शास्त्रसम्मत विधि से मुझसे विद्या ग्रहण करें। तब गौतम ने कहा कि ठीक है, मैं आपके पास शिष्य भाव से आता हूँ। (ब्राह्मण होने के कारण) गौतम ने केवल वाणी से ही राजा का शिष्यत्व स्वीकार किया, सेवा आदि के द्वारा स्वीकार नहीं किया।

इसी प्रकार उपनयन संस्कार की आयु एवं ब्रह्मचर्याश्रम में रहने की अवधि की चर्चा भी उपनिषत्साहित्य में हुई है—

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सौम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय।
—छान्दोग्योपनिषद्, 6/1/1, 2

श्वेतकेतु से उसके पिता आरुणि ने कहा कि वह ब्रह्मचर्याश्रम में निवास करे। फलस्वरूप श्वेतकेतु ने बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार कराकर ब्रह्मचर्याश्रम में निवास किया और चौबीस वर्ष की अवस्था में सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके वह वापस लौटा।

उपनिषदों में वेदारम्भ संस्कार के लिए आचार्य द्वारा शिष्य के साथ यज्ञवेदी पर आकर मंगलाचरण करने, देवताओं का पूजन करने एवं तत्पश्चात् शिष्य को उपदेश देने का भी विधान है। तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदारम्भ हेतु गुरु-शिष्य को इस प्रकार उपदेश देते हैं—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

—शिक्षावल्ली, नवम अनुवाक

अर्थात् शिष्य को सृष्टि के नियमों को समझते हुए यथायोग्य सदाचार का पालन करना चाहिए; सत्यभाषणपूर्वक स्वाध्याय एवं अध्यापन करना चाहिए; तपश्चर्या अर्थात् सात्त्विक श्रम सहित अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए; इन्द्रियों का दमन करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए; मन का नियन्त्रण करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए; यज्ञ के लिए अग्नि का चयन करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए। अग्निहोत्र करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए; अतिथि सत्कार करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए; मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए; शास्त्रविधि से गर्भाधान संस्कार सम्पन्न करते हुए स्वाध्याय एवं अध्यापन करना चाहिए; तथा कुटुम्ब का अभ्युदय करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए।

गुरुकुल से लौटते समय सम्पन्न किये जाने वाले समावर्तन संस्कार के विषय में भी उपनिषत् साहित्य में पर्याप्त जानकारी मिलती है। इस समय आचार्य शिष्य को भी जो उपदेश देते हैं, उसकी दृष्टि से तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली का एकादश अनुवाक विशेष रूप से द्रष्टव्य है—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु

चैतदुपास्यम्।

अर्थात् आचार्य अपने आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी विद्यार्थी को, वेद का भली-भाँति अध्ययन कराकर, उसे लौकिक व्यवहार ज्ञान हेतु सदुपदेश देता है कि सदा सत्य बोलना; झूठ का सहारा न लेना; धर्म का आचरण करना; वेदादि का अध्ययन करने में किसी भी प्रकार की लापरवाही मत करना; अपने आचार्य को गुरुदक्षिणा देने के लिए उनकी इच्छानुसार ही धन लाकर प्रेमपूर्वक देना; फिर उनकी अनुमति पाकर ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तानपरम्परा का विच्छेद न करना; सत्यमार्ग से विचलित मत होना; धर्ममार्ग से विचलित मत होना; समस्त शुभ लौकिक कर्मों का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करने में प्रमाद नहीं करना। धन प्राप्ति को बढ़ाने के साधनों के विषय में प्रमाद न करना; स्वाध्याय एवं अध्यापन के नियम की अवहेलना नहीं करना; यज्ञादि देवकार्य एवं श्राद्धतर्पणादि पितृकार्य सम्पन्न करने में भी प्रमाद नहीं करना; तुम अपने माता, पिता, आचार्य एवं अतिथि का आदर उनके प्रति देवबुद्धि रखते हुए करना; संसार में जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं को करना; इनके अतिरिक्त जो दूषित कर्म हैं, उन्हें नहीं अपनाना; गुरुजनों के जो अच्छे कार्य हों, उन्हें ही अपनाना; उनके जो अच्छे कार्य न हों, उन्हें नहीं अपनाना; जो कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष आयें, उनको आसनादि देकर अपनी शक्ति के अनुसार सादर उनकी सेवा करना; उन्हें श्रद्धापूर्वक दान देना; अश्रद्धापूर्वक दान नहीं देना; अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही दान देना; लज्जा और भय से युक्त होकर दान देना; विवेकपूर्वक दान देना; अब यदि उपर्युक्त कर्त्तव्य को करने में कोई आशंका हो अथवा सदाचार के विषय में कोई आशंका हो तो, जो उत्तम परामर्श देने वाले, कुशल, अच्छे कर्म एवं सदाचार में पूर्ण रूप से लगे हुए, स्निग्ध स्वभाव वाले एवं धर्म की कामना करने वाले ब्राह्मण हों; वे (उन सन्देहयुक्त स्थानों में) जैसा आचरण करते हों, वैसा ही आचरण करना; यही शास्त्र का आदेश है और यही गुरुजनों का पुत्रों एवं शिष्यों के प्रति उपदेश है; यही वेदों का रहस्य है, और यही परम्परागत अनुशासन है, इसी का अनुष्ठान करना चाहिए तथा इसी सदाचार का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार वेदाध्ययन के प्रारम्भ और अन्त में आचार्य शिष्य को उद्बोधित करते हुए उन्हें सदाचार, संयम, शील, सत्य, स्वाध्याय, सत्संग और सन्मार्ग दर्शन की शिक्षा अनुपम रीति से प्रदान करते हैं। वे शिष्य को धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम का सेवन करते हुए मोक्षोन्मुख जीवन जीने का निर्देश देते हैं। वे उसे अन्धानुकरण से बचने का उपदेश देते हुए सन्देहास्पद स्थलों पर मनीषियों से भी सन्मार्ग दर्शन प्राप्त करने का सुझाव देते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी वर्णन है कि देव, असुर एवं मनुष्य प्रजापति के इन तीन पुत्रों ने, जब उनके यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया और फिर उनसे उपदेश के लिए प्रार्थना की तो प्रजापति ने उन्हें 'द' अक्षर का उपदेश दिया, जिसका अर्थ क्रमशः इन्द्रियदमन, दया एवं दान है (5/2/1, 2, 3)।

समावर्तन संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् उपदेष्टा आचार्य को कृतज्ञ अन्तेवासियों द्वारा धन्यवाद देने की भी परम्परा उपनिषत्साहित्य में वर्णित है। शिष्यों ने ऋषि पिप्पलाद की पूजा की और उनके उपदेश हेतु उन्हें धन्यवाद दिया—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमृषिभ्यो नमः परमृषिभ्यः। प्रश्नोपनिषद्, 6/8

गुरु का महत्त्व एवं कर्त्तव्य

उपनिषत्साहित्य में गुरु के उपदेश के बिना विद्या ग्रहण करना लगभग असम्भव ही माना गया है। शिष्य गुरु की कृपादृष्टि से लौकिक ही नहीं आध्यात्मिक ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है—

यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथा श्रवणाध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद्धृदय स्थितानादि दुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति। तस्माद्धृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति। ततो दृढतरा वैष्णवी भक्तिर्जायते। ततो वैराग्यमुदेति। वैराग्याद्बुद्धिविज्ञानाविर्भावो भवति। अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति। पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति। ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति।— त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् 5

इसलिए ऐसे गुरु और आचार्य की आवश्यकता है, जो विद्या एवं विद्यार्थी का हित चाहते हैं। एतदर्थ ईश्वर से प्रार्थना करना भी आचार्य का कर्त्तव्य है—

यथाऽऽपः प्रवता यान्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व।।—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षाध्यायवल्ली, चतुर्थ अनुवाक

जिस प्रकार समस्त नदियाँ नीचे की ओर बहते हुए समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, तथा महीने दिनों का अन्त करने वाले संवत्सररूप काल में विलीन हो जाते हैं; हे विधाता, उसी प्रकार सभी ब्रह्मचारी मेरे पास आएं ताकि मैं उनको विद्याभ्यास करा सकूँ। आप तो सबके विश्राम स्थान हैं; अब मेरे लिए दिव्य स्वरूप को प्रकाशित कीजिए और मुझे प्राप्त हो जाइए।

गुरु का परम कर्त्तव्य है कि अपनी शरण में आने वाले, प्रशान्त चित्त वाले, मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले जितेन्द्रिय शिष्य को ब्रह्म विद्या का सभी तत्त्वों सहित उपदेश दे, जिससे वह अविनाशी, नित्य, पुरुष रूप परमात्मा को प्राप्त कर सके—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।। —मुण्डकोपनिषद्, 1/2/13

गुरु का कर्त्तव्य है कि वह योग्य शिष्य को ही विद्या प्रदान करे। संहितोपनिषद् में विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ, मेरी रक्षा करो; योग्य व्यक्ति को ही उपदेश दो, अयोग्य को नहीं; तभी मेरी सत्ता रहेगी—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्ठोऽहमस्मि।

गुरु को चाहिए कि वह ऐसे शिष्य को ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्रदान करे, जो निष्काम भाव से कर्म करने

वाले, वेदार्थ के ज्ञाता, ब्रह्म के उपासक और श्रद्धा से युक्त, स्वयं एकर्षि नामक अग्नि में नियमपूर्वक हवन करते हों तथा जिन्होंने विधिपूर्वक सर्वश्रेष्ठ व्रत का पालन किया हो; जिन्होंने व्रत का पालन नहीं किया, वह ब्रह्म विद्या पढ़ने का अधिकारी नहीं है—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्।।
तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

—मुण्डकोपनिषद्, 3/2/10, 11

उन्हें चाहिए कि वे शिष्यों की हितकामना करते हुए हवन करें; उनकी यही शुभकामना होनी चाहिए कि ब्रह्मचारी शिष्य मेरे पासे आयें; ब्रह्मचारी कपट रहित हों; ब्रह्मचारिगण प्रामाणिक ज्ञान को ग्रहण करने के योग्य हों; ब्रह्मचारी इन्द्रियों का दमन करने वाले हों; ब्रह्मचारी मन को वश में करने वाले हों—

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमयान्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, चतुर्थ अनुवाक

शिष्य के गुण एवं कर्त्तव्य

उपनिषत्साहित्य में शिष्य के कर्त्तव्यों एवं गुणों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है—शिष्य का परम कर्त्तव्य है कि वह अपनी अज्ञानता को स्वीकार करते हुए गुरु के प्रति भक्ति भाव धारण करे—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। —श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/33

छान्दोग्योपनिषद् में भिक्षावृत्ति (4/3/5-7) एवं गुरु के पशुओं को चराना (4/4/5) विद्यार्थी के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है। इसके साथ ही गुरु की यज्ञीय अग्नि की रक्षा करना आदि और गुरु की सेवा के पश्चात् अवशिष्ट समय में वेदाध्ययन करने का नियम भी उपर्युक्त उपनिषद् में उल्लिखित है—

आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य....। —8/15/1

विद्वान् शिष्य के लिए भी योग्य गुरु से शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है। ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में विष्णु से विद्या ग्रहण की थी—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। —श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/18

अपना कल्याण चाहने वाले शिष्य को पहले बताये गये सकाम कर्मों के फलस्वरूप इस लोक और परलोक के समस्त सुखों की भली-भांति परीक्षा करके अर्थात् विवेकपूर्वक उनकी दुःखरूपता एवं अनित्यता को समझकर भोगों से विरक्त हो जाना चाहिए; उन्हें परमात्मा का वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए, हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय भाव से ऐसे सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए, जो वेदों के रहस्य को भली-

भांति जानते हों; और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हों—

(क) **परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।**
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।

—मुण्डकोपनिषद्, 1/2/12

(ख) **ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः।** —प्रश्नोपनिषद्, 1/1

शिष्य में तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा आदि गुण आवश्यक हैं। ऋषि पिप्पलाद के कथनानुसार श्रद्धापूर्वक तप करता हुआ और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हुआ ही शिष्य गुरु से जिज्ञासा शान्त करने का अधिकारी बन जाता है और तब, श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अध्यात्मविद्या प्राप्त करके परमात्मा को प्राप्त कर लेता है और मुक्त हो जाता है—

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।। अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विधयाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः।। —प्रश्नोपनिषद्, 1/2, 10

आचार्य कुल में रहने वाले ब्रह्मचारी को तीन धर्म स्कन्धों को अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया है, ये तीन धर्मस्कन्ध अर्थात् धर्म के आधार हैं—यज्ञ, अध्ययन, दान रूप प्रथम स्कन्ध, तप दूसरा स्कन्ध तथा आचार्यकुल में रहकर अपने शरीर को नियमों का पालन करते हुए क्षीण करना तीसरा स्कन्ध है—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तममात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति।— छान्दोग्योपनिषद्, 2/23/1

अध्ययन काल में ब्रह्मचारी में मेधा, धारणा-शक्ति, रोगराहित्य, वाक्चातुर्य्य, उपदेश के प्रति निष्ठा आदि आवश्यक गुण होने चाहिए। ईश्वर के प्रति आस्थावान्, विद्यार्थी इन्हीं गुणों का आधान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है—

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्देभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय। —तैत्तिरीयोपनिषद, शिक्षावल्ली, 4/1

अर्थात् जो वेदों में सर्वश्रेष्ठ है, विश्वरूप है, अमृतस्वरूप वेदों से प्रधान रूप में प्रकट हुआ है, वह सबके स्वामी इन्द्र मुझे मेधा से सम्पन्न करें, हे देव! आपकी कृपा से मैं अमृतमय परमात्मा को हृदय में धारण करने में समर्थ हो सकूँ; मेरा शरीर रोगरहित एवं स्फूर्तियुक्त हो; मेरी जिह्वा मधुर स्वर से आपके मधुर नाम का गुणगान करते हुए मधुर भक्तिरस से युक्त हो जाए; मैं अपने गुरु के उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनूँ; हे प्रणवरूप इन्द्र! आप लौकिक बुद्धि से ढकी हुई निधि है, आपसे प्रार्थना है कि आप मेरे सुने हुए उपदेश की रक्षा करें।

कठोपनिषद् के अनुसार यमराज ने नचिकेता की परीक्षा ली, तभी उन्हें ब्रह्मविद्या का अधिकारी माना—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः। दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नाचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।। कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्याधीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।। एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये।। —कठोपनिषद्, 1/2/3, 4, 11, 13

उन्होंने नचिकेता को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे नचिकेता तुमने प्रिय लगने वाले और सुन्दर रूप वाले लौकिक और पारलौकिक भोगों को भली-भाँति सोच-समझकर छोड़ दिया है, तुम इस सम्पत्ति रूपी जंजीर के बन्धन में नहीं पड़े; तुम विद्या प्राप्ति के वास्तविक अधिकारी हो, क्योंकि कल्याण मार्ग पर चलते हुए तुम्हें भोग भी नहीं लुभा सके; सभी प्रकार के भोगों से सम्पन्न, जगत् का आधार, यज्ञ का चिरस्थायी फल, निर्भयता की अवधि, वेदों में गाई गई प्रतिष्ठा वाले स्वर्ग लोक को भी तुमने धैर्यपूर्वक छोड़ दिया; अतः मेरी दृढ मान्यता है कि तुम बहुत बड़े बुद्धिमान् हो,.....तुम ब्रह्मप्राप्ति के उत्तम अधिकारी हो।

गुरु-शिष्य के सम्बन्ध

उपनिषदों में गुरु-शिष्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भी स्पष्ट वर्णन मिलता है—

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

हे ईश्वर! आप हम गुरु और शिष्य दोनों की साथ-साथ सब प्रकार से रक्षा करें; हम दोनों का साथ-साथ पालन-पोषण करें; हम दोनों साथ-साथ बल प्राप्त करें; हम दोनों के द्वारा पढ़ी गई विद्याएं तेजयुक्त हों तथा हममें कभी भी द्वेष न हो।—

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। —तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली का प्रारम्भ ही इस भावना से हुआ है कि गुरु एवं शिष्य दोनों को सूर्य, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु तथा वायु की वन्दना ब्रह्मसूत्र में करनी चाहिए, क्योंकि ये सभी देववृन्द इन दोनों के प्रीतिवर्धक, हितप्रद, योगक्षेमनिर्वाहक इसलिए अवश्य ही आराध्य हैं। सुन्दर एवं सुखद प्रज्ञाशक्ति एवं प्राणशक्ति की समुपलब्धि के लिए देवाराधनगुरुशिष्य का परम कर्त्तव्य है।—प्रथम अनुवाक।

उपनिषदों में गुरु से प्राप्त विद्या को ही महत्त्वपूर्ण माना है—

आचार्याद् ह्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति। —छान्दोग्योपनिषद्, 4/9/3

उपनिषद् साहित्य में अध्ययन-अध्यापन के लिए निर्धारित विषयों की भी सूची दी गई है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद एवं सनत्कुमार संवाद के अवसर पर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, निरुक्त,

ब्रह्मविद्या,भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, नृत्य, संगीत आदि विषयों की सूची मिलती है। —7/1/1-5, 7/2/1

इस प्रकार शिष्य को चाहिए कि वह पूर्ण निष्ठा से विद्या को पढ़े और उसे आत्मसात् करे, उसकी स्थिति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि चारों वेद, धर्मशास्त्रादि को पढ़कर भी आत्मज्ञान से रहित हो, जिस प्रकार से पकवान के निरन्तर सम्पर्क में ही रहने वाली दर्वी (कलछी) को पकवान का स्वाद पता नहीं चल पाता। अर्थात् शिष्य को जड़ता से रहित होना चाहिए—

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा।। —मुक्तिकोपनिषद्, 2/1/65

इसी प्रकार आचार्य भी शिष्य को अपने सर्वज्ञ होने का मिथ्या आभास न दे, अपितु ऋषि पिप्पलाद के समान निर्भीक होकर शिष्यों को कह सके कि 'तुम मुझसे प्रश्न पूछना, किन्तु मैं तुम्हें उनके उत्तर तभी दे सकूँगा, जब उनका उत्तर जानता होऊँगा। (प्रश्नोपनिषद् 1/2)

उपर्युक्त विवेचन से उपनिषत्साहित्य में गुरु के गौरव को बढ़ाने वाले गुण, शिष्यों की पात्रता, शिष्यों की विद्यानिष्ठा एवं गुरुनिष्ठा के अतिरिक्त आचार्य की शिष्यों की शिक्षणसंस्था में प्रवेश की चिन्ता, छात्रावास से सम्पन्न आवासीय विश्वविद्यालय, दीक्षान्त समारोह, पाठ्यक्रम, शिक्षा का महत्त्व आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। उपनिषदों की शिक्षा-प्रणाली पुस्तकीय ज्ञान का पक्ष नहीं लेती, उसमें एक ब्रह्मचारी विद्यार्थी को योग्य एवं समर्थ सामाजिक गृहस्थ बनाने का भी निर्देशन मिल जाता है।

❐

उपनिषदों में शिक्षा सिद्धान्त

डॉ० चिरञ्जीवि शर्मा ★

वैदिक वाङ्मय में उपनिषद् विशिष्ट शिक्षानिधि के रूप में मान्य हैं। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता ये तीन प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रमुख उपनिषद् हैं। गीता तथा ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के ऊपर आश्रित हैं। 'उप' एवं 'नि' उपसर्गों से युक्त सद् (बैठना) धातु से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—(गुरु के) निकट विनम्रतापूर्वक बैठना (रहस्य ज्ञान के लिए) अर्थात् गुरु के निकट विनम्रतापूर्वक बैठकर प्राप्त किया गया ज्ञान। प्राचीनता तथा विषय संयोजन आदि की दृष्टि से 1. ईश 2. केन 3. कठ 4. प्रश्न 5. मुण्डक 6. माण्डूक्य 7. तैत्तिरीय 8. ऐतरेय 9. छान्दोग्य तथा 10. बृहदारण्यकोपनिषद् प्रसिद्ध हैं। इनमें महत्त्वपूर्ण शैक्षकीय विषय व्यक्त हुए हैं। ये विषय बलप्रद, आलोकप्रद एवं शिक्षा के उच्च आदर्श के परिचायक हैं। इनकी शिक्षा-सिद्धान्त की सीमा सांसारिक जीवन की आवश्यकताओं की तुष्टि तक ही नहीं है। इनमें प्राप्त संकेतों के आधार पर शिक्षा सिद्धान्तों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

शिक्षा का उद्देश्य

उपनिषदों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म साक्षात्कार करना है। छान्दोग्योपनिषद् में जब नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहासपुराण रूप पञ्चमवेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, शिक्षाकल्प, गणित, ज्योतिष शास्त्र आदि सब पढ़ लिए हैं, वे 'मन्त्रवित्' बन चुके हैं परन्तु 'आत्मवित्' नहीं हैं।[1] इस प्रकार उनका यही तात्पर्य है कि उनके पास पुस्तकीय ज्ञान तो बहुत है किन्तु आत्मज्ञान अर्थात् वैयक्तिक शक्तियों के विकास की विद्या नहीं है। बृहदारण्यक (2.5.19) के अनुसार, "यह आत्मा ब्रह्म" है। इसमें आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य दिखाया गया है।–**अयमात्मा ब्रह्म**–आत्मा ही परमात्मा है। सच्चा ज्ञान आने पर भेद बुद्धि समाप्त हो जाती है। मुण्डकोपनिषद् (3.2.9) के अनुसार **ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**–ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। ऐतरेयोपनिषद् (3.4) के अनुसार–**प्रज्ञानं ब्रह्म**–"ब्रह्म ज्ञान स्वरूप" है। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण यह है कि उसकी नित्य सत्ता है और वह ज्ञान या चित् के रूप में है। छान्दोग्योपनिषद् (6.8.7) में कहा गया है कि "वह तू ही है"—तत् त्वम् असि। यहाँ तत् (वह) का अर्थ है

★ वेदाचार्य, वेद भवन महाविद्यालय, अलोपीबाग, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

ब्रह्म, त्वम् जीव के लिए आया है। अर्थात् जीव ही ब्रह्म है। तुम शरीर मात्र नहीं हो, अपितु साक्षात् चैतन्यस्वरूप हो जिसकी नित्य सत्ता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (1.4.10) में ब्रह्म की सर्वरूपता के निरूपण के प्रसङ्ग में कहा गया है कि "उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म स्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना–**अहं ब्रह्मास्मि**–"मैं ब्रह्म हूँ"(5) इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में से जिस-जिस ने जाना वही तद्रूप हो गया। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से भी (जिस जिसने उस ब्रह्म को उक्त प्रकार से जाना वह ब्रह्मरूप हो गया) ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना। यह उपनिषद् आत्मा में सर्वाधिक प्रेम व्यक्त करते हुए आत्मतत्त्व को देखने के लिए प्रेरित करता है कि आत्मा ही दर्शनीय, श्रवण के योग्य, मनन के योग्य और ध्यान करने योग्य है।[2]

पाठ्यक्रम

उपनिषद् भौतिक जगत् को अन्तिम सत्य नहीं मानते हैं, किन्तु सत्य को इसी जगत् में रहकर एवं भौतिक वातावरण के सहयोग से चरम सत्य को प्राप्त करने का निर्देश देते हैं। मनुष्य के प्रमुख दो वातावरण होते हैं— (1) आध्यात्मिक वातावरण (2) प्राकृतिक वातावरण। आध्यात्मिक वातावरण में व्यक्ति के बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक सभी क्रिया-कलाप आते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक जगत् की जानकारी भी अपेक्षित है। अतः पाठ्यक्रम में उन विषयों का समावेश हो जो जीव, जगत् तथा ब्रह्म के स्वरूप से शिक्षार्थियों को परिचित कराएँ।

शिक्षणविधि

उपनिषदों में विविध शिक्षण विधियाँ प्रयुक्त हैं। जिनमें प्रमुख ये हैं—

1. उपदेशविधि

यह विधि वेदाध्ययन कराने के बाद आचार्य द्वारा शिष्यों को शिक्षा देने में प्रयुक्त है।[3] जो जितना जानता है, उसे बतलाते हुए यदि कोई उपदेशक के पास जाता है तो उसे उसके ज्ञान से आगे शिक्षा देने में भी इस विधि का प्रयोग किया गया है।[4] इस प्रकार यह विधि अधीत स्वयं आचरित एवं अनुभूत विषयों की अभिव्यक्ति में उपयुक्त है।

2. संवादविधि

यह विधि कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् आदि उपनिषदों में प्रयुक्त है। इनमें 'गुरु शिष्य संवाद' (छान्दोग्य 4/14) 'पिता पुत्र संवाद' (कठ० 1.3) 'याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद' (बृहदा० 2/4) 'राजा और उषस्ति संवाद (छान्दोग्य 1.11) आदि संवाद व्यक्त हैं। इस विधि से विषय के अनेक पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं और भाग लेने वाले व्यक्तियों को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिल जाता है। इस विधि से विश्वासों का निर्धारण हो जाता है।

3. प्रश्नोत्तर विधि

यह विधि प्रश्नोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, केनोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद् आदि

उपनिषदों में प्रयुक्त है। इनमें 'जनक के मन चाहे प्रश्नों का उत्तर (बृहदा० 4.4) 'श्वेत केतु के प्रति प्रवाहण के प्रश्न' (छान्दोग्य 5.3) 'आत्मा के विषय में प्रश्नोत्तर' (ऐतरेय 3.1-4) आदि प्रश्नोत्तर व्यक्त हैं। इस विधि में प्रश्न पूछे जाते हैं और उनका उत्तर तत्काल अथवा अपेक्षित समय प्रदान कर कालान्तर में देना पड़ता है।[5] प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि महर्षि पिप्पलाद ने ब्रह्म विद्या के लिए आए हुए शिक्षार्थियों से कहा कि तुम लोग तपस्या, इन्द्रिय संयम रूप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त हो गुरु शुश्रुषापूर्वक एक वर्ष ठहरो फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं उसे जानता होऊँगा तो सब बतला दूँगा। एक वर्ष गुरुकुल वास करने के बाद कात्यायन कबन्धी ने पिप्पलाद महर्षि के पास जाकर पूछा हे भगवन्! ये सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती है? तब पिप्पलाद ने उत्तर दिया।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार उस नित्य तत्त्व को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।[6] छान्दोग्योपनिषद्[7] में कहा गया है कि विधि विधान के अनुसार आचार्य कर्त्तव्य कर्मों को समाप्त करके वेदाध्ययन कर आचार्य कुल से समावर्तन हो जाने पर स्त्री परिग्रह पूर्वक कुटुम्ब में स्थित हो, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ, पुत्र एवं शिष्यों को धर्मात्मा बनाता हुआ, सम्पूर्ण इन्द्रियों का अपने अन्तःकरण में उपसंहार कर, शास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध प्राणियों की हिंसा न करता हुआ जीवनयापन करे, वह अधिकारी पुरुष निश्चय ही यावज्जीवन इस प्रकार बर्ताव करने वाला अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है और फिर लौटता नहीं।

आचार्य उपदेश से अधिक अपने आचार से प्रभावित करते थे तथा शिष्यों को आचार्य के लिए भिक्षावृत्ति[8] का भी आश्रय लेना पड़ता था। आचार्य कुल की अग्नि प्रज्वलित रखने के लिए समिधाएं[9] लाना तथा गोसेवा[10] भी उनके कर्त्तव्य थे। इस प्रकार आचार्य सदा शिष्य के व्यक्तित्त्व का विकास करने में सहायक होते थे। इन सब क्रियाओं से शिक्षार्थी को विनय, शारीरिक श्रम, एवं कष्ट, सहिष्णुता आदि मानवीय गुणों की महिमा सिखाई जाती थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल पुस्तकों में पढ़ाकर इन गुणों की शिक्षा देना सम्भव नहीं होता है। आचार्य शब्द का निर्वचन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है—**आचार्यः कस्मात्?** (निरुक्त 1.2) आचार्य नाम क्यों पड़ा?

आचार्यः आचारं ग्राह्यति=क्योंकि वह आचार को ग्रहण कराता है, विद्यार्थी को आचार सिखाता है। **आचिनोति अर्थान्**=पदार्थों का संचय कराता है, विद्यार्थी को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन करा देता है। **आचिनोति बुद्धिमिति वा**=अथवा क्योंकि आचार्य शिष्य की बुद्धि का संचय करता है, उसकी बुद्धि बढ़ाता है। अतः उसे आचार्य कहते हैं।

अनुशासन

उपनिषदों में अनुशासित जीवन को महत्त्वपूर्ण माना गया है। बालक की प्रकृति में संस्कार लाकर उसे

अनुशासित बनाते थे। छान्दोग्योपनिषद् में 'धर्म स्कन्ध निरूपण' में कहा गया है कि आचार्य कुल में रहने वाला ब्रह्मचारी है, जो कि आचार्य कुल में ही अपने शरीर को नियम व्रतादि से अत्यन्त क्षीण कर देता है, वह तीसरा धर्म स्कन्ध है।[11] बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार बाह्य इन्द्रिय व्यापार से शान्त, अन्तः करण की तृष्णा से रहित होने के कारण दान्त, सम्पूर्ण एषणाओं से उपरत, द्वन्द्व को सहन करने वाला तितिक्षु और समाहित चित्त होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है।[12]

इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार आज्ञा, नियम, व्रत आदि का पालन उच्चतम ज्ञान प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बालक 'आत्मन्' है और शिक्षा का कार्य यह है कि बालक को अपने स्वरूप को पहचानने में समर्थ बनाए। आत्म तत्त्व बोध प्राकृतिक देन नहीं है। एतदर्थ व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक जगत् की जानकारी अपेक्षित है। स्वयं आचरित तथा अनुभूत विषयों का शिक्षण ही शिक्षण है। शिक्षार्थी को अनुशासन गति देता है, रक्षा करता है और निश्चित मार्ग तक ले जाता है। आज्ञा, नियम, व्रत आदि का पालन उच्चतम ज्ञान प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार शिक्षा का लक्ष्य शिक्षार्थियों में संयम, नैतिक मूल्यों का सृजन तथा उनको सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन एवं उनके अपने स्वरूप को पहचाने में समर्थ बनाना है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् (छान्दोग्य 7.1.3)
2. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृहदा० 4.5.6)
3. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।......(तैत्तिरीय 11.1-2)
4. अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच। (छान्दोग्य 7.1)
5. तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति। (प्रश्नोपनिषद् 1.2)
6. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
   समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक 1.2.12)
7. आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः......(छा० उ० 8.15)
8. ब्रह्मचारी बिभिक्षे (छान्दोग्य 4.3.5)
9. समिधं सोम्याहरोप (छान्दोग्य 4.4.5)
   द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार (छान्दोग्य 4.10.1)
10. बृहदा 3.1.1 तथा छान्दोग्य 4.4.5
11. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् (छान्दोग्य 2.23)
12. तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः
    समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति। (बृहदा० 4.23)

सत्यकाम की शिक्षा

(छान्दोग्य उपनिषद् का एक कथानक)

आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालंकार ★

जबाला के पुत्र सत्यकाम ने एक दिन अपनी माता से कहा—माँ, मैं गुरुकुल जाकर ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ, बता तो मेरा गोत्र क्या है। माता ने उत्तर दिया—पुत्र, मैं नहीं जानती तेरा गोत्र क्या है। मैं अपनी युवावस्था में परिचारिणी होकर इस घर से उस घर घूमती थी, तभी मेरे गर्भ से तूने जन्म लिया, सो मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है, इसलिए जब आचार्य तुझसे गोत्र पूछे तब तू अपने को 'जाबाल सत्यकाम' ही बतला देना।

इस वार्तालाप के बाद एक दिन सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम नामक आचार्य के पास जा पहुँचा और बोला—मैं आपके निकट ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ, क्या उपनयन के लिये आ जाऊँ? आचार्य ने प्रश्न किया—हे सौम्य, तेरा गोत्र क्या है? सत्यकाम ने कहा—भगवन्, मैं नहीं जानता कि मेरा गोत्र क्या है? मेरी माता ने कहा था–मैं अपनी युवावस्था में परिचारिणी होकर इस घर से उस घर घूमती थी। तभी एक दिन मेरे गर्भ से तूने जन्म लिया। सो मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है, इसलिये जब आचार्य तुझसे गोत्र पूछे तब तू अपने को 'जाबाल सत्यकाम' ही बतला देना।

सत्यकाम के सरलता से कहे हुए निश्छल वचनों को सुन आचार्य बोले—वत्स, मैंने समझ लिया कि तू ब्राह्मण ही है, क्योंकि जिसमें ब्राह्मणत्व नहीं है वह इस प्रकार सच नहीं कह सकता। जा, समिधा ले आ, मैं तुझे उपनीत करूँगा, तू सत्य से विचलित नहीं हुआ है। यह कह आचार्य ने उसे उपनीत कर लिया और दुबली-पतली चार सौ गौएं उसे सौंप कर कहा—इन्हें जंगल में ले जा और इनकी सेवा कर। सत्यकाम ने गौएं जंगल की ओर हांक दी और जाते हुए बोला—गुरु जी, जब तक ये एक सहस्र नहीं हो जायेंगी तब तक नहीं लौटूंगा। सत्यकाम कुछ वर्ष तक जंगल में फिरता-फिरता गौओं की सेवा करता रहा। जब वे चार सौ से एक सहस्र हो गईं तब एक दिन बैल (ऋषभ) ने उसे पुकारा—'सत्यकाम'! हाँ भगवन्', सत्यकाम ने उत्तर दिया। बैल

★ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़; उपकुलपति एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, उत्तर प्रदेश (भू0 पू0)

बोला—हे सोम्य, हम सहस्र तो हो गये, अब हमें आचार्यकुल में ले चलो न। और लो, मैं तुम्हें ब्रह्म के एक पाद का उपदेश भी करता हूँ। 'कीजिये भगवन्', सत्यकाम ने कहा। बैल बोला—देखो, प्राची दिशा एक कला है, प्रतीची दिशा दूसरी कला है, दक्षिण दिशा तीसरी कला है, उदीची दिशा चौथी कला है। यह ब्रह्म का एक चतुष्कल (चार कलाओं वाला) पाद है जिसका नाम है 'प्रकाशवान्'। जो ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को समझ कर 'प्रकाशवान्' रूप में इसे उपासता है वह स्वयं भी इस लोक में प्रकाशवान् हो जाता है और प्रकाशवान् लोकों को अपने लिए जीत लेता है। फिर बैल ने कहा, यह ब्रह्म का एक पाद मैंने बता दिया, अगले पाद का उपदेश तुझे अग्नि करेगा।

अगले दिन सत्यकाम ने गौएं आचार्यकुल की ओर हांक दी किन्तु इन कई वर्षों में वह बहुत दूर निकल आया था। चलते-चलते शाम हो गई। तब उसने उस दिन वहीं पड़ाव करने की इच्छा से गौओं को रोक दिया और अग्निहोत्र की तैयारी करने लगा। अग्नि प्रज्वलित कर, समिधादान कर, पश्चिमाभिमुख हो पूर्व दिशा में बैठ गया।

उतने में अग्नि ने उसे पुकारा—'सत्यकाम'! 'हाँ भगवन्,' सत्यकाम ने उत्तर दिया। 'सौम्य, क्या मैं ब्रह्म का एक पाद तुम्हें कहूँ?'—अग्नि बोला। 'कहिये भगवन्', सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया। अग्नि कहने लगा—पृथ्वी एक कला है, अन्तरिक्ष दूसरी कला है, द्यौ तीसरी कला है, समुद्र चौथी कला है। यह ब्रह्म का एक चतुष्कल पाद है, जिसका नाम है 'अनन्तवान्'। जो ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को समझ कर 'अनन्तवान्' रूप में इसे उपासता है, वह स्वयं भी इस लोक में अनन्तवान् हो जाता है और अनन्तवान् लोकों को अपने लिये जीत लेता है। फिर अग्नि ने कहा, अगले पाद का उपदेश तुझे हंस करेगा।

अगले दिन सत्यकाम गौओं को आगे हांक ले चला। चलते-चलते फिर जब शाम हो गई, तब वहीं पड़ाव करने की इच्छा से उसने गौओं को रोक लिया। पहले दिन की तरह अग्निहोत्र की तैयारी की। अग्नि प्रज्वलित कर, समिदाधान कर, पश्चिमाभिमुख हो पूर्व दिशा में बैठ गया।

इतने में एक हंस उड़ता हुआ आया और उसने पुकारा—'सत्यकाम'। 'हाँ भगवन्', सत्यकाम ने उत्तर दिया। 'हे सौम्य, क्या मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद कहूँ', हंस ने पूछा।

'कहिये भगवन्', सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया। हंस ने कहा—अग्नि एक कला है, सूर्य दूसरी कला है, चन्द्रमा तीसरी कला है, विद्युत चौथी कला है। यह ब्रह्म का चतुष्कल पाद है, जिसका नाम है 'ज्योतिष्मान्'। जो ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को समझ कर ज्योतिष्मान् रूप में इसे उपासता है वह स्वयं भी इस लोक में ज्योतिष्मान हो जाता है और ज्योतिष्मान् लोकों को अपने लिए जीत लेता है।' फिर हंस बोला, अगले पाद का उपदेश तुझे मद्‌गु करेगा।

अगले दिन सत्यकाम गौओं को और आगे हांक ले चला। चलते-चलते जब शाम हो गई तब वहीं पड़ाव करने की इच्छा से उसने गौओं को रोक दिया। हमेशा की तरह अग्निहोत्र करने के लिये अग्नि प्रज्वलित कर, समिदाधान कर, पश्चिमाभिमुख हो पूर्व दिशा में बैठ गया।

इतने में मद्‌गु उड़ता हुआ आया और उसने पुकारा—'सत्यकाम'। 'हाँ भगवन्', सत्यकाम ने उत्तर दिया।

हे सौम्य, 'क्या मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद कहूँ', मद्‌गु ने पूछा। 'कहिये भगवन्', सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया। मद्‌गु ने कहा—प्राण एक कला है, चक्षु दूसरी कला है, श्रोत्र तीसरी कला है, मन चौथी कला है। यह ब्रह्म का एक चतुष्कल पाद है जिसका नाम 'आयतनवान्' है। जो ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को समझ कर 'आयतनवान्' के रूप में इसे उपासता है वह स्वयं भी इस लोक में आयतनवान् हो जाता है और आयतनवान् लोकों को अपने लिये जीत लेता है।

अब आचार्यकुल समीप ही था। अगले दिन चल कर गौओं को साथ लिये सत्यकाम आचार्य के पास पहुंच गया। आचार्य ने कहा—'हे सत्यकाम'! 'हाँ भगवन्', सत्यकाम ने उत्तर दिया। आचार्य बोले, 'हे सौम्य, तू तो ब्रह्मवित् सा प्रतीत होताहै, किसने तुझे उपदेश दिया है? उत्तर में सत्यकाम ने विनीत भाव से कहा—भगवन्, मनुष्यों में से किसी ने भी मुझे उपदेश नहीं दिया। जो कुछ मैंने पाया है वह मनुष्यातिरिक्त पशु-पक्षी आदियों से ही पाया है। पर वह तो नाममात्र है, नगण्य है। आप ही मुझे इच्छानुसार उपदेश कीजिये। आप जैसों से ही मैंने सुना है कि आचार्यमुख से ही ग्रहण की हुई विद्या साधुफल को प्राप्त कराती है। पर आचार्य ने उसे कुछ भी उपदेश नहीं किया, इतना ही कहा—तू तो पूर्ण ब्रह्मवित् हो गया, तेरे ज्ञान में कुछ भी न्यूनता नहीं है।

वर्ण व्यवस्था गुणकर्म से

यह छान्दोग्य उपनिषद् की एक कहानी है। सबसे पहली बात जो इसे पढ़ते हुए पाठक के मन में उत्पन्न होती है वह यह है कि उपनिषत्काल के प्राचीन ऋषि जन्ममूलक वर्ण की परवाह नहीं करते थे। सत्यकाम आचार्य को अपना गोत्र नहीं बता सका। केवल इतना ही नहीं, किन्तु उसने यह भी प्रकट कर दिया कि वह एक आचारच्युत दासी का पुत्र है किन्तु आचार्य इसकी परवाह नहीं करते। वे कहते हैं कि तेरा जन्म का गोत्र या वर्ण कुछ भी हो, तेरी सत्यनिष्ठा से मैंने समझ लिया कि तुझमें ब्राह्मणत्व का बीज विद्यमान है। बस, मेरे लिये तो यही पर्याप्त है, क्योंकि जन्म का वर्ण पूछने का भी मेरा यही प्रयोजन था कि मैं अनुमान कर सकूं कि तेरे अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में से क्या बनने की योग्यता है।

बैल कैसे बोला?

आचार्य की चार सौ गौएं लेकर सत्यकाम वन में चला गया। गौएं चार सौ से एक सहस्र हो जाने पर बैल ने सत्यकाम को इसकी सूचना दी और ब्रह्म के एक पाद का भी उपदेश दिया। यहां शंका यह उठती है कि बैल का बोलना और उपदेश देना कैसे संभव है। पर वस्तुतः बैल ने सत्यकाम को कुछ कहा इसका इतना ही अभिप्राय है कि बैल को देख कर सत्यकाम के मन में उस बात का बोध हुआ। ऐसी प्रबल अनुभूति हुई मानो बैल साक्षात् बोल कर कह रहा हो। इसी बात को सीधी भाषा में न कह कर उपनिषत्कार ने बैल और सत्यकाम का रोचक संवाद करा अपनी कहानी-कला की कुशलता का परिचय दिया है।

एक दृष्टान्त लीजिये। न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण का नियम कैसे सूझा। इससे सभी परिचित हैं। उस घटना

को मैं यों रखता हूँ। न्यूटन बगीचे में सेब के वृक्ष के नीचे बैठा हुआ है। इतने में वृक्ष से एक सेब टूट कर नीचे आ गिरता है। सेब कहता है—'न्यूटन'! 'हां भगवन्', न्यूटन उत्तर देता है। सेब कहता है, जाग तो रहे हो न? क्या तुमने देखा, अभी क्या हुआ?' सब कुछ देखता हूँ भगवन्, आप ऊपर वृक्ष की टहनी पर लगे हुए थे, अचानक आप ऊपर से नीचे भूमि पर आ गिरे हैं'। पर यह हुआ कैसे न्यूटन, मैं शाखा से टूट कर भूमि पर ही क्यों गिरा, ऊपर की ओर क्यों नहीं गया?'—फल तत्परता से प्रश्न कर बैठता है। 'यह तो मैं नहीं जानता भगवन्', न्यूटन उत्तर देता है। सेब कहता है—'तुम नहीं जानते तो सुनो, भूमि कीं आकर्षण शक्ति के कारण ही मैं ऊपर न जाकर भूमि की ओर खिंच आया हूँ।' क्या इस वर्णन को पढ़ कर कोई यह शंका करेगा कि सेब कैसे बोला? यदि नहीं तो फिर सत्यकाम और बैल के सम्भाषण पर ही शंका क्यों की जाय। असली बात यह है कि बैल अग्नि, हंस और मद्गु को देख कर सत्यकाम के मन में ब्रह्म के पादों का भास हुआ, इसी को कथानक में जान डालने के लिये उपनिष्कार ने इस रूप में कह दिया है कि स्वयं बोल कर बैल आदि ने सत्यकाम को ब्रह्म के पादों का ज्ञान दिया।

ब्रह्म के चार पाद

प्रथम पाद–'प्रकाशवान्'

गौएं चराते सत्यकाम को दो-तीन वर्ष हो चुके थे। एक दिन वह किसी विचार में मग्न बैठा हुआ था कि इतने में सामने से बैल (सांड़) निकला। उसे देख सत्यकाम के मन में यह आया कि अब तो गौएं एक सहस्र हो चुकी होंगी। बैल (साँड़) क्योंकि गौओं को सन्तति-वृद्धि में मुख्य कारण है, इसलिये उसे देख कर सत्यकाम के मन में यह विचार आना अस्वाभाविक नहीं है।

फिर बैल (सांड़) को देख कर सत्यकाम के मन में ब्रह्म के एकपाद का बोध हुआ। उसने देखा कि इस बैल (साँड़) के द्वारा जो गौएं संख्या में कुल चार सौ थीं वे एक सहस्र हो गई हैं। प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची जिधर भी देखो गौएं ही गौएं फैली हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इससे उसके मन में अगला विचार यह जागृत हुआ कि इसी प्रकार ब्रह्म भी एक ऋषभ है, प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची सब दिशाओं में चारों ओर उसी की गौएं, उसी की सन्ततियां फैली हुई हैं। उन सबमें ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है। प्रत्येक गौ, चारों दिशाओं का प्रत्येक चराचर पदार्थ, उसी की महिमा को गा-गा कर प्रकाशित कर रहा है।

इस पाद का नाम प्रकाशवान् है, क्योंकि इससे ब्रह्म के सर्वत्र प्रकाशित या कीर्तिमान् होने का ज्ञान होता है। प्रकाश का अर्थ यहाँ ज्योति या तेज नहीं लेना चाहिये। ब्रह्म के उस स्वरूप के लिये तो आगे ज्योतिष्मान् नाम का तीसरा पाद आता है।

जो मनुष्य ब्रह्म के इस प्रकाशवान् नाम के चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह स्वयं भी प्रकाशवान् हो जाता है। यह स्वाभाविक ही है। जो मनुष्य यह चिन्तन करेगा कि प्रभु प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची सर्वत्र प्रकाशित है वह प्रभु की तरह स्वयं भी प्रकाशित—सब दिशाओं में यशस्वी—होने का यत्न करेगा और वैसा

बन जायेगा। वह प्रकाशवान् लोकों को, यशोमय अवस्थाओं को प्राप्त कर लेगा।

द्वितीय पाद–'अनन्तवान्'

सत्यकाम अग्निहोत्र करने बैठा। उसने देखा अग्निकुण्ड में अग्नि जल रही है। उसका विचार उन्मुक्त पक्षी की तरह दूर की उड़ान लेने लगा। उसके मन में आया यह समूची पृथ्वी ही अग्निकुण्ड है। पृथ्वीलोक से वह अन्तरिक्ष लोक पर पहुँचा, अन्तरिक्ष लोक से द्युलोक पर और द्युलोक से समुद्र लोक पर। इन लोकों की अनन्तता पर वह सोचने लगा। कैसे अनन्त हैं ये लोक जिनके ओर-छोर का कुछ पता नहीं चलता! लोकों की इस अनन्तता से हट कर फिर उसका ध्यान प्रभु की अनन्तता की ओर आकृष्ट हुआ। वह प्रभु भी तो ऐसा ही अनन्त है, जिसकी अनन्तता के आगे लोकों की यह अनन्तता भी हार मानती है। प्रभु के सामर्थ्य का अन्त नहीं, प्रभु की महिमा का अन्त नहीं। वह अनन्त है, असीम है। इस प्रकार अग्नि को देख कर सत्यकाम के मन में ब्रह्म के इस अनन्तवान् स्वरूप का भास हुआ, इसलिए अग्नि इसका उपदेशक है।

जो मनुष्य ब्रह्म के इस अनन्तवान् नाम के चतुष्कल पाद की उपासना करता है वह स्वयं भी अनन्तवान् हो जाता है। उसकी शक्ति अनन्त, असीम हो जाती है। देखने में छोटा सा लगने वाला भी वह शक्ति की दृष्टि से इतना असीम हो जाता है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, समुद्र कोई भी उसकी शक्ति को सीमित नहीं कर पाते। वेद के शब्दों में वह गा उठता है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहम् अन्तरिक्षाद् दिवमारूहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योरिगामहम्।।

यजु० 17.37

मैं अपने शरीर तक ही सीमित नहीं हूं, मैं सारी पृथ्वी पर फैल गया हूँ। पृथ्वी से उठ कर अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से उठ कर द्युलोक में पहुंच गया हूँ, द्युलोक तक ही नहीं, उससे भी ऊपर स्वर्ज्योति तक पहुंच गया हूँ। वह अपने जीवन में अनन्तवान् लोकों को, अनन्तवान् अवस्थाओं को प्राप्त कर लेता है।

तृतीय पाद–'ज्योतिष्मान्'

तीसरे दिन सत्यकाम फिर अग्निहोत्र करने बैठा। सायं का समय था। पश्चिम की ओर उसका मुख था। एक उड़ता हुआ हंस आकाश में एक शुभ रेखा सी छोड़ता हुआ सामने से निकल गया। हंस की ओर उसकी दृष्टि गई। पर वहां से लौटी नहीं। सहसा ही वह उसी दिशा में उड़ते हुए एक दूसरे हंस की ओर आकृष्ट हो गई। पश्चिम दिशा रक्ताभ हो रही थी, सूर्यरूपी हंस आकाश से नीचे आ रहा था, मानो दिन भर उड़ते-उड़ते थक कर विश्राम करने के लिए नीचे उतरा आ रहा हो। हंस जहां एक पक्षी का वाचक है वहाँ सूर्य को भी हंस कहते हैं। शंकराचार्य ने भी यहाँ हंस का अर्थ सूर्य ही किया है। इस ज्योति-पुंज हंस को देख कर सत्यकाम का ध्यान, अन्य ज्योतियों की ओर गया। उसने देखा कि प्रभु के राज्य में सर्वत्र कोई न कोई ज्योति है। पृथ्वी पर अग्निरूपी ज्योति है, द्युलोक में सूर्यरूपी ज्योति है, चन्द्राकाश में चन्द्ररूपी ज्योति है, अन्तरिक्ष में विद्युत्‌रूपी

ज्योति है। इन प्राकृतिक ज्योतियों से उठ कर उसका मन प्रभु की ज्योति तक पहुंचा। वह सोचने लगा, प्रभु भी तो ऐसा ही ज्योतिष्मान् है, बल्कि उसकी ज्योति इन सब ज्योतियों से बढ़ कर है। कठोपनिषद् के शब्दों में कहें तो—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेयं विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

अग्नि की ज्योति उसकी अपनी नहीं है, वह प्रभु से ही आई है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत की ज्योतियां भी उनकी अपनी नहीं हैं, वे प्रभु की ही हैं। इस प्रकार हंस को देख कर सत्यकाम को ब्रह्म के इस ज्योतिष्मान् स्वरूप का बोध हुआ, इसलिए हंस इस पाद का उपदेष्टा है।

जो मनुष्य ब्रह्म के इस ज्योतिष्मान् नामक पाद की उपासना करता है वह स्वयं भी ज्योतिष्मान् हो जाता है। जैसे अग्नि, सूर्य आदि प्रभु के तेज से ज्योतिष्मान् हैं, वैसे ही प्रभु के तेज की आराधना करते-करते उसका अन्तःकरण भी ज्योतिष्मान् हो उठता है। उसके जीवन में ज्योतिष्मान् लोकों, ज्योतिष्मान् अवस्थाओं का ही साम्राज्य हो जाता है। वह तमोगुण और निराशा के अन्धकार में कभी नहीं भटकता।

चतुर्थ पाद–'आयतनवान्'

चौथे दिन भी सत्यकाम उसी प्रकार अग्निहोत्र करने बैठा। किसी सरोवर या नदी का किनारा था। इतने में उसने देखा कि एक जलचर पक्षी मद्‌गु उसके सामने से उड़ा और उसने पानी में डुबकी लगाई। मद्‌गु के इस डुबकी लगाने ने सत्यकाम के मन में एक नया ही प्रभाव उत्पन्न कर दिया। वह सोचने लगा, मैं भी क्यों न डुबकी लगाऊँ? उड़ता तो मैं भी अब तक रहा हूँ, पर अभी डुबकी मैंने नहीं लगाई है। अब तक मैं बाह्य जगत् में उड़ता रहा हूँ और वहाँ मैंने प्रभु के प्रकाशवान्, अनन्तवान् और ज्योतिष्मान् पादों के दर्शन किये हैं। अब मैं अपने शरीर-मन्दिर (आयतन) के अन्दर डुबकी लगाता हूँ और देखता हूँ कि वहाँ भी प्रभु का कोई पाद है या नहीं। जब अपने शरीर पर उसने दृष्टि डाली तो वह आश्चर्यचकित रह गया। वह सोचने लगा, यहाँ तो अनुपम रत्न छिपे पड़े हैं, जिनकी ओर मेरा ध्यान ही नहीं था। प्राण (नासिका) है, चक्षु है, श्रोत्र है और इन सबसे ऊपर मन रूपी अद्‌भुत शक्ति है। इन चारों कलाओं वाले इस सजीव शरीर की रचना और व्यवस्था कौन करता है? वही प्रभु जो प्रकृति की दिशाओं का, पृथिव्यादि लोकों का और अग्निसूर्यादि का संचालक है, इस सजीव शरीर का भी इस आयतन का भी—संचालन करता है। उसी से नासिका ने सूंघने की शक्ति पाई है, उसी से श्रोत्र ने सुनने की शक्ति पाई है और उसी से मन ने चिन्तन की शक्ति पाई है। जड़ जगत् में जो प्रभु की महिमा है उससे कहीं अधिक इन सजीव शरीरों (आयतनों) में विद्यमान है। शरीर रूपी आयतन में प्रभु की महिमा देखने के कारण इस पाद का नाम 'आयतनवान्' है और क्योंकि मद्‌गु को देख कर सत्यकाम के मन में यह विचार उठा इसलिए मद्‌गु इसका उपदेष्टा है।

शंकराचार्य ने मद्‌गु का अभिप्राय प्राण लिया है और उसमें यह हेतु दिया है कि मद्‌गु जल का पक्षी है और प्राण भी जलमय है। शरीरवर्ती नासिका, चक्षु, श्रोत्रादि प्राण के ही रूप हैं और प्राण ही शरीर को चलाता

है इसलिए प्राण इस पाद का उपदेष्टा है। यों भी कहा जा सकता है कि जलचर मद्गु पक्षी को देख सत्यकाम को जलचर प्राण का तथा उसके शरीरस्थ विभिन्न रूपों नासिका, चक्षु आदि का ध्यान आया।

जो मनुष्य ब्रह्म के इस चतुष्कल आयतनवान् पाद की उपासना करता है वह स्वयं भी आयतनवान् हो जाता है, अर्थात् उसका शरीर रूपी आयतन तथा चक्षु, श्रोत्र आदि शरीरस्थ कलायें सबल हो जाती हैं। उसकी शरीरस्थ प्रत्येक इन्द्रिय की, विशेषकर मन की शक्तियां विकसित हो जाती हैं, वह सच्चे अर्थों में अपने शरीर का राजा हो जाता है। अपने जीवन में आयतनवान् लोकों, शरीरायतन की अधिकाधिक विकसित अवस्थाओं, को वह प्राप्त कर लेता है।

सत्यकाम पूर्ण ज्ञानी

सत्यकाम आचार्य के पास उपदेश के लिए पहुंचता है, पर आचार्य कहते हैं तू तो पूर्ण ज्ञानी बन कर आया है, तुझे मैं और क्या उपदेश करूँ किन्तु आचार्य ने सत्यकाम को यह दो-तीन वर्षों की कठिन तपस्या किसलिए कराई? पहले दिन ही जब सत्यकाम उनके पाच पहुंचा था तभी घण्टे-दो-घण्टे में उसे ब्रह्म के चारों पादों का उपदेश क्यों नहीं कर दिया? आचार्य ऐसा कर सकते थे। पर सत्यकाम उस समय इस उपदेश की योग्य भूमि ही नहीं था, उसका अन्तःकरण इस उपदेश को हृदयंगम करने के लिए तपस्या से परिपक्व ही नहीं हो पाया था। और फिर आचार्य उसे ज्ञान दे भी देते तो वह शाब्दिक ज्ञान होता, ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती। आचार्य तो चाहते थे उसे ब्रह्म की अनुभूति कराना, ब्रह्म के स्वरूप को उसके अन्तःकरण में बैठा देना। इसलिए आचार्य ने उसे ऐसी परिस्थितियों के बीच में भेज दिया जहां वह ब्रह्म की अनुभूति पा सके। हृदय की पवित्रता बनाये रखने के लिए गौएं चराने जैसी विशुद्ध तपस्या और वन में प्रकृति माता की निश्छल गोद इनसे बढ़ कर ब्रह्म की अनुभूति का और क्या साधन हो सकता था। सत्यकाम ने प्रकृति से स्वयं ब्रह्म का जो पाठ पढ़ा वह कोई गुरु शतमुख से भी नहीं पढ़ा सकता था। अपने वनवास के इन दो-तीन वर्षों में सत्यकाम ने केवल ब्रह्म का पाठ ही नहीं पढ़ा, किन्तु और भी कई विद्याओं में वह पटु हो गया होगा। गो-पालन के सम्बन्ध में, वन्य जीव-जन्तुओं के स्वभाव आदि के सम्बन्ध में, पशु-पक्षियों की बोली, आदतों आदि के सम्बन्ध में, जंगली वृक्ष-वनस्पतियों के सम्बन्ध में, अन्य प्राकृतिक निरीक्षणों में वह अच्छा विशेषज्ञ बन कर आया होगा।

हम भी सत्यकाम बनें

हम भी यदि चाहें तो सत्यकाम की तरह बिना गुरु के उपदेश के बिना प्रकृति से ही बहुत कुछ सीख सकते हैं। बैल, अग्नि, हंस और मद्गु की तरह संसार के सब पदार्थ—पेड़-पौधे, पहाड़, पत्थर, नदी-नद, पृथ्वी-आकाश बोल-बोल कर ज्ञान देने के लिये अपनी भाषा को समझने वाले सत्य काम जैसे शिष्यों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। क्या हम सत्यकाम बन कर उनके पास पहुंचेंगे और उनकी मूक भाषा को समझने का यत्न करेंगे?

❐

Story of Satyakāma Jābāla : A Social Analysis

Dr. S.G. Kantawala ★

1. Introduction :

The Chāndogya Upaniṣad (=Ch Up) is one of the ten earlier Upaniṣads[1]. It is an ancient Upaniṣad (=Up) in prose and forms a part of the Chāndogya-Brāhmaṇa (Chapter 3-10) which belongs to the Sāmaveda. It has eight chapters, which are divided into Khaṇḍas which are also further subdivide.

The Ch Up contains deep philosophical thought on creation, universe, soul, the syllable om, secret rites for healing diseases etc. In the Up the philosophical thought grows and develops, generally, through either dialogues and/or descriptions. The participants in such philosophical discussions are youth persons, women and veteron philosophers. They need always be brahmins, because one comes across Kṣatriya kings who are expounders and custodians of secret metaphysical thought.

The Ch Up contains a beautiful story of Satyakāma Jābāla. It is interesting from a sociological point of view.

2. Summary of the story

The story occurs in the ChUp 4.4. It may be summanised for ready reference as follows—

Satyakāma Jābāla reaching the age of being a brahmacarin asked his mother Jabālā about his gotra (family i.e. fathership). She frankly and boldly told him that she did not

---

★ **Professor and Head Deptt. of Sanskrit, Pali and Prakrit, M.S. University Vadodara, Gujarat (Ex.)**

know exactly about his biological father, because in her youth, to maintain herself, she moved from place to place and worked as a maid servant and discharged even the duties of waiting upon guests as the employers place.[2] Because of sex behaviour of guests (and/or the employer) she conceived and got him as her son. It is significant to note here the Up does not note/pass any derogatary remark on this situation. She further told him that her and his names were Jabālā and Satyakāma and his name was, therefore, Satyakāma Jābāla.[3]

Rendering of bhartṛgṛhe as "father's house" does not seem to give justice to the vocable concerned here because bhart means, "lord, commander, leader, husband..." (Macdonell A.A., A Practical Sanskrit Dictionary, OUP, London, 1954, p. 202; Apte V.S. The student's sanskrit English dictionary, Delhi, 1968, p. 400) and not "father". Such rendering as aroted above tends to lead to some cultural misunderstanding.

With this personal information he approached Gautama Hāritadruma for initiation in spiritual knowledge and he declared his wish to him to be his pupil.

As per the practice prevalent for admission under a teacher, he asked him who he was, because students, whose gotra was known, were to be admitted, as Śaṅkarācārya comments here.[4] He replied to Gautama Hāritadruma, as his mother had told him. At this he was highly pleased with his straight forward replies and observed that none but a true brahmin would thus speak out.[5] He, then, asked him to fetch the fuel strickes indicating his admission under him. Later on Satya kama got instructions through the Bull, The Goose and the water bird about heavenly regions etc.

3. Analysis and Observations :

The story is delighted and the characters herein are ingenuines. The purpose of the story in the words of Śaṅkarācārya is श्रद्धातपसोर्ब्रह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शनाय आख्यायिका.[6] The story under reference throws light not only on the educational system in the Upaniṣadic period; but also on some social aspects.

As noted earlier philosophical discussions and speculations were not confined to the intelectuals of the brāhmin class, but the Kṣatriya philosophers and women philosophers are not unknown to the Upaniṣads. Here in this story the participants are a young boy of dubious descent (later on he is made out to have a brahmin fathership) and a women (i.e. the mother of the boy) whose caste is not known. This suggests that the caste-structure was lax and flexible. The case of Jabālā tends to suggest that maidservants had flexible and free sex-relations with the guests of the employer (and or the employer, and/or vice-versa) and

the illicit child/children thereof was/were looked after and reached up by the mother, who would be bold enough to accept her illicit sex-relations and narrate to the child her/his birth-account, when necessary. The name of the boy had the mother's name added to the child's name, as "Jābāla" here. This suggests the recognition of the mother's place in the society. It is quite possible that the matronymic here is a relic of the matriarchal society. This reminds one of the modern practice of mentioning the mother's name in addition to the father's name in application for certain posts or entrances to contain institutions.

The frankness and boldness of the boy, i.e. Satyakāma, shows that the truth speaking nature was appreciated and was taken as a distinguishing and characteristic mark of a brahmin. According to the Dhammapads[7] one who speaks truth is said to be a brahmin.

Early Upaniṣads are said to be pre-Buddha and the Ch Up is an earlier Upaniṣad. It is quite tempting to feel that the passage under consideration is post-Buddha in the light of the concept of a brahmin in the Dhammapade and this raises a problem of chronological strata in an Upaniṣad. But it is equally tempting to feel that the concept of a brahmin in the Dhammapade is inspired by such Upaniṣadic thinking.

References & Notes

1. Vide : ईशकेनकठप्रश्नमुण्ड़माण्डूक्यतित्तिरिः।
   ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकस्तथा।। मुक्तिकोपनिषद् 1.30
2. The ŚāṇkaraBhāṣya adds that she did not remember the family (gotra) of Satyakāma's genitor, as she moved form place to place and that the genitor, was dead then. (ŚaṅkaraBhāṣya in Ten Principal Upaniṣads with the ŚaṅkaraBhāṣya, publishes by Motilal Banarasidass, Delhi, 1964, p. 197). In this context the form used is Bhartṛgṛhe i.e. at the house of the master or lord." i.e. employer i.e. at the house of the employer. The english translation of the Upaniṣad has in the bracket "in my father's house". (vide winternitz m, a history of indian literature, vol. I, 1927, Calcutta, p. 228, Nehru Jawaharlal, The Discovery of India, OVP New Delhi, 1982, p. 177).
3. जबालाया अपत्यं जाबालः
4. Vide ibid, p. 197.
5. because they are ṛju observes ŚāṇkaraBhāṣya (ibid, p. 198)
6. vide ibid p. 197 The concept of Sraddhā is traceable to the RV; vide Kantawala S.G., Hymn to Śraddhā (RV. 10.151), वेदश्रीः (स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ) ed. by Dr. Urmila Srivastav, Allahabad, 1997, pp. 140 ff.
7. Vide : न जटाहि न गोसेहि न जयया होसि ब्रह्मणो।
   (i) यम्हि सययच धम्मो न सो सुची सो च ब्रह्मणो। धम्मपद ed. by त्रिपिटकाचार्य भिक्षुधर्मरक्षित Varanasi 1959, p. 253
   (ii) न चाहं ब्रह्मणं ब्रूमि योजिबं मसि संभवम् (ed by Niranjan bhai V. Trivedi, Ahmedabad, 1989, p.13)
8. Vide Winternitz M., opicit., p. 236.

❒

Education and learning of Mithilā as described in Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad

Dr. Indra Kumar Choudhary ★

The Upaniṣads, particularly Chāndogya and the Bṛhadāraṇyaka are of unique importance. They are put forth in such convincing form and language that it may well be said that they are the most precious possessions of prosterity, surpassing as they do. even the dialogues of Plato in eloquence and subtlety of thought.[1] Their language is both simple and eloquent, and their style, through still that of the Brāhmaṇas, is yet without their tedious repetitions or puerile quibbles. We have from them an interesting account of education and learning of ancient Mithilā.

It has been suggested that at least some portions of the Śatapatha Brāhmaṇa and the Bṛahadāraṇyaka Upaniṣad, where Yājñavalkya appears as the principal authority, were written in north Bihar[2].

The important chapters of the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad were either composed by or reflected the views of those protestant philosophers of the north Bihar who congregated at the court of king Janaka of Mithilā. We may claim, however, that the third and fourth books of the Bṛahadāraṇyaka Upaniṣad were inspired by the thought ferment in Bihar[3].

In the Upaniṣadic period of the philosopher king Janak turned his capital Mithilā into a great centre of intellectual activities. scholars from all parts of Āryāvarta used to asemble in the learned assemblies at Mithila for taking part in the philosophical discourses. It is also evident that both males and females received education. Considerable literature had developed by this time and even specialisation had started. The section of the Bṛahmaṇs

★ **Professor, Department of History, Ranchi University, Ranchi, Bihar**

devoted to the study of the vedas was designated Śrotriya.

The people gave more attention to education. The common type of education is not referred to, yet Yājñavalkya has advanced a principle heard from his father that the teacher should not accept anything in the form of the gift offered by the pupils prior to the completion of their education,[4] and this statement occurs six times in the Bṛahadāraṇyaka Upaniṣad. This was the principal of imparting education to the students and thus certainly the poor economic condition was never a hindrance to the academic career of a man. A student had to live at the house of his teacher and was known as 'antevāsin' as referred to in Bṛahadāraṇyaka Upaniṣad.[5] The teachers were never to suffer from hunger because they were supported by the state. We have seen that in the yajñas the kings offered cows and gold to the Brāhmaṇas and on many other occasions also they got the same. The kings door were always open to the scholars for their financial support.[6]

Though it is not mentioned but the Āśramas of the sages were the popular centres of learning. It may be assumed that the percentage of literacy was very high in the videha country. The Bṛahadāraṇyaka Upaniṣad provides us with an exhaustive list of the subjects studied. These include the four Vedas, Itihāsa, Purāṇa, Upaniṣad, VākoVākya (Logic) Ethics, Bhūtavidyā (Science of demons); Kṣatra vidyā (the science of weapons), Nakṣatra vidyā (astronomy) etc[7]. It should be mentioned here that the Śatapath Brāhmaṇ and the Chāndogya Upaniṣad mention Itihās, Atharva veda, snake charming (sarpudja) and demology (Devajanavidyā) among the subjects which could be taught to the śūdra who were excluded from vedic knowledge.[8]

Although there are few cases of the Brāhmaṇa priests receiving instructions from the khatriya kings mentioned in the Upaniṣads, the teaching profession was exclusively the privilege of the Brāhmaṇas, and they not only trained Brāhmaṇa students for their future vocation of priesthood; but also taught the Kṣatriyas and Vaiśyas.[9] Bṛahdāraṇyaka Upaniṣad gives a long list of Brāhmaṇa teachers. The Brāhmaṇas could not tolerate superiority of the Kṣatriya in respect of scholarship.[10] The Bṛahdāraṇyaka Upaniṣad reveals that the Brāhmaṇas pursued the study of the vedas, performed sacrifices and took to austere practices.[11] They enjoyed great respect in the society as vedic scholars, teachers, priests and hermits. The section of the Brāhmaṇas devoted to the study of the vedas was known as the śrotriya. It is clear that the merits of svādhyāya was unmatched by any merit. Its merit is considered to be the highest. It is asserted that the joy of śrotriya an accomplished student

of the veda is equal to the highest joy possible.[12]

However, the age of Upaniṣad gave birth to philosopher Kṣatriyas and many of whom were teachers of the Brāhmaṇas too.[13] Thus, the father of Śvetaketu found that his son had not been able to reply a single question out of the five asked by Pravāhaṇa jaivali, king of Pāñcāla, approached the latter as a student and was taught the supreme knowledge. Again Gārgya Bālāki was silenced by kind Ajātaśatru of Kāśī in a discourse and turned to be the king's pupil[14]. Kings of the Janaka line of Mithilā are well known for their pursuit of knowledge. The kṣatriya kings of the period figure as the pursuers of hearing, great patrons of scholar, performers of sacrifices and givers of gifts to the Brāhmaṇas. The sage Yājñavalkya flourished at the court of king Janak of Mithilā. The kings of this age wanted to attract learned Brāhmaṇas by offering them cows in large numbers. King Ajatsatru of Kāśī said to Gārgya Bālāki, "I give you a thousand (cows); people indeed rush saying, Janaka, Janaka"[15]. "As scholars", the khatriya kings further took delight in organising learned discourses at their courts.[16]

The soil of Mithilā (in north Bihar) seems to have been congenial to the growth of philosophy, for it is here that many ancient Ṛṣis radiated the light of spiritual wisdom. We can justly feel proud of the eminent trio, Janaka, Yājñavalkya and Gautam, whose praises are sung in the Bṛahadāraṇyaka and Śatapatha Brāhmaṇa.[17]

The name of Janaka stands out as a symbol of jīvanmukti i.e, emancipation during life. This philosopher king was called Videha (without a body), for he cared little for material things. Though living in the midst of royal luxuries, he was as completely unattached to them as is a lotus leaf which remains unaffected by water. Even the greatest earthly catastrophe could not disturb his mental equilibrium. His philosophic composure is illustrated by the well known saying : "Mithilāyām pradīptāyām na me dehyati kincana. (Even of the whole of Mithilā is in flames, no element of my real being (self) is burnt thereby)."[18]

Janaka was regarded as an emblem of perfect wisdom. Great sages like Sukadeva approached him for Bṛahmajñāna or knowledge of the highest reality. His fame attracted scholars from different parts of India and his immense popularity is testified to in the Upaniṣad. (Bṛahdāraṇyaka 11. 1. ii.) : Janakah janakah iti vai janāh dhāvanti. (All people rush to him saying janaka, janaka). The entire line of janakas or videhas was a race of philosophers. This is borne out by the Devi Bhāgavata which says, "All the kings born in

this family, known as the janakas or videhas, are reputed for their philosophic widsom.[19]

Another inllustrious name of the Upaniṣadic period is Yājñavalkya. He was a contemporary of Janaka and had metaphysical discourses with him on the nature of Brahman or the absolute. Once king janak performed a sacrifice in which great scholars assembled from such distant lands as Kuru and Pancāl. The king offered a thousand cows to the wisest among them. This honour was won by Yājñavalkya, who satisfied all the questioners and succeeded in explaining the nature of ultimate reality.[20]

Reference has been made to Yājñavalkya and king Janaka Videha both of whom were renowned philosophers. In the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad the former is connected with the doctrine of Karma, which he explained to Jaratkārava Ārtabhāga in the answer to his query about life after death.[21] Yājñavalkya told Jaratkārava that the question could not be discussed in public, and so the two went out and argued, ''and what they said was Karma and what-they praised was Karma.'' The passage shows that the idea that the deeds of one life determine the next was not yet popular among the priests; and only a few were prepared to discuss it privately. Yājñavalkya was a native of Mithilā[22], and if the evidence of Bṛhadāraṇyak Upaniṣad is to be believed the theory of Karma developed among the philosophers of Mithila. In the smṛiti known after his name, Yāñajnavalkya is referred to as native of Mithila. Some believe that the lived in a village, Kusuma, now in Nepal territory.

It was quite natural in the partriarchal family of the Āryans to show preference for sons, and it becomes more and more pronounced during this period. The son was regarded as a light in the higher heaven, while a daughter as a source on misery. But inspite of such outlook girls used to be well looked after and educated in the higher section. Some of the women used to be highly educated and even a subject like philosophy was studied by them. The age of Upaniṣads produced several lady philosophers. Those who used to devote their life for the pursuit of learning were known as Bṛahmavādinī. Maitreyī, the wife of Yājñavalkya figures as Bṛahmavādinī[23]. The Bṛahdāraṇyaka Upaniṣad described Gārgī as one possessed of profound learning who entered into a philosophic discourse with the sage YājñaValkya in the court of kind Janaka of Mithilā.[24]

Thus, the very high standard of learning and culture reached by Indian women during the vedic age and also during the age of Upaniṣads too. Of the learned of this age, the name of Gārgī, daughter of the sage Vacaknu, stands out as the brightest luminary[25]. In the third chapter of the Upaniṣad under review, we find king Janaka offering a thousand cows to the

most learned Brāhmaṇa. Of all the Brāhmaṇas, Yājñavalkya alone dared to claim this reward, whereupon he was challenged and closely questioned on deep philosophical topics by eight celebrated scholars, including Gārgī. But to the glory of Indian womanhood, Gārgī was the only one among them who had the courage to question Yājñavalkya twice, and it was on her advice that Brāhmaṇas acknowledged him to be the best knower of Brahman.

In the same Upaniṣad, we meet another very cultured woman, Maitreyī who by her bold utterance, "what should I do with that (worldly wealth) through which I can not be immortal", has herself become immortal[27]. When Yājñavalkya wanted to divide his property between his two wives, Kātyāyanī and Maitreyī, the later refused, as above, mundane prosperity, and was, as a result, favoured by her husband with a most learned discourse on the unity of the self. Thus, some ladies of this land have been great philosophers. In an assemblage of philosophers, Gārgī had prolonged philosophical discussion with Yājñavalkya. Maitreyī, wife of Yājñavalkya had long conversation on philosophy with her husband. The Upaniṣadic account of the intimate discourse between them is highly interesting. The wife cared not for earthly riches, but for spiritual immortality (amṛtatva) and asked her husband to suggest means to that end. What use of material possessions, if they do not lead me to immortal life, queried Maitreyī, who was Bṛahmavādinī, a lady in quest of Reality. The message that was imparted to her by Yājñavalkya has become immortal in the history of thought.[29]

All this prove that women of those days were not only great scholars of even very difficult subjects like Grammar and Mimānsā, but also famous teachers having such a large number of students as to necessitate the coining of special words to denote them.[30]

References & Notes

1. Upendra Thakur, History of Mithila, Darbhanga, 1956, p. 13.
2. Bindeshwari Prasad Sinha (ed.), The Comprehensive History of Bihar, Patna, 1974, p. 260.
3. R.R. Diwakar, Bihar Through the Ages, 1959, New Delhi, p. 121.
4. Bṛhdāraṇyaka Upaniṣad, 4.1, 2-4.
5. Ibid. (Yājñavalkyāyānte vāsina) VI. 3.7.
6. Ibid. 2.1.
7. Bṛhdāraṇyaka Upaniṣad; IV. 1.2; IV 5.11.
8. Śatapatha Brāhmaṇa; XIII. 4.3, 7-13; & Chāndogya Upaniṣad; VII. 1.1.
9. Bindeshwari Prasad Sinha (ed.) Op. Cit., p. 265.

10. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, VI. 2,3 Śvetaketu described the King Pravāhaṇa Jaivali as Rajanabandhu, because the latter had asked him five questions which he could not reply□'Pancama Praśnān rajanyabandhur aprākṣit.
11. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad; IV. 4.22.
12. "ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। ए एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।" Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad; IV 3, 33. Also S.M. Rakhe, Education in Ancient India, Delhi, 1992, p, 80.
13. Birendra Prasad Sinha Op. Cit. p. 277.
14. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad; II. 1, 2, 14.
15. Ibid, III.8.
16. Ibid, II.1.1.
17. R.R. Diwakar, Op. Cit., p. 122.
18. Ibid, 123.
19. Ibid, 123
20. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad; 3.1
21. Ibid, III. 2.13.
22. Upendra Thakur, Op. Cit. pp. 103-4
23. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad; IV. 5.1.
24. Ibid, III.8.
25. Great Women of India (ed.) Swami Madhavananda & R.C. Majumdar, Calcutta, 1997, p. 95.
26. Ibid.
27. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad; 2.4.3.
28. Great Women of India Op. Cit. p. 96
29. R.R. Diwakar, Op. Cit. p. 124.
30. Great Women of India, Op. Cit., p. 97.

□

उपनिषदों में सामाजिक समरसता

सोती वीरेन्द्र चन्द्र ★

भारतीय संस्कृति का मूलाधार वैदिक साहित्य हैं। अतएव भारतीय संस्कृति वहीं से प्रसूत हुई है। सृष्टि के आदि में ही ईश्वर ने मानव-मात्र की जीवन-पद्धति—सदाचरण, सुख, शान्ति एवं अध्यात्म अर्थात् नैतिकता के प्रतिमानों पर आधारित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के मार्गदर्शन हेतु अलौकिक, अध्यात्म से विभूषित (अग्नि, आदित्य, वायु एवं अंगिरा) ऋषियों की समाधि की ध्यानावस्था में, उनके हृदय में, मन्त्रों द्वारा जिस पावन ज्ञान की प्रेरणा की वह मन्त्रों के रूप में प्रस्फुटित हुआ। फलतः ऋषि मन्त्र श्रोता एवं मन्त्र द्रष्टा हैं, मन्त्र स्रष्टा नहीं।

वैदिक साहित्य किसी सम्प्रदाय-विशेष जाति या देश से सम्बद्ध नहीं। वे प्राणि-मात्र के लिए हैं। वे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। उनका मत है—सब ईश्वर-पुत्र हैं। इस आधार पर सब भाई-भाई हैं। अतः उनमें सामाजिक समरसता अपरिहार्य है। समाज कहते ही उसे हैं जिसमें मनुष्य मिल कर रहें और उसके फलस्वरूप वहां सामाजिक समरसता हो— **समम् अजति जनाः यस्मिन् इति समाजः।**

हमारे ये ऋषि भविष्य द्रष्टा थे। समरसता का मूल मन्त्र सुख एवं शान्ति का होना है। अतः उन्होंने जीवन-दर्शन का लक्ष्य सुख एवं शान्ति निर्धारित किया। फलतः भारतीय संस्कृति का ध्येय प्रारम्भ से ही सदा सुख एवं शान्ति रहा है। वेदों में तत्सम्बन्धी प्रार्थनाओं की भरमार है :

> **सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
> **देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।**
> **समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।**
> **समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।**
> **समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।**
> **समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।** ऋग्वेद 10.191.2 3 एवं 4

हे मनुष्यों! तुम सब परस्पर मिल कर एक साथ चलो, प्रेमपूर्वक मिल कर समान वचन बोलो। तुम सबकी मन्त्रणा अर्थात् विचार एक समान हों। तुम सबका ध्येय विरोध रहित एक हो। तुम सबकी इच्छा व हृदय

★ भूतपूर्व रजिस्ट्रार, कालेज ऑव आर्ट एण्ड क्राफ्ट, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

की भावना एक समान एक-सी हो। तुम्हारे सबके मन एक हों। वेद मन्त्रों में समावेष्टित ये उदात्त उपदेश सामाजिक समरसता की ओर मनुष्यों को उन्मुख करने के लिए आधारभूत आदर्श एवं प्रतिमान हैं।

भारतीय जीवन-दर्शन का मार्गदर्शन करने में उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषदों की उपयोगिता मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, अनुकरणीय है। जहाँ तक उपनिषदों द्वारा सामाजिक समरसता के लिए दिशा-निर्देश का प्रश्न है, उपनिषद् का उद्घोष है :

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।। बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.5

श्रवण, मनन एवं ध्यान द्वारा आत्मा का अध्ययन करो। आत्मा को समझो एवं अध्यात्म ज्योति को प्राप्त करो। अन्तरात्मा में दिव्य प्रकाश की ज्योति जगने पर हमें आत्म-ज्ञान होता है। इसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण में शुद्ध एवं पवित्र भाव जागृत होते हैं। उन सब भावों की प्रेरणा द्वारा मनुष्य सद्व्यवहार एवं सत्कर्म करता है। इसका फल यह होता है कि समाज में सद्भाव का वातावरण उत्पन्न होता है जो अन्ततः समाज में समरसता की भावना को ऊर्जा दे कर सुख एवं शान्ति का वायुमंडल बना देता है।

प्रश्न उठता है कि यह आत्म-ज्ञान या आत्म ज्योति कैसे जागृत हो? मन को वश में रखने का अभ्यास करने एवं अपनी विवेक-दृष्टि से अनुचित को त्याग कर उचित कार्य करने का निर्णय लेने से समरसता उत्पन्न की जा सकती है। इससे मनुष्य दुष्प्रवृत्तियों से बचा रहता है, अतः उसका आत्म विकास हो जाता है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्।। कठोपनिषद् 32.9

धन-सम्पत्ति की लालसा ही मनुष्य को सन्मार्ग के स्थान पर कुमार्ग की ओर ले जाती है। ऐसे मनुष्य की दृष्टि नैतिक नियमों की ओर से धुंधली हो जाती है और वह सन्मार्ग देख ही नहीं पाता। आशय है अर्थ अर्जित करो परन्तु धर्मपूर्वक अर्थात् नीति पूर्वक—नैतिक नियमों और मान-मर्यादा को ध्यान में रख कर। इसके विपरीत धर्म की उपेक्षा कर अर्थ अर्जित किया जा रहा है जिसके कारण समाज में असंतोष, अशान्ति एवं वैर भाव व्याप्त है। धन की तृष्णा का अभिशाप अशान्ति होता ही है। उपनिषद् का उत्तम उपदेश है :

ओम् ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।। ईशावास्य उपनिषद् 1

धन का त्याग भाव से भोग करो। दूसरे का भाग छोड़ कर केवल अपना भाग लो। लोभ मत करो। भला, यह किसका धन है? अर्थात् किसी का नहीं है और है तो ईश का है, समष्टि का है। यहाँ व्यष्टि के स्वामित्व का त्याग सूचित किया गया है।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु।

भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।

यह मन्त्र इस बात का भी द्योतक है कि भारत में धन-सम्पत्ति के विषय में समष्टि की भावना सहस्रों वर्ष पूर्व प्रतिपादित कर दी गई थी। यह भावना सामाजिक समरसता के लिए प्रकाश स्तम्भ है। उपनिषद् युग में

धारणा थी कि वास्तविक सुख, शान्ति आत्मिक संतुष्टि में है। इसी आधार पर उपनिषद् का उपदेश है :

नचिकेता को यम ने समस्त सांसारिक सुख, भोग एवं ऐश्वर्य का प्रलोभन दिया परन्तु उसने उसे तृणवत् त्याग दिया और आत्मतत्त्व सम्बन्धी अपनी जिज्ञासा का समाधान करने पर अडिग रहा।

ऐसा ही दृष्टान्त याज्ञवल्क्य की धर्मपत्नी मैत्रेयी का है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को अपना धन सम्पत्ति दे कर वन जा रहे थे। मैत्रेयी ने उनसे पूछा, क्या वह इस धन से अमर हो जाएगी? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, नहीं। मैत्रेयी की आत्म-ज्ञान में रुचि थी न कि धन सम्पत्ति में, बोली तब मैं यह सब लेकर क्या करूँगी? जब मैं उनसे अमरत्व नहीं पाऊंगी—

येनाहं न अमृता स्याम तेनाहं किं कुर्यान। छान्दोग्य उपनिषद्

इन आख्यानों में व्यक्त उच्चतम भाव मनुष्यों को सदाशयता, सद्भावना, सदाचरण एवं आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करते हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। ईशावास्योपनिषद् 6

—जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में स्थित देखता है और अपने को सबमें स्थित देखता है वह किसी से घृणा-द्वेष नहीं करता। उपनिषद् मानव द्वारा मानव की रक्षा का पक्षधर है न कि हिंसा का।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। तैत्तिरीयोपनिषद् 2.1

ईशावास्योपनिषद् में काव्यतत्त्व

डॉ० छाया ठाकुर ★

वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष ही उपनिषद् के नाम से विख्यात हैं। संहिता और ब्राह्मण, कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है तो उपनिषद् ज्ञान काण्ड से। वेद का सार तथा प्रधान उद्देश्य उपनिषदों में ही निहित है। उपनिषद् दार्शनिक तर्क प्रणाली और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। इनमें दर्शनशास्त्र की समस्त मूल समस्याओं पर गहन और गूढ़ विचार-विमर्श उपलब्ध है। उपनिषदों का मूल उद्देश्य है मानव-जीवन के चरम तत्त्व का अन्वेषण। ज्ञान की परिपूर्णता, सत्य का साक्षात्कार और मनुष्य की परम मुक्ति ही भारतीय दार्शनिकों का आदर्श था। उपनिषद् इसी आदर्श की प्राप्ति में सहायक है। वैदिक वाङ्मय का अन्तिम भाग होने से इन्हें वेदान्त कहा जाता है।

उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ ब्रह्म विद्या है किन्तु गौण अर्थ में वह उन ग्रन्थों का द्योतक है जिसमें ब्रह्म ज्ञान की चर्चा है; अर्थात् वाच्यार्थ ब्रह्म विद्या है और लक्ष्यार्थ ब्रह्म विद्या विषयक ग्रन्थ। उपनिषदीय दर्शन ने भारतीय जीवन, धर्म और दर्शन को पूर्णतया अनुशासित रखा है।

उपनिषद्-साहित्य अत्यन्त व्यापक है। यों तो उनकी संख्या दो सौ तक कही जाती है किन्तु उनमें से दस अत्यन्त प्रामाणिक और प्रमुख है—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकस्तथा। मुक्तिकोपनिषद् 1.30

मुक्तिकोपनिषद् के इस क्रम में ईशावास्योपनिषद् या ईशोपनिषद् ही प्रमुख और अग्रगण्य है। यह शुक्ल-यजुर्वेदसंहिता (माध्यन्दिन) का चालीसवाँ अध्याय है। जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप और सम्बन्ध की आध्यात्मिक विवेचना के कारण इसे सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है। विषय की सम्पूर्णता और गहनता की दृष्टि से यह सर्वथा एक स्वतन्त्र उपनिषद् ग्रन्थ है। यह उपनिषद् ही एकमात्र मन्त्रोपनिषद् है, क्योंकि यह संहिता के अन्तर्गत मन्त्र भाग में प्राप्त है जबकि अन्य उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यक ग्रन्थों से सम्बद्ध है। **प्रयोगकालीनार्थस्मारकत्वं मन्त्रत्वम्** अर्थात् जो कर्मकाण्ड करते समय द्रव्य और देवता का स्मरण

★ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग शासकीय महाकोशल कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश

कराये, वह मन्त्र है। मन्त्र की इस परिभाषा के अनुसार भी ईशस्मरणादि कराने से ईशोपनिषद् एक मन्त्रोपनिषद् है। इस दृष्टि से इसका स्थान सर्वोपरि है। अधिकाधिक उपनिषदों के मूलरूप और वेदों के सार रूप में अभिहित किये जाने का गौरव इसे प्राप्त है। सातवलेकर का कथन है कि जो ज्ञान अन्य उपनिषदों में है, वह इसमें है किन्तु जितना उपदेश इसमें है, उतना अन्य उपनिषदों में है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण केन उपनिषद् **नैनद् देवा आप्नुवन्** ईश० 4 मन्त्र भाग की व्याख्या है। बृहदारण्यक उपनिषद् ईशोपनिषद् की टीका है।

उपनिषदों के नाम, प्रमुखतया उनके वर्ण्य विषय, उनमें प्रयुक्त कोई शब्द विशेष या उनके ऋषि के नाम पर रखे जाते हैं। इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र "ईशावास्यमिदं सर्वम्" के प्रथम दो पदों के आधार पर इसका नाम ईशोपनिषद् या ईशावास्योपनिषद् रखा गया है। यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर की सृष्टि है अथवा ईश्वर से व्याप्त है, इस प्रकार स्पष्ट रूप से संसार की निस्सारता और परब्रह्म के कण-कण में व्यापक होने के उद्घोष करने के कारण इस उपनिषद् का उक्त नाम सर्वथा सार्थक है। छन्दोबद्ध होने के कारण या संहिता का भाग होने के कारण इसे मन्त्रोपनिषद् के नाम से भी ख्याति लब्ध हुई है। उपनिषद् का अर्थ है विद्या अथवा परमात्म सम्बन्धी सत्यज्ञान[1], अतएव ईशोपनिषद् नाम का आशय है ईश की विद्या अथवा आत्मा का ज्ञान। इस दृष्टि से भी इसका नाम सार्थक है। यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणी के आधार पर 40वें अध्याय का द्रष्टा दध्यङाथर्वणं ऋषि बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में भी यही कहा गया है—**दध्यङ् ह वा आथर्वणः एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदां चकार**[2] अतएव दध्यङ् अथर्वा को ही इन मन्त्रों का प्रथम प्रस्तोता कहा गया है।

ईशावास्योपनिषद् में काव्यतत्त्व

ब्रह्म और जगत् की एकता, परमात्म ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, जीवन की सत्यता, ज्ञान निष्ठा, कर्म निष्ठा, विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति आदि गूढ़ और नीरस आध्यात्मिक विषयों का सम्पादन करने वाला ग्रन्थ अत्यन्त ही रुक्ष होगा, दुर्बोध ज्ञान गरिमा से मण्डित होगा,यह कल्पना अत्यन्त सहज है किन्तु यह कल्पना वास्तविकता से परे है। यह लघुकाय उपनिषद् अत्यन्त सरस आकर्षक व माधुर्य से ओतप्रोत है और काव्यत्व की कसौटी पर खरा उतरा है।

भाषा सौष्ठव, स्पष्ट भावाभिव्यक्ति, अलंकारों का सहज विन्यास, छंदो योजना, ध्वनि, रीतियों का लालित्य, वर्णनों की सरसता आदि प्रमुख तत्त्व किसी भी काव्य को वास्तविक अर्थों में काव्य बनाते हैं। यह उपनिषद् कोरी कविता नहीं है अपितु ब्रह्म ज्ञान की गरिमा से मण्डित भी है अतः काव्य के सारे तत्त्व चाहे इसमें न भी मिल पायें किन्तु उपर्युक्त प्रमुख तत्त्व इसे काव्य की कोटि में ला खड़ा करते हैं जिसमें अध्यात्म और कविता (काव्य) का अद्भुत सम्मिश्रण है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह केवल अठारह मन्त्रों का लघुकाय ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी तत्त्वों के लिये अवकाश ही कहाँ?

उपनिषदीय काव्य रहस्यात्मक अनुभूतिपरक, नीतिपरक और परतत्त्वमूलक हैं किन्तु इस उपनिषद् का काव्य नैतिक रहस्यात्मक तथा तात्त्विक उपादानों का सम्मिश्रण है। विषय की गहनता होने पर भी इसमें

काव्यत्व का अभाव नहीं है। ऋषियों के अभिव्यञ्जना कौशल ने उसे काव्य का रूप प्रदान कर दिया है।

सर्वप्रथम इसकी विवेचन पद्धति को हम देखें। उपनिषद्कारों ने अपने ग्रन्थों में अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादनार्थ विषय के अनुरूप विशिष्ट विवेचन पद्धति का आश्रय लिया है। प्रो० रानाडे ने ऐसी दस पद्धतियों का वर्णन किया है।[3] संहिता का अंश होने से इसकी कोई स्पष्ट विवेचन पद्धति नहीं है किन्तु विद्या, अविद्या, संभूति तथा असंभूति के विरोधाभास को कवि ने पहेली पद्धति के आश्रय से स्पष्ट किया है। इस उपनिषद् के प्रथम और द्वितीय मन्त्र ही सम्पूर्ण उपनिषद् के व्याख्यान के लिये सूत्रभूत हैं अतः इस दृष्टि से यह सूत्र पद्धति का आश्रयण माना जा सकता है।

काव्यत्व के प्रमुख तत्त्व

(1) **भाषा सौष्ठव**—भाषा सौष्ठव का काव्यतत्त्व इसके सभी मन्त्रों में स्वाभाविक रूप से व्याप्त है। अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये सहज, सरस और अलंकृत भाषा का प्रयोग किया है। पद लालित्य भी दर्शनीय है। काव्य की सी सरसता सर्वत्र व्याप्त है।

(2) **भावाभिव्यक्ति**—भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी यह उपनिषद् अत्यन्त सफल है। दर्शन के गूढ़ विषयों को इस ढंग से सहज भाषा में समझाया गया है कि वे सहजता से बुद्धिगम्य हो जाते हैं। उन भावों को हम आत्मसात् कर लेते हैं। प्रथम मन्त्र ही भाषा सौष्ठव और सहज भावाभिव्यक्ति का सुन्दर उदाहरण है जिसमें ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, जगत् मिथ्या है, अतः लोभ न करते हुए त्यागपूर्वक आत्मा का परिपालन करना चाहिये, यह भाव सहज रूप से अभिव्यक्त होता है।

(3) **छंदो योजना**—अठारह मन्त्रों का यह छोटा सा उपनिषद् छन्दोबद्ध है। प्राचीन वैदिक छंदों का इसमें प्रयोग किया गया है। वैदिक छंदों में वर्णों की संख्या नियत होती है। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती और गायत्री जैसे छंदों का प्रयोग किया गया है। इनमें सर्वाधिक प्रयोग अनुष्टुप् का किया गया है। अनुष्टुप् छंद में चार चरण होते हैं और प्रत्येक पाद में 8 वर्ण होते हैं। यह अष्टाक्षरा वृत्ति है। अनुष्टुप् का प्रयोग 1-3, 5-7 और 9-15 मन्त्रों में अर्थात् कुल 13 मन्त्रों में किया गया है। उदाहरण के लिये देखिये—

असुर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये के चात्महनो जनाः।।

त्रिष्टुप् एकादशक्ष्रा वृत्ति और चार चरण वाला है। इसका उदाहरण मन्त्र चार और मन्त्र अठारह में देखा जा सकता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।

जगती चार चरणों वाला द्वादशाक्षरा वृत्ति छन्द है। मन्त्र आठ और सोलह इसके उदाहरण हैं—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

गायत्री तीन चरणों वाला अष्टाक्षरा वृत्ति छन्द है जो ईशावास्योपनिषद् के सत्रहवें मन्त्र में द्रष्टव्य है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।

(4) रीति निरूपण—इस उपनिषद् में काव्य की तीनों रीतियों का प्रयोग किया गया है। वैदर्भी का प्रयोग सातवें मन्त्र में किया गया है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

इस पद्य में वैदर्भी रीति के सभी गुण[4] (माधुर्य व्यंजक वर्णों वाली ललितात्मिका रचना, समासों का सर्वथा अभाव) देखे जा सकते हैं।

पाञ्चाली[5] की छटा चौथे मन्त्र में देखी जा सकती है जहाँ शब्द और अर्थ का समान गुम्फन है। पाञ्चाली में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का गुम्फन होता है, जैसा सरस अर्थ तत्सदृश ही सुकुमार वर्ण विन्यास। गौड़ी रीति[6] का प्रयोग आठवें मन्त्र में किया गया है।

(5) गुणों का समावेश—काव्य के तीनों गुणों का सहज समावेश उपनिषद् में किया गया है। माधुर्य की छटा पाँचवें मन्त्र में, प्रसाद की निर्मलता पहले और सातवें तथा ओज का वर्चस्व आठवें मन्त्र में देखा जा सकता है।

(6) अलंकार-योजना—ईशावास्योपनिषद् में अलंकारों की छटा भी बिखरी दिखाई देती है। प्राचीन साहित्य में प्रचलित अलंकार यथा अनुप्रास, रूपक, विरोधाभास, काव्यलिंग आदि का प्रयोग यथावसर किया गया है। मन्त्र सात और ग्यारह में वृत्त्यनुप्रास (वर्णों की असकृत् आवृत्ति) मन्त्र 8 में छेकानुप्रास (वर्णों की सकृत् आवृत्ति) देखा जा सकता है। वृत्त्यनुप्रास[7] का उदाहरण देखिये—

विद्यां च अविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

विरोधाभास[8] में वास्तविक रूप से विरोध नहीं रहता किन्तु आपाततः कथन में विरोध दिखलाई पड़ता है। जैसे—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। 15

यहाँ आत्म तत्त्व चलता भी है, नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और वह पास भी, वह सबके भीतर भी है और बाहर भी। कहकर विरोध दर्शाया गया जबकि वास्तव में चिन्तन करने पर इनमें विरोध नहीं है।

मन्त्र 6 में एक आत्मतत्त्व की अनेकत्र स्थिति होने के कारण विशेष अलंकार[9] है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

मन्त्र 9 में अन्धकार में प्रवेश का कारण अविद्या की उपासना दर्शाने के कारण काव्यलिंग अलंकार[10] दृष्टिगत होताहै—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।

मन्त्र 16 में पूषा के लिये साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग के कारण परिकर अलंकार[11] स्पष्टतया परिलक्षित होता है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो।

(7) ध्वनि—ध्वनि तत्त्व का दर्शन भी ईशावास्योपनिषद् के तीसरे मन्त्र में होता है क्योंकि यहाँ आत्महन : शब्द के मुख्यार्थ 'आत्मा का नाशक' का बाध होने के कारण लक्षणा से 'अज्ञानी' अर्थ ग्रहणीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मात्र अठारह मन्त्र होने पर भी इस उपनिषद् में काव्य के सभी प्रमुख तत्त्व विद्यमान हैं जिनके कारण यह दार्शनिक तत्त्वों का नीरस संयोजन नहीं अपितु सरस काव्यत्व की गरिमा से भी मण्डित हो गया है। ईशावास्योपनिषद् में ब्रह्मविद्या और अध्यात्म के गूढ़ तत्त्वों और काव्य के माधुर्य का अद्भुत मणिकाञ्चन संयोग है। आत्मविद्या के सुगूढ़ रहस्यों को समझने का श्रम करते हुए श्रान्त मन-मस्तिष्क को काव्यत्व की सरस धारा आप्लावित कर आनन्द से भर देती है।

काव्य के उपर्युक्त सात तत्त्वों ने इसे काव्य की कोटि में ला खड़ा किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि हम दर्शन का कोई शुष्क ग्रन्थ नहीं अपितु सरस काव्य पढ़ रहे हों। इस लघुकाय उपनिषद् में जब काव्य के इतने तत्त्व विद्यमान हैं तो और बृहत् होने पर तो पूरा काव्य ही बन जाता।

मन्त्र द्रष्टा की कलात्मक तूलिका नीरस में सरसता, सामान्य में विलक्षणता, दुर्बोध में सुबोधता, जगत् में सर्वात्मकता का संचार करती है। इस लघुकाय उपनिषद् में कहीं भाषा सौष्ठव है तो कहीं सहज भावाभिव्यक्ति; कहीं अलंकारों का सहज विन्यास तो कहीं जीवन दर्शन की रुचिर व्याख्या है और इन सबके मणिकाञ्चन संयोग से यह निस्संदेह उपनिषदों में सर्वोपरि हो अग्रगण्य हो गया है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. संस्कृत हिन्दी कोश आप्टे पृ0 100
2. शतपथ ब्राह्मण 14/1/1/20
3. उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, रानाडे, पृ0 25

   1. पहेली पद्धति 2. सूत्र पद्धति, 3. व्युत्पत्ति पद्धति, 4. कथा पद्धति 5. दृष्टान्त पद्धति 6. संवाद पद्धति 7. समन्वय पद्धति 8. आत्मोक्ति 9. प्रयोजन 10. प्रतिगमन पद्धति।
4. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।

   अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते। साहित्यदर्पण-विश्वनाथ 9-3

5. शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।-सरस्वतीकण्ठाभरण
6. समस्तात्युद्‌भटपदाभोजः कान्तिगुणान्वितम्
   गौडीयमिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः-वामन
7. वर्णसाम्यमनुप्रासः। छेकानुप्रास-सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः वृत्त्यनुप्रास-एकस्याप्यसकृत्परः।। काव्यप्रकाश-व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर पृ0 404
8. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः। का0 प्र0 पृष्ठ 501
9. एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा। का0 प्र0 पृष्ठ 548
10. काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता। का0 पु0 पृष्ठ 510
11. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति परिकरस्तु सः। का0 प्र0 पृष्ठ 523

Poetic Excellences in the Upaniṣads

Dr. Veneemadhava Shastri Joshi ★

"It is a kind of poetry word of vision and rhythm of spirit that has not been written before or after"—these vigorous words of Shri Arabindo suggest the spirit of poetic beauty that has embeded in the wordings of the Upaniṣads. If philosophy is the soul of Upaniṣads, poetry is the heart of Upaniṣads. However, the poetic beauty is the core of Upaniṣadic style.

The chief aim of these Upaniṣads is to deal with the pivotal features of Brahman.[1] In this regard they try very hard to present the exact nature of the Brahman, though it is beyond the reach of words and mind.[2] At this juncture they have to adopt such a style that can easily bring the spirit of their philosophy to the doors of lay-people of philosophy. The principles of philosophy themselves are hard nut to crack; and if the language, couched with these principles too is dificult then certainly the books of these Upaniṣadic philosophy would have remained closed never to be kept opened to the men other than scholars. For this reason the Upaniṣads use profusely the figures of speech in decorous style to impart these thoughts of high thinkers in a lucid manner to make them appealing to the minds of readers of all the times. In other words the Upaniṣads try to bring the cold logic of the philosophy in-to a flowery language.

Many a time we do find a soft deliniation of the Upaniṣad in support of which a good number of pices of advice on the process of discipline (Sādhanamārga) is also inculcated in relevent contexts. Let us try to appriciate the poetic excellences of the Upaniṣads in general, and of the Kaṭha and Muṇḍak in particular.

First of all it is the self-luminosity (Svayamprakaśatva) of Brahman that is widely sung with one throat by the Upaniṣads as one of the pivotal features of Brahman. The Bṛahadāraṇyaka Upaniṣad describes the splendid lustre of Brahman to be like a heap of

★ **Professor, Deptt.of Sanskrit and Prakrit, Kamataka Arts College, Dharwad, Karnataka**

flash of lightenings; the flames of fire; like a beautiful lotus[3] etc. The Kaṭha puts the same point in a different way. There is no sun and the moon; nor stars and flash of lightenings, and never the fire in the realm of the Supreme; and the truth is that It itself is the source of all lights.[4] The Muṇḍakopaniṣad puts forth the rich brightness of the Supreme Brahman in another way. The Brahman bereft of pieces is one and whole in a golden sheath and is the light of lights,[5] It is the flame without smoke. It is hidden like the fire in the churning sticks (Arani); like seed of life in the womb of a mother.[6] The poetic way of putting the self-luminosity of Brahman in these verses is certainly peculiar that it is not only negating the light of the Sun and Moon in it, but it is said to be the source itself of those lights.

The second pivotal point is the causality of Brahman. The Brahman is the root cause of the whole of the universe. The Muṇḍakopaniṣad is exerting all efforts to put this chief feature of Brahman in so many poetic ways. The world is not only created by the Brahman; but is also absorbed by it. The beautiful exampale to illustrate this point is the spider.[7] The spider weaves its cobweb, and absorbs it whenever it wills. The world is nonsentient, and Brahman is sentient. The nonsentient universe emerges from the Brahman only. This point is also suggested in the same verse, by another example of human body and earth from which emnate nails and hair, and plants respectively. The example of earth and plants does not seem to be hitting the nail on its head; for the earth is nonsentient, and plants are sentient. Strictly speaking even the thread of the spider is nonsentient, and the body, from which it springs is also nonsentient. Same is the case with the humān body from which emnate the nails and hair. But the aptness of the example can be justified thus. The Brahman is the seat of Māyā which is nonsentient, and this itself is the matrix of this universe, or transforms into the world. Hence, the nonsentient material is found traced in the effect. Thus, the relevancy of the simile can very well be appreciated.

The Brahman is the root-cause of the entire universe. This point is illustrated with the metaphor of Aśvattha-tree.[8] The world is the tree of eternity and Brahman is its root. The branches of this tree reach down to earth and its root is in heaven above. The word prapanca is derived from the root paci (vistāre) to extend. Acordingly, the prapañca goes on growing fast in bredth and width. It is just like a modern city the extention areas of which are excersising remarkable speed in growth. A majority of people is gazing at the growing ends or fruits of branches and not the root which is beyond the reach of our eye sight. It is just like the sense organs which are always looking outwards in view of the wordly objects of enjoyment and never inward wherein the Ātman is accommodated.[9] This spirit is brought in this beautiful metaphor of Aśvatthavṛkṣa. Another pretty example is adduced to show

how Brahman is the central point of the universe. It is just like the centre of the wheel where meet all the spokes.[10] These simple similies bring the total gravity of the situation.

The all-pervasive nature is another pivotal feature (Spaṣta-brahma-liṅgam). The Īśāvāsyopaniṣad, a short but sweet one, has no indolence in describing this feature of Brahman.[11] It describes that Brahman moves and moves not. It is far away and near by; It is inside and outside. It, without moving is swifter than the mind; the senses cannot reach it; but It itself is ever crossing them; standing still It overtakes those who run...[12]

This kind of poetic description in the figure of speech, Virodha, is also found in the Kaṭhopaniṣad. ''Resting, the Brahman, wanders afar sleeping. It moves everywhere; who else but my-self can know that God of joy and sorrow''? ''When wise realize the omnipresent spirit which rests invisible in the visible, and permanent in the impermanent then they go beyond sorrow. It is smaller than the smallest atom and greater than the greatest space.''[13] 'It is all pervading but concealed like oil in seasemum; ghee in the curds, the current in the water, fire in the Aranis, and the soul in our heart. For realization the penance is the must.[14] This kind of peculiar wording is a pleasing feature of poetry. It does not take much time to give all-pervasive nature of the Brahman.

The real nature of the Brahman is beyond the reach of sense organs. This point is put forth, more or less in a poetic way by the Kenopaniṣad. ''The Brahman is the ear of the ear; the eye of eye; the word of words; the mind of mind, and the life of the life...'It cannot be spoken with words, but it is that whereby words are spoken. Brahman is that, what cannot be thought with the mind, but that whereby the mind can think; It cannot be seen with the eye, but is that whereby the eye can see; It cannot be heard with the ear but It is that whereby the ear can hear; It cannot be indrawn with breath, but It is that whereby breath is indrawn.[15]

Continuing the same kind of poetic style the Kenopaniṣad remarks that the nature of Brahman is indescribable, and as such it is equally difficult to identify the person who knows this Brahman. ''I do not think that I know Brahman well'', and yet I cannot say. ''I know not Brahman''. Who of us knows this knows Brahman and not who says ''I know him not.''[16] This seems to be like a witty problem (Prahelikā) This is clarified in the next verse as follows—''Bṛahman comes to the thought of those who know It beyond thought, not to those who imagine it can be attained by thought. He is unknown to the learned and known to the simple.''[17]

The Upaniṣads, in some contexts are as if following the method of inference i.e.

proving something of which is invisible, on the basis of what is visible. In other words they try to prove the Brahman which seems to be invisible on the basis of individual soul which is in a way brought to our experience. The Brahman is the goal but the path-way to God is via individual self. Every body knows his own self and one can attain the immortality through that only. This is because that the Supreme Brahman is the same as the individual self. The close relation of the individual self with the body is making it as if different from the Supreme. To justify the nondifference (oneness) of these two the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad gives the example of sparks of the fire.[18] The sparks spring from the fire so too the souls, breaths, senses and others come out from this Brahman. The Muṇḍaka too justifies the same point with the same example.[19] The supreme Brahman, which is the only sentient entity, when entangled in the mortal coil is called the Jīva. Hence, the Upaniṣads are trying hard to give relevent examples in this connection and the simile of sparks and fire is one of them.

The individual soul is identical with the supreme soul. Yet, the Supreme, when entrapped in this body of five sheaths becomes two or many and is styled as the Jiva. Thus, both the Jīva and Īśvara are found in a body. The Muṇḍaka notices this with the simile of two pretty birds on a same tree. "There are two birds, two sweet friends, who dwell on the self same tree. The one eats the fruits thereof, and the other one looks on in silence".[20] Both the Jīva and Brahman are sentient (cetana); both are in the heart of heart (may be in the form of the image and reflection). Thus, the common features are suggested by the terms "two birds", "the same tree", & "sweet friends."

One bird is eating the fruit making it as tasty as it can. This directly referes to the Jīva who, in his everyday life tries his best to rejoice at the worldly objects.[21] For every sensual enjoyment he has a series of sedulous efforts to make it as sweet as he can with the help of the extraneous materials. In other words the bird is trying to eat with all its preperations of good taste. The word 'fruit' stands for the result of actions (Karma-phala). On the other hand the other bird is quite indifferent; for it hardly needs any kind of enjoyments. It is because that it is the very enjoyment or Bliss itself. It is just like the prototype image the reflection of which in the water, sword, oil, mirror and so on differs on account of its adjunct (Upādhi) whereas the prototype stands still, for, it is immutable.

Referring to the same relation of Brahman and the Jīva, in fair words, the Kaṭhopaniṣad says that these two are accommodated in the heart-cave and are like the light and shade.[22] It insists with all the emphasis at its command that Brahman is in its complete form whereas the Jīva is incomplete due to his adjunct i.e. Avidyā. The poetic charm of

these verses is so much enehanting that a reader get at once on the screen of his mind a fair picture of the supreme and self in a fair way.

The individual self (Jīva) is housed in the body, and he himself is the master of that house. This point is taught with a beautiful metaphor of chariot and its lord. "The body is the chariot wherein the self is the master; the intellect and mind are the charioteer and reins respectively. The horses are the sense organs and their paths the objects of senses.[23] Thus, the soul when joins the company of body, senses, mind and intellect is technically called 'Bhokta' and goes on leading a happy life in this world which is not his Destiny. This is the fate of all those who do not have right understanding. If this discriminative knowledge sparks to a person whose mind is quite steady, he can easily bring his senses under his total control like a good driver with well trained horses.

On the contrary if a person is bereft of right understanding and has no undiverted mind, he can never be a ruler of his life like a bad driver with wild horses.[24] To reach the goal by a chariot one has to have a good driver and welcontrolled reins. In continuation of the same point the Kaṭhopaniṣad offers similar metaphor. A careful man whose chariot is driven by right understanding, who watches and holds the reins in the form of his mind reaches easily the End of the life-journey i.e. the supreme Brahman, the never flickering light and everlasting spirit.[25]

The supreme Brahman, though it resides in the body as the Jīva is not at all foiled by the dirt of the body or the world. This tennet is illustrated, with a pretty example. The sun catches our eyes; but he is never affected by the impurities of the eyes or world; so too the Spirit, which is in our body is not at all thouched by the sufferings of the world.[26]

The procedure of discipline in reaching the supreme is of prime importance in the system of the Upaniṣadic philosophy. Theoritical points are to know the characteristics of Brahman, but the discipline is to attain the Brahman. This method starts with the Karma-Kanda, but merges into the Jnana-kanda. The Karma-kanda is an indirect way to reach the supreme Brahman.[27] The method of rituals is not the direct way to gain the realization. In this light, after renauncing the Karma-mārga the aspirant has to resort to Jnana-marga. To highlight the importance of Jñāna-mārga rituals are, in a way devaluated with severe words. At this juncture the Upaniṣads use beautiful examaples to bring a kind of dejection in the minds of aspirants for these rituals. The rituals are also called Preyas or Avidyā whereas the Jñāna-mārga is styled as Śreyas or Vidyā.

The Kaṭhopaniṣad describes that these two ways i.e. the path of wisdom and the path of ignorance (rituals) are far part and lead to opposite ends.[28] The rituals are bereft of

eternal fruit. The members abiding totally in the rituals treat themselves to be wise and erudite scholars, as such Superior to others, but, they wander aimlessly here and there like the blinds led by the blind.[29] If the leading blind falls in a pit all his followers will naturally be throwing themselves into the same pit losing their aim. The Muṇḍakopaniṣad calls this path of rituals as on unsafe boat to cross the river in the form of transient life centred in the cycle of birth and death.[30] These beautiful similes form a kind of hard conviction into the minds of readers so that they make up slowly their minds reluctant to the rituals if not totally averse. On the other hand they bring a gradual inclination of the mind towards the path of wisdom, at least in due course if not all at once. It is all to bring in focus the Jñāna-mārga that these examples aim at.

Marching on the path of wisdom an aspirant, when exercises concentration on Brahman, has to adopt number of Upaniṣads among which it is one the Oṁkāropāsanā. The Oṁkāra is the representative (Pratīka) of the supreme Brahman. Regarding the implimentation of the Prāṇavopasana, the Muṇḍaka gives a brillient example. The sacred Prāṇava, as dealt with in the Upaniṣads is a big bow, and our own soul (the Jīva) is as arrow which is sharped with devotion. Brahman, the everlasting spirit is the target of that arrow; drawing the bow with concentration is the devotion, the arrow when hit the centre of the mark becomes one with its mark, even so the watchful aspirant should become one in him.[31] The Śvetāśvataropaniṣad puts forth similar metaphor with the example of Arani (fire churning stick). The body is the wood below, that can burn and Prāṇava is the whirling friction-rod above. Meditation is the process of chrning them, the mistery of spirit comes to the light. The whole of the Sādhanā-mārga is summarised here in one or two verses. The Oṁkāra is the epitome of Brahman.[32]

Through this Upāsanā, after purifying the mind one has to concentrate on Brahman with undiverted mind to that extent that he should almost become one with it; and the concequence would be gradual oneness with Brahman. This is the teaching of this metaphor. The beauty of this poetic verse is so much enchanting that its impressions hardly disappear from the screen of our memory. Through the Oṁkāra when the Jīva realizes his own real nature i.e. the Brahman it is said to be one with Brahman.

The body is like a citadel with eleven gates and is the abode of Brahman.[33] The Brahman is like the bridge that can make the aspirants cross safely to the other side[34] of the ocean in the form of world. Marching on the path of wisdom when the Jīva realizes his own pure nature he becomes one with the Supreme. This point is illustrated with the example of water. The pure water raining on pure water becomes one and the same, so too

becomes the soul of the sage who knows the Brahman.[35]

The Upaniṣads have no words to describe the stage of realization. Yet they exercise remarkable indulgence to bring the gravity of that situation in fair words to the mark of readers. The Muṇḍakopaniṣad gives similer example of rivers and ocean. As rivers, flowing into the ocean find their final peace, and lose their name and form, even so the realised souls become free from name and form and enter into the never flickering light of the Supreme spirit. In other words, He, who realizes the Brahman becomes Brahman. Far spreading, before and behind, right same is put forth in the Bhagavadgeetā□a more or less in the same words.[39] The vivid description of the cosmic spirit in the Upaniṣad through a metaphor is as if the prototype for the portray of the Virat svaroopa found in the Bhagavadgeeta. Fire is said to be the head of the cosmic God, the Sun and Moon as his eyes; the quarters as ears, the Vedas as his speech, the wind as the breath, the universe as his heart and the earth as his feet.[40] The metaphor of figtree is referred to in a more exaustive way in the Bhagaavatgeetā.[41] The same tree is alluded to even in the example of "two birds (Dvāsuparṇā) on the same tree".[42] The human body is called a mini world (micro-cosmos or Ksudra-brahmanda) and as such it can also be called the same tree. The central idea of this bird-image is to say that Brahman and the Jīva are sailing as if in the same boat. The Jīva is entangled in the Samsāra, as he is lost in the wordly enjoyments. That is why it is said that one bird is eating the fruits with all the preperations of good taste.

The simile and metaphors in these Upaniṣadic verses cover an extensive range. They simplify the tough theoritical points like causality, self-luminosity, omnipresence, edification and so on, and try to amplify the same through beautiful examples. It appears that the Upaniṣads are carrying a mission of bringing the cold logic of philosophy in to a flowery language. The metaphors like chariot and its owner (Ratha-rūpaka), Prāṇava and bow, (Dhanu-rūpaka) are so brilliant that even a common man easily see the metaphisical tennets like, the truth, body, soul discipline etc. in their right perspective.

The all-pervasive feature of Brahman is put forth in a peculiar style. It appears to be the figure of speech Virodha which makes us to call to our minds gingling words in this figure of speech of Bāṇa.[43] To bring the Jñāna-mārga in the spot-light the Upaniṣads condemn the rituals outright in a vigorous language—"but unsafe are the boats of sacrifice to go to farthest shore" (Plava etc...) like blinds led by blind. These similies preach with all the emphssis at their command the inferiority of rituals, and are so effective that they can easily bring a kind of reluctance towards the rituals. Some verses do contain some misteries

but they are simplified and beautified in some other contexts with pretty examples so that no corner is left for shoots of doubts in connection with the readers.

The Upaniṣads are never tired of displaying the necked truth of the world and supreme. The straightforward way of declaring the universal truths has added much to the beauty of Upaniṣadic style as well as to the thoughts. For instance "who sees variety and not unity wanders on from death to death."[44] Sometime the Upaniṣads teach some ideas in such a simple manner that it appears as if those thoughts are taught for the reader of lowest rung in the echlon of edification. After illucidating almost all the features of Brahman, to highlight the indescribability of Brahman the Upaniṣads say as if in a desperate mood that—"who knows where exactly he is?"; 'It is beyond the reach of mind and words."[45]

The idiom 'Panditam-manya' which is used widly in the classical Sanskrit literature in the sense of an abuse (i.e. fool) might have been derived from some of these verses of Upaniṣads.[46] Some of the wordigs seem to be based on the common transactions; for instance,—while putting forth the feature of omnimight of Brahman, the Kaṭhopaniṣad styles it as—"Even the Death is a kind of condiment to Him."[47] Even in prose passages in many contexts we find a happy synthesis of poetry and philosophy in addition to the highly poetic rhythm. These poetic statements of Universal spirit can easily add much to the elevation of thought and emotion, and as such they can help us to enjoy them, and transform those pieces of advice in to our life. Sir Juan Mascaro extols the sages of these Upaniṣads to skies for their vision of poetry in the realm of philosophy. "The composers of the Upaniṣads were thinkers and poets, they had the vision of the poet; and the poet knows well that if poetry takes a way from lower reality of daily life it is only to lead us to the vision of a higher reality even in this daily life where limitations give away for the poet to the joy of liberation."[48]

The Upaniṣads reveal in their peculiar style of poetry—"the paradoxical varity and unity, the great questions and simple answers, the spiritual wisdom and romantic imagination of these Himalayas of the soul." It is clear from the verses of Muṇḍaka and Kaṭha that both have "a happy synthesis of poetry and philosophy, yet the Muṇḍaka is more remarkable than the Kaṭha as a work of style in which the art and freedom with which the metre has been handled is noticeable at every stage"[49] "The metre of the Muṇḍaka", as a modern commentator remarks—"occasionally loses itself in a wild rhythm, yet the wildness itself is so pleasing that it only continuously adds to the spiritual impression that is made upon the learners mind.

However, these Upaniṣads stands high among the best written Upaniṣads in which

"there is in evidence a real power in marshalling words and images, a directness and precision and an astonishing facility in sommoning up homely and life like similies to breek and vary the monotony."

Thus, we can see that the authors of these Upaniṣads delicately handle their felicitus style and use the most common similies to bring the salient features of Brahman. To some extent they do reflect some aspects of social life of that age.

These poetic exellences speak to the tender accents of, and play upon the heart-strings of devotees and remain as the main source of inspirations to the readers. They are brilliant examples of poetic genious, and are serving as if the purpose of lyrics also. The natural force and spirit of these verses appeal to readers' minds curious to march on the pathway to god. As such they are never heavy with high faluting words. The words, though they are set forth in a quite natural procedure appear to be the careful choice of seers in beauty and thoughts. In some verses the style is gracefully catechizing in nature. The seers have treated these beautiful similies as the most convenient vehicles to carry there missions. Infine it can be summed up that these poetic excellences are from those great words of great seers, the inner voice of which goes beyond the boundaries of words.

References & Notes

1. सर्वासामुपनिषदां आत्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात् गीतानां मोक्षधर्माणां च एवं परत्वात्।–शाङ्करभाष्यम्–ईशावास्योपनिषत्–1
2. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। –तैत्तिरीयोपनिषत् 2-1
3. तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो, पाण्ड्वाविकं, यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिः।
   यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत् तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद।।–बृ0 उप0 2-3-6
4. आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते.....। बृ0 उप0 4-3-6
   विशेष विवरणार्थं (वि0 वि0 Cp.) तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्। –बृ0 उप0 4-4-16
   न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
   तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।–कठ0 उप0 2-15, तथा मुण्डकोपनिषत् 2-2-1
5. हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्मनिष्कलं।
   तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।। –मुण्डक0 2-2-4
6. (अ) ज्योतिरिवाधूमकः। कठ0 2-1-13
   (आ) अरण्योर्निहिता जातवेदाः गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। कठ0 2-1-7
7. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
   यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि यथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्।। मुण्डक0 1-7
8. ऊर्ध्वमूलमवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
   तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। कठ0 2-3-1
9. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कठ0 2-1-1

10. अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
तं वेद्यं पुरुषं वेद.....।।प्रश्न0 6-6

11. मन्त्राणां जामिता नास्ति। शां0 भा0 ईशावास्यं-4

12. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। ईश0 3, 4

13. (अ) आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।। कठ0 2-21
(आ) अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। कठ0 2-22
(इ) अणोरणीयान् महतो महीयान्। कठ0 1-20

14. तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।। श्वेताश्वतर 1-15

15. यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। यच्छ्रोत्रेण न श्रुणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।-केन0 1, 4-6

16. नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद नो न वेदेति वेद च।। केन0 2-2-1

17. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।। केन0 2-2-3

18. स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा....व्युच्चरन्ति। बृ0 2-1-20
सर्व एते आत्मानोव्युञ्चरन्ति। तत्रैव

19. तदेत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवपियन्ति।।
सरूपवचनात् जीवात्मानो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति चैतन्ययोगात्।ब्र0 सू0 शां0 भा0-मुण्डक0 2-3-17

20. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। -मुण्डक 3-1-1

21. पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वादु अनेक-विचित्र-वेदनास्वाद-रूपं स्वाद्वत्ति भक्षयति उपभुङ्क्ते अविवेकतः।
शां0 भा0 मु0 उप0 3-1-1

22. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।। कठ0 3-1

23. आत्मानंरथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। कठ0 3-4, 5

24. यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्वश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।। कठ0 3-6, 7

25. विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।। कठ0 2-3-9

26. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न स लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते सर्वदुःखेन बाह्यः।। कठ0 2-2-11

27. कर्मणां परम्परया मोक्षसाधनत्वम्। -श्रीविद्यारण्य श्रीचरणाः, विवरणप्रमेयसंग्रहः; प्रथमवर्णकम्

28. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। कठ0 2-4
29. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। कठ0 2-5, वि0वि0 मुण्डक 2-8
30. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।। मुण्डक 2-7
31. धनुर्गृहीत्वोपनिषदं महास्त्रं शरं ह्यु□पासा निशितं सन्दधीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन योद्धव्यं शरवत्तमन्यो भवेत्।। मुण्डक 2-2-3, 4
32. (अ) स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिः।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्।। श्वेताश्व0 1-14
(आ) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।। कठ0 1-2-15
33. पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते।। कठ0 2-2-1
34. यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं....।। कठ0 1-3-2
35. यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानतः आत्मा भवति गौतम।। कठ0 2-2-15
39. न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। भ0 गी0 15-6
यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धिमामकम्।। भ0 गी0 15-12
40. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।। मुण्डक0 2-1-4
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रं पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्। भ0 गी0 11-19
The same point is amplified in a different way as follows□
पीठं यस्या धरित्री जलधरकलशं लिङ्गमाकाशमूर्तिं
नक्षत्रं पुष्पमाला ग्रहगणकुसुमं नेत्रे चन्द्रार्कवह्नी।
कुक्षौ सप्तसमुद्रं दशगिरि-शिखरं सप्तपाताल-पादं
वेदं वक्त्रं षडङ्गं दशदिशवसनं दिव्यलिङ्गं नमामि।।
41. ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः....। भ0 गी0 15-1,2
42. तयोरन्यः पिप्पलं....। मु0 उप0 3-1-1
अयं हि वृक्षः ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्त मूलप्रभावः क्षेत्र संज्ञकः सर्वप्राणि कर्मफलाश्रयः....। शा0 भा0 मु0 उप0 3-1-1
43. तोयराशिसंभवापि तृष्णां संवर्धयति, ईश्वरतां दधानापि अशिवप्रकृतित्वमातनोति, बलोपचयमाहरन्त्यपि लघिमानमापादयति। अमृतसहोदरापि कटुविपाका, विग्रहत्यपि अप्रत्यक्षदर्शना, पुरुषोत्तमरतापि खलजनप्रिया....। कादम्बरी–शुकनासोपदेशः
44. मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। कठ0 2-10
वि0 वि0–
(1) पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः। कठ- 2-3-11
(2) ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।
(3) न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। –ब्र0 उप0 2
(4) नायं हन्ति न हन्यते। कठ0 2-19

(5) एतद्ध्येवालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। कठ0 2-16
(6) नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति। बृ0 उप0 3-7

45. (1) क इद्धा वेद कुत्र सः। कठ0 1-25
(2) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीयोपनिषत् 2-1
नेति नेति....। बृ0 उप0 3-7

46. स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः.....। कठ0 2-5 तथा मुण्डक0 उप0

47. यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनं
मृत्युर्यस्योपसेचनं......। कठ0 1-25

48. "The Upaniṣads", Sir Juan Mascaro; Penguin classics, England (1973) Intro. p. 11

49. History of Indian Philosophy (creative period)
S.K. Belvalkar & R.D. Ranade, New Delhi (1974)

❐

उपनिषदों का व्यावहारिक पक्ष

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ★

उपनिषद् अध्यात्म विद्या के स्रोत हैं। उपनिषदों में आत्मज्ञान, ब्रह्मप्राप्ति, मुक्ति, योग, साधना आदि का विस्तृत वर्णन यथास्थान प्राप्त होता है। इनके अध्ययन, मनन, निदिध्यासन से आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। इस विषय पर विशाल साहित्य उपलब्ध है। इतना होने पर भी उपनिषदों के व्यावहारिक पक्ष पर कम प्रकाश डाला गया है। उपनिषद् जीवन के आध्यात्मिक ही नहीं, व्यावहारिक पक्ष पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

उपनिषद् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उपनिषद् का अर्थ है—उप—समीप, नि—निश्चयपूर्वक, सद्-बैठना। परमात्मा के समीप बैठना, परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करना और उससे ज्ञान की ज्योति प्राप्त करना उपनिषद् है। मनुष्य के हृदय में आत्मा विद्यमान है। यह एक ज्योति है। उस ज्योति को प्रज्वलित करना, उसका दर्शन करना और जीवन में उसे मार्गदर्शक मान कर कार्य करना जीवन की सफलता है। इस ज्योति के जागरण से आत्मतत्त्व का प्रकाश आन्तरिक शक्तियों को जाग्रत् करके जीवन को गौरवमय बनाता है। शुभ कार्यों में दीप-प्रज्वालन, यज्ञ में अग्नि-प्रज्वालन इसी ज्योति के जागरण के प्रतीक हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश मानवमात्र के लिए चेतना का स्रोत है और उसकी रश्मियाँ मानव के स्वास्थ्य के लिए वरदान हैं, उसी प्रकार आत्मा की ज्योति प्रबुद्ध होकर मानव के हृदय के अज्ञान और तमोविकारों को नष्ट करती हैं, आत्मा का सान्निध्य अज्ञान को नष्ट करता है, काम-क्रोधादि विकारों को शान्त करता है, दुर्भावनाओं और दुर्विचारों को नष्ट करता है, मानसिक शान्ति देता है, और जीवन का मार्ग प्रशस्त करता है। जिस प्रकार बालक माता के संरक्षण में, शिष्य आचार्य के संरक्षण में और पत्नी पति के संरक्षण में सनाथता की अनुभूति करते हैं, उसी प्रकार आत्म-संरक्षण या ईश्वरीय संरक्षण मानव को निश्चित स्थायित्व देता है। उपनिषद् इस समर्पण की एक प्रक्रिया है, यह आत्म-समर्पण आत्मानुभूति का साधन बनकर हमारे जीवन को पवित्र और उदात्त बनाता है। आत्म ज्योति को पथ-प्रदर्शक बनाना आत्म-गौरवानुभूति का सोपान है।

ईशोपनिषद् के एक मन्त्र में वर्णन है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

★ निदेशक, विश्व भारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, भदोही, उत्तर प्रदेश

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये के चात्महनो जनाः।। ईश०3

इसका सामान्यतया अर्थ लिया जाता है कि आत्महत्या करने वाले व्यक्ति घोर नरक में जाते हैं परन्तु इस मन्त्र का इससे अधिक कुछ गूढ़ अर्थ है। इस मन्त्र का अभिप्राय है कि मनुष्य के हृदय में आत्मा का निवास है, वह निर्लिप्त और साक्षीमात्र रूप में अवस्थित होकर भी जागरूक प्रहरी के तुल्य दिशा-निर्देश करता है। वह सत्कर्मों पर प्रोत्साहित करता है और पाप कर्मों पर रोक लगाता है। यह आत्मध्वनि या अन्तरात्मा की आवाज है। जो इस आत्म ध्वनि को सुनते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं, वे सन्मार्गी होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं और इसके विपरीत आचरण करने वाले लक्ष्यच्युत होकर अपने जीवन को नरक बना लेते हैं। आत्मध्वनि को न सुनना ही आत्म-हत्या है। इस आत्महत्या का पापी न निर्वाण का अधिकारी होता है और न जीवन में कभी उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी गयी है कि स्वोपार्जित धन का ही उपयोग करो और दूसरे के धन की ओर गृध्रदृष्टि न रखो।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्। ईश० 1

जीवन की पवित्रता स्वोपार्जित धन के उपभोग और उपयोग में है। अन्याय या अनुचित साधनों से संचित धन मानव के पतन का कारण होता है।

ईशोपनिषद् के द्वितीय मन्त्र में भी एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक शिक्षा दी गयी है कि जीवन भर पुरुषार्थ करो। अनासक्ति भाव या कर्त्तव्य भावना से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं होता।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ईश० 2

इस मन्त्र में 'न कर्म लिप्यते नरे' के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है कि कर्त्तव्य भावना से ही कर्म करना चाहिए। ऐसे कर्म मनुष्य को आवागमन के बन्धन में नहीं डालते हैं। इस मन्त्र का ही भाव गीता के **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** (गीता 2.47) श्लोक में दिया गया है।

ईशोपनिषद् के 6 मन्त्रों में विद्या-अविद्या, संभूति और असंभूति का प्रसंग दिया गया है। इन मन्त्रों में महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक शिक्षा दी गयी है कि जीवन में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। एकांगी दृष्टिकोण जीवन को दुःखद और अवनत बनाता है।

यदि अविद्या या कर्म का मार्ग घोर अन्धकार की ओर ले जाता है, तो विद्या या ज्ञान का मार्ग उससे अधिक हानिकारक है। अतः निर्णयात्मक उपदेश दिया गया है कि जो दोनों मार्गों का समन्वयात्मक उपयोग करता है, वह अविद्या या कर्ममार्ग से सांसारिक कष्टों या मृत्यु को दूर करता है और विद्या या ज्ञानमार्ग का आश्रय लेकर अमरत्व को प्राप्त करता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। ईश० 11

ईशोपनिषद् में ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक शिक्षा दी गयी है कि सूर्य में जो चेतनाशक्ति है, वही चेतना शक्ति पुरुष में भी है।

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। ईश० 16

यह 'सोऽहम्' की भावना मनुष्य को अनन्त शक्ति प्रदान करती है। सूर्य यदि संसार का नियामक हो सकता है तो मनुष्य भी संसार का मार्गदर्शक हो सकता है। एक ही शक्ति के ये दोनों महान् और सूक्ष्म रूप हैं।

कठोपनिषद् में 'मृत्यु और अमरत्व' का विस्तृत विवेचन है। मृत्यु अवश्यम्भावी है परन्तु मृत्यु को अमरत्व में बदला जा सकता है। विषयासक्ति मृत्यु है और विषय-विरक्ति अमरत्व है। पाप मृत्यु है तो पुण्य अमृतत्व है। अनाचार मृत्यु है तो सदाचार अमृतत्त्व। यह साधना की एक प्रक्रिया है। विष को भी अमृत बना देना जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह ज्ञान, साधना और एकाग्रता के द्वारा संभव है। इसको ही उपनिषद् ने कहा है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु, मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति, तद् विष्णोः परमं पदम्। कठ० 1.3.9

साधना और एकलक्ष्यता असंभव से असंभव कार्यों को भी संभव बना देते हैं। उपनिषद् आदि से अन्त तक साधना और समर्पण की ही शिक्षा देते हैं।

कठोपनिषद् के इसी प्रसंग में एक व्यावहारिक शिक्षा यह भी दी गई है कि जीवन का लक्ष्य वित्त या धन ही नहीं है। वित्त साधन है, न कि साध्य। वित्त जीवन को सुखी बनाने का साधन है, किन्तु वित्त-संग्रह को ही जीवन का लक्ष्य बना लेना उसके पतन का कारण है। जीवन का लक्ष्य है—भौतिक सुख नहीं, अपितु आत्मिक आनन्द की प्राप्ति। केवल वित्त-संग्रह मनुष्य को लक्ष्य-च्युत कर देता है। इसको ही उपनिषद् ने कहा है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। कठ० 1.1.27

अमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन। बृहदारण्यक 4.5.3

मुण्डक उपनिषद् का यह कथन अत्यन्त व्यावहारिक है कि **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्** मुण्डक 3.2.4

शारीरिक बल, नीरोगता और अप्रमाद सफलता के सोपान हैं। जहाँ आरोग्य नहीं है, शारीरिक शक्ति नहीं है और उत्कृष्ट अभिलाषा नहीं है, वहाँ सफलता खपुष्प है। भौतिक सफलता के लिए ही बल की आवश्यकता नहीं है, अपितु आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी शरीर की नीरोगता और सबलता अनिवार्य है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक उदाहरण के द्वारा यह व्यावहारिक शिक्षा दी गयी है कि सफलता के लिए प्रत्येक वस्तु के मूल तत्त्वों को पकड़ने से पूरी वस्तु पकड़ में आ जाती है। उसके अङ्ग-प्रत्यंगों को पकड़ने से कार्य सिद्ध नहीं होता। दुन्दुभि या नगाड़े की आवाज को हम पकड़ना चाहें तो नहीं पकड़ सकते हैं परन्तु यदि

नगाड़े को ही पकड़ लिया जाय तो नगाड़ा और उसकी आवाज दोनों ही पकड़ में आ जाएगी।

दुन्दुभेर्ग्रहणेन....शब्दो गृहीतः। बृहदा० 4.5.8

इसी प्रकार एक दूसरे उदाहरण के द्वारा बताया गया है कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की शक्ति अधिक होती है। वट के एक बहुत ही छोटे बीज में वट के महावृक्ष की शक्ति निहित है। वह छोटा सा बीज कभी भी महावृक्ष हो सकता है। यदि सूक्ष्म को जान लिया जाए तो स्थूल का ज्ञान स्वयं हो जाता है।

एषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। छान्दोग्य 6.12.2

एक अन्य उदाहरण के द्वारा बताया गया है कि स्थूल पदार्थ के अन्दर सूक्ष्म तत्त्व अन्तर्निहित रहता है, उसको ध्यान, मनन और चिन्तन से प्राप्त किया जा सकता है, जैसे मूंज के अन्दर विद्यमान सींक। मूंज के ऊपरी आवरण को हटा देने के बाद ही यह सींक प्राप्त हो सकती है, इसी प्रकार शरीर के अन्दर विद्यमान सूक्ष्म आत्मा को कठोर परिश्रम से जान सकते हैं। सूक्ष्म तत्त्वों को जानने का प्रकार है—स्थूल आवरण को हटाना और धैर्यपूर्वक उसकी खोज करना। अतः कहा है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा, सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वात् शरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।।
तं विद्यात् शुक्रममृतम्। कठो० 2.6.17

जीवन में विद्या और शिक्षा का बहुत महत्त्व है, परन्तु उपनिषद् का कथन है कि जब तक उसके साथ श्रद्धा और उपनिषद् का समावेश नहीं होता है, तब तक उसका उत्कर्ष नहीं होता है। श्रद्धा उसमें जीवनी शक्ति लाती है और उपनिषद् या गुरुसामीप्य उसको ज्योतिर्मय बनाता है। अतएव छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि—

यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति। छान्दोग्य 1.1.10

इस विषय में अथर्ववेद में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है कि इस संसार का सुख श्रद्धावान् को ही प्राप्त होता है। श्रद्धापूर्वक कार्य प्रारम्भ करो और उसमें संलग्न रहो, यही इस लोक में आनन्दानुभूति का उत्तम प्रकार है। श्रद्धा हार्दिक अभिनिवेश है। हृदय से उसको स्वीकार करना और मान्यता देना श्रद्धा है। श्रत् और हृत् शब्द मूलरूप में एकार्थक है। अथर्ववेद का कथन है कि—

अन्वारभेथाम् अनुसंरभेथाम्, एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते। अथर्व० 6.122.3

अन्न-समस्या जैसे विषय पर मनन और चिन्तन उपनिषदों की व्यावहारिकता पर पूर्ण प्रकाश डालता है। तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है कि—

अन्न ही जीवन है। सभी प्राणी अन्न से जीवित रहते हैं, अतः अन्न को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। अन्न से प्राणियों का जन्म होता है, अन्न से ही उनकी वृद्धि होती है। इसलिए अन्न को ब्रह्म समझना चाहिए। अन्न की कभी निन्दा न करें, अन्न का अपमान न करें। इस नियम का पालन करें। अन्न-समृद्धि के लिए सदा प्रयत्नशील रहें। अधिक अन्न उत्पन्न करें। यह नियम बना लें। ऐसा करने से ही योगक्षेम होता है।

अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। तैत्ति० 2.2.1

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। अन्नं बहु कुर्वीत। न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। बह्वन्नं प्राप्नुयात्। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। तैत्ति० उप० 3.2-10

इसमें जहाँ एक ओर अन्न को ब्रह्म मानने और उसके बढ़ाने का उपदेश है, वहीं दूसरी ओर आदेश है कि उस ग्राम या नगर में कोई भूखा न रहे। अन्नदान में कृपणता न करे। किसी अतिथि या निर्धन को अन्न देने में हाथ न रोके। 'न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत' अर्थात् अन्न के लिए किसी को मना न करे। यह उपनिषदों के व्यावहारिक चिन्तन का ही फल है।

❒

उपनिषदों में कला-विमर्श

डॉ० इला घोष ★

किसी भी राष्ट्र या जाति की संस्कृति को महान् बनाने वाले तत्त्वों में प्रमुख है—कला। शिव की प्राप्ति के लिये सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति का नाम ही कला है। कला करती है—अपूर्ण को पूर्ण, असुन्दर को सुन्दर, अशिव को शिव-मङ्गलमय। कला जीवन का छन्द है, प्राणों का सरस उच्छलन है, सृष्टि का मूल मन्त्र है और दिव्य आनन्द का अक्षय स्रोत है; अतः कला की साधना परमेश्वर की साधना मानी गई है।

सम्पूर्ण विश्व-वाङ्मय में, इस कला की सुन्दरतम सर्वाङ्गीण व्याख्या प्रथम बार संभवतः उपनिषद् साहित्य में ही हुई है जहाँ समग्र सृष्टि को ही ब्रह्म की कला कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार—

(1) **प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम।।**

(2) **पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम।।**

(3) **अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम।।**

(4) **प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम।।**

4/5/2-4/8/3

ब्रह्म के चार पाद क्रमशः चार-चार कलाओं से युक्त हैं। प्रथम पाद का नाम है—प्रकाशवान्। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण; ये चार दिशायें इसकी चार कलायें हैं। द्वितीय पाद हैं—अनन्तवान्। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र इसकी चार कलायें हैं।

तृतीय पाद का अभिधान है—ज्योतिष्मान्। अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् इसकी चार कलायें हैं।

★ प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, शासकीय महाकोशल कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश

चतुर्थ पाद की संज्ञा है—आयतनवान्। यह प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन चार कलाओं से युक्त है।

इस प्रकार चार पादों वाला ब्रह्म षोडश (सोलह) कलाओं का अधिष्ठाता और सृष्टिकर्ता है।

प्रश्नोपनिषद् में इन्हें शरीर के भीतर हृदय रूपी आकाश में आत्मरूप में प्रतिष्ठित पुरुष की षोडश कलायें कहा गया है—

इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति। (6/2)

पुरुष से उत्पन्न ये सोलह कलायें हैं—

(1) प्राण, (2) श्रद्धा, (3) आकाश, (4) वायु, (5) अग्नि, (6) जल, (7) पृथ्वी, (8) इन्द्रिय, (9) मन, (10) अन्न, (11) वीर्य, (12) तप, (13) मन्त्र, (14) कर्म, (15) लोक और (16) नाम।

स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः अन्नम्। अन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।। (6/4)

जिस प्रकार रथ-चक्र के अरों का आधार या केन्द्र चक्र की नाभि (धुरी) होती है उसी प्रकार इन षोडश कलाओं की प्रतिष्ठा या केन्द्र वह पुरुष ही है—

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। प्रश्नो०6/6

इस प्रकार उपनिषदों की दृष्टि में कला एक सृष्टि है; सृजन, रचना या निर्माण है। यह कलाकार की अदम्य सिसृक्षा (सृजन की इच्छा) का परिणाम है। वह सृष्टिकर्ता पुरुष अपनी कला के माध्यम से स्वयं को व्यक्त करना चाहता है। वह एक से अनेक होना चाहता है। **एकोऽहं बहुस्याम्** ही कला सृष्टि का मूल है।

कैसे करता है, वह ब्रह्म कला की सृष्टि? इसका सबसे सुन्दर उत्तर निहित है—तैत्तिरीय उपनिषद् में—

ब्रह्म ने इच्छा की—"मैं अनेक हो जाऊँ, मैं सृष्टि करूं।' उसने तप किया। तप के द्वारा उसने सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की। इस जगत् की रचना कर वह इस रचना में ही प्रविष्ट हो गया।

सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। (2/6)

एक शिल्पी की कला—गीत, नृत्य, मूर्ति अथवा चित्र भी एक सृजन है। ब्राह्मी सृष्टि में सृजन की जो तीव्र लालसा और भावावेग अनवरत क्रियाशील है, शिल्पी के अंतःकरण में भी उसी का सतत् स्पन्दन है। इसी सृजनशीलता से प्रेरित होकर कलाकार कलासृष्टि के लिए तप करता है। वह उस रूप और भाव का ध्यान करता है जिसकी प्रतिमा उसे गढ़नी है। वह अपने शिल्प के विषय से प्रार्थना करता है कि, वह अपने रूप को उन्मीलित करे; अपने आवरण को हटा ले; ठीक वैसे ही जैसे कि उपनिषद् का ऋषि प्रार्थना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। ईशोपनिषद् 15

उसकी यह साधना तब तक चलती रहती है जब तक कि वह रूप स्वयं को अनावृत नहीं कर देता; अपने रहस्यों को प्रगट नहीं कर देता। जब समाधिलीन कलाकार की अन्तर्दृष्टि मन की आँखों से उस रूप को

देखती हैं जिसे सामान्य मनुष्य की आँखें नहीं देख पातीं; तब शिल्पी के मन में रूप का एक ऐसा सजीव छन्द सृजित होता है जो विश्व व्यापी समष्टि छन्द से मिलकर शब्द, नाद, रेखा, रंग, गति और अभिनय से अभिव्यक्त होकर काव्य, गीत, मूर्ति, चित्र, नृत्य और नाट्य बन जाता है। सुदीर्घ साधना और अभ्यास से ही कलाकार को वह दृष्टि मिलती है जिस दृष्टि से वस्तु की ओर देखते ही वस्तु और आँखों के मध्य का आवरण हट जाता है और स्रष्टा मन उस सत्य को; उस छन्द को पकड़ लेता है जो उसकी सृष्टि में जीवन्त होकर कालजयी कृति बन जाती है। कला-सृजन के क्षणों में शिल्पी अपने ध्यान की वस्तु; रस व्यञ्जना के उस विषय के साथ एकात्म हो जाता है। अपनी सृष्टि में मन और प्राण से प्रविष्ट होकर कलाकार भी अमरता को प्राप्त करता है। वस्तुतः कलाकार की सत्ता, कलाकार का हृदय कला के निर्मल दर्पण में इस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है कि दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। जिस कला में कलाकार के प्राणों का प्रवेश नहीं होता वह केवल विस्मय या वैचित्र्य की सृष्टि करती है; आनन्द की नहीं।

कला-सृजन की प्रक्रिया के पश्चात् तैत्तिरीयोपनिषद् कला-वस्तु के स्वरूप पर भी विचार करता है कैसी होती है वह सृष्टि!

सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं ह सत्यमभवत्।......तत्सत्यमिति आचक्षते।। 2/7

वह सत्य भी है और असत्य भी, वह वाणी द्वारा व्याख्या योग्य भी है और अव्याख्येय भी। वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। वह ज्ञात भी है और अविज्ञात भी। घूँघट के झीने आवरण में ढके हुए वधू के रूप के ही समान आकर्षित करने और आनन्द देने की क्षमता उसी कला में होती है जिसका रूप न तो बहुत उन्मीलित होता है और न ही बहुत गूढ़, जो न तो नग्न यथार्थ होता है और न ही कल्पनाओं का मात्र माया जाल।

सत्य और असत्य, यथार्थ और आदर्श, वस्तु स्वभाव और कवि-कल्पना, धूप और छाँह, उतार और चढ़ाव, श्वेत और श्याम, तार और मन्द्र, गति और स्थिति, वाणी और मौन इन दोनों की ही; उत्तम कला को ...आवश्यकता होती है।

नदी की धारा के समान कलासृजन की धारा भी दोनों कूलों का स्पर्श करते हुए बहती है। वस्तुतः सृजन प्रक्रिया या सृष्टि के मूल में ही यह 'द्विधा' भाव है। सृष्टि एक से नहीं होती उसके लिये दो चाहिये—शिव-शक्ति, द्यावा-पृथिवी, माता-पिता, स्त्री-पुरुष के समान।

कला की यह विशिष्टता ही उसे अनिर्वचनीय बनाती है। एक महान् कला-सृष्टि के सम्बन्ध में वाणी द्वारा जितना कहा जा सकता है, उससे कहीं अधिक कहने के लिये शेष रह जाता है। आँखें जितना देखती हैं, कान जितना सुनते हैं; उससे अधिक हृदय अनुभव करता है। महान् कला अवाक् करती है वाचाल नहीं। कलाकार इंगित से इशारे से, ध्वनि से व्यञ्जना से, रूप से अरूप से, सत्य से असत्य से, यथार्थ से, कल्पना से, एक शाश्वत कला का सृजन और उसके माध्यम से चिर सत्य का उन्मीलन कर जाता है—

सत्यं चानृतं ह सत्यमभवत्।

अब हम पुनः छान्दोग्य उपनिषद् के उस सन्दर्भ की ओर लौटते हैं जिसमें ब्रह्म के चार-चार कलाओं

वाले चार पादों का वर्णन हुआ है। ये चार पाद कला की निम्न विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं—

(1) कला प्रकाश है—ब्रह्म के प्रकाशवान् नाम प्रथम पाद की चार दिशायें चार कलाये हैं। दिशायें प्रतीक हैं अनन्त; असीम, अरूप और अनाम को किसी नाम रूप में बाँध लेने का। कला का कार्य भी यही है। भाव, भङ्गिमा, रूप, रस, गंध, वर्ण, शब्द और स्पर्श के अथाह विस्तार को गीत, नृत्य, वाद्य, आलेख्य, अभिनय, नेपथ्य, गंधयुक्ति, शयनरचनम् आदि कलायें अपने-अपने छन्दों में बाँध लेती हैं।

दिक् शब्द 'दिश्' धातु से बना है जिसका अर्थ इंगित या इशारा करना भी है। दिशायें ब्रह्म की ओर इङ्गित करती हैं। ये ब्रह्म का प्रकाश हैं। वस्तुतः ब्रह्म की कलायें उस अव्यक्त ब्रह्म की ही अभिव्यञ्जना है। शिल्प भी शिल्पकार के भावों का प्रकाश या अभिव्यक्ति ही है। विधाता ने अपनी सृष्टि में जिस रूप, रस, गंध, नाद और स्पर्श की योजना की है उसी रूप, रस और गंध को अपनी कलाकृति में संजोकर कलाकार अपने अव्यक्त हृदय को व्यक्त करता है। सृष्टि के समस्त स्पन्दन और गति को वह नृत्य कला में अथवा 'नटराज' की प्रतिमा में मूर्त करता है तो करुणा और ध्यान को बुद्ध-प्रतिमा में। रंगों का अद्‌भुत संसार चित्रकला में निखर उठता है तो सुगंध का मनोरम संसार 'गंध-युक्ति' की कला में। सुंदर रूप, गंध और स्पर्श को वह माल्यग्रथन की कला में संयोजित करता है तो मायाजाल को 'इन्द्रजाल' में।

कला व्यञ्जना है। कला एक ऐसी वाक् हीन भाषा है जो बिना शब्दों के ही बहुत कुछ कह देती है— किसी भी राष्ट्र या जाति का इतिहास, संस्कृति और सभ्यता, भौगोलिक संरचना और प्राकृतिक परिवेश और इन सबसे भी बढ़कर मानवीय, सुख-दुख, हास-अश्रु, मानव और प्रकृति का घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्ध आदि। जिस कला में प्रकाशन की, अभिव्यञ्जन की, जीवन और जगत् के सत्य को उन्मीलित करने की क्षमता होती है वही कला देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर अमृत को प्राप्त करती है।

(2) कला अनन्तरूपा है—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र-ब्रह्म की ये चार कलायें अनन्तवान् कही गई हैं क्योंकि ये जड़-चेतन के असंख्य रूपों की एक अंतहीन परम्परा को स्वयं में संजोये हुए हैं। यदि एक पृथ्वी को ही लें; तो—नाना प्रकार की मिट्‌टी, चट्‌टान और पर्वत, असंख्य छोटी-बड़ी नदियाँ, कूप, तालाब और झरने, वनस्पतियों के असंख्य वर्ग—तृण, गुल्म, लतायें, पादप और वृक्ष; नाना प्रकार के जीव-जन्तु—कीट, पतंग, सरीसृप, पशु-पक्षी और मानव न जाने कितने रूप; कितनी अंतहीन विविधता जिनकी गणना तो दूर कल्पना भी संभव नहीं है। यहाँ तक कि एक ही वृक्ष की दो शाखाओं, एक ही शाखा की दो पत्तियों, एक ही वृत्त के दो पुष्पों और एक ही डाली के दो फलों में रूप-रस-गंध, वर्ण और आस्वाद का कितना वैविध्य! यह विविधता, यह अनन्तता, यह असंख्यता ही तो कला का प्राण है किसी मशीन या यंत्र के द्वारा भी असंख्य रूपों की सृष्टि की जा सकती है किन्तु ये सभी रूप साँचे में ढले हुए एक रूप होंगे जबकि विधाता की सृष्टि में एक ही माता की जुड़वाँ संतानों में भी हम कहीं न कहीं विभिन्नता पाते हैं। ब्रह्म की कला के समान ही एक ही शिल्पी की दो कलाकृतियों में भी हू-बहू एकता नहीं होती। यदि हम एक वृक्ष के चित्र को ही लें तो कहीं हमें पत्तों का हरित सौन्दर्य दिखता है तो कहीं फूलों की स्वर्णिम आभा, कहीं वह अपनी फल-सम्पत्ति को लुटाता महान् दानी के रूप में दिखाई देता है तो कहीं

खुले आकाश के नीचे तप करता हुआ तपस्वी।

एक नदी या एक पर्वत के रूप भी असंख्य हो सकते हैं। कहीं नदी का विशाल पाट और अथाह जलराशि कलाकार की तूलिका का विषय बनती है तो कहीं वन-कन्या के समान पर्वत की गोद में अठखेलियाँ करती, चट्टानों के हर मोड़ पर लुका-छिपी खेलती; अपनी फेन-राशि से शुभ्र हास की छटा बिखेरती; एक अल्हड़ किशोरी का रूप। निसर्ग का जो रूप और जो भाव कलाकार को मन को छू लेता है वही कला-कृति के रूप में साकार हो उठता है; अतः आनन्द और उल्लास कला सृजन के विषय हो सकते हैं तो दैन्य और करुणा भी। बाह्य प्रकृति और अंतः प्रकृति की यह अंतहीन विविधता ही कला-सृजन का अक्षय स्रोत है।

(3) **कला कलाकार के अंतःकरण की ज्योति है**—ब्रह्म की कला का तृतीय रूप है—अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् इन्हें ज्योतिष्मान् कहा गया है। अग्नि, विद्युत् और सूर्य स्थान भेद से दिव्य तेज के ही तीन रूप हैं। पृथ्वी पर जो ज्योतिष्पुञ्ज अग्नि है, अंतरिक्ष में विद्युत्, वही द्युलोक में सूर्य है।

अग्नि प्रतीक है—प्रकाश, ऊर्जा, ऊष्मा, तेज, भास्वरता, पावनता और ऊर्ध्वगमन का तो सूर्य अनन्त ऊर्जा, प्रकाश और सृष्टि की प्रेरणा का। चन्द्र सुधानिधि है तो षोडश कलाओं से सम्पन्न कलानिधि भी। विद्युत विशेष रूप से द्योतित होने वाला तेज है किन्तु ये कलायें ब्रह्म की ज्योति से ही ज्योतिष्मान् हैं अतः कठोपनिषद् में कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। 2.5.15

ब्रह्म की आभा से विभासित सूर्य, चन्द्र, अग्नि और विद्युत के समान ही कला-वस्तु भी कलाकार के अन्तःकरण के आलोक से उद्‌भासित होती है। कला साधक की ज्योतिर्मय ऊर्जा ही कला को ज्योतिष्मान् बनाती है तब स्वार्थ, अज्ञान, विषाद और पीड़ा, निराशा और हताशा के गहन अन्धकार में कला प्रकाश की किरण बनकर हृदय और मन को आलोकित कर पाती है।

(4) **कला आनन्द का आयतन है**—ब्रह्म की कला के चतुर्थ रूप मन, प्राण, चक्षु और श्रोत्र को आयतनवान् कहा गया है। चक्षु और श्रोत्र मनुष्य की बाह्य इन्द्रियाँ हैं तो मन अन्तः इन्द्रिय। प्राण; इन वाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरण से ब्रह्म की कला के रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श का आनन्द लेता है। यह आनन्द ही कला-सृष्टि का मूल उत्स है; जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। 3/6

आनन्द से ही यह सृष्टि हुई है। आनन्द से ही जीवन है। आनन्द में ही लय है।

कलाकार का अंतःकरण सृष्टिके जिस आनन्द का अनुभव करता है उस आनन्द को ही प्राण, रस और कल्पना से संयुक्त कर एक ऐसी कला सृष्टि करता है जो सहृदय के लिये भी आनन्द का अक्षय स्रोत बन जाती है। जब तक यह आनन्द का स्रोत अक्षुण्ण है तब तक कला की धारा और जीवन की धारा दोनों ही प्रवहमान है। असंख्य दुखों, कष्टों, पीड़ाओं और संघर्षों से भरे हुए इस जीवन में यदि यह आनन्द न होता तो जीवन का

आकर्षण भी न होता। सत्य ही कहा है, उपनिषद् के ऋषि ने—

को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। तैत्ति०/2/7

हृदयाकाश में विद्यमान परमात्मा के आनन्द की अभिव्यक्ति ही कला है। अतः कला आनन्द का आयतन है। भारतीय परम्परा में चौसठ कलाओं की सृष्टि बाह्य और अन्तःकरण तथा उनके माध्यम से प्राणों के आनन्द या आत्मिक आनन्द के लिये ही हुई है। "कं सुखं लाति इति कला" कला शब्द की यह निरुक्ति भी इसी आनन्द की ओर संकेत करती है।

सृष्टि में उद्भासित नाना रूपों, नाना कलाओं का अधिष्ठाता वह ब्रह्म ही है अतः श्वेताश्वतर उपनिषद् में उसे 'कलासर्गकरः' (5/14) कहा गया है। वह सृष्टिकर्ता कलाकार मानव शरीर के भीतर हृदयाकाश में पुरुष या आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है; अतः ब्राह्मी सृष्टि और मानवी सृष्टि दोनों ही ब्रह्म का ही प्रकाश हैं।

ज्ञान-विज्ञान की सभी धारायें जैसे उस 'एक' तत्त्व की ओर जाती हैं। कला के नाना रूप भी उस 'ब्रह्म' की ओर ही जाते हैं। जैसे नदियाँ समुद्र को प्राप्त कर अपने नामरूप को छोड़ कर समुद्र हो जाती हैं उसी प्रकार षोडश कलायें भी पुरुष को प्राप्त कर पुरुष रूप हो जाती हैं—

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायाणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। प्रश्नोपनिषत् 6/5

भारतीय कला दृष्टि में यही औपनिषदिक चिन्तन रचा-बसा है; अतः कला की साधना ब्रह्म की साधना और कला का आनन्द ब्रह्म साक्षात्कार का आनन्द माना गया है। सहस्रों वर्षों से भारतीय कला की यात्रा व्यक्त से अव्यक्त तक; मूर्त से अमूर्त तक, रूप से अरूप तक, परिधि से नाभि तक सर्ग से सर्गकर्ता तक पहुँचने की यात्रा रही है।

इसका सबसे सुन्दर उदाहरण हम पाते हैं देव मंदिरों के रूप में—वास्तु कला में। प्रासाद की 'जगती' (ऊँचा अधिष्ठान) पृथ्वी लोक है जो समग्र सृष्टि का अधिष्ठान है। इसके ऊपर प्रासाद की ऊर्ध्वगामी भित्तियों, तोरण द्वारों, स्तम्भों और बहिरंग पर उत्कीर्ण हैं—कमल लता, कल्पवृक्ष और हंस, सर्प-नाग, अश्व-गज, सिंह-शार्दूल-मर्कट, मानव-मिथुन और उनकी असंख्य मुद्रायें, ऋषि-मुनि-नवग्रह और लोकपाल, किन्नर-विद्याधर-सिद्ध-साध्य और अप्सरायें, देव-दानव और गंधर्व—ब्राह्मी सृष्टि का ही एक छोटा सा प्रतिरूप; और इन सबके मध्य (अपनी ही सृष्टि में प्रविष्ट ब्रह्म के समान) गर्भ-गृह में प्रतिष्ठित देव प्रतिमा।

इन सबके भी ऊपर; क्रमशः परिधि से नाभि की ओर आते हुए अनेक 'अरुशिखर'; अंत में एक ही शिखर में लय को प्राप्त करते हुए। मन्दिर का वह एक शिखर उस अनन्त आकाश में मानो उस 'एक' की ही आराधना करता हुआ एक का ही प्रतीक। उस ब्रह्म की कला को अपनी कला में मूर्त कर देने का इससे सुन्दर उदाहरण कोई दूसरा हो ही नहीं सकता।

कला-सृजन और कला के आस्वाद दोनों के लिये ही आवश्यक है—सौन्दर्य बोध। उस सृष्टिकर्ता ब्रह्म की कला ही मानव में यह सौन्दर्य-बोध जगाती है। हिमगिरि के विशाल उत्तुङ्ग शिखर और जलनिधि की उत्ताल

लहरें, सम्पूर्ण धरती को ढक लेने वाला वनस्पतियों का श्यामल आँचल, फूलों में बिखरा हुआ इन्द्रधनुषी रंग, चाँदी की तरह चमकती हुई रेत का अथाह विस्तार, संध्या की रक्तिम लालिमा और उषा की स्वर्णिम आभा, नदियों की कलकल ध्वनि और पक्षियों का कलरव-गान ही मानव में सौन्दर्य बोध को जगाता है। उपनिषद् कहते हैं—यह सब ब्रह्म का ही रूप है—

विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः श्वेताश्वतर उप० 5/2/.....

.....ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति बृहदारण्यक उप० 1/6/2

जो कुछ भी है इस जगत् में; वह ईश से ही व्याप्त है—**ईशावास्यमिदं सर्वम्**। ईशोपनि० 1

उपनिषदों की यह दृष्टि उसे छोटे-बड़े से प्रेम करना सिखाती है। ब्रह्म की कला के प्रति यह आकर्षण, यह अच्छा लगना ही मानव को कलाकार बनाता है। निसर्ग के इस सौन्दर्य से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर व्यक्ति के हृदय में एक ऐसी अजस्र रस धारा बहने लगती है जिसका स्रोत कभी सूखता नहीं है। इस प्रकार ब्राह्मी सृष्टि ही चिरन्तनकाल से कलाकार के लिये शिल्प-सृजन की प्रेरणा और उपादान जुटाती आई है।

सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्म की कला के रूप में देखना, अपनी कला में उस सत्य, शिव और सुन्दर को मूर्त करते हुए, कला साधना के द्वारा उस 'अमृत' तक पहुँचना—यही भारतीय कला है और यही उपनिषदों की कला-दृष्टि है।

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्।। श्वेता० 5/14

मृत्यु से अमृत का, व्यथा से आनन्द का यही मार्ग है। इससे परे और कुछ भी नहीं है—

अरा इव रथ नाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद मा वो मृत्युः परिव्यथा।।
नातः परमस्ति।।

प्रश्नोपनिषत् 6/6,7

उपनिषद्ग्रन्थ एवं कामावतरण

डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ

प्राचीन महर्षियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को समान आदर प्रदान किया है। मनुष्य के जीवन में इन चारों का समान महत्त्व है—ऐसा हमारे शास्त्र स्वीकार करते हैं। ये सभी एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। सामान्यजन इन्हें एक दूसरे का विरोधी समझ कर जीवन में दुःख भोगते हैं। जीवन को संचालित करने के लिए जिस तरह अर्थ की और फिर धर्म की आवश्यकता होती है उसी तरह मनस्तुष्टि के लिए काम की अनिवार्यता होती है और अन्त में आत्मा की शान्ति के लिए मोक्ष आवश्यक होता है। इन चार पुरुषार्थों की अनिवार्यता पर विचार करते हुए श्री देवदत्त शास्त्री ने लिखा है—"हिन्दू संस्कृति की आधारशिला चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। मनुष्य मात्र की सारी आकांक्षाएं, अभिलाषाएं इन्हीं चार वर्गों में अन्तर्निहित रहती हैं। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा ये चार अङ्ग मनुष्य जाति के अन्तर्गत हैं और ये ही चार अङ्ग अनन्त कामनाओं एवं आवश्यकताओं के केन्द्र माने जाते हैं। इनकी सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से हुआ करती है। शरीर के पोषण और संवर्द्धन के लिए अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। मनस्तुष्टि के लिए काम की, बुद्धि के लिए धर्म की और आत्मा की शान्ति के लिए मोक्ष की आवश्यकता पड़ती है। ये आवश्यकताएं अनिवार्य हैं, अपरिहार्य हैं। इन्हीं अर्थ, धर्म, काम में मनुष्य के जीवन, रति, मान, ज्ञान, न्याय, स्वर्ग आदि की समस्त कामनाओं का समावेश होता है। सारांश यह है कि जीवन की अभिलाषा अर्थ में, स्त्री-पुत्र आदि की काम में, यश, ज्ञान, न्याय की धर्म में और परलोक की कामना मोक्ष में समाविष्ट हो जाती है। इस तरह अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पदार्थ एक-दूसरे के आधार-आधेय बन जाते हैं।"[1]

इन चारों पुरुषार्थों में से मोक्ष को कुछ अलग करके देखा जा सकता है, क्योंकि उसका स्थान बाद में आता है और जब अन्य पुरुषार्थ अपना कार्य समाप्त कर लेते हैं तब मोक्ष का कार्यक्षेत्र आता है। मोक्ष को छोड़ कर अन्य तीनों पुरुषार्थ एक-दूसरे से सम्पृक्त रहते हुए ही मानवों के जीवन को परिपूर्ण कर पाते हैं। जो व्यक्ति इन तीनों पुरुषार्थों या त्रिवर्ग की समुचित सिद्धि कर लेता है, वही व्यक्ति समाज में सन्तुलित जीवन-यापन कर पाता है। महाकवि भारवि ने वनेचर के मुख से दुर्योधन की त्रिवर्ग-साधनता को प्रतिपादित

★ निदेशिका, कालिदास संस्कृत संगीत कला एकेडमी, दिल्ली

करते हुए कहलवाया भी है—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।

गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्।।[2]

व्यक्ति को अपने जीवन में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का सेवन इस रूप में करना चाहिए जिससे वे एक-दूसरे के सहायक बने रहें। कामशास्त्री आचार्य वात्स्यायन भी इन तीनों के परस्पर साहाय्य को स्वीकार करते हुए अपने कामसूत्र का मङ्गलाचरण इसी से करते हैं—**धर्मार्थकामेभ्यो नमः।**[3]

हमारे ऋषियों ने जिस तरह चार प्रकार के पुरुषार्थों की कल्पना की है उसी तरह चार प्रकार के आश्रमों को भी स्वीकार किया है। एक व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बाँटते हुए उसे इस रूप में विभक्त किया गया है जिसमें सभी आश्रम क्रमशः एक-दूसरे के सहायक बन जाते हैं। जीवन में ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास का जितना महत्त्व है उतना ही, बल्कि उनसे भी अधिक महत्त्व गृहस्थाश्रम का है। गृहस्थाश्रम में रहता हुआ व्यक्ति कामोपभोग के साथ जीवन यापित करता है। व्यक्ति का दाम्पत्य जीवन तभी पूर्ण सफल हो पाता है जब उसे काम का महत्त्व ज्ञात हो और वह उचित रीति से कामोपभोग करता हो। कामशास्त्रीय ग्रन्थ इन्हीं विषयों का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु आज इस 'काम' को भी बहुत सङ्कुचित अर्थ में लिया जाता है। यद्यपि काम का वह सङ्कुचित अर्थ भी सही है, किन्तु इस शब्द को एक बड़े दायरे में समझना चाहिए। यही वह तत्त्व है जो पूरे विश्व में सभी जीवों को गति प्रदान करने वाला है। वात्स्यायन के **तत्सम्बन्धात्**[4] सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री देवदत्त शास्त्री लिखते हैं—"वस्तुतः काम मन का रेतस् है, शिशु के कोमल हृदय में सर्वप्रथम वही स्पन्दित होता है। जो सत्य को देखने की चाह रखता है वही उसे पहचान सकता है। 'काम' एक महती शक्ति है, इसके अनेक भाव, अनेक विभाग, अनेक अङ्ग और उपाङ्ग हैं। यह आदिदेव है। चित्तयन्त्र को चलाने वाली अदम्य शक्ति है। इस शक्ति के तत्त्व को समझने के लिए आचार्य वात्स्यायन कामसूत्र का उपन्यास करते हैं—तत्सम्बन्धात्।[5]

इस काम-भावना के कारण ही ब्रह्मा को भी सृष्टि करने की प्रवृत्ति हुई। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार उस ब्रह्म को एकाकी रमण करने में अच्छा नहीं लगा तो उसने दूसरे की इच्छा की—**स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्।**[6]

यहीं से काम-भावना का प्रारम्भ हुआ और तभी सृष्टि हुई और फिर ब्रह्म ने सोचा कि मैं अब एक से बहुत हो जाऊँ—सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय इति।[7] तथा तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति।[8]

काम की ही सर्वप्रथम अवतारणा हुई तभी जाकर यह सृष्टि बन पायी—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्।[9]

विशिष्ट अर्थ के अवधायक इस काम शब्द को पारिभाषित करते हुए आचार्य वात्स्यायन ने लिखा है कि कान, त्वक्, आँख, जीभ तथा नाक इन पाँच इन्द्रियों की इच्छा के अनुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयों में प्रवृत्ति ही काम है जिसमें आत्मा मन से संयुक्त होकर सुख या आनन्द का अनुभव करती है—**श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः**

प्रवृत्तिः कामः।

वात्स्यायन के उपर्युक्त सूत्र को व्याख्यायित करते हुए श्री यशोधर ने अपनी जयमङ्गला टीका में स्पष्ट किया है कि आत्मा ही काम के माध्यम से विषयों का भोग करती हुई सुख या आनन्द का उपभोग करती है—**आत्मा हि तद्द्वारेण विषयं भुञ्जानः सुखमनुभवति यत्तत्सुखं प्रधानं कामः।**

काम की उपर्युक्त सैद्धान्तिक व्याख्या के अनन्तर आचार्य वात्स्यायन काम की व्यावहारिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आलिङ्गन, चुम्बन आदि प्रासङ्गिक सुख के साथ विशिष्ट अङ्गों के स्पर्श करने से आनन्द की जो फलवती प्रतीति होती है, उसे ही काम कहते हैं—**स्पर्शविशेषविषयात्त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः।**

उपर्युक्त सूत्र के माध्यम से वात्स्यायन ने काम की व्यावहारिक व्याख्या की है और उसमें बताया है कि कामोपभोग करके व्यक्ति आनन्द को प्राप्त करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है, क्योंकि आनन्द से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न होने के बाद प्राणी आनन्द से ही जीवित रहते हैं और फिर अन्त में इस लोक से प्रयाण करके आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।[13]

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार इस आनन्द का निवास स्थान उपस्थ यानी जननेन्द्रिय है—**सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्।**[14]

इस तरह हम देखते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थ भी निर्विकार भाव से सृष्टि की उत्पत्ति में काम-भाव की ही प्रमुखता को स्वीकार करते हैं और उस कामोपभोग को आनन्द के लिए आवश्यक घोषित करते हैं। उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित इस कामोपभोग की गृहस्थ-जीवन के लिए महती आवश्यकता होती है और इसी का अवलम्बन करके कोई गृहस्थ सुखी दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करते हुए काम के साथ-साथ अर्थ और धर्म की सिद्धि करके अन्त में मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

यह 'काम' निर्विवाद रूप से अनैतिक, अवैध और हेय नहीं है। जो जीवन का मूल है, वह कथमपि निन्द्य हो ही नहीं सकता है। जब हम 'काम' को 'कामुकता' का पर्याय समझ लेने की भूल कर बैठते हैं, तभी वह निन्द्य हो जाता है। वस्तुतः काम कामुकता से भिन्न तत्त्व है। महादेव शङ्कर ने अपने ललाटस्थ तृतीय नेत्र से काम के अङ्ग को भस्म करके उसे अनङ्ग बना दिया। इस रूपक का तात्पर्य यही है कि काम को कामुकता और विलासिता आदि से रहित होना चाहिए।

'काम' एक ऐसा तत्त्व है जो सभी जीवों में समान रूप से प्रवाहित होता है और यदि उस प्रवाह का समुचित उपयोग किया जाए तो वह जीवन के लिए परम उपादेय है। कामशक्ति की उपादेयता पर विचार करते हुए श्री देवदत्त शास्त्री ने लिखा है—"काम एक शक्ति है और प्रबल शक्ति है। जैसे जल-प्रवाह को रोककर बिजली पैदा की जाती है उसी प्रकार प्रबल कामशक्ति से भी समाज लाभ उठाना चाहता है। काम एक मानसिक शक्ति है। इस मानसिक शक्ति का उपयोग किये बिना समाज कैसे रह सकता है।"[15] श्री शास्त्री कामशक्ति की तुलना विद्युत् शक्ति के साथ करते हुए कहते हैं—"जिस प्रकार विद्युत् शक्ति में आकर्षण और विकर्षण दोनों

शक्तियाँ रहती हैं, किन्तु दोनों के मिलाने से ही प्रकाश और गति सञ्चालित होती है, उसी प्रकार पुरुष और स्त्री इन दोनों शक्तियों के सहयोग से ही सृष्टि सञ्चालित है। ये दोनों अलग रहकर निष्क्रिय हैं।"[16]

शृङ्गार के मूल में जो भावना विद्यमान है, उसे ही 'काम' कहते हैं और यही काम जीवन का मूलाधार भी है। शृङ्गार रस मानव की एक अपरिहार्य शारीरिक इच्छा 'काम' का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु काव्य में शृङ्गार रस कामुकता अथवा विलासिता को द्योतित नहीं करता है, अपितु वह समाज के प्रतिनिधिभूत उत्तम प्रकृति वाले स्त्री-पुरुषों से सम्बद्ध होता है। निर्विवाद रूप से काव्य में श्रृङ्गार का वही रूप ग्राह्य एवं मान्य हो जाता है जो सामाजिक दृष्टि से भी ग्राह्य एवं मान्य हो। धर्माविरुद्ध काम ही श्रृङ्गार रस का प्रतिपाद्य होता है। जब काम-भाव उदात्तता के श्रृङ्ग पर आरूढ़ हो जाता है तभी वह काव्य के लिए स्वीकार्य हो पाता है।

काव्यों में रसराज श्रृङ्गार ही सर्वोपरि है और उस श्रृङ्गार की मूल भावना काम ही है। भरत मुनि तो काम के अतिरिक्त अन्य तीन पुरुषार्थों में भी काम को अनुस्यूत मानते हैं और कहते हैं कि प्रायः सभी भावों की काम से उत्पत्ति होती है और प्रायः यही काम इच्छा से संयुक्त होकर अनेक रूपों को धारण कर लेता है—जैसे धर्मकाम, अर्थकाम और मोक्षकाम। स्त्री और पुरुष का मिलन ही काम कहलाता है—

प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते।
स चेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा परिकल्पितः।।
धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
स्त्रीपुंसयोस्तु योगो यः स तु काम इति स्मृतः।।[17]

सभी भावों अथवा प्रवृत्तियों के मूल में काम-तत्त्व विद्यमान है। वैदिक साहित्य में भी स्थान-स्थान पर इसे सृष्टि के आदिकारण अथवा आदिदेव के रूप में अभिहित किया गया है। काम शक्ति के बिना किसी भी प्रवृत्ति का प्रचलन नहीं हो सकता है। काम मन का रेतस है जो मानव के जन्म-काल से ही उसमें विद्यमान रहता है। यह एक ऐसी रागात्मक प्रवृत्ति है जो प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान रहती है।

त्रिविक्रम भट्ट ने अपने काव्य नलचम्पू के प्रारम्भिक पद्यों में काम का माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए उसे समग्र संसारात्मक लता का उत्पादक दृढ़ कन्द कहा है। जिस तरह प्रसव-योग्य कन्द के अभाव में कोई लता उत्पन्न नहीं हो पाती है, उसी तरह कामदेव के बिना किसी भी प्राणी की सृष्टि नहीं हो पाती है। प्राकृतिक कामना के बिना किसी भी प्राणी की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसीलिये कामदेव अथवा कामभाव प्रणम्य है—

जयति मधुसहायः सर्वसंसारवल्लीजननजठरकन्दः कोऽपि कन्दर्पदेवः।
तदनु पुनरपाङ्गोत्सङ्गसञ्चारितानां जयति तरुणयोषिल्लोचनानां विलासः।।[18]

यद्यपि काम शब्द कामना अथवा इच्छा अर्थ का बोधक है, किन्तु काव्यों में हम जिस काम शब्द का व्यवहार पाते हैं, वह वस्तुतः स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण से उत्पन्न होने वाली भावना-विशेष ही है। इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए छान्दोग्योपनिषद् में 'काम' शब्द को परिभाषित किया गया है—**यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्।**[19] काम की इस परिभाषा को व्याख्यायित करते हुए आद्य शङ्कराचार्य ने लिखा है—**यदा लोके मिथुनौ मिथुनावयवौ स्त्रीपुंसौ यदा समागच्छतो ग्राम्यधर्मतया**

संयुज्येयातां तादाऽऽपयतः प्रापयतोऽन्योन्यस्येतरेतरस्य तौ कामम्।[20]

आजन्म संन्यासी शङ्कराचार्य की दृष्टि में स्त्री-पुरुष का मिथुनीभाव निश्चित रूप से ग्राम्य-धर्म है, किन्तु यही धर्म सृष्टि का मूल है और इसी भाव को श्रृङ्गारी कवियों ने अपने काव्यों का विषय बनाया है, परन्तु कवियों ने अपने काव्यों में ग्राम्य-दोष को आने नहीं दिया है।

'काम' ऐसी रागात्मिका वृत्ति है जो प्रत्येक जीव के मानस में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है और अनुकूल अवस्था को प्राप्त करके उद्‌बुद्ध हो उठती है। मानसिक व्यापार के रूप में प्रतिष्ठित कामवृत्ति मानवों की विविध एषणाओं को सञ्चालित और नियन्त्रित करती है। इस कामवृत्ति की अतिशयिता को अभिव्यक्त करने के लिए अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त ही ग्रथित है जिसमें पच्चीस मन्त्र हैं।[21] इसके अनेक मन्त्रों में 'टेक' की तरह मन्त्रों के उत्तरांश में काम की सर्वोपरिता अभिव्यक्त करते हुए ऋषि अथर्वा ने निबद्ध किया है—

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि।।

ऋषि अथर्वा यह मानते हैं कि काम ही सबसे महान् है जो सभी तत्त्वों से बढ़कर है, अतः वह नमस्य है। निश्चित रूप से सृष्टि का मूल तत्त्व 'काम' सर्वोपरि है और सर्वप्रथम उत्पन्न भी है—

कामो जज्ञे प्रथमो।[22]

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में भी यह कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम 'काम' ही आया जो मन का प्रथम रेत अथवा बीज था—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।[23]

यह काम-भाव किस तरह एक व्यक्ति के हृदय से दूसरे के हृदय में गतिमान् होता है, इस विषय को भी विद्वान् लोग जानते-समझते रहे हैं—

कामेन मा काम आगन् हृदयाद्धृदयं परि।
यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह।।[24]

अथर्ववेद के उपर्युक्त सूक्त के एक अन्य मन्त्र में काम की बलशालिता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह बल के साथ प्रतिष्ठायुक्त है, मित्रता चाहने वाले के लिए विभु और तेजस्वी है, संग्रामों में उग्र और विजयी है तथा बल और पराक्रम देने वाला है—

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते।
त्वमुग्र पृतनासु सासहिः सह ओजा यजमानस्य धेहि।।[25]

महर्षि मनु ने सङ्कल्पमूलः कामो वै[26] कहते हुए काम-तत्त्व को सङ्कल्पमूल वाला प्रतिपादित किया है। इस अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य मेधातिथि ने काम को मानस-व्यापार बताते हुए यह प्रदर्शित किया है कि यह सभी क्रियाओं की प्रवृत्ति के मूल में विद्यमान है—**एते हि मानसा व्यापाराः सर्वक्रियाप्रवृत्तिषु मूलतां प्रतिपद्यन्ते।**[27]

वस्तुतः यह काम-भाव सृष्टि का मूल होने के कारण सभी क्रियाओं में अनुस्यूत है। काम-भाव के

अभाव में मानव-शरीर की कल्पना भी नहीं की जा सकती है और यदि शरीर ही नहीं रहेगा तो विभिन्न पुरुषार्थों की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इस दृष्टि से काम-तत्त्व धर्म, अर्थ और मोक्ष के भी मूल में विद्यमान हो जाता है। यह तत्त्व ऐसा है जो सभी प्रकार के प्राणियों में समान भाव से वर्तमान है। कोटिशः प्राणियों में केवल मानव अन्य तीन पुरुषार्थों से युक्त होता है, किन्तु काम-तत्त्व तो सभी प्राणियों में समान रूप से प्राप्त होता है। अतः व्यापकता की दृष्टि से यह काम-तत्त्व अपरिमेय है।

इसी काम-भाव का प्रतिपादन हम भगवान शिव के अर्ध नारीश्वर रूप में पाते हैं। इस रूप को सृष्टि के मूल के रूप में देखा जा सकता है। इस पर विचार करते हुए वाचस्पति गैरोला ने लिखा है—

"प्रजापति के द्वारा द्विधा विभक्त स्वरूप की परिणति 'अर्धनारीश्वर' रूप में है। यह रूप सृष्टि-प्रक्रिया का आदि तत्त्व या मूल कारण है। वैदिक अग्नि-सोम उसी के रूपान्तर हैं। उन्हीं के द्वन्द्वात्मक या रागात्मक सम्बन्धों का परिणाम यह सृष्टि है। प्राणि-समन्वित यह जितनी भी सृष्टि है उसका विस्तार पिता द्वारा माता में गर्भ-धारण से हुआ। पार्वती और परमेश्वर इस मातृत्व और पितृत्व-भाव के प्रतीक हैं। 'अर्धनारीश्वर' उनकी साम्यावस्था का नाम है। सारा सृजन-व्यापार यहीं से आरम्भ हुआ। नारी (माता) का अंश सोमतत्त्व है और पुरुष (पिता) का अंश अग्नितत्त्व। सोम और अग्नि क्रमशः पार्वती और परमेश्वर के अंश हैं।"[28]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपनिषद् अध्यात्मविद्या के प्रकाशक अवश्य हैं किन्तु उनमें लौकिक व्यवहार का भी प्रत्यक्ष प्रतिपादन है। एक ओर वे धर्म तथा मोक्ष के साधन मार्ग की विस्तृत विवेचना करते हैं तो दूसरी ओर अर्थ तथा काम को भी जीवन की अनिवार्यता के रूप में स्वीकार करते हैं।

सन्दर्भ सङ्केत

1. अनङ्गरङ्ग की भूमिका-पृ0 7
2. किरातार्जुनीय-1.11
3. कामसूत्र-1.1.1
4. कामसूत्र-1.1.4
5. कामसूत्र-देवदत्त शास्त्री की टीका, पृ0 11
6. बृहदारण्यकोपनिषद्-1.4.3
7. तैत्तिरीयोपनिषद्-2.6
8. छन्दोग्योपनिषद्-3.2.3
9. ऋग्वेद-10.129.4
10. कामसूत्र-1.2.11
11. कामसूत्र-जयमङ्गला टीका, पृ0 42
12. कामसूत्र-1.2.12
13. तैत्तिरीयोपनिषद् 3.6
14. बृहदारण्यकोपनिषद्-2.4.11
15. अनङ्गरङ्ग की भूमिका-पृ0 11

16. कामसूत्र–देवदत्त शास्त्री की टीका, पृ0 77
17. नाट्यशास्त्र–24.94-95
18. नलचम्पू–1.2
19. छान्दोग्योपनिषद्–1.1.6
20. छान्दोग्योपनिषद्–1.1.6 पर शाङ्करभाष्य
21. अथर्ववेद–9.2
22. अथर्ववेद–9.2.19
23. अथर्ववेद–19.52.1
24. अथर्ववेद–19.52.4
25. अथर्ववेद–19.52.2
26. मनुस्मृति–2.3
27. मनुस्मृति–2.3 पर मनुभाष्य
28. कामसूत्र-परिशीलन, पृ0 20

बृहदारण्यकोपनिषद् में अभिवर्णित कामानन्द

डॉ० चन्द्रकान्त शुक्ल ★

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में काम पुरुषार्थ सर्वाधिक अपरिहार्य है। यह परम सत्य है कि मोक्ष को अधिगत करना ही मानव जीवन का लक्ष्य होता है, किन्तु जीवन की परिकल्पना में जिस तत्त्व की अनिवार्यता है, वह है—काम। काम के अभाव में न हम धर्म की कल्पना कर सकते हैं, न अर्थ की और न ही मोक्ष की। यदि हम इस विषय को व्यतिरेक रीति से परखने का प्रयत्न करें तो जीवन की परिकल्पना बिना धर्म के, बिना अर्थ के और बिना मोक्ष के हो सकती है। हाँ, बिना धर्म और मोक्ष के जो जीवन होगा, वह पशुतुल्य होगा, किन्तु जीवन तो परिकल्पित हो ही जाएगा। अतः निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि चारो पुरुषार्थों में से जिस तत्त्व के बिना इस जीवन की, इस संसार की कल्पना नहीं की जा सकती है, वह 'काम' ही है।

उपनिषद्-ग्रन्थ मूलतः मोक्ष-तत्त्व के निरूपक हैं और उसकी प्राप्ति में यह काम-तत्त्व बाधक नहीं तो साधक कथमपि नहीं है। अतः उपनिषदों के लिए यह तत्त्व विवेच्य नहीं है, किन्तु ऋषियों ने अवान्तर रूप में कहीं-कहीं इस तत्त्व का विवेचन किया है। यद्यपि अनेक प्रमुख उपनिषदों में काम-तत्त्व विवेचित है, किन्तु बृहदारण्यक में इसका विवेचन बड़े ही स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है।

उपनिषदों में सांसारिक सृष्टि के वर्णन-क्रम में प्रायः काम-तत्त्व का उल्लेख हुआ है। सांसारिक-सृष्टि में जीवों की उत्पत्ति में जिस मिथुनीभाव की चर्चा उपनिषदों ने की है, उसके मूल में यह काम-तत्त्व ही विद्यमान है। बृहदारण्यकोपनिषद् में यह उल्लेख आता है कि आत्मा अथवा ब्रह्म ही एकमात्र प्रारम्भ में था और उसने जब चारों ओर देखा तो अन्य किसी को नहीं पाया और इस पर उसके मन में यह भाव आया कि मैं ही मैं हूँ—**आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीति व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्।।**[1] इस तरह उसके अन्दर एक प्रकार का अहंकार उद्भूत हुआ और उसने अपने को 'अहम्' समझा, इसीलिए उसका नाम अहम् हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी 'अहम्' का अपभ्रंश पारसियों के धर्मग्रन्थ जेन्द-अवेस्ता में 'अम्हि' हो गया और ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबल में 'I am' हो गया। इस तत्त्व पर विचार करते हुए विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं—"ज़िन्दावस्ता में परमात्मा का नाम

★ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राँची कालेज, राँची, बिहार

'अम्हि' तथा 'अम्हि यदम्हि' कहा गया है जो 'अस्मि' का अपभ्रंश है। बाइबल में एक्सोडस (Exodus) पुस्तक में परमात्मा ने अपना नाम 'I am' तथा 'I am that I am' कहा है।......ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् के इस वाक्य को कि आत्मा का नाम 'अहम्' है—जैसा का तैसा—बिना अर्थ समझे पारसी, यहूदी तथा ईसाई धर्म ने अपना लिया और यह कहना शुरू कर दिया कि भगवान् का नाम ही 'मैं हूँ'—'I am'—'अम्हि'—'अस्मि'—यह है।[2]

उपनिषदों में प्रतिपादित उस प्रथम पुरुष या ब्रह्म अथवा आत्मा ने जब अपने को अकेला पाया तो उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो—**सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति।**[3]

अपने को अकेला पाकर वह रममाण नहीं हुआ, इसीलिए कभी भी एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता है। उसने दूसरे की इच्छा की। इस पर जिस तरह परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं, वह उसी तरह का हो गया। अनन्तर उसने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया जिससे पति और पत्नी हुए, इसलिए यह शरीर भी अर्ध-बृगल (दाल रूपी अन्न के एक दल) की तरह हो गया। यह पुरुषार्थ आकाशरूपी स्त्री से संयुक्त होकर परिपूर्ण होता है और उसी से मनुष्य उत्पन्न होते हैं–**स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।**[4]

बृहदारण्यकोपनिषद् का उक्त अंश उस गुह्य विषय की ओर संकेत प्रदान करता है कि किस तरह स्त्री और पुरुष अलग-अलग होते हुए भी वस्तुतः एक हैं और उनकी एकाकारता से ही यह सृष्टि संचालित होती है। शङ्कराचार्य ने इस अंश की व्याख्या करते हुए लिखा है कि चूँकि यह पुरुषार्ध आकाश रूपी स्त्र्यर्ध से शून्य है, अतः पुनः विवाह करने पर यह स्त्र्यर्ध से पूर्ण होता है, जिस तरह दाल के दो दाने आपस में सम्पुटित कर दिये जाने पर एक ही प्रतीत होते हैं—**यस्मादयं पुरुषार्ध आकाशः स्त्र्यर्धशून्यः पुनरुवहनात्तस्मात्पूर्यते स्त्र्यर्धेन, पुनः सम्पुटीकरणेनेव विदलार्धः।**[5]

यूनानी दन्तकथाओं में ऐसा उल्लेख आता है कि प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री और पुरुष अलग-अलग नहीं थे, अपितु एक ही शरीर था। ईश्वर ने उस शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया। इसीलिए एक ही शरीर से दो भागों में विभक्त दोनों भाग आपस में मिलकर एकाकार हो जाने को व्याकुल रहते हैं। बाइबिल में भी इस आशय का भाव प्राप्त होता है। इसका विवेचन करते हुए प्रो० सत्यव्रत विद्यालंकार लिखते हैं—"इस भाव को बायबल (Genesis—1.27 प्रकरण) में लगभग इसी प्रकार कहा गया है। वहाँ लिखा है—**In the image of God created He him; Male and Female created He them.** इसके आगे 22वीं आयत में लिखा है : **And the rib, the Lord God had taken from man, made He a woman**—पुरुष की पसली निकाल कर परमात्मा ने उसे स्त्री बना दिया। इसका यही अभिप्राय है कि सृष्टि-रचना से पूर्व स्त्री-पुरुष मिले हुए थे—यही बात इस उपनिषद् में कही गयी है।[6]

उपर्युक्त तथ्य का ही प्रतिपादन बृहदारण्यक में आगे भी हुआ है। वहाँ कहा गया है कि पहले एक ही

आत्मा था। उसने ऐसी कामना की कि मुझे स्त्री मिले और फिर मैं प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ। इसी आदि भाव के कारण अब भी एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मुझे स्त्री प्राप्त हो और फिर मैं सन्तान रूप में उत्पन्न होऊँ—**आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय......तर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेय।**[7]

बृहदारण्यक के अनेक अंशों में पुरुष शब्द का उल्लेख उस परम पुरुष अर्थात् आत्मा या ब्रह्म के लिए भी आया है और वह पुरुष शब्द सामान्य रूप से व्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त अंश में प्रथम स्थान पर आत्मा का अभिप्राय सृष्टि के आदिकाल में विद्यमान परम-तत्त्व से है और बाद वाले अंश में पुरुष का उल्लेख सांसारिक पुरुष के लिए हुआ है, ऐसा शङ्कराचार्य आदि के भाष्यों से भी प्रकट होता है।

पुरुष और स्त्री के मिलन से काम-तत्त्व की उत्पत्ति होती है, ऐसी बात अन्य अनेक उपनिषदों के साथ-साथ बृहदारण्यक उपनिषद् भी प्रतिपादित करता है। **काममय एवायं पुरुष इति**[8] इस प्रकार के वाक्य के द्वारा पुरुष यानी व्यक्ति को काममय घोषित करता हुआ बृहदारण्यक काम को उसका आयतन मानता है और बताता है कि जो यह काममय पुरुष है, वही यह है—**काम एव यस्यायतनम्....काममय पुरुषः स एष।**[9]

उपर्युक्त अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर ने कहा है कि स्त्री-प्रसङ्ग की अभिलाषा का नाम ही 'काम' है, अतः इसका अभिप्राय यह है कि जो कामरूप शरीर वाला है। स्त्री से ही काम का उद्दीपन होता है—**स्त्रीव्यतिकराभिलाषः कामः कामशरीर इत्यर्थः.....स्त्रीतो हि कामस्य दीप्तिर्जायते।**[10]

शङ्कराचार्य के उपर्युक्त उद्धरण में काम की बड़ी अच्छी परिभाषा दी गई है जिसमें कहा गया है—'स्त्रीव्यतिकराभिलाषः कामः।' वे स्त्री को कामोद्दीपक भी मानते हैं, जो पूर्णतया उपयुक्त है। यों, स्त्री पुरुष के लिए आलम्बन भी होती है।

फ्रायड इत्यादि मनोविश्लेषक भी ऐसा मानते हैं कि पुरुष की सारी क्रियाओं में काम-भावना अनुस्यूत रहती है। उसकी सारी क्रिया-प्रतिक्रिया काम से सम्बद्ध होती है। ऐसा लगता है कि बृहदारण्यक में 'काममय पुरुषः' जो कहा गया है, उसी भाव को फ्रायड आदि व्याख्यायित करते हैं।

काममय पुरुष स्त्री की अभिलाषा करता है, ऐसा उपनिषद् में कहा गया है। वहीं यह भी कहा गया है कि मन ही सम्राट् है, अर्थात् आनन्दता और उस आनन्दता से मुक्त होकर पुरुष स्त्री की इच्छा करता है, फिर उसमें आत्मानुरूप पुत्र उत्पन्न होता है, यही आनन्द है-**मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दः।**[11]

वस्तुतः उपनिषद् के ऋषि ने यहाँ यह प्रतिपादित किया है कि मानसिक व्यापार के माध्यम से पुरुष स्त्री की अभिलाषा करके उससे संयुक्त होकर मनोनुकूल सन्तान की उत्पत्ति करके आनन्दित होता है। काम भी मानसिक तत्त्व ही है जिसके उपभोग से व्यक्ति आनन्दित होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपनिषद् में एक स्थान पर उत्प्रेक्षा की गयी है कि मानो वह स्त्रियों के साथ आनन्दानुभव करते रहता है—**उतेव स्त्रीभिः मोदमानः।**[12]

पुरुष और स्त्री के संयोम रेतस् का स्खलन होकर सन्तति उत्पन्न होती है और इस विधि से आनन्दानुभूति

होती है, इस तथ्य को बृहदारण्यकोपनिषद् में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया गया है। वहाँ एक स्थान पर कहा गया है कि जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह अध्यात्म रैतस तेजोमय अमृतमय पुरुष है— **अयमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयम्।**[13]

रेतस् ही सृष्टि का बीज है, इस तथ्य का उद्घाटन करने के लिए ही उपनिषद् में स्पष्ट रूप से रेतस् को प्रजापति का पर्याय घोषित किया गया है—**रेतो वै प्रजापतिः।**[14] इस अंश की व्याख्या करते हुए आजन्म ब्रह्मचारी शङ्कराचार्य भी कहते हैं—**रेतसा प्रजननेन्द्रियमुपलक्ष्यते।**[15]

कामशास्त्री आचार्यों ने यह प्रतिपादित किया है कि केवल स्त्री और पुरुष के संयोग मात्र से ही रेतस् का स्खलन नहीं हो जाता है, अपितु हृदयस्थित भाव जब उस क्रिया से संयुक्त होता है तभी रेतस् उत्पन्न होकर सृष्टि का कारण बनता है। इसी भाव को बृहदारण्यक में भी स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि वीर्य हृदय में अवस्थित रहता है—**हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितम्।**[16] इस अंश को बड़े ही सरल और सहज ढंग से शङ्कराचार्य ने भी व्याख्यायित किया है और प्रश्नोत्तर के माध्यम से उसे अभिव्यक्त किया है। वे प्रश्न उठाते हैं—रेतस् (वीर्य) किसमें प्रतिष्ठित है? फिर उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—हृदय में, क्योंकि वीर्य हृदय का ही कार्य है। फिर आगे वे कहते हैं कि काम हृदय की वृत्ति है, क्योंकि वीर्य का स्खलन कामी के हृदय से ही होता है—**कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति? हृदय इति—यस्माद् हृदयस्य कार्यं रेतः। कामो हृदयस्य वृत्तिः, कामिनो हि हृदयाद्रेतोऽधिस्कन्दति।**[17]

बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तिम अंश में 6.2.13 से 6.4.22 तक विस्तार से काम-भावना, उससे उद्भूत होने वाले आनन्द और फिर उस आनन्द के कार्यभूत गर्भधारण आदि का विवेचन प्राप्त होता है, किन्तु उस अंश के प्रारम्भ में इस विषय में औपनिषदिक ऋषि ने एक बड़ा ही अच्छा यज्ञ रूपक प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ यानी जननेन्द्रिय हीं समिध् है, लोम धूम है, योनि ज्वाला है और जो मैथुन-व्यापार करता है वह अङ्गार है तथा आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग है। उसी अग्नि में देवगण रेतस् का हवन करते हैं और तब उससे पुरुष की उत्पत्ति होती है—**योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोतितेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति।**[18]

उपर्युक्त अंश में रूपक के माध्यम से काम-भाव अथवा रति-भाव से सम्बद्ध सारे विषय एक स्थान पर आ गये हैं और उसे एक यज्ञ के रूप में विश्लेषित किया गया है।

स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर उन्हें कामानन्द प्रदान करने में जो साधन बन कर आता है, शरीर का वह अङ्ग जननेन्द्रिय होता है। इसी को ध्यान में रखते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है—**सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्**[19] अर्थात् सभी प्रकार के कामानन्द की उत्पत्ति में जननेन्द्रिय ही एकायनी भूत है।

उक्त वाक्य बृहदारण्यक में दो स्थानों पर आया है, किन्तु इस अंश को आचार्य शङ्कर ने या तो इस कारण व्याख्यायित नहीं किया होगा, क्योंकि यह पूर्ण स्पष्ट है अथवा यह पूर्ण रति-भाव को अभिव्यक्त करने

वाला है, अतः उन जैसे संन्यासी के लिए विवेच्य नहीं है।

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि बृहदारण्यकोपनिषद् में सृष्टि के बीजभूत और अपरिहार्य तत्त्व काम का विवेचन करते हुए उसके उपभोग को कामानन्द के रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.1 (शाङ्करभाष्य सहित), गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2052
2. उपनिषद् प्रकाश-विद्यामार्तण्ड प्रो0 सत्यव्रत विद्यालंकार, पृ0 440
   विजयकृष्ण लखनपाल, आसिफ अली रोड, नई दिल्ली-2 1981
3. बृहदारण्यकोपनिषद्-1.2.4
4. वही-1.4.3
5. वही-1.4.3 पर शाङ्करभाष्य
6. उपनिषद् प्रकाश, पृ0 441
7. बृहदारण्यकोपनिषद्-1.4.17
8. वही-4.4.5
9. वही-3.9.11
10. वही-3.9.11 पर शाङ्करभाष्य
11. वही-4.1.6
12. वही-4.3.13
13. वही-2.5.2
14. वही 6.1.6
15. वही-6.1.6 पर शाङ्करभाष्य
16. वही-3.9.22
17. वही-3.9.22 पर शाङ्करभाष्य
18. वही-6.2.13
19. वही-2.4.11 तथा 4.5.12

❒

उपनिषदों में लोककल्याण की अवधारणा

डॉ० मीरा शर्मा ★

भारत में जनमी, यहाँ पोषित व फलित हुई संस्कृति अंतस् के रूपान्तरण के द्वारा अद्वैत की चेतना में निवास करने का एक सफल प्रयोग है। **सर्व खलु इदं ब्रह्म**[1] तथा यह प्राण ही सभी शरीरों का अन्न है, प्राण में शरीर स्थिर है और शरीर में प्राण स्थित है, सभी एक-दूसरे पर आश्रित हैं"[2] उपनिषदों के इस अद्वैत चिन्तन ने जहाँ एक ओर **सर्वे भवन्तु सुखिनः** तथा **सर्वभूतहिते रताः** की सर्वकल्याणकारी उदात्त भावना को जाग्रत किया वहीं दूसरी ओर **वसुधैव कुटुम्बकम्** की दिव्य परिकल्पना को भी जन्म दिया। सभी सुखी हों, आनन्द व समृद्धि सभी को प्राप्त हो, सभी का विवेक जाग्रत हो, सभी हर दृष्टि से स्वस्थ हों **सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु** का भाव सर्वत्र हो, हर स्थिति में हो, **मा विद्विषावहै**[3] तथा **ततो न विजुगुप्सते**[4] की भावना सर्वत्र विद्यमान रहे—इस प्रकार व्यष्टि (व्यक्ति) को घटक बनाकर समष्टि (सम्पूर्ण समाज) के अभ्युदय तथा निःश्रेयस की कामना ही उपनिषदों का अभिप्रेत रहा है और यही भारतीय संस्कृति को उसका अमूल्य योगदान है।

सर्वकल्याण की आधारशिला है एक ही आत्मा का सर्वव्यापी होना। जो मानव जितना अधिक अद्वैत की चेतना से दूर और खण्ड की सत्ता पर आश्रित होगा वह उतना ही अधिक स्वार्थी, अहंकारी, संकीर्ण और मोहग्रस्त होगा। वस्तुतः जिस मनुष्य की दृष्टि **आत्मवत् सर्वभूतेषु** होती है वह समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह पूर्ण निष्ठा के साथ करता है।

ईशोपनिषद् ने अपने अभीष्ट को स्पष्ट करते हुए कहा है—

> **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।**
> **सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।**[5]

अर्थात् वह प्रज्ञावान् जो सब प्राणियों को अपने में ही देखता है तथा सब प्राणियों में अपनी ही आत्मा देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता। तथा

> **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यत्मैवाभूद् विजानतः।**
> **तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।**[6]

★ रीडर, संस्कृत विभाग, दयालबाग शिक्षण संस्थान (डीम्ड यूनिवर्सिटी), आगरा, उत्तर प्रदेश

अर्थात् उस ज्ञानी को कौन सा मोह, कौन सा शोक हो सकता है, जो प्राणियों को अपनी आत्मा का स्वरूप जानकर एवं प्राणियों के एकत्व का साक्षात्कार करता है।

ईशोपनिषद् के ये दोनों मन्त्र सर्वोच्च आध्यात्मिकता का संदेश देते हैं। यही सर्वोच्च दर्शन है और यही चरित्र तथा लोक कल्याण की सर्वोच्च कसौटी है। इस अनुभूति के द्वारा ही मनुष्य सबके साथ अपनी मूलभूत एकता का अनुभव करता है और इसके द्वारा ही वह अपने जीवन की पूर्णता तक पहुँच कर विश्व प्रेम और लोक कल्याण की ओर प्रवृत्त होता है। '.....ततों न विजुगुप्सते' में 'विजुगुप्सते' का अर्थ घृणा है इसका अर्थ संकीर्णता और गोपनभाव भी है। संकीर्णता, गोपनीयता तथा घृणा सब पृथकत्व भाव से उत्पन्न होते हैं। पृथकत्व भाव के अभाव में दूसरे प्राणियों के प्रति व्यापक मैत्री और कल्याण भावना का उदय होता है तथा अपने अन्दर ऐश्वर्य और शान्ति का अनुभव होता है।

उपनिषद् का तत्त्व दर्शन एकता का, साम्य का ज्ञान कराता है। जिसका उद्देश्य है भिन्नत्व के भेद का नाश, अज्ञान के उस मूल पाप का नाश जो मानव को जीवन की मुख्य धारा से पृथक कर देता है। एकता के दर्शन को ही जीवन मानते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है कि—"एकता का दर्शन ही जीवन है, अनेकता का दर्शन ही मृत्यु है। जो नानात्व को देखता है, एकत्व को नहीं देखता वह मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है।"[7]

समस्त औपनिषदिक साहित्य में भिन्नत्व भाव की निन्दा मिलती है तथा समस्त सृष्टि के साथ मनुष्य की आध्यात्मिक नातेदारी के भाव पर बार-बार जोर दिया गया है। यह मौलिक एकता, यह अभिन्नता आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन का भी विषय है। विज्ञान का सबसे बड़ा आविष्कार भौतिकी और जैविकी में भी यही भाव निहित है। भौतिकी पार्थिव व खगोलीय घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का आविष्कार करती है और जैविकी जीव संरचनाओं के बीच और जीवों तथा इनके प्राकृतिक परिसरों के बीच शृंखलाबद्धता स्थापित करती है। एक जीव संरचना दूसरी के साथ एक जैव सांतत्यक में शृंखलाबद्ध है। जहाँ तलदृष्टि भिन्नता देखती है, गहरी वैज्ञानिक दृष्टि शृंखलाबद्धता देखती है। उपनिषदों ने इस मौलिक एकता को मन के अध्ययन द्वारा और अन्तर में ध्यान द्वारा पाया था। उपनिषदों का यह दृढ़ विश्वास है कि एकता प्रकृति की योजना है। इस प्रकार उपनिषदों का ब्रह्मज्ञान सर्वात्मभाव है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ही नानारूपात्मक जगत् में अभिव्यक्त हो रहा है।[8] इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्म का रूप मानकर व्यक्तित्त्व के विकास, सामाजिक कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के अनुष्ठान का ऐसा सुन्दर विधान है जिससे स्थिर और सुरक्षित समाज का निर्माण और विकास करने में मानव समर्थ हो सकता है।

स्वयं जीने और दूसरों को जीने देने की भावना, अपने साथ दूसरों का अस्तित्त्व विद्यमान रखने की भावना ही 'सहअस्तित्ववाद' कहलाता है और उपनिषद् साहित्य इसी 'सहअस्तित्त्ववाद' की लोक कल्याणकारी अवधारणा से अनुप्राणित है। उसकी कामना है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

अर्थात् सम्पूर्ण भूमण्डल पर स्थित प्राणधारी मनुष्य तथा जीव जन्तु सभी सुखी हों, किसी को कष्ट न हो,

सब निरोग रहें, धनधान्य से पूर्ण हों, सब सन्मार्ग के पथिक हों तथा भद्रभावदृष्टि रखते हुए किसी को दुःख न देकर परस्पर सहयोग की भावना से ओतप्रोत होकर जीवन धारण करें। क्योंकि 'व्यक्तिगत सुख तो अल्प है समष्टिगत सुख ही परमार्थ रूप में सुख हैं।'[9]

गुरु और शिष्य के सह-अस्तित्व का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् कहती है कि 'हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनों की, साथ-साथ सब प्रकार से रक्षा करें, हम दोनों का आप साथ-साथ समुचित रूप से पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-साथ सब प्रकार से बल प्राप्त करें। हम दोनों की अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो कहीं किसी से हम विद्या में परास्त न हों, हम दोनों जीवन भर परस्पर स्नेह सूत्र में बंधे रहें, परस्पर कभी द्वेष न हो। हमारे तीनों तापों की निवृत्ति हो।'[10]

सह-अस्तित्ववाद की इसी भावना का समर्थन प्रश्नोपनिषद् में किया गया है—'हे देवगण! हम अपने कानों से सदैव शुभ कल्याणकारी वचन ही सुनें, नेत्रों से सदा कल्याण का ही दर्शन करें। हमारा शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ़ एवं सुपुष्ट हों जिसके द्वारा हम भगवान का स्तवन करते रहें।.....महान् कीर्तिमान देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अनिष्ट निवारक तार्क्ष्य (गरुड़) तथा बुद्धि के स्वामी बृहस्पति ये सभी देवतागण सदैव हमारे कल्याण का पोषण करें। इनकी कृपा से प्राणिमात्र का कल्याण होता रहे तथा अध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभी प्रकार के तापों की शान्ति हो।"[11] ऐतरेयोपनिषद् में भी परमात्मा से अपनी तथा ब्रह्मविद्या सिखाने वाले गुरु की रक्षा तथा त्रिविध तापों से मुक्ति के लिए प्रार्थना की गई है।[12]

'तैत्तिरीयोपनिषद्' में प्रार्थना की गई है कि सूर्यदेव हम सबके लिए कल्याणकारी हों, वरुण देव हमारे लिए कल्याण करें, इन्द्र और वरुण देव हमारे लिए कल्याणकारी हों, विशाल पराक्रम वाले विष्णु हमारा कल्याण करें.....हे सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर हम सबको सत् आचरण एवं सत्य भाषण करने की शक्ति प्रदान करके इस जन्म मरण रूप संसार चक्र से हमारी और हमारे आचार्य की रक्षा करो तथा चारों ओर शान्ति का वातावरण स्थापित करो।[13] अन्यत्र भी 'हम दोनों का यश एक साथ विकसित हो, हम दोनों का ब्रह्मतेज एक साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर हो'[14] इस प्रकार की सह-अस्तित्ववाद की भावना को प्रकट करते हुए समता, एकता, एकरूपता तथा समान व्यवहारों के प्रति विशेष आग्रह उपनिषदों में विद्यमान है।

मनुष्य की स्वार्थपरता और शोषक वृत्ति सर्वदा समाज के लिए घातक रही है। इसलिए ईशावास्योपनिषद् ने **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**[15] कहकर त्यागपूर्वक सांसारिक वस्तुओं को ग्रहण करने तथा अपने क्षुद्र अहं से ऊपर उठकर आत्म-स्वरूप को पहचानते हुए सबके लिए प्रेम और सेवा का भाव अपने अन्दर लाने का उपदेश दिया है। औपनिषदिक सार्वजनीनभुक्तिवाद मानव को लोक कल्याण की पावन अनुभूति से आप्लावित कर देता है, **मा गृधः कस्य स्विद्धनम्** कहकर मानव की परिग्रह वृत्ति का निषेध किया है, क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि लोभ के कारण ही मनुष्य की प्रवृत्ति अधिकाधिक परिग्रह की हो जाती है चूंकि परिग्रह की कोई सीमा नहीं होती अतः मनुष्य केवल अपने स्वार्थ में ही जीने लगता है तथा समाज का शोषण भी करने लगता है। उपनिषदों ने इसी वृत्ति के पूर्ण परित्याग का उपदेश देते हुए सांसारिक पदार्थों को अनासक्त भाव से मात्र जीवन धारण करने के लिए उपभोग करने का परामर्श दिया है।

'अन्न' मनुष्य को शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक ऊर्जा प्रदान करता है और इस ऊर्जा को उपनिषदों ने आत्मिक उन्नति का अनिवार्य साधन माना है।[16] अतः ऊर्जा प्रदायक अन्न पर समस्त प्राणियों का समान अधिकार है। इसी से साम्य रखता हुआ भाव बृहदारण्यकोपनिषद् में कुछ इस प्रकार मिलता है—"सृष्टि के पिता ने 'मेधा' और 'तप' से सात अन्न उत्पन्न किये। इनमें से एक साधारण अन्न है जिसका उपभोग किया जाता है। यह अन्न सबका सांझा है, उसे जो अपने लिए रख लेता है, वह पाप से नहीं छूटता, उसे तो सबके साथ बांटकर खाना चाहिए...."[17] तैत्तीरोयपनिषद् में भी इसी प्रकार का भाव दृष्टव्य है। वस्तुतः **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा....** की उदात्त भावना ने मानव कल्याण ही नहीं अपितु विश्व कल्याण का भी मार्ग प्रशस्त किया है।

अपने देश और राष्ट्र भूमि के लिए—निष्ठा, समर्पण भाव लोक कल्याण का ही एक पक्ष है। अपनी सामूहिक सम्मानपूर्ण सत्ता बनाये रखने के लिए यह परम आवश्यक है कि जन्मभूमि और देश की तन-मन-धन से सुरक्षा की जाये, उसकी उन्नति के लिए क्रियावान् बनें तथा कामना करें—हे ब्रह्मन् हमारे राष्ट्र के ब्राह्मणों में तेज हो। हमारे राष्ट्र के क्षत्रिय महारथी, शत्रुओं के विनाश करने वाले हों। हमारे राष्ट्र की गौवें अत्यधिक दुग्ध देने वाली तथा बैल एवं अश्व अधिक बलशाली हों।....हमारे राष्ट्र में बादल नियत समय पर वृष्टि करें तथा धरती का ताप मिटायें.....हे ब्रह्मन् हम अपनी स्वाधीनता के योगक्षेम की रक्षा कर सकें। ऐसा हमें वरदान दीजिए।[18] यजुर्वेद के इसी कथन का समर्थन 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में किया गया है 'मेरी अर्थात् मानव की मेधा नवीन ज्ञान का आह्वान करती रहे, उसका विस्तार करती रहे तथा शीघ्र बढ़ती रहे, मुझे वस्त्र, गाय आदि पशु तथा अन्नपान सदा प्राप्त रहे, इन सब वस्तुओं से मैं सम्पन्न रहूँ, मुझे लोमश पशु भी प्राप्त हों, इन सब धनधान्यों को पाकर भी मैं ब्रह्मार्पण कर दूँ। अर्थात् सब कुछ प्राप्त कर मानव यह कामना करता है कि मैं जो कुछ प्राप्त करूँ, उसे देश के युवकोंके पालन में अर्पित कर दूँ।[19]

राष्ट्रीय भावना से समन्वित केनोपनिषद् का यह कथन कि "राष्ट्र में रहने वाले प्रत्येक वर्ग, आश्रम, जाति तथा सम्प्रदायों में न कोई श्रेष्ठ है न अश्रेष्ठ। राष्ट्र की उन्नति अर्थात् विजय में ही सबकी विजय है।"[20] तथा कठोपनिषद् का यह प्रेरक उद्घोष **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**[21] राष्ट्र कल्याणकारी भावना से सम्पृक्त है।

वस्तुतः राष्ट्र उन्नति में ही मानव की उन्नति है। अद्वैत वेदान्त में नानात्व दर्शन को बन्धन और क्लेश का हेतु तथा एकत्व दर्शन को सुख का हेतु कहा गया है। एकत्व शक्ति को राष्ट्र के लिए अत्यधिक बलशाली माना गया। एकता में ही राष्ट्र का श्रेय निहित किया गया है। यही राष्ट्र के छिन्न-भिन्न होने का प्रमुख कारण है।

अतः राष्ट्र की अखण्डता एवं प्रगति तभी सम्भव है जब उसमें रहने वाले नागरिकों में प्रगाढ़ एकता रहेगी। हमारा सम्पूर्ण राष्ट्र तथा उसके निवासी सुखी हों, समृद्ध हों, यशस्वी हों, शान्त हों, निरोग हों, स्वस्थ हों, चिरायु हों, स्वाभिमानी हों, सुशिक्षित हों और सम्पूर्ण विश्व के शुभचिन्तक हों। यह मंगल कामना उपनिषदों में लोक कल्याणकारी अवधारणा की परिचायक है।

श्रेय-प्रेय का मूल स्रोत है 'आचार' अर्थात् जिस व्यवहार से मनुष्य स्वयं कल्याणभागी होता है साथ ही जिससे समाज का भी हित सम्पादन होता है, समाज के सौहार्द और सामञ्जस्यपूर्ण व्यवहार की अभिवृद्धि होती

है वही सदाचार है। मनुष्यों के सदाचरण से ही लोक का कल्याण सम्भव है—इसी विचार से उपनिषदों ने सदाचरण पर विशेष बल दिया है। कठोपनिषद् में वर्णित है कि दुराचारी व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता।[22] उपनिषदों ने सामाजिक आचार-संहिता की नींव तप, दम और कर्म स्वीकार किये हैं।[23] ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए तप, इन्द्रियों पर नियन्त्रण तथा नियन्त्रित कर्म दृढ़ आधार है। भारतीय आचार्यों ने कर्म का क्षेत्र कभी भी मनुष्य तक सीमित नहीं किया। इस जगत् में ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक जितने भी प्राणी हैं, उन सबसे हमारा सम्बन्ध है, उन सबके ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग से हमारा कल्याण हो रहा है। आचार शब्द आधार सापेक्ष है। इसके आधार हैं—विचार, भाव और पर्यावरण। विचार ही क्रिया रूप में परिणत होकर आचार कहलाते हैं। मनुष्य का आचार-व्यवहार, भाव, जैविक क्रियाओं तक सीमित न रहकर विकसित तथा ऊर्ध्वगामी होता है।

निष्कर्षतः उपनिषदों ने मानवता को जो यह आत्मदृष्टि दी वही लोक कल्याण की आधारशिला है। औपनिषदिक आध्यात्मिकता सर्वकल्याण के चिन्तन से निःसृत है और यही भाव मनुष्य के लिए शक्ति का परम स्रोत है—**आत्मना विन्दते वीर्यम्**[24] यह शक्ति नितान्त रचनात्मक और कल्याणमय है। कोई भी कार्य तभी सबके लिए कल्याणकारी होगा जब वह अहंकार, आसक्ति और स्वार्थ से शून्य हो। कर्म में अहंकार शून्यता, अनासक्ति भाव और निःस्वार्थ का समावेश ही उसे सर्वश्रेष्ठ गति और वास्तविक सृजनात्मक शक्ति प्रदान करता है जिससे मानव सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझता हुआ, लोक कल्याण की ओर प्रवृत्त होता हुआ 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की उदात्त एवं दिव्य भावना से ओत-प्रोत हो जाता है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. छान्दोग्योपनिषद् 3.13.1
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 2.2.3
3. कठोपनिषद् मंगलाचरण
4. ईशोपनिषद् 6
5. ईशोपनिषद्-6
6. ईशोपनिषद्-7
7. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
   मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।
   (कठो0 2.1.11)
8. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
   त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः।। (श्वेता0 4-3)
9. छान्दोग्योपनिषद् 7-23-2
10. ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
    तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।
    ओ३म् शान्तिः। शान्तिः।। शान्तिः।।। कठोपनिषद् मंगलाचरण

11. ओ३म् भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ओ३म् शान्तिः। शान्तिः।। शान्तिः।।। प्रश्नोपनिषद् शांतिपाठ
12. अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्
ओ३म् शान्तिः। ओ३म् शान्तिः।। ओ३म् शान्तिः।।। ऐतरेयोपनिषद् शान्तिपाठ
13. शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णु।। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋृतं वदिष्यामि।। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम् अवतु वक्तारम्।। ओ३म् शान्तिः। ओ३म् शान्तिः।। ओ३म् शान्तिः।।। तैत्तिरीयोपनिषद् शान्ति पाठ
14. सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। तैत्तिरीयोपनिषद् 1-3-1
15. ईशोपनिषद्–1
16. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो। मुण्डकोपनिषद् 2.4
17. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.5.2
18. यजुर्वेद 22/22
19. आ वहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासाँसि मम गावश्च। अन्न पाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। (तैत्तिरीयोपनिषद् 1.3.1-2)
20. केनोपनिषद् तृतीय खण्ड
21. कठोपनिषद् 1.3.14
22. नाविरतो दुश्चरिता त्....प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। कठोपनिषद् 1.2.24
23. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्। केनोपनिषद् 4/8
24. केनोपनिषद्।

Science In The Upaniṣads

Dr. Bidyut Lata Ray ★

Prolegomenon :

The Vedic literature is the most ancient literature which marks the beginning of Indian literature. It is also the first fulllength religion and literary account of the Indo-European people. This vedic literature comprises the Saṃhitās, the Brāhmaṇas, the Āraṇyakas, the Upaniṣads and the Kalpasūtras. These texts highly portray the microscopic observation of the vedic seers on macroscopic subjects of humānism. Since, the Veda is not only a religion text, but also a literature of the most ancient civilization, a primordial source of humān knowledge, ''Knowledge par excellence'', people are always interested in it to discover the various branches of knowledge that underneath the sacred hymns.

The very name 'Bṛahmans' suggests that they are the 'interpretation of the Brahman' and at the same time 'compilation of accepted interpretation' by the Bṛahmins. The Brāhmaṇas deal with the sacred science and interpret the Brahman. These texts were primarily concerned with the rites for which they were meant. All the sacrificial needs, procedures and the results are displayed by them. Each Veda has its own Brahman text.

There are two sections of the Vedic literature in a broad sense. These are Karmakāṇḍa and Jñānakāṇḍa. The first section consists of the Samihitas and the Brāhmaṇas while the second one bears the Āraṇyakas and the Upaniṣads. The first one is the section of work and the second one is the section of knowledge. The Ārayṇyakas are the 'forest texts' which are kept away from the public and read in isolation in the forest. This is because they contain at least abstruse works having magical power.[1] Most of these texts are composite works and contain mantra, Brāhmaṇa and even elements of Sūtra.

★ Reader and Head, Deptt. of Sanskrit, R.M. Mahavidyalaya, (Utkal University), Orissa

The Upaniṣads are, in the old sense of the word, the Vedānta, the 'end of the Veda'. They represent the way of knowledge, the jñānamārga while the other vedic texts deal with the way of action, the Karmamārga. They are the works of scientific rather than religions purport. By way of different lessons, frequently cast in the form of dialogues or in the form of fables, aphorisms and puzzles, the Upaniṣads keep an enge to introduce the learner the final objectives of the sacred teaching and hence to establish a kind of metaritualism. Due to presentation of the magical aspect in the dialogues, the Upaniṣads might be defined as dialectic on a magical basis.[2]

Finally, vedāṅga kalpa, is divided into four sections, namely, Śrauta (sacrificial), Gṛhya (domestic), Dharma (social) and the minor Śulva (science of measurement). Obviously, there exist two major divisions of the Vedāṅgas : (a) religions which includes Śrauta, Gṛhya and Dharma; and (b) Secular, consisting of Śulva, Sikṣa, Chandas, Vyākaraṇa, Jyotiṣa and Nirukta. In addition to these, there are also ancillary texts prāyaścitta (expiatory), pariśiṣta (complementary), śraddhā et seq. Out of all the Sūtras composed during the Sūtra period, the Kalpasūtras are probably the most significant ones in providing the cultural history of India. The Kalpasūtras mainly deal with the Kalpa, i.e. ritual. They are devoted to vedic sacrifices, household ceremonies and customary law. The knowledge of the Vedic Sainhitas and the Brāhmaṇas of the respective schools are found reflected in the Kalpasūtras.

The Upaniṣads :

There are both the vedic and non-vedic Upaniṣads. Vedic Upaniṣads are 14 in number. These are the Bṛhadāraṇyaka, the Chāndogya, the Aitareya, the Kauṣītakī, the Kena, the Taittirīya, the Īśa or Īśāvāsya, the Kaṭha or Kāṭhaka, the Śvetāśvatarva, the Mahānārāyanīya, the Muṇḍaka, the Praśna, the Māṇḍūkya and the Maitri or Maitrāyonīya.

Belvalkar adds to this list the Vāṣkalamantra, a sort of human to Indra inspired by the Ṛgveda. Schroder[3] describes this as the precursor of all the known Upaniṣadic literature. This short text, according to one school, is called the Chāgaleya, which narrates the relations of the soul and the body by the parable of the chariot. It is named as Ārṣeya containing different opinions of the four theologians as regards to the definitions of the brahman. As this short treatise consists of an allegory concerned with ritual, it is also called the Śaunaka.[4]

On a broadline, the Upaniṣads can be divided into two categories, viz., prose Upaniṣads and Metrical Upaniṣads. The earliest Upaniṣads are in prose, with some

sententious verses and occasional lyrical passages. Such prose form Upaniṣads are the Bṛhadāraṇyaka, the Chāndogya, the Aitareya, the Kauṣītaki, the Kena, the Taittirīya and the Īśāvāsya. The second group consists of the Kaṭha, the Śvetāśvatara, the Mahānārāyanīya, the Muṇḍaka, the Praśna, the Māṇḍūkya and the Maitrāyanīya. These meterical form Upaniṣads are almost entirely in verse form and their connections with the Veda are not so intense.

The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad deals with cosmology, eschatology, ethics and other miscellaneous content adhering to metaphysical discourses. The Chāndogya Upaniṣad covers discourses on Sāman mysticism. It contains doctrines attributed to cosmology and metaphysics. The two Upaniṣads, Bṛhadāraṇyaka and Chāndogya have many passages in common like the theory of sleep, that of the five fires and of the two ways, the dispute about precedence among the sense-organs, the elixir of power, et seq.

The Aitareya Upaniṣad depicts the creation of the world by the ātman, the triple birth of the ātman, and its pantheistic essence. Various elements of the creation are mentioned here for the first time. The Kauṣītaki Upaniṣad mentions contemporary social customs, interprets dreams and treats of reincarnation and other original eschatological doctrines and also the theory of breath and that of the ātman. The Kena Upaniṣad deals with cosmology as well as ātman. Here, the ātman is conceived as the indwelling spirit that inpels the sense perceptions. The Taittirīya Upaniṣad adheres to semimystic relationships on cosmic, astronomical, intellectual, physical and spiritual elements. This Upaniṣad is splitted into the "Vine of Instructions", precepts and prayers for the use of the pupil.

The last chapter of it equates Brahman with various elementry like food, the vital air, mind, knowledge and bliss, but rests solely on food. The Īśavasya Upaniṣad throws light on the four strata of life, teaches the inefficancy of works. It says all that matters is to know the atman, which is present in all essences and overcomes all differences.

The metrical Upaniṣads include the Kaṭha, the Śvetāśvatara, the Muṇḍaka, the Mahānārāyaṇa, the praśna, the Māṇḍūkya and the Maitrāyaṇīya texts which are in the verse-form. The Kaṭha Upaniṣad deals with the episode of Yama-Nachiketā, Yama (the god of death) teaching Nachiketa about the destiny of a person after life. The identity of atman-brahman, and a series of attempts to state the nature of these entities have been depicted here in the Kaṭha Upaniṣad. The story of Nachiketa has been derived from a legend in the Taittirīya-Brahmaṇa and seems to refer to an initiation into the mysteries.

The Śvetāśvatara Upaniṣad deals with the characteristics of Rudra-śiva. Barth[5] opines that the Śvetāśvatara is a śaiva Bhagavadgītā. According to Hour[6], the work has

monotheistic approach on which the ideas of Sāṁkhya-yoga have been mingled. The basic Sāṁkhya elements of puruṣa, prakṛti, the three guṇas are all present here. Creation is described as an evolution. Sāṁkhya approach to psychology and metaphysics are clearly observed here in this Upaniṣad.

The Muṇḍaka Upaniṣad is attached to the Atharvaveda. It extols the 'high knowledge' of the Brahmaṇ, from which the world emanates. Here, the autor partially distinguishes Brahman from the individual Ātman. This work contains both the passages and the verses, which have closer relationships with ritual practices. Still, it adherses to mysticism to some extent. Like the Kena, Muṇḍaka betrays influence of Buddhism and also quite open saivite bearnings.

The Mahānārāyaṇīya or Bṛhannārāyaṅīya Upaniṣad of the Kṛṣṇa Yajurveda describes prajāpati as the creative principle and analyses his creation. It is based on the pantheon of a later period. It adheres to the late epic-puranic theophanies which include siva, surya, Viṣṇu and kārttikeya alongwith the goddess Durgā under various names. Demons, gnomes and goblins are freely mentioned in this Upaniṣad. Doxologies addressed to various gods bear close resemblance to epic-puranic content, as also rituals belonging to a later period. The myths and legends of Mahānārāyaṇīya Upaniṣad are distinctly sectarian. It holds the Great Nārāyaṇa on the divinised form of the cosmic ātman and hence the name justified.

The Praśna Upaniṣad has a relationship with the Atharvaveda. Its text is composed half in verse and half in prose form. The replies given by the sage Pippalada to his six pupils shape the body of its content. These questions are (a) Whence comes life?, (b) how many deities uphold the creature?, (c) from where the vital breath derives?, (d) what is the nature of dreams?, (e) what is the meaning of the sacred syllable Om?, and (f) what are the sixteen parts which constitute man? The answers explain the philosophical nature of the creation and persistence of life on earth.

The Māṇḍūkya Upaniṣad belonging to the Atharvaveda establishes the fundamental doctrine of the later Vedānta philosophy. The Brahman under the symbol of the syllable Om has been described here in short sentences, since the entire work has been last in prose-form. According to Weber, this Upaniṣad is directly attached to the Atharvaveda and is sectarian in nature. This is evident from the observation that those Upaniṣads which are directly attached to the Atharvaveda are to some extent sactarian in their contents in which respect they reach down to the time of the Purāṇas.[7]

The Maitrāyaṇīya Upaniṣad deals with material of miscellaneous nature in its sixth chapter which throws much light on the social and religions life of the period. Sāṁkhya and

yoga have been portrayed prominently alongwith the trial of Brahman, Viṣṇu and siva, and their three guṇas and three different cosmic functions. It has discourses on the concept of the bhūtātman, the phenomenal self that works under cosmic illusion, maya, and prescribes a path for its astronomical speculations, Sun worship, social morality, late practices like hatha-yoga and the seven mystical sounds which is heard by a meditating man during his yoga practices, etc. These facts are no doubt non-Upaniṣadic in nature with an admixture of elements of folk religion rising to the surface and gaining admittance in the official canon.[8]

This Upaniṣad is nothing but a series of lessons imported by the sage Śākāyanya to the prince Bṛhadratha on the origion of life and of consciousness. Buddhist influences have been discrened, perhaps wrongly, in it.[9] The Maitrāyaṇīya Upaniṣad contains innumerable interpolations which greatly mar the consistency of the text.[10] According to Tsuji, this Upaniṣad exceptionally contains spurious doctrines most probably alluded to Buddhism.[11]

The Kalpasūtras :

Vedaṅga Kalpa is divided into four sections, namely, Śrauta (sacrificial) Gṛhya (domestic), Dharma (social) and the minor Śulva (science of measurement).

The Upaniṣads represent the results of the first plunge of human mind into the depths of metaphysical speculation; and investigate such abstruse problems as the origion of the universe, the nature of the supreme, the nature of the human soul and the relation of spirit and matter.[12]

The etymology of the word Upaniṣad is doubtful. It probably signifies sitting down near somebody, in order to listen or meditate and worship (Upa-ni-sad); so that it would express the idea of a session or assembly of pupils sitting down at a respectful distance round their teacher (guru). However, the word Upaniṣad commonly means the secret doctrine—a digest of the principles and mysteries contained in the Vedas. Some Indian philosophers derive the word from the root sad, in the sense of destruction. Ostensibly, this means that the secret doctrin, fully apprehended, would destroy all passion and ignorance, and all knowledge derived from the senses merely—all knowledge save that of the self.[13]

A religions systêm is considered valid in India only when it is supported by the Vedas (śruti); hence the founders of religious sects have sometimes written books and called them Upaniṣads in order to give their views scriptural authority. The Allah Upaniṣad, for instance, was composed in the sixteenth century, during the reign of emperor Akbar. The Muktika Upaniṣad, a work belonging to the tradition of the Yajurveda, mentions 108

Upaniṣads. The teachings of the Upaniṣads alongwith those of Bṛahmasūtras and the Bhagvad Gītā form the basis of Vedānta philosophy. But, the great Ācāryas like Śaṅkara, Rāmānuja and Mādhava have interepreted the Vedānta differently. The Upaniṣads undoubtedly represent the highest product of the Indian mind, still the Vedānta philosophy has its interpreters in Europe and Germany. Berkeley's Idealism, though essentially different, seems to be somewhat similar to the vedanta philosophy as represented by professor Max Muller. The names of German philosophers like Kant, Schopenhauer and Deussen are significant in this respect. Modern Hindu vedantists believed that the school of German thought was first expressed by Kant, then completed by Schopenhauer and further elaborated by Deussen. Such exposition and interpretations bring the western world nearer and nearer to the Advaita Vedānta. The Vedānta is claimed to be the key to all religions, the way for studying all. According to Deussen, the system of Vedānta is "equal in rank to Plato and Kant, and is one of the most valuable products of the genius of Mankind in its quest for the eternal truth.

Upaniṣadic Metaphysics :

The Philosophy of the Upaniṣads includes the quest for the cause of the Universe, the theory of the Ātman and Brahman, the nature of the Supreme Being, whether it possesses qualities (Saguṇam) or is destitute of qualities (nirguṇa), and the knowledge of Supreme self and the finite self et seq. The Upaniṣads contain the science of the ultimate truth. The subject matter of the Upaniṣads is the Doctrine of the self, that the Absolute, which transcends time and space, and causality and yet every thing is that the Ātman or Brahman. The Upaniṣadic doctrine of Self does not deny the world, but yet is rigorously monistic. According to the philosophy of the Upaniṣads, the multifold creations are resolvable into one, that the essence of the entire universe is one, and that is the self or Brahman.

The fundamental thought that runs through the whole body of the Upaniṣads is the sole reality of Brahman, or Ātman. The manifold world is not different from Brahman. Though Brahman is immanent, it is at the same time remained transcendent. "It is inside all this and outside all this." The Ṛgveda states that Brahman covers the whole universe and yet transcends it by the measure of ten fingures. The Upaniṣads declare 'Other than the known, and more than the unknown is that'. According to the Īśopaniṣad, "Īśā vāsyam idam sarvam."[15] Everything is enhabited by Īśa or Brahman. "Neha nanasti Kincan" meaning there is no plurality at all.

The central teaching of the Upaniṣads is that the Atman is the soul reality, and that

Pṣappaibad...
Prāṇa; from
from food ...
He created ...
Obviously, ...
The ...
soul leaving
greater dist...
the descripti...
from, potter ...
Upaniṣads.

Flora ...
birds, micro ...
species menti...
bird et seq. in
here.

In the ...
universe behin...
The highest ...
and in every ...
Infinite Being
psychological ...
associated with ...
Universe is due ...
ultimate source ...
energy conden...
Devine nature, ...

References & ...

1. Oldenberg, ...
2. Renou, L., ...
3. Schroder, L. ...
4. Renou, L., ...

eside it. Therefore, with the knowledge of the Ātman, everything is
ıt of view, there is no universe outside of the Ātman. The idealistic
ty of the Ātman is asserted by the existence of a real universe, and it
the Ātman.[16] The Upaniṣadic view that Brahman is the sole reality,
ere exist things beyond Brahman, which are illusory. Chakravartī[17]
g is real, since all are moments in the all-comprehensive reality of
is within the self or Brahman. The neti-neti of Yājñavalkya just
.s something unique and distinct from the empirical.[18] R.E. Hume
ı theory and the Brahman theory become merged together in an
he Upaniṣads.[19]

;

ɜ Upaniṣads are purely scientific, though based on philosophy and
ds are practically the only portion of vedic literature which contain
n which the various systems of Indian philosophy dwell. According
Vedānta is the string upon which the gems of the Upaniṣads are

we find the nature-worship of the Vedas, especially of the Sun, and
science of creation of the living organism has been explained in the
ıe self divided himself into two, i.e. Prakṛti and Puruṣa representing
ı these two, everything was created and which continued to exist in
ɜst organisms.

cause of the universe, the Upaniṣads abound in numerous creation-
:o trace the universe to some first cause, and describing how and
ated the universe. In the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, we trace a very
hich states, "In the beginning, this world" was soul alone in the
oking around, He saw nothing else than himself...He desired a
;e is explained in terms of manifold phenomena, such as water,
ing, being and the Imperishable. Thus, with regard to water as the
n the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad that initially only water was present.
ıg from water. The Chāndogya Upaniṣad says, "It is just water
create this earth....atmosphere...sky...gods and men, beasts and
Reverence Water."[21] The reason for regarding water on the source
that life is impossible without water. As the Chāndogya mentions

that living beings perish without rain.[22] Likewise, it is said that food (earth) is the source of all things, because the creatures perish without food.[23] Though these theories are crude, they make a tremendous advance in philosophical thought, for here the thinker turns away from the anthropomorphism of an earlier day and all explanations in terms of gods and goddesses, and seeks to interpret the universe, not in terms of some creation of his imagination, but in terms of a principle known to him in everyday experience.[24]

Like water and food (earth), the wind or the air has also been taken as the ultimate, because the living organisations can not live without air or wind (the breath). The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad holds that air never seems to take rest unlike fire which soon exhausts itself, and the Sun and Moon which daily set and thus take their rest.[25] Ostensibly, the Upaniṣads refer to the natural phenomena like Air, Water, Earth, Sun and Moon et seq. The texts also mentions the existence of the living and non-living organisms while refering to breathing. When breath ceases, the organs die and soon become non functioning in sense and activities.

The elemental forces of nature such as fire, water, Sun and Moon are seen to disappear into air or wind. The wind verily is a snatcher unto itself. Verily, when a fire blows out, it just goes to the wind. When the Sun sets, it just goes to the wind. When the Moon sets, it just goes to the wind. When water dries, it goes up and hence goes to the wind. Really, the wind snatches all here to itself, referring to oneself, the Upaniṣads mention that Prāṇa is verily a snatcher unto-itself.

Besides the above principles, the Upaniṣads also throw light on the conception of space. Truly, all things arise out of space. They disappear and arise out of space. They disappear back into space, for space alone is greater than these; space is the final goal.[26] The space is termed as non-being from which everything was emanated. Again non-being was not meant more nothingness; but some form of characterless existence.[27] To some scholars, in the beginning, this world was just non-being (asat) from which sprang being (sat). How could this happen? This could take place due to ignition which comes from heat of the fire or Agni. Verily three elements are responsible in creating the universe. These three elements are heat, water and food. The great sage Bhargu, the son of Varuna realized that Prāṇa, mind, and intellect (vijñāna) represent Brahman. He also said that food is Brahman and bliss (ānanda) is latent in Brahman. Evidently, Brahman is essence of all. All the gods and all the powers hitherto recognised one subordinate to Him. The gods like Agni and Vāyu are functionless unless power is fed to them by Brahman.[28] On the other hand, the reality is the Ātman, which has been described as Puruṣa. In Praśna Upaniṣad,

Pṣappaibada describes the self as Puruṣa with sixteen parts. The self or puruṣa created Prāṇa; from Prāṇa sprang faith, space, air, fire, water, earth, the organs, mind, and food; and from food arose virility, austerity, the vedic hymns, sacrifice, the worlds; and in the worlds, He created names.[29] Like Brāhmaṇa, the Ātman was conceived as the cause of the world. Obviously, the two world-grounds, Brahman and Ātman are not different and separate.[30]

The Upaniṣadic literature also refers to astrology and strange astronomy, such as the soul leaving the booz and passing through the air, coming first to the Sun, and then at a greater distance, ascending to the Moon. The Hindu belief about eclipses is also found in the descriptions of the moon escaping from the mouth of Rāhu. The sciences of smelting from, pottery, wheelmaking and the chemistry of metals are also mentioned in the Upaniṣads.

Flora and fauna of the Upaniṣads include the trees, plants, herbs and some animals, birds, micro-organisms also. Rice, corn, sesamum and beans are the significant botanical species mentioned here. One can find lion, boar, dog, hog, fish, serpent, ant, worm, insect, bird et seq. in the Upaniṣads. Elaborate doctrine of transmigration and rebirth is also traced here.

In the views of Śaṅkarāchārya and Rāmānujāchārya, there is the supreme soul of the universe behind all the phenomena and mythology of Nature, and behind the Vedic deities. The highest self or the Paramātman—the Absolute is present in every object of the nature and in every natural processes. This is quite similar to the idealism of Plato, or to the Infinite Being of Spinoza, or to Hegel's Rationality of the Universe, though more psychological or spiritual than either of them. The supreme Being is believed to be associated with certain power called Māyā or Avidyā to which the appearance of the Universe is due. In this respect, it is worth-mentioning here that science also believes in the ultimate source of this creation, which is nothing but Energy. Materialism is created from energy condensed and energy and matter are co-existing. The material world is a part of the Devine nature, i.e., the finite is the infinite.

References & Notes

1. Oldenberg, H., The Religion of the Veda, Berlin, 1890
2. Renou, L., Vedic India, Indological Book House, Delhi, 1971, p. 34.
3. Schroder, L. Von, Mysterium and mimus in Rgveda, Leipzig, 1908.
4. Renou, L., op. cit., p. 37.

5. Ibid, p. 36
6. Ibid.
7. Weber, A., The History of Indian Literature, p. 29
8. Bhattacharya, S., Literature in the Vedic Age, Vol. 2, K.P. Bagchi and company, Calcutta, 1986, p. 180.
9. Renou, L., op. cit., pp. 36-37.
10. Van Buitenan, J.A.B., The Maitrāyaṇīya Upaniṣad, Ch. III p. 1.
11. Tsuja, N., Studies in Indology and Buddhology, etc., Tokyo, 1955, p. 93.
12. Bhattacharya, A.N., One Hundred and Twelve Upaniṣads and Their Philosophy. 2nd Edn., Parimal Publications, Delhi, 1999.
13. Ibid, p. 2
14. Ibid.
15. Īśopaniṣad, I.
16. Deussen, Paul, The philosophy of the Upaniṣads, Oriental publishers, Delhi, p. 183-4
17. Chakravarti, S.C. The philosophy of the Upaniṣads, University of Calcutta, 1935, p. 146.
18. Mukhopadhyaya, G., Studies in the Upaniṣads, Sanskrit College, Calcutta, 1960, p. 52.
19. Hume, R.E., Thirteen principal Upaniṣads, Oxford University, 1949, p. 51.
20. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, V. 5.1.
21. Chāndogya Upaniṣad, VII. 10.1.
22. Ibid.
23. Taittirīya Upaniṣad, II 1.
24. Bhattacharya, A.N., One Hundred and Twelve Upaniṣads and their philosophy, parimal publications, Delhi, 1999, p. 19.
25. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, I.5.21, 22
26. Chāndogya Upaniṣad, I. 9.1
27. Ibid, III 19.1
28. Kena Upaniṣad, 14-23
29. Praśna Upaniṣad, VI 2.4
30. Radhakrishnan, S. The Principal Upaniṣads, London, 1953, p. 29

❐

उपनिषत् साहित्य में वनस्पति एवं जन्तु जगत्

भावना शुक्ला ★

भारतीय उपनिषत् साहित्य अनेक दृष्टियों से महान् है। भारतीय मनीषा का सर्वोत्कृष्ट दर्शन उनमें उपनिबद्ध हुआ है जिसके अनुसार सारी सृष्टि, समस्त ब्रह्माण्ड एक चेतन तत्त्व से प्रादुर्भूत हुआ है। ऋषियों ने उस चितिशक्ति का कण-कण में अवलोकन किया। अनेकत्व में एकत्व का इससे बड़ा क्या दृष्टान्त हो सकता है। इतना सूक्ष्म अवलोकन करने वाले मनीषी हर वस्तु के प्रति कितने सहृदय, संवेदनशील एवं भावुक रहे होंगे, इसकी कल्पना की जा सकती है। उनका हृदय प्रत्येक जड़ एवं चेतन वस्तु के प्रति प्रेम, दया एवं भावनाओं से आह्लादित था।[1] इसका अनुमान तत्कालीन दर्शन के गुरु गम्भीर ग्रन्थ उपनिषदों में प्रयुक्त दृष्टान्त तथा उपमा रूपकों से किया जा सकता है। प्रकृति के समस्त उपादान उनके स्नेह भाजन बने। आत्मज्ञान के जिज्ञासु वे विद्वान् केवल दर्शन के विवादों में ही नहीं फंसे रहे आस-पास और चारों ओर भी उनकी दृष्टि जाती थी। अपने चहुँ ओर के वातावरण को उन्होंने अपनी स्नेहमयी दृष्टि से देखा। इसके प्रमाण हैं—ये उपनिषद्ग्रन्थ जो मूलतः आत्मा-परमात्मा-सृष्टि प्रलय आदि की चर्चा से परिपूर्ण हैं किन्तु उनमें कभी उदाहरण अथवा दृष्टान्त के माध्यम से, कभी वस्तु-विश्लेषण एवं निरूपण में सहायक उपादानों अथवा उपमा रूपक आदि अलंकारों के रूप में वृक्षों, वनस्पतियों, पशुपक्षियों आदि का वर्णन मिलता है। ये वनस्पति विज्ञान अथवा जीव शास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं जिनमें केवल इन्हीं का निरूपण हो किन्तु आत्म-विज्ञान को समझाने में जितना इन विषयों का प्रयोग सम्भव हो सकता था, ऋषियो ने किया है।

कठोपनिषद् के अनुसार यह ब्रह्माण्ड एक सनातन अश्वत्थ वृक्ष है, जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखायें नीचे फैली हैं। सभी सृष्टि-जीव-जगत् और ब्रह्म इसमें समाहित हैं। इसके बाहर कुछ भी नहीं है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन।।

जीवात्मा और परमात्मा की स्थिति निरूपित करते समय मुण्डकोपनिषद् में ऋषि अश्वत्थ वृक्ष का ही आश्रय लेता है—

★ ग्रन्थपाल, माधव पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, ग्वालियर, मध्य प्रदेश

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[2]

मूलतः ऋग्वेद के इस मन्त्र का तात्पर्य है कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) प्रतिष्ठित हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) संसार वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का उपभोग कर रहा है और दूसरा (ब्रह्म) तटस्थ भाव से मात्र द्रष्टा रूप में स्थित है। जीव जगत् और ब्रह्म के इस त्रिक में ब्रह्म सबसे ऊपर है, जगत् मध्य में है और जीवन सबसे अन्त में। इसी कारण यह अश्वत्थ वृक्ष ऊर्ध्वमूल कहा गया है। जीव के जन्म से पूर्व, अन्न, वनस्पति और औषधियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि क्रम समझाते हुए ऋषि ने कहा—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः।[3]

मुण्डकोपनिषद् में जीव जगत् से पूर्व वनस्पतियों की उत्पत्ति का वर्णन है—

तस्मादग्नि समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।[4]

इसके अनन्तर तीसरे मन्त्र में जन्तु जगत् की उत्पत्ति कही गयी है—

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।[5]

अर्थात् पहले सूर्य रूपी समिधा से अग्नि उत्पन्न हुई। सोम से बादल बने और भूमि में मेघों के जल के योग से वनस्पतियाँ अंकुरित हुईं। इसके बाद वेदमन्त्र, यज्ञ, विभिन्न लोकों की उत्पत्ति के अनन्तर उस पुरुष (ब्रह्म) से देवताओं, मनुष्यों, पशुओं एवं पक्षियों की उत्पत्ति की शृंखला कही गई है। ऋषिगण इस तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम कर चुके थे कि जीवों की स्थिति का साधन होने से वनस्पति-जगत् जन्तूत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान होना चाहिए।

छान्दोग्योपनिषद् में सामोपासना के प्रकरण में सबके लिये समभाव से प्रकाश विकिरित करने वाले सूर्य को साम कहा गया है। ऋषि ने देखा कि इस सूर्य में ही सारे प्राणी अनुगत हैं—अर्थात् सूर्य के आश्रय से सबका जीवन है। सूर्य एवं प्राणियों के सम्बन्ध का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए ऋषि ने कहा कि सूर्य का जो उदय से पहला प्रकाश है, पशु उसके आश्रित हैं। उसके बाद सूर्य के प्रथम उदय के समय के अनुगत हैं मनुष्य, उस समय वे भगवान की स्तुति की कामना वाले होते हैं। तदनन्तर जो गौएं दुहने का समय है वह आदि है, दिन का प्रथम काल है, उसके अनुगत पक्षी है। इस कारण वे अन्तरिक्ष में अपने पंखों से उड़ने लगते हैं।[6]

कठोपनिषद् में नचिकेता को आत्मज्ञान देते हुए शरीर की रथ से उपमा दी गयी। उसमें ऋषि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय मिलता है—वे इन्द्रियों की उपमा रथ में जुते घोड़ों से देते हैं—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।[7]

जिस प्रकार रथ को अश्व चलाते हैं, शरीर को इन्द्रियाँ गति देती हैं—अश्व संचालन में सारथि के हाथ में पकड़ी लगाम बहुत महत्त्व की होती है—इन्द्रिय रूपी अश्वों के लिये मन रूपी लगाम को बुद्धि रूपी सारथि

थामता है और आत्मा रूपी रथी अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच पाता है, अश्वों की चंचलता रथ को भटका सकती है अतः लगाम को कसकर रखना भी जरूरी होता है। मन की लगाम को न थामने वाले की इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं रहतीं। जैसे लगाम न लगी हो तो दुष्ट घोड़े यथेष्ट विहार करते हैं; सारथि के वश में नहीं होते, किन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान् और स्थिर मन वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में रहती हैं, यथा उत्तम घोड़े सारथि के अधीन रहते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि अवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।[8]

उक्त दृष्टान्त से ज्ञात होताहै उपनिषद् काल में अश्वों का न केवल पूर्ण उपयोग होता था—उन्हें किस प्रकार वश में किया जाये यह कला भी विकसित हो चुकी थी।

पशुओं के प्रति वैदिक ऋषियों की दृष्टि बहुत स्नेहपूर्ण रही है। पशुओं का उल्लेख पुत्रों के साथ हुआ है। स्मृति और आशा जैसे मनोवैज्ञानिक भावों को समझाते हुए ऋषि ने नारद से कहा—**स्मरेण वै पुत्रान् विजानाति, स्मरेण पशून्।**[9] स्मृति से ही मनुष्य अपने पुत्रों को जानता है और स्मृति से पशुओं का पहचानता है। आगे आशा के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब आशा से प्रदीप्त स्मृति होती है तब मनुष्य मन्त्रों को पढ़ता है, कर्मों को करता है, पुत्रों को और पशुओं को चाहता है। इस उस लोक को चाहता है—

आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते, कर्माणि कुरुते, पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छते।[10]

पंचमहायज्ञों को उपनिषद्काल में पर्याप्त महत्त्व प्राप्त हुआ था। उनसे किस-किस की पुष्टि अथवा गति होती है, इस विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ से देवों की गति है, स्वाध्याय से ऋषियों की तथा पुत्रेच्छा से पितरों की गति होती है। इसी प्रकार अतिथि सत्कार से मनुष्य जाति को पुष्टि अथवा गति प्राप्त होती है और जो यह पशुओं के लिये तृण-जल प्राप्त करता है, उससे पशुओं की गति है अर्थात् गृहस्थों के घरों में पशु, पक्षी तथा चीटियाँ तक अन्नजल से जीते हैं—उससे उन्हें पुष्टि प्राप्त होती है।[11] पंचयज्ञों के माध्यम से देवताओं से लेकर कीट-पतंगों तक को पोषण हेतु उनका भोज्यांश देना सनातन धर्म में व्यक्ति की दिनचर्या बना दी गयी, इससे ज्ञात होता है कि हमारे ऋषिगणों में जन्तु-जगत् के प्रति कितनी चिन्ता थी।

जन्तु जगत् के साथ ही ऋषियों का वानस्पतिक अध्ययन भी बेजोड़ रहा है। वृक्षों वनस्पतियों में प्राण होने की बात आधुनिक वैज्ञानिक श्री जगदीश चद्र बसु की देन मानी जाती है—इसी के लिये उन्हें नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया है किन्तु यह ज्ञान तो सर्वप्रथम बृहदारण्यक उपनिषद् में ही देखने को मिल जाता है। सम्भवतः डॉ० बसु ने वहीं से इस ज्ञान को लेकर अपने अनुसन्धान आगे बढ़ाये हों। याज्ञवल्क्य ऋषि ने ब्राह्मणों से प्रश्न पूछा—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः। त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्।

मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता। यद वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।[12]

अर्थात् सत्य है कि जैसे वन का बड़ा वृक्ष है, वैसा ही मनुष्य शरीर है। उसके शरीर के रोम उसके पत्ते हैं, उसकी त्वचा बाहर का छिलका (छाल) है। मनुष्य की त्वचा से ही रक्त बहता है, वैसे ही वृक्ष की छाल से उत्पट-रस निकलता है। हनन किये हुए मनुष्य का रक्त निकलता है—वृक्ष को काटने पर उसका रस बहता है। मनुष्य के मांस-मांसपेशियाँ वृक्ष के शकल हैं—त्वचा की भीतर के भाग हैं। पुरुष का जैसे नाड़ी जाल है वृक्ष का कीनाट-लकड़ी से लगा हुआ कोमल भाग है। इसकी हड्डियाँ ही अन्दर की लकड़ियाँ हैं, इसकी मज्जा मज्जा के समान है। जब कटा हुआ वृक्ष अपनी जड़ से फिर नवीन रूप में फूट निकलता है तो मृत्यु से कटा अर्थात् मरा हुआ मनुष्य किस मूल से फिर जन्म लेता है?[12] यों तो ऋषि ने अपने पुनर्जन्म सम्बन्धी प्रश्न के विश्लेषण में वृक्ष का वर्णन किया किन्तु वृक्ष वनस्पतियों में जीवन देखने की उनकी दृष्टि सुस्पष्ट हो जाती है जो उनकी प्रौढ़ मनीषा की परिचायक है।

वृक्ष वनस्पतियों में न केवल जीवन का अनुभव करने और सहृदय भाव रखने तक उपनिषद् चिन्तन सीमित रहा है, उसने ऐसी विधियाँ भी खोज ली थीं जिनसे सूखे वृक्ष भी पुनर्जीवित होकर अंकुरित हो सकें। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही उद्दालक ऋषि ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य नामक शिष्य को मन्त्र दीक्षा देकर कहा कि यदि कोई उपासक इस मन्त्र (गायत्री) को सूखे वृक्ष पर सींचे तो भी उसमें भी शाखायें उत्पन्न हो जायें और पत्र फूट निकले।[13]

इसी मन्त्र की विधि, प्रयोग आदि समझाते हुए विस्तार से आगे बताया गया—"तत्सवितुर्वरेण्यम्" गायत्री का यह पद पढ़कर यह मन्त्र पढ़े—'हे परमेश्वर! चारों ओर से पवन मधु स्वरूप होकर चल रही है। नदियाँ मधु बहा रही हैं। हमारे लिये ओषधियाँ-गोधूमादि अन्न मधुर रस वाले हों। भूः स्वाहा इतना अंश पढ़कर प्रथम ग्रास भक्षण करें फिर 'भर्गो देवस्य धीमहि' पढ़-पढ़कर यह मन्त्र पढ़ें—रात्रि और दिन हमारे लिये मधु हों, पृथ्वी का जल मधु वाला हो, पालक द्युलोक हमारे लिये मधु हो। भुवः स्वाहा, इतना पाठ करके दूसरा ग्रास भक्षण करें। "धियो यो नः प्रचोदयात्।" यह पद पढ़कर मन्त्र पढ़े—हमारे लिये वनस्पतियाँ मधुयुक्त हों, सूर्य मधु वाला हो, गायें मधु वाली हों। स्वः स्वाहा, इतना पढ़कर तीसरा ग्रास भक्षण करें.....।

अथैनमाचामति— तत्सवितुर्वरेण्यम् मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा। भर्गोदेवस्य धीमहि मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ३ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहेति।[14]

वनस्पतियों तथा अन्नादि का उपयोग यज्ञयागों में होता था—**चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बरइध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति—व्रीहियवास्तिलमाषा अणु प्रियङ्गवो गोधूमाश्चमसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च। तान्पिष्टान् दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति।**[15]

अर्थात् चार प्रकार के गूलर के पात्र होते हैं—गूलर का स्रुवा, गूलर का चमस, गूलर की समिधा और गूलर की दो उपमन्थनियाँ। दस प्रकार के ग्राम सम्बन्धी धान होते हैं—ब्रीहि, यव, तिल, माष, उड़द, अणु, प्रियङ्ग, गेहूँ, मसूर, मटर और कुलथी। उन पीसे हुओं को पात्र में डालकर दही, मधु और घृत उन पर सींचे व घृत का होम करे।

जलों का सार ओषधियाँ हैं, और ओषधियों का सार पुष्प बताये गये हैं, पुष्पों का सार फल है तथा फलों का सार, पुरुष है—ऐसा उपनिषद् का कथन है—

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः।[16]

उक्त तथ्यों के प्रकाश में उपनिषदों में आनुषांगिक रूप से आये वनस्पतियों एवं जन्तुओं के वर्णन स्थालीपुलाकन्याय से यह प्रतिपादित करते हैं कि तत्कालीन समाज का दृष्टिकोण सभी का हिताकांक्षी एवं स्नेहपूर्ण था। मनुष्य स्वयं से इतर जीवों के प्रति निर्मम एवं शोषक नहीं था, वरन् उन्हें आत्मवत् मानकर व्यवहार करता था।

सन्दर्भ सङ्केत

1. कठोपनिषद् 6.1
2. मुण्डकोपनिषद् 3.1.1
3. तैत्तिरीयोपनिषद्-ब्रह्मावली 1
4. मुण्डको 2.1.5
5. मुण्डको-2.1.7
6. छान्दोग्यो 2.9.4
7. कठोपनिषद् 3.3.4
8. कठोपनिषद् 3.5.6
9. छान्दो0 13-1
10. छान्दो0 7.14.1
11. बृहदा0 1.4.16
12. बृहदा0 3.9.28
13. बृहदा0 6.3.7
14. बृहदा0 6.3.6
15. बृहदा0 6.3.13
16. बृहदा0 6.4.1

❑

A few symbolisms of birds and animals and the philosophy of the principal Upaniṣads

Dr. Urmi Samir Shah ★

The Upaniṣads as the culmination of the Vedic and the humān thought indicate the essence of their philosophy in the name itself. The term 'Uapniṣad' made up of three basic components of two prefixes 'upa' and 'ni' added to the root 'sad' is self-suggestive of the attainment of the mysterious knowledge, namely, Bṛahma-vidya by approaching the Guru whereby ignorance being destroyed, the seeker gains Self-Realization/Moksa. This supreme knowledge is imparted by theUpaniṣads usually in the form of conversation that include instructions, narratives and symbolisms. The present paper discusses a few of these symbolisms, namely, those of birds and animals, used by the Seers to establish and justify their points of view.

At the outset, the Kaṭhopaniṣad[1] mentions that Naciketa's father was giving away the lean cows as daksina to the brahmins. This fact symbolizes the selfishness and greed arising out of ignorance blocking the path to self-realization. Ignorance/Avidya accordng to the Upaniṣads is to be removed and is to be substituted by Knowledge/Vidyā. Further, the Upaniṣad[2] while establishing Brahman as the greatest Truth (Ṛtam bṛhat), employs the term 'Haṁsaḥ'. This term is derived from the root 'han' meaning 'to strike the path/going' denoting the sense of motion.[3] Thus the world means 'a mover', that is, the Sun as it moves from the east to the west. This is corroborated by the Saṃhitās also.[4] Thus the moving Sun/Haṁsa is Brāhman/Ātman which is allpervasive, unchanging and great.

The Muṇdakopaniṣad[5] falls back upon the famous mantra of 'Dwa Suparṇā' as a metaphor to elucidate its principle. The two birds having the same names and associated

★ **Lecturer, Deptt. of Sanskrit, St. Xavier's College, Ahmedabad, Gujarat**

with each other perch on the same tree. One of them eats fruits of divergent tastes and the other one looks on without tasting. The former bird is the individual soul steeped in sorrow due to its Ignorance/Moha, while the other bird, the Lord Īsa) is free of sorrow. In this imagery, the tree is the body/the empirical world. Both the birds perching on the same tree indicates the identity of the place of their perception. Īśa/the Supreme Soul who is eternal, pure, omniscient and free remains as the mere witness of all the happenings, whereas the individual soul being conditioned by its impressions created through ignorance, desire and so on arising from non-discrimination (a-viveka), suffers from the experiences of dualities. It is only when he 'observes' (paśyati) the glory of the Īśa that he is freed from these fluctuating experiences of the empirical world. This observation indicates that the recession and the subsequent cessation of ignorance due to the controlled use of the sense-organs and the mind in the right direction leads one to achieve this knowledge.

As a contrast to the above illustrations, the Chāndogya Upaniṣad[6] uses the imagery of birds as well as of the animals with a different approach. The narrative of Satyakama Jābāla illustrates this point. Satyakāma breeds four hundred lean and weak cows of the guru till they turn into one thousand healthy cattle. The Bull/Ṛṣabha reports the matter to him.[7] Here, Śaṅkaracarya notes that being pleased by Satyakāma's penance and faith, Vāyu took the form of the Bull, showed his grace and instructed him about the first qauarter of Brahman in the form of the four directions representing Light. The third quarter of Brahman is revealed by the Swan.[8] Here again, in consonance with use of the symbol of Haṁsa as the Āditya due to their identical whiteness and movements it reveals the third quater of Brahman in the form of Agni, Sun, Moon and Lightning thus including all the three forms of Agni. Similarly, the Madgu bird (the aquatic bird called Cormorant) reveals the last quarter of Brahman the next evening.[9] Here the revelation is that of the Prāṇas, eyes, ears and the Mind which are the direct causes of Life and interaction of the individual with the empirical world and the consequent impressions leading man to the bondage to the world. The mind is the enjoyer of the objects through the medium of the sense-organs. The seeker of the self-realization has to be aware of this.

The Bṛhadāraṇyakopaniṣad[10] transfers the ritualitic weightage of the Aśvamedha sacrifice to the knowledge of its symbolism as a means to gain the Supreme Knowledge. According to Śaṅkara, this elucidation is made also to include those who did not have the right to participate in the sacrificial system., Further, metaphysically this helps one to attain the knowledge of Hiraṇyagarbha. Each limb and part of the body as well as the physical activity of the horse is taken up and their symbolisms are explained which include the

entire cosmos. Further, this Horse has 'Samudra' as his relative/bandhuḥ and the place of birth/yoniḥ. 'Samudra' is Brahman and thus the Horse is purity embodied. Thus the Horse here is the projection of the world-order in miniature form.

This Upaniṣad further lays down the upaāsanā of Speech in the form of the Cow[11]. Her udders are the Swāhā, Vaṣaṭ, Hanta and Swadhā thus representing all the forms of the incantations of each Veda. The divinities are associated with Swāhā and Vaṣaṭ, the humans with Hanta and the ancestors with the Swadha. The Bull that mates with her is the life-breath and the Calf is the mind as it is through the life-breath that the Cow is fructified and produces Speech. Again, the mind is the Calf as the Speech is expressed through its processes. This upaāsanā leads one to realize Brahman.

The Chhandogya Upaniṣad, while referring to various types of upaāsanās, refers to the one made through the symbolisms of animals[12]. Thus the various parts of the Sāman are represented by Different animals as—goats as the hiṅkāra, sheep as the prastāva, cows as the udgīth and horses as the pratihāra (and purusa as the nidhana).

Haṁsa as the Ātman/Bṛahman residing in the body that moves in the transmigratory cycle[13] and also as residing in the 'city having nine gates' and thereby controlling the sentient and the non-sentient[14] are the well-known illustrations to the point. The same Upaniṣad also refers to the Swam/Haṁsa as Agni in water knowing which one crosses Death; for, this is the only way to achieve immortality.[15]

An illustration supporting and highlighting this method of using such symbols can be given as : The word Paramahaṁsa derived from the word Haṁsa is the name of this bird stands for the Ātman and then to the sanyasin who has explained thus haṁsaḥ paramaḥ ṣresthah so ham ātma yasya sanyasiviśeṣaḥ[16]. Thus the term stands for wisdom and purity. The Bull is the symbol of might, leadership and hence righteousness—the virtues necessary for the gain of knowledge. It is in the imagery of the Cow as Speech that the Bull as the life-breath symbolizes fertility also for the production of Speech. The bird Madgu—an aquatic bird, is an unusual imagery used by the Seer in the story of Satyakāma Jābāla. A keen observation of the aquatic birds is revealing in the sense that although they live in water they remain dry—water does not make them wet. Man has to follow the suit of these birds and do not have to be affected by the dualities of the empirical world. Such a state would enable him to gain self-realization.

Thus the symbolisms of the birds and animals are suggestive of very significant doctrines of the principal Upaniṣads as follows :

They symbolize and propagate the constant inward movement of the soul through the undrestanding of the identity with the cosmos, an intense subjective activity in the search of Truth experienced within one's own self.

And also the outward movement of projecting this experience in the outer world.

This is beautifully brought out by using the natural objects of Nature. The birds and animals are some of the most spectacular living creatures of Nature whose activities have to be observed with a calm and a serene mind requiring a high sense of identity with Nature. The Seers of the Upaniṣads living in the quiet atmosphere of the forest were able to feel and observe Nature.

Moreover, this observation and its correlation to life as being direct can be seen in which they were the Dṛṣṭā.

The use of these symbolisms makes the tedious philosophical instructions interesting and colourful.

An important tendency of the Indian mind can be seen explicity here, namely, to look into the depth of every object, be it of daily life or not, and comprehend deep meaning of life from it as is evident in the later incarnation of Dattā□atreya having twenty-four gurus.

References & Notes

1. Kaṭhopaniṣad 1.1.2-3
2. Ibid 2.2.2
3. Etymologies of Yaska by Dr. Siddheshvar Verma
4. Mādhyandina Śatapatha Brāhmaṇa 6.7.3-11
5. Muṇḍakopanipad 3.1.1-2
6. Chhāndogya Upaniṣad 4.4. ff
7. Ibid 4.5.1
8. Ibid 4.7.1
9. Ibid 4.8.1
10. Bṛhadāraṇyakopaniṣad 1.1
11. Ibid 5.8.1
12. Chhandogya Upaniṣad 2.6.1-2
12. Ibid 2.6.102
13. Śvetāśvataropaniṣad 1.6.
14. Ibid, 3.18
15. Ibid. 6.15
16. Śabdakalpadrumāḥ, volume 3, page 50.

❐

उपनिषदों में अन्न का स्वरूप

डॉ० शैलजा पाण्डेय ★

यह सृष्टि अन्नमूला है एवं अन्न सृष्टि के पालन का अपरिहार्य तत्त्व है। अन्न से ही स्थावर एवं जङ्गम रूप प्रजा उत्पन्न होती है। उत्पत्ति के पश्चात् सभी जीव अन्न से ही जीवित रहते हैं और जीवन के समाप्त होने पर अन्न में ही लीन हो जाते हैं। अतः इसे प्राणियों का अग्रज एवं सन्तापों को नष्ट करने वाला औषध कहा गया है—

अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैतदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते।—तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, 2

निर्वचन

अद् धातु से उत्पन्न अन्न शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि अन्न से उत्पन्न प्राणी अन्न से ही बढ़ते हैं। अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह स्वयं भी प्राणियों को खाता है। अतः उसे अन्न कहते हैं—

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति।—तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, 2

अन्न की प्रशंसा एवं महत्त्व

जीवों के लिए अन्न पूजनीय है। जीवों का शरीर अन्नाद है एवं शरीर ही प्राण का आश्रय स्थल है, अतः अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिये—

अन्नं न निन्द्यात्।—तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, 7

जल एवं अन्न का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जल को भी अन्न कहा गया है। जल रूप अन्न में ज्योति एवं ज्योति में जल स्थित है। अतः अन्न का प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये—

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्।

★ शोध सहायक, गङ्गा नाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। —तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली 8

इसलिए उपनिषदों का सन्देश है कि मनुष्यों को बहुत अन्न उपजाना चाहिये—

अन्नं बहु कुर्वीत।—तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली 9

अन्न द्वारा अतिथि सत्कार

यह पृथ्वी अन्नरूपा है एवं आकाश उसका उपभोक्ता अन्नाद है। अतः अन्न द्वारा गृह में आये अतिथि का स्वागत करना चाहिये। जो श्रेष्ठ रीति से अन्न द्वारा अतिथि का सत्कार करता है, उसे श्रेष्ठ वृत्ति से अन्न प्राप्त होता है। मध्यम रीति से अन्न द्वारा अतिथि-सत्कार करने पर मध्यम वृत्ति से एवं निकृष्ट रीति से (तिरस्कारपूर्वक) अन्न द्वारा सत्कार करने पर निकृष्ट वृत्ति से अन्न प्राप्त होता है। अतः यथासम्भव अतिथि को सम्मानपूर्वक यथेष्ट अन्न प्रदान करना चाहिये (तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली 10)।

सृष्टि-रचना एवं अन्न

ऐतरेय उपनिषद् (1/1, 2, 3) के अनुसार परमेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड की एवं इन्द्रियाभिमानी अग्नि, वायु आदि देवों की सृष्टि की। इस लोक में आकर इन देवों को क्षुधा एवं पिपासा ने अभिभूत किया। उन्होंने परमेश्वर से भोज्य वस्तु अन्न को ग्रहण करने के लिये देह का आश्रय माँगा। परमेश्वर ने उनके सम्मुख गाय एवं अश्व का शरीर प्रस्तुत किया। देवों ने उन शरीरों को अस्वीकृत कर दिया। अन्ततः परमेश्वर द्वारा मनुष्य शरीर प्रस्तुत करने पर देवों ने मानव-शरीर का आश्रय लिया एवं अपनी-अपनी तुष्टि की। अग्नि ने वाणी बन कर मुख में, वायु ने प्राण बनकर नासिका-छिद्रों में, सूर्य ने चक्षु बनकर नेत्रों में, दिशाओं ने श्रोत्र बन कर कानों में, ओषधि एवं वनस्पतियों ने लोम बन कर त्वचा में, चन्द्रमा ने मन होकर हृदय में, मृत्यु ने अपान वायु बन कर नाभि में एवं जल ने वीर्य बन कर जननेन्द्रिय में प्रवेश किया। पुनः क्षुधा एवं पिपासा ने अपने लिये माँगा। परमेश्वर ने उपर्युक्त देवों में इन्हें आश्रय प्रदान किया। इन देवों को दी जाने वाली हवि रूप अन्न में क्षुधा एवं पिपासा का भी भाग होता है।

इसके पश्चात् अन्न की सृष्टि की कामना से परमेश्वर ने जलों को लक्ष्य कर तपस्या की, जिससे जलों से एक मूर्ति उत्पन्न हुई। यह मूर्ति अन्नस्वरूपिणी थी। अन्न ने भोक्ता को अपना मृत्यु जान कर उससे दूर भागना चाहा। भोक्ता पुरुष ने अन्न को वाणी, प्राणन क्रिया, नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, मन एवं जननेन्द्रिय आदि से ग्रहण करना चाहा किन्तु उसे पकड़ नहीं सका। आज भी कोई प्राणी अन्न को बोल कर, सूँघ कर, देखकर, सुनकर, छूकर, ध्यान एवं विसर्जन कर तृप्त नहीं हो पाता। अन्ततः आदि भोक्ता-पुरुष ने अपान-वायु से अन्न को ग्रहण किया। आज भी अन्न का पाचन अपान वायु द्वारा होता है।

अन्न शब्द का अर्थ

ऐतरेय उपनिषद् की उपर्युक्त कथा के अनुसार अन्न शब्द का तात्पर्य भूमि से उत्पन्न होने वाली ओषधि एवं वनस्पति मात्र नहीं है बल्कि इन्द्रियों की तृप्ति जिन-जिन विषयों से होती है वे सभी पदार्थ तत्तद् इन्द्रियों के अन्न हैं। उन इन्द्रियों की भूख-प्यास अपने-अपने विषय रूप अन्न से होती है—

स ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः।—ऐतरेय उपनिषद् 1/2

अन्न एवं प्राण

उपर्युक्त सभी चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रतिष्ठा प्राण में होती है। इन्द्रियों की सारी चेष्टायें प्राण शक्ति से ही संचालित होती हैं। प्राण एवं अन्न एक-दूसरे से संयुक्त हैं एवं दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। बिना प्राण के अन्न सड़ जाता है एवं बिना अन्न के प्राण सूख जाते हैं। ये दोनों एकरूपता को प्राप्त कर परम भाव को प्राप्त करते हैं—

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते हत्वेव देवते एकधा भूयं भूत्वा परमतां गच्छतः।—बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/11

एक बार प्राण को उत्सुकता हुई कि मेरा अन्न क्या है? इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि कुत्ता एवं पक्षियों से लेकर सभी प्राणियों का यह जो कुछ भी प्रसिद्ध अन्न है वे सभी प्राण के अन्न हैं एवं अन्न प्राण का प्रत्यक्ष नाम है—

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमा श्वभ्यः आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवं विदि किंचनान्नं भवतीति।—छान्दोग्य उपनिषद् 5/2/1

अन्न के द्वारा ही प्राणों की रक्षा सम्भव है, अतः प्राण-रक्षा हेतु उच्छिष्ट अन्न भी ग्राह्य होता है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्य के प्रथम अध्याय के दशम खण्ड में चक्र के पुत्र उषस्ति की कथा प्राप्त होती है। एक बार कुरुदेश में दुर्भिक्ष उपस्थित होने पर उषस्ति ने उड़द खाते हुए महावत से खाने के लिये उड़द माँगा। महावत ने उड़दों के जूठा होने के कारण उन्हें देने में असमर्थता व्यक्त की। प्राणरक्षार्थ उषस्ति के पुनः माँगने पर महावत ने उन्हें अपना उच्छिष्ट उड़द दे दिया। इसके पश्चात् महावत ने उन्हें जल देना चाहा किन्तु उषस्ति ने उच्छिष्ट कह कर जल नहीं ग्रहण किया। महावत ने पूछा कि क्या उड़द उच्छिष्ट नहीं थे। तब उषस्ति ने कहा कि उन उड़दों के अतिरिक्त उनके पास कोई आहार नहीं था एवं उन्हें खाये बिना प्राणों की रक्षा सम्भव नहीं थी। अतः उन्हें ग्रहण करने में उच्छिष्टता का दोष नहीं था किन्तु जल सर्वत्र यथेष्ट प्राप्त है। अतः उच्छिष्ट जल पीने पर उच्छिष्ट-ग्रहण का दोष होता है।

अन्न एवं बल

यह अन्न बल की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। यदि कोई दस दिन तक भोजन न करे तो वह देखने, सुनने, समझने, मनन करने, किसी कार्य को करने एवं जानने आदि का सामर्थ्य खो बैठता है। पुनः अन्न प्राप्त होने पर वह उपर्युक्त कार्य करने में समर्थ हो जाता है। इसीलिये अन्न को ब्रह्मस्वरूप कहा गया है—

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिद्धयति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथा कामाचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते। —छान्दोग्य उपनिषद्, 7/9/2

अन्नभोक्ता विराट्

छान्दोग्य उपनिषद् में एक विराट् अन्न-भक्षक का उल्लेख प्राप्त होता है। वह देवताओं की आत्मा, चराचर प्रजाओं का उत्पत्तिकर्ता, हिरण्यमय दंष्ट्र वाला, भक्षणशील एवं मेधावी है। उसकी महिमा अत्यन्त महान् है। वह स्वयं दूसरों द्वारा खाया नहीं जा सकता। अग्न्यादि देव उसे खा नहीं सकते किन्तु वह उन्हें भी खा जाता है—

तदुह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायान्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदन्नमत्तीति।—छान्दोग्य उपनिषद्, 4/3/7

अन्न एवं शौव साम

छान्दोग्य उपनिषद् (1/12) में अन्न से सम्बद्ध शौव साम उपाख्यान प्राप्त होता है। प्राचीन काल में दल्भ के पुत्र वक् या मित्र के पुत्र ग्लाव ने स्वाध्याय के लिये तपस्या की। उनके निकट एक श्वेत वर्ण का श्वान प्रकट हुआ। उस श्वान के पास अन्य श्वानों ने आकर उससे भोजन माँगा। श्वेत श्वान ने उन्हें उसी स्थान पर दूसरे दिन प्रातः काल बुलाया। तपस्वी वक् अथवा ग्लाव ने उसी स्थान पर उनकी प्रतीक्षा की। दूसरे दिन उन कुत्तों ने श्वेत श्वान के साथ बहिष्पवमान् स्तोत्र का स्तवन करने वाले उद्गाताओं की भाँति भ्रमण करने के पश्चात् बैठकर हिंकार किया जिसका तात्पर्य था—वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव तथा अन्नपति हमारे लिये अन्न लायें—**देवो वरुणः प्रजापतिः सविता३ऽन्नमिहा२हरदन्नपते२ऽन्नमिहा हरा२ऽहरो३मिति।**—छान्दोग्य०, 1/12/5

अन्न के विविध स्वरूप

उपनिषदों में अन्न के अनेक नाम एवं रूप प्राप्त होते हैं। अन्न को ब्रह्म के समतुल्य रखने के साथ ही इसे देवता भी कहा गया है—

अन्नमिति....सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता....छान्दोग्य उपनिषद् 4/11/9

इसे गार्हपत्याग्नि के चार शरीरों में एक स्थान प्राप्त है—

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति।—छान्दोग्य उपनिषद् 4/11/1

अन्न को कृष्ण वर्ण का कहा गया है। विद्युत् के कृष्ण रूप से अन्न की उत्पत्ति हुई—

यद्विद्युतो...यत्कृष्णं तदन्नस्य.....यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति।—छान्दोग्य उपनिषद्, 6/4/4, 6

सप्तविध अन्न एवं उनकी परिणति

बृहदारण्यक उपनिषद् (1/5) में सात प्रकार के अन्नों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन सप्तान्नों में यव आदि अन्न सर्वसामान्य के उपभोग के लिये हैं। दो अन्न (हुत एवं प्रहुत) देवों के लिये एवं तीन अन्न (मन, वाणी एवं प्राण) अपने लिये प्रजापति ने रखा। दुग्ध रूप अन्न पशुओं को दिया गया। ये सभी अन्न निरन्तर खाये जाने पर भी समाप्त नहीं होते क्योंकि ये अविनश्वर द्वारा उत्पन्न किये जाने के कारण अविनाशी हैं। इसका भक्षण करने वाले इसे प्रतीक रूप से देवों को प्रदान करते हैं एवं इसका अमृत-तत्त्व जीवन धारण हेतु स्वयं ग्रहण करते हैं—

यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि यच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति—बृहदारण्यक उपनिषद् 1/5

छान्दोग्य उपनिषद् (5/19-24) में मनुष्य द्वारा किया गया भोजन देवों को किस प्रकार तृप्त करता है, इसका विवेचन विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। ऋषि ने भोजन करने की प्रक्रिया में अग्निहोत्र का दर्शन किया है। भोक्ता भोजन को देवों के निमित्त अपने मुख में डालता है। यह आहुति प्राण-तत्त्व को दी जाती है। भोक्ता की प्रथम आहुति (प्रथम ग्रास) से प्राण तृप्त होता है एवं इससे नेत्रेन्द्रिय, आदित्य, द्युलोक के साथ स्वयं भोक्ता तृप्त होता है। दूसरी आहुति व्यान संज्ञक प्राणाहुति है जिससे भोक्ता के श्रोत्र, चन्द्रमा एवं दिशायें तृप्त होती हैं। तीसरी प्राणाहुति अपान को दी जाती है जिससे अग्नि एवं पृथ्वी तृप्त होते हैं। चतुर्थ आहुति समान की होती है जिससे मन, पर्जन्य एवं विद्युत् तृप्त होते हैं। पञ्चम आहुति उदान को प्रदान की जाती है जिससे त्वचा, वायु एवं आकाश तृप्त होते हैं। इस प्रकार अग्निहोत्र भाव से जो भोजन करता है वह वैश्वानर एवं सम्पूर्ण सृष्टि को तृप्त करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (1/5/3) में प्रजापति के तीन अन्नों के रूप में मन, वाणी एवं प्राण की चर्चा की गई है। इन्हीं के माध्यम से मनुष्य के सभी मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-कलाप सम्पादित होते हैं। शरीर से युक्त होने पर यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय एवं प्राणमय होती है तथा इन तीन अन्न रूप प्रजापति षोडश कलाओं से युक्त संवत्सर होता है।

प्रजापति के तीनों अन्न मन, प्राण एवं वाणी की रचना खाये हुए अन्न एवं पीये गये जल से होती है। भक्षण किये गये अन्न का सूक्ष्म भाग मन, पीये गये जल का सूक्ष्म भाग प्राण एवं खाये गये तेज का सूक्ष्म भाग वाणी के रूप में परिणत होता है। अन्न के मध्यम भाग से माँस, जल के मध्यम भाग से रक्त एवं तेज के

मध्यम भाग से मज्जा की निर्मिति होती है। इसी प्रकार अन्न के स्थूल भाग से पुरीष, जल के स्थूल भाग से मूत्र एवं तेज के स्थूल भाग से अस्थि का निर्माण होता है। इस प्रकार रस एवं तेज से युक्त भोजन किसी भी प्राणी की सम्पूर्ण संरचना को प्रभावित करता है। (छान्दोग्य० 5/5, 6, 7)

अन्न-दान

प्रभूत अन्न के दान से मनुष्य की यशःकीर्ति सभी दिशाओं में फैलती है एवं उसकी ज्योति के स्पर्श से भस्म होने का भय होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के जानश्रुति आख्यान में इसी अन्न-दान-जनित प्रभाव का वर्णन किया गया है—

ऊँ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति। अथ ह हँसा निशायामतिपेतुस्तद्वैषहँसो हंसमभ्युवाद हो हो हि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्माप्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति।— छान्दोग्य उपनिषद्, 4/1/1-2

इस प्रकार उपनिषदों में अन्न के विराट् स्वरूप को दर्शाया गया है। अन्न, जल एवं विश्व की सभी वस्तुओं को अन्न रूप एवं सर्वव्यापक अन्न के ब्रह्म रूप को दिखाते हुए इसे विश्व की संचालिका एवं जीवन-धारिणी शक्ति कहा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में सृष्टि में प्रथम उत्पन्न एवं अमरत्व के केन्द्र अन्न के विराट् स्वरूप का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्यना३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमाद्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्।—तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, 10/6

❒

The Parable of Yakṣā & Uma Haimavatī
A study

Dr. Kusum P. Merh ★

The Kena-Upaniṣad belongs to the Tavalkara recension of the Sāmaveda. Its 35 verses are divided in four chapters. It is so named because it begins with the word 'Kena' implying a question and it means 'by whom?! It contains a dialogue between a spiritually illumined teacher and an earnest spiritual student. The student has a questioning mind which is not satisfied with a logical absolute. Such jijñāsa or critical inquiry prompts one to question in order to know the unknown and subject an assumption to thorough examination. Truth is known through 'pariprașna' (Bhagvatgītā—IV. 34). The pupil expresses a quest for the power which motivates the mind, Prāṇa and the sense organs to perform their task.[1]

It can be noted here that the quest is not centred at the curiosity of an awe-struck mind wondering as to who is it that makes the Sun and the other celestial bodies to move in the trackless path, or as to who created the heaven and earth and keeps them apart. The poet seer seems to be wondering the mysteries of the human mind as to how is it that the mind, the vital powers and the sense organs of the eyes, ears and speech work. The entire Kena Upaniṣad defines the true Upaniṣadic concept of Brahmans, but it makes no attempt to further investigate its relation with the individual Soul or to the material world. It particularly deals with His relation with the humān understanding.

The query in the opening verse of the Kena Upaniṣad admits the necessity of a cause for the existence and functioning of the finite beings. Moreover this cause must be absolute which does not require another cause for its own existence and action. The answer given

★ **Lecturer, Deptt. of Sanskrit, Pali and Prakrit, M.S. University, Vadodara, Gujarat (Ex.)**

here is that there is one who is the ear of the ear, the mind of the mind, the speech of speech; the life of the life, the eye of eye by whom the senses, life and mind are regulated and sustained. Śaṅkaracarya expresses this in his commentary to the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad as—it is the beholding of the beholding, the hearing of the hearing, that is to say, it is the Absolute Spirit by whom all these functions are perceived and ordained.

The Kena Upaniṣad further indicates the nature of that Supreme Reality and the limitations of the human mind by the verses sublime in insight and beautiful in expression. It says that the eyes, speech and even mind cannot reach it.[2] It is impossible to determine Brahman since neither the senses nor the mind can approach it. It is different from what is known and beyond what is unknown. On reflection one can only mention that one has an undefined knowledge of him. According to Kena we can not say that we know Him, nor that we do not know him—"I do not think I know Brahman well, nor I do not know Him. Whoever amongst us understands this proposition "It is not that I do not know Him nor know Him" does know Him" (Kena Up. 11.2).[3]

The only manner in which Brahman can be known is this realisation. It is neither that I know him not, nor is it that I know Him (fully). By this knowledge a state of perfection and immortality is obtained. (Kena Up. 4.9)

A parable is narrated to bring about this truth. In contrast with the earlier portion of the Kena Up. This parable is related in prose. Due to the style of its composition it is tempting to believe that this parable is of an earlier origin and was added here by the author of the first thirteen verses to his composition, since this parable illustrated his views admirably.

Through this legend the fundamental teaching of the Kena Up. which comprises of the answers to the query in its opening verses is amplified. The story goes like this—

In their battle with the demons the gods defeated their enemies.[4] They were eleated over their victory and ascribed it to their own power. The All Knowing Supreme Self knew this. To remove their delusion and expose the gods of their false pride he manifested himself before them. (Kena Up. 111.2).

Śaṅkaracarya comments on Verse 2 to explain the motive which prompted Brahman to appear before the gods in the wondrous form of a Yakṣa. According to it He knew the wrong notion of the gods. So desiring to bless the gods by removing their vanity born of ignorance, and moved by the compassion and desire to do some good to them, He, Brahman, appeared before them in the wondrous and awe-inspiring form produced by the

glory of His yoga powers.

On seeing that Yakṣa the gods said "What this wondrous being is?" Agni, the Jātavedas, was asked to ascertain his identity. Agni approached him and when Yakṣa asked him as to who he was, Agni replied that he indeed was Agni, also known as Jātavedas. His ego was evident in the tone and the content of his reply. On being asked about his power Agni boasted that that he could burn all that existed on the earth. At this, the Yakṣa placed a piece of straw in front of him asking him to burn it. Agni tried his best; but could not do so. He retreated to the gods and reported his inability to know that mysterious being.

The gods then turned to Vāyu with the same request He too in his vanity thought that to be a trivial task and rushed to the Yakṣa. The Yakṣa asked him as to who he was. Vāyu replied that he was (the famous) Vayu, also known as Mātarisvā.[5] On further being asked about his strength Vāyu said that with his strength he could carry off everything that existed on the earth. The Yakṣa placed a blade of grass before him saying "Sweep away this." Even with all his might Vāyu could not do so. Unsuccessful in his mission Vāyu returned to the gods.

Finally, the gods asked their leader Indra to solve this mystery. As soon as Indra approached the Yakṣa it disappeared from his view. Then at the same place there appeared an extra ordinarily effulgent female deity. She was Umā, the daughter of Himavat.[6] Indra asked about that mysterious being (the Yakṣa). Umā Haimavatī indicated to Indra that the Yakṣa was the Supreme Brahman. She also told him that it is actually the victory of Brahman in which you exult.

Indra was enlightened. He realised that the victory of the gods over the demons was not due to their own power. It was the power of Brahman which had brought the glory of victory to them. It was Indra alone who could know this Truth first of all and so he excels the other gods. Agni & Vāyu excel the other gods since they had a vision of Brahman and also had a conversation with Him.

In their individual effort all the three gods were unsuccessful. Indra did not have the chance to see and converse with the Yakṣa like Agni and Vāyu had. But through this experience they had a spiritual catharsis. There sense of pride was shattered. By this they became the recipient of the true knowledge.

When the Yakṣa disappeared from Indra's view he was baffled, but did not accept defeat and withdraw. He stood there with humility, contemplating the mystery of that Yakṣa. He was also free from the arrogance earlier displayed by Agni and Vayu. His

persistent search for knowledge was rewarded by the graceful appearance of the spiritual knowledge incarnate before him. She was Umā Haimavatī, a goddess well adorned who was the daughter of Himavat. Thus Indra wanted to know the Yakṣa, but instead met a woman of wisdom.

Śaṅkarācārya comments on "bahusobhanam" (Kena Up. III. 12) and identifies the female deity Umā Haimavatī with Vidyā or the spiritual knowledge ("vidya Umārupinī") or with the daughter of Himavat (& wife of Siva) who being a constant companian of Īsvara was capable of knowing Him.

Sayana refers to this story in his commentary on Taittariya Āraṇyaka X.1.150 and identifies Umā with Bṛahmavidyā.

"gaurivacako Umā Śabdo brahmavidyām upalaksyati"

The Bṛahmavidyā personified as Umā Haimavati disclosed to Indra the identity of the Yakṣa and the eternal Truth.

The object of this legend is to illustrate and inculcate the supremacy of Brahman over all divine manifestations on earth, atmosphere or heaven which are represented in the story by Agni, Vāyu & Indra.

They were relieved of their false pride and the spiritual knowledge was imparted to by a female deity to Indra whom she chose to favour due to his persistent passion for knowledge of the Truth.

This story is an allegorical representation of the fundamental truth of the Upaniṣads that the sense organs and mind (thoughts) can not grasp Brahman.[7] Ignorance can be removed by the grace of knowledge which comes only after all the false pride and ego is gone. As Indra stood there in humility, baffled at the disappearance of the Yakṣa his desire for the knowledge of the Truth was intensified. It was at that moment that Bṛahmavidyā decides to favour him. Appearance of the Grace of knowledge in a pure heart is allegorically represented as the vision of the extremely effulgent Umā Haimavatī which is instrument in the revelation of Brahman.

In the path of devotion too it is the divine grace through which alone one can achieve the highest spiritual realisation and not through any amount of individual effort.

A similar idea is expressed in the Kaṭha Upaniṣad 1.2.23, where it is said that Ātman reveals its own (true) form to him only whom It chooses—

Yamevaiṣa vṛṇute tena labhyaḥ (Kaṭha Up. 1.2.23)

Śaṅkaracarya observes that this legend is either written for the purpose of illustrating

the difficulty in knowing the nature of Brahman, by the example of the gods, or for His praise since by the knowledge of Brahman Agni and other gods gained power.

According to Indian thought the goddess Umā Haimavatīi is the embodiment of all knowledges and specially the knowledge of Brahman (Bṛahmavidyā) In the Devī Bhāgavata goddess Durga is said to be an embodiment of all types of knowledge.

"Vidyāh Sāmastah tava devi bhedhah" (Devi Bhagavat XI. 6)

Umā, Devī, Durgā Ambikā & Śakti are some of the names of Śiva's consort in the post vedic literature. Umā appears for the first time in the Kena Upaniṣad (111.12) where a female diety is named Umā Haimavatī. Taittariya Āraṇyaka X.18 has a parallel Dravidian text which makes Rudra Umāpati (husband of Umā).

The earliest texts which mention Umā do not state that she was the wife of Siva. The relationship probably grew out of a number of factors which were operative in the syncretism of Śiva himself.[8] First he was a mountain god, dwelling either on Mujavat or Himavat, and she is mentioned as Umā Haimavatī i.e. the daughter of Himavat.

In the Ramayana Umā is described as the daughter of Himvat and Menā (Ramayana 1.37.16), as well as, Rudra's wife.

One of her names Ambikā occurs in the Vājasaneyi Saṃhitā (35) where she is mentioned as Rudra's sister. This name seems to be derived from the epithet 'tryambaka' which is a regular epithet of Śiva and also of Rudra.

In the Taittariya Saṃhitā (1.8.6 ff) Ambikā is offered a share in the oblations with the words—

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राऽम्बिकया..... (Vaj. Saṃhitā 3.57)

The sinister bearings of Ambikā are seen in a commentary on Taittarīya Brāhmaṇa 1.6.19.4 where it is said,

अयस्याम्बिका स्वसा तया वा एष हिनस्ति यं हिनस्ति

These vedic text are quite vague and hence inconclusive. The personality of the epic purāṇic mother goddess Durgā did not develop from any one of them; but from all of them and also from many other elements.

The vedic literature does not provide a concrete prototype of this goddess, the consort of Śiva. However, the Devī Sukta of the Rgveda (X.125) is interpreted as in honour of a primal energy of life and is also, therefore, considered as the basis of Śāktaism. In another Ṛgvedic stanza (1.136.3) the goddess is represented as an embodiment of power "the

supporter of the earth dwelling in heaven.''

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्ववर्तीम्... (Ṛ.V. I. 136.3)

The sixth verse of the RV X.125 reads—''I bend the bow for Rudra to cut off the evil doer hater of brahmins. I fight for men. I pervade the heaven and earth—

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश। (ṚV X.125.6)

She is the energy drawing forth from Paramatman. The whole Universe ''I wonder like a wind bringing forth all things''—

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा (ṚV X.125.8)

This godess personifies the supreme power by which the Universe is upheld.

She is the great mother of the devotees (Suvratānām) who became identified with Umā Haimavatī of the Kena Upaniṣad.

It is believed that the Śakti worshp prevailed originally among the Non-Āryans, and was gradually adopted by the Āryans. Since she is a fierce goddess looked upon as controling the destructive forces of the world, she came to be associated with Rudra as his wife. Attempts were made to affiliate her with the goddesses of the Ṛgveda, Rudrāṇi, Bhavāni etc.

The cardinal mother goddess Durga is considered an embodiment of power or Śakti hence she is worshipped as Śakti and came to be Śiva's consort. One of the factors contributing to this was that like Śiva (who is 'Girīśa').[9] She too resides in the mountains. In the Kena Upaniṣad she is called by the patronym Haimavati and Parvati in the epics.

References & Notes

1. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
   केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।
   (Kena Upaniṣad I.1)
2. Kena Upaniṣad I.3-8.
3. नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
   यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।। (Kena II)
4. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad provides an account of this fight.
5. 'मातरि अन्तरिक्षे श्वयति इति मातरिश्वा'-Śāṅkarabhāṣya vide Īsa Upa, where the same word occurs.
6. Haimavati also means 'adorned with gold.'
7. A similar passage occurs in the Kaṭha Up. VI. 12

Muṇḍaka Up. III (i) 8□Taitt. Up. II. 4□"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

8. Vide Bhattacharji S., Indian Theogony, p. 158.
9. Vide Radhakrishnan S., Indian Philosophy, Vol. I, p. 487.
10. Rudra is also called Giricara (mountainrover), Giriśaya (lying in a mountain) Vaj. Saṃhitā XVI 29. 44 and Giritra (protector of mountain) Vaj. Saṃhitā XVI.

□

उपनिषद् और दाराशिकोह

प्रो० जगन्नाथ पाठक ★

बनाये आं के ऊ नामे न दारद,
बहरनामे के ख़्वानी सर बर आरद।

(उसके नाम में जिसका कोई काम नहीं है, चाहे जिस नाम से उसको पुकारें, वह उसका उत्तर देता है)

मुगल-सम्राट् शाहजहाँ (शासनकाल 1622-1626) के प्रथम और ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार मुहम्मद दाराशिकोह (1615-1659) ने पचास उपनिषदों का फ़ारसी भाषा में वाराणसी के संन्यासी और पण्डितों के सहयोग से अनुवाद किया था यह बात विद्वानों के लिए अविदित नहीं है। उपनिषदों को "भारतीय आर्य प्रज्ञा का सर्वोत्तम रिक्थ" कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। किसी भाषान्तर में उनके अनुवाद का प्रयास सम्भवतः विश्व में सबसे पहली बार हुआ। दाराशिकोह के उस अनुवाद को 'सिर्रे अकबर' (महागुह्य) के नाम से जाना जाता है। कालिकारञ्जन कानूनगो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दाराशिकोह में लिखा है कि "यहाँ (इलाहाबाद) में दरबार केवल एक बार आया (1656-57) और बनारस में 1 जुलाई, 1657 को उसने अपने प्रसिद्ध स्मारक ग्रन्थ 'सिर्रुल अस्तार' (सिर्रे अकबर के नाम से भी विख्यात) को पूर्ण किया। यह ग्रन्थ पचास उपनिषदों का अनुवाद है।

महेश प्रसाद का एक अंग्रेज़ी लेख ``The unpublished translation of the Upanișad by prince Dara Shikoh." डॉ० मोदी स्मारक ग्रन्थ, बम्बई 1930, पृ० 622-638 में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने अपने इस लेख में 'सिर्रे अकबर' की कुछ पाण्डुलिपियों का परिचय दिया है, जिनकी उन्होंने स्वयं परीक्षा की थी। वे इस प्रकार हैं—

(i) यह प्राप्त पाण्डुलिपियों में सबसे पुरानी है, इसकी तिथि 14 ज़िकाह, 1150 हि० तद्नुसार, 1738ई० है। यह छोटे साइज़ के 936 पृष्ठों में है, जिनमें प्रत्येक में 15 पंक्तियाँ हैं, अक्षर सुन्दर हैं और लिपिकार का नाम है दरगाही मल। वह मुरादाबाद के अमरोहा का निवासी था, किन्तु वह सम्भल में पेशकार था, यह काम दिल्ली में पूरा किया गया था, यह बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के ला० श्री राम के सेक्शन के संग्रह में है।

★ पूर्वप्राचार्य, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

(ii) यह पाण्डुलिपि मुंशी जयकृष्ण जी तथा उनके पुत्र देवी नारायण बी० ए०, एल० एल० बी०, मु० साक्षी विनायक, बनारस के पास है। इसे कई सज्जनों ने अनेक समय में लिखा है। इसमें तिथि का उल्लेख नहीं है। इसे किसी ने मुं० जयकृष्ण जी के दादा गोपाल कृष्ण जी को अनुशीलनार्थ दी थी। इसमें देने की तिथि वि० सं० 1884, तद्नुसार 1827 ई० है। पृ० सं० 522 तथा प्रति पृष्ठ पंक्तियाँ 17 हैं। यह भी सुलेख में निबघ है।

(iii) तिथि 1 मार्च 1859 ई०। पृ० 398, बड़े साइज़ के पृष्ठ हैं, जिनमें 15 पंक्तियाँ हैं, लिपिकार का नाम अनुलिखित है। यह बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम से आरम्भ की गयी है, अतः इसका लिपिकार कोई मुसलमान होना चाहिए, क्योंकि हिन्दुओं के द्वारा लिखित प्रतियों में श्री गणेशाय नमः से आरम्भ किया गया है। यह भी उक्त ला० श्री राम के संग्रह में है।

(iv) इसे किसी मुसलमान सज्जन ने लिखा है, जिनका नाम अशरफ़ अली था, जो मु० पठानी टोला, पो० स्टे० आदमपुर बनारस शहर के निवासी थे। यह प्रति बनारस के रईस राय संकठा प्रसाद साहिब के निर्देश से तैयार की गई थी। इसे 16 जून, 1875 ई० में पूरा किया गया। मूल प्रति, जिसके आधार पर यह तैयार की गई थी, दिल्ली में 1144 हि० तद्नुसार 1732 ई० की लिखी गयी थी। यह मध्यम साइज़ की प्रति है, पृ० सं० 356, तथा प्रत्येक पृष्ठ में 15 पंक्तियाँ हैं। यह सुन्दर अक्षरों में लिखित है। यह प्रति बनारस की कारमाइकल लाइब्रेरी में जमा है।

(v) यह प्रति जहानाबाद (पीलीभीत, उ० प्र०) के निवासी बाबू उमा शङ्कर सहाय उर्फ़ शङ्कर सहाय कायस्थ सक्सेना द्वारा लिखित है। लिपिकार के दामाद बाबू खानचंद साहिब (जिनके पास यह कॉपी है) ने महेश प्रसाद जी को सूचित किया था कि बाबू उमा शंकर सहाय ने अपने जीवनकाल में उपनिषदों की पाँच प्रतियाँ जुटायी थीं, किन्तु यह तीसरी प्रति थी जो बाबू खानचंद ने महेश प्रसाद जी को उपलब्ध करायी थी। बाबू खानचंद साहिब, स्व० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, प्रयाग विश्वविद्यालय के पिता थे। यह सबसे सुन्दर प्रति है। इसके पूर्ण होने की तिथि है अगस्त 1884 ई० पृष्ठ 362, बड़ी साइज़, प्रति पृष्ठ 19 पंक्तियाँ।

उपनिषदों के दाराशिकोह-कृत अनुवाद को उपनिषदों की व्याख्या कहना अधिक उपयुक्त होगा, यह तथ्य आगे स्पष्ट होगा। जिन 50 उपनिषदों की दाराशिकोह ने व्याख्या लिखी है उनकी तालिका इस प्रकार है—

1. ईशावास्योपनिषद्; 2. केनोपनिषद्; 3. प्रश्नोप०; 5. मुण्डकोप०, 6. माण्ड्क्योप०, 7. ऐतरेयारण्यकोप०, 8. तैत्तिरीयोप०, 9. एतेरेयोप०, 10. छान्दोग्योप०, 11. बृहदारण्यकोप०, 12. श्वेताश्वतरोप०, 13. मैत्रायण्युप०, 14. कौषीतक्युप०, 15. जाबालोप०, 16. पैंगलोपनि०, 17. कैवल्योप०, 18. पुरुषसूक्तोप०, 19. शिवसंकल्पोप०, 20. छागलेयोप०, 21. सर्वमेधोप०, 22. महानारायणोप०, 23. तारकोप०, 24. बाष्कलोप०, 25. सर्वोप०, 26. शौनकोप०, 27. योगशिखोप०, 28. योगतत्त्वोप०, 29. महोप०, 30. आत्मप्रबोधोप०, 31. नारायणोप०, 32. आरुणिमोप०, 33. चूलिकोप०, 34. अथर्वशिरोप०, 35. अथर्वशिखोप०, 36. आत्मोप०, 37. ब्रह्मविद्यो०, 38. अमृतबिन्दूप०, 39. तेजोबिन्दूप०, 40. शतरुद्युप०, 41. गर्भोप०, 42. ध्यानबिन्दूप०, 43. मृत्युलाङ्गलोप०, 44. हंसनादोप०, 45. परमहंसोप०, 46. अमृतनादोप०, 47. आर्षेयोप०,

48. प्रणवोप०, 49. क्षुरिकोप०, 50. नरसिंहोप०।

प्रो० मैक्समूलर के कथनानुसार, दाराशिकोह के फ़ारसी अनुवाद को प्रसिद्ध फ्रेंच यात्री बर्नियर अपने साथ फ्रांस ले गया जो एन्क्वेटिल दु पेरोन नामक प्रख्यात यात्री और ज़न्द अवेस्ता के अन्वेषक को 1775 ई० में प्राप्त हुआ। उन्होंने एक अन्य प्रति से मिलाकर उसके दो अनुवाद प्रस्तुत किये—एक फ्रेंच भाषा में, जो अप्रकाशित है, दूसरा लैटिन भाषा में जो 1801 तथा 1802 ई० में 'औपनिखत' नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद को पढ़कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेन हॉवर (1845-1917 ई०) ने इन शब्दों में अपना उद्‌गार प्रकट किया है—"यह (उपनिषद्) एक सर्वाधिक कृतार्थ करने वाला पाठ है जो संसार में सम्भव हो सकता है। उससे मुझे जीवन में शान्ति मिलती है और मृत्यु में भी मिलेगी।" प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है, "यदि शोपेन हॉवर के इन शब्दों के लिए किसी समर्थन की आवश्यकता हो तो मैं अपने जीवन भर के अध्ययन के आधार पर प्रसन्नतापूर्वक अपना समर्थन दूंगा।"

डॉ० कानूनगो का विचार है कि "ईश्वर के एकत्व या तौहीद के सिद्धान्त के पूर्णतया स्पष्टीकरण के प्रति उसकी (दारा की) एक अतृप्त पिपासा ही थी जिसने अन्त में उसको अपने इस मूलभूत स्रोत उपनिषदों तक पहुँचा दिया।

डॉ० हर्ष नारायण के साक्ष्य पर, हमें यह जानकारी मिलती है कि "सिर्रे अकबर किसी अंश तक बहुत पहले भारत में प्रकाशित हुआ था। उसका एक भाग सर्वप्रथम ब्रजमोहन लाल द्वारा मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी में 1909 ई० में प्रकाशित हुआ। वाराणसी संस्करण का अब कहीं पता नहीं, जयपुर संस्करण की एक प्रति दिल्ली के किसी पुस्तकालय में उपलब्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सैय्यद मुहम्मद रज़ा जलाली और डॉ० ताराचन्द के सम्पादकत्व में नयी सज-धज के साथ तरबान प्रिंटिंग प्रेस, तेहरान, ईरान में 1961 ई० में प्रकाशित हुआ है।"

यह प्रसन्नता का विषय है कि 'सिर्रे अकबर' का प्रथम भाग, जिसनें नौ प्रसिद्ध उपनिषदों की दाराशिकोह कृत फ़ारसी व्याख्या का हिन्दी अनुवाद है, स्व० डॉ० हर्ष नारायण के सम्पादकत्व-अनुवादकत्व में, भुवनवाणी ट्रस्ट, लखनऊ से 1975 ई० में प्रकाशित हुआ है।

'सिर्रे अकबर' की 'भूमिका' (दाराशिकोह लिखित) यहाँ उद्धरणीय है—

"क्योंकि (विनीत को) प्रत्येक सम्प्रदाय को देखने तथा एकेश्वरवाद के उत्तम प्रवचनों के सुनने का चाव भी था और (उसने) ब्रह्मज्ञान (तसव्वुफ़) की बहुत सी पोथियों का अनुशीलन और पुस्तकों का प्रणयन किया था और अद्वैत की प्राप्ति की तृष्णा, जो एक अथाह समुद्र है, निरन्तर बढ़ती जाती थी और जटिल प्रश्न मन में आते ही जाते थे, जिनका समाधान ईश्वरीय वाणी अनन्त सत्ता सम्बन्धी आप्त वचनों के बिना सम्भव न था, और क्योंकि महान् कुरआन, उदार विवेक पुरस्सर ग्रन्थ, प्राय: रहस्यात्मक है और आज उन रहस्यों का ज्ञाता दुर्लभ है; विनीत ने चाहा कि समस्त आसमानी पुस्तकों का अनुशीलन करें, जिससे कि ईश्वरीय वाणी जो अपनी व्याख्या आप है, यदि एक पुस्तक में संक्षिप्त है तो दूसरी में विशद् और विस्तृत रूप में उपलब्ध हो जाय और विस्तार से वह संक्षेप में ज्ञात हो जाय।"

इस क्रम में, दारा ने विशेष रूप से जिन तीन आसमानी किताबों पर दृष्टि डाली, वे हैं—तौरान, इंजील

और ज़बूर। तौरान 'बनी इसराईल' के सुप्रसिद्ध रसूल हज़रत मूसा पर उतरा था। हज़रत मूसा के रसूल होने से लेकर उनके स्वर्गवास होने तक, लगभग 40 वर्षों के बीच जो आदेश उन पर उतरे थे उन्हीं को कुरान ने तौरान कहा है। इंजील अल्लाह की वह किताब है जो हज़रत ईसा मसीह पर उतरी थी और ज़बूर वह किताब है जो अल्लाह के नबी हज़रत दाउद पर अवतीर्ण हुई थी। दारा ने इनके अतिरिक्त भी ग्रन्थों को देखा था, जिनका उल्लेख नहीं है।

दारा को लगा कि, "अद्वैत का प्रवचन उनमें भी संक्षिप्त और गूढ़ था। स्वार्थियों द्वारा किये गये सरल अनुवादों से उसे (दारा को) अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हुई। तब उसने हिन्दुस्तान की ओर दृष्टि डाली। हिन्दुस्तान में अद्वैतवाद की अधिक चर्चा मिली।" यहाँ के पण्डित और ज्ञानी ब्रह्म के एकत्व को न तो नकारते हैं और न ही एकेश्वरवादियों पर आपत्ति करते हैं, अपितु पूर्ण विश्वास करते हैं। दारा ने कुरान से ऐसे तीन वचन उद्धृत किये हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि संसार की सभी जातियों में 'रसूल' भेजे गये हैं—

"कोई जाति ऐसी नहीं है जो निर्ग्रन्थ और निर्दूत हो" और "हम (लोगों को) यातना नहीं देते जब तक कि (उन्हें सचेत करने के लिए) कोई रसूल न भेज दे (1715)"; "और कोई गरोह ऐसा नहीं जिसमें कोई सचेत करने वाला न गुज़रा हो" (35.24); "निश्चय ही हमने अपने रसूलों को स्पष्ट प्रमाणों के साथ भेजा और उनके साथ किताब और तुला उतारी" (57.25)।

दारा के अनुसार, 'उपनिषद्' चारों वेदों का 'सार' है और उनमें एक ही ईश्वर की भक्ति और साधना का निरूपण है। "क्योंकि इस आत्मज्ञान से हीन जिज्ञासु की दृष्टि मूल अद्वैत पर थी, न कि अरबी, सुरयानी, इब्रानी और संस्कृत पर, ऐसी इच्छा हुई कि इन उपनिषदों को; जो अद्वैत का भंडार है और जिनके ज्ञाता उस (हिन्दू) जाति में भी कम रह गये हैं। फ़ारसी भाषा में, बिना न्यूनाधिक्य के, निःस्वार्थ भाव से वाक्यानुवाक्य, शब्दानुशब्द अनुदित करके समझे कि यह (हिन्दू) समाज जो उसे मुसलमानों से छिपा कर रखता है, उसमें क्या रहस्य है।"

तब दारा ने वाराणसी पहुँच कर पण्डितों और संन्यासियों को जमा किया और "इस अद्वैतवाद को जो उपनिषद् अर्थात् 'गोपनीय रहस्य' है, ... सन् 1067 हिज़री (तद्नुसार 1657 ई०) में निःस्वार्थ भाव से अनुदित किया।" इस प्रकार दारा जो खोजता था उसे इन उपनिषदों से, "जो निःसन्देह आसमानी पुस्तकों में प्रथम, सज्ज्ञान का आदि स्रोत और अद्वैत-तत्त्व का सागर है, प्राप्त किया।" उसे यह भी लगा कि उपनिषद् "कुराने शरीफ़ के अनुकूल बल्कि उसका भाष्य है। उसने कुरान शरीफ़ की एक आयत [56:77-80] उद्धृत की जो इसी प्राचीन पुस्तक के विषय में है।" दारा के शब्दों में उस 'आयत' का अर्थ इस प्रकार है—

"उदार कुरआन एक पुस्तक में है जो एक गुप्त पुस्तक है जिसकी जानकारी पवित्र आत्माओं के अतिरिक्त किसी को नहीं होती। और वह संसार के पालनहार के द्वारा अवतीर्ण हुई है।" दारा का कहना है कि यह आयत ऊपर निर्दिष्ट तीन आसमानी किताबों (तौरात आदि) के बारे में नहीं है। इस आयत में एक शब्द है तंज़ील (अवतरण) और न ही यह लौह महफ़ूज (सुरक्षित पट) के सम्बन्ध में भी है। "और क्योंकि उपनिषद् जो गोपनीय रहस्य है, इस पुस्तक का मूल है और कुरआने शरीफ़ की आयतें उसमें ज्यों की त्यों पाई जाती है।

अत: निश्चय जानो कि 'गुप्त पुस्तक' (किताबे मक्नून) यही प्राचीन पुस्तक है और इससे इस भिक्षुक के लिए 'अज्ञान' ज्ञात हो गया और 'न समझा हुआ' समझा हुआ हो गया।"

दारा के इस कथन पर कि "कुरआन की गुप्त पुस्तक उपनिषद् के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हो सकती है" श्री कानूनगो महाशय की यह टिप्पणी उद्धरणीय है—"ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुसार दारा ठीक कहता है, क्योंकि उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों से उपनिषद् प्राचीन है। परन्तु कुरआन के इस पद के दारा द्वारा किये गये अर्थ से कोई भी सहमत न होगा और न इसकी इस धारणा से कि रसूल को, जिनके द्वारा कुरआन प्रकट हुआ, उपनिषदों के अस्तित्त्व का पता था। कुछ भी हो—शान्ति और सामञ्जस्य के इस महान् प्रचारक के उद्देश्यानुकूल यह अर्थ था जिसका उसके साहित्यिक, आध्यात्मिक प्रयासों में अन्तिम उद्देश्य था—भारत के दोनों स्पष्टतया परस्पर विरोधी संस्कृतियों और धर्मों के बीच में स्नेह भाव की स्थापना।"

यहाँ 'सिर्रे अकबर' के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है, जहाँ तक दारा शिकोह के संस्कृत ज्ञान का प्रश्न है। उसे लेकर कानूनगो महाशय का कहना है-"अलबेरुनी की भाँति दारा कोई महान् संस्कृतज्ञ न था और न उन प्रसिद्ध विद्वानों की सी प्रशान्त निर्णायक शक्ति और विवेचनात्मक योग्यता दारा में थी। अधिकतर उसको पण्डितों का सहारा लेना पड़ता था जो अपने साहित्य और दर्शन का अर्थ करने में कभी-कभी ही एक मत हो सकते हैं।" दाराशिकोह (हिन्दी अनुवाद पृ० 71)। इस सम्बन्ध में डॉ० हर्ष नारायण का विचार है कि "सम्भवत: दारा संस्कृत उतनी ही जानता था जितनी पण्डितों का शास्त्रार्थ समझने और तत्सम्बन्धी निर्णय देने के लिए आवश्यक थी।" (उपोदघात पृ० 23) इसी प्रसंग में डॉ० हर्ष नारायण सिंह ने दारा द्वारा लिखित उस संस्कृत प्रशस्ति पत्र की भी चर्चा की है जो 'गोस्वामी नृसिंह सरस्वती को सम्बोधित है।' इस पत्र की भाषा को उनका कहना है—"इस पत्र की भाषा इतनी ललित है कि उसका लेखक प्रथम कोटि का संस्कृतज्ञ और सिद्ध कवि प्रतीत होता है। इस लेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मुसज्जअ शैली अर्थात् कुरआन तथा फ़ारसी ग्रन्थ की उस प्राचीन शैली में लिखा गया है। जिसमें मुरद्दफ़ (अन्त्यानुप्रासयुक्त) और मुक़फ़ा (उपान्त्यानुप्रासयुक्त) पदों अथवा पदावलियों की भरमार होती है। 'कुरआने शरीफ़' आद्योपान्त इसी शैली में निबद्ध है। यह शैली संस्कृत गद्यकारों को प्राय: अज्ञात है।" (उपो० पृ० 24)

दाराशिकोह का संस्कृत ज्ञान संस्कृत में पण्डितों जैसा भले ही प्रौढ़ न था, फिर भी वह अपने ढंग से संस्कृत को ढाल लेने में समर्थ अवश्य था। क्योंकि उसके फ़ारसी ग्रन्थ मज्मउल बहरैन का जो संस्कृत रूपान्तर 'समुद्रसङ्गम:' के नाम से उपलब्ध है उसकी भी संस्कृत, संस्कृत के पण्डितों जैसी नहीं है। सम्भव है संस्कृत संस्करण की प्राप्त पाण्डुलिपि दारा शिकोह कृत रूपान्तर की मातृका की प्रतिलिपि हो।

'सिर्रे अकबर' के अनुवाद के विषय में, डॉ० कानूनगो के साक्ष्य पर भी विदित होता है कि "फ़ारसी अनुवाद के गुण-दोष के विषय में दारा कहता है कि 'उसने स्वयं फ़ारसी अनुवाद किया (उपनिषदों का जो तौहीद के सिद्धान्त का आगार—गञ्जे तौहीद है), उसमें कोई वृद्धि व न्यूनता नहीं की है, उसमें उसका कोई स्वार्थी उद्देश्य नहीं है, उसमें वाक्य के स्थान पर वाक्य और शब्द के स्थान पर शब्द दिया गया है।" (उपो० 73-74)।

दारा के अनुवाद को लेकर कानूनगो महाशय का यह आकलन है कि "दारा पर अधिक से अधिक व्यतिक्रम का यह दोष आरोपित किया जा सकता है कि कहीं-कहीं पर उपनिषदों के मूल पाठ के गूढ़ वाक्यों का सीधा अनुवाद देने के स्थान पर उसने उन स्थलों पर शंकर के भाष्य का फ़ारसी में अनुवाद कर दिया है।" डॉ० हर्ष नारायण 'सिर्रे अकबर' को उपनिषदों का अनुवाद न मान कर उसे उनकी व्याख्या मानते हैं। कहीं-कहीं दारा ने स्वतन्त्र व्याख्यान भी कर डाला है, जैसे "ईशावास्योपनिषत् (12-14) में आये असम्भूति और सम्भूति तत्त्व पर विचार कीजिए, शङ्कराचार्य असम्भूति का अर्थ प्रकृति करते हैं और सम्भूति का कार्यब्रह्म (5.7)जबकि दारा का किया अर्थ है निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म।" दारा शिकोह ने 'महादेव' (हिन्दुओं के एक देवता) को मुसलमानों की समझ के अनुकूल अनुवाद 'इसराफ़ील' किया है। "मुस्लिम विश्वास के अनुसार यह फ़रिश्ता (देव) ईश्वर के आसन के नीचे खड़ा रहता है, उसके हाथ में एक शङ्खाकार तुरही रहती है, और वह इसको 'क़यामते-कुबरा' (महाप्रलय) के आगमन की सूचना देने के लिए बजायेगा, जब ऊपर से सातों लोक और नीचे के सातों लोक मिल कर एक हो जायेंगे और आदि भूत कुहरे में लीन हो जायेंगे।" (दा० शि०, पृ० 75) दारा संस्कृत शब्दों के प्रायः तत्सम रूपों का भी प्रचुर प्रयोग करता है।

हम समझते हैं कि यह प्रकरण अधूरा रह जायेगा यदि दारा शिकोह की एक दूसरी पुस्तक "मज्म-उल-बहरैन" (दो समुद्रों का संगम) की यहाँ चर्चा नहीं की जाये। यह पुस्तक हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म का तुलनात्मक अध्ययन है। यथासम्भव यह 1650-1656 के बीच लिखी गयी थी। इसका संस्कृत रूपान्तर 'समुद्रसङ्गमः' के नाम से प्राप्त हुआ है, जो सम्भवतः दाराशिकोह द्वारा प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि इसमें किसी उपनिषद् का नाम उल्लिखित नहीं हुआ है तथापि अनेक प्रकरणों में उपनिषदों से सम्बद्ध या प्रभावित बातें इसमें मिलती हैं। ये दोनों ही प्रकाशित हैं। इस पुस्तक में भी एक 'अवतरणिका' है, जिसमें दारा ने कहा है—"उसने धर्माचरण करके, सत्यों के सत्य को जानकर, सूफ़ियों के सही धर्मों को पता लगा कर और इस महान् उपकार से सम्पन्न होकर भारतीय एकेश्वरवादियों (ब्रह्मज्ञानियों) के सिद्धान्तों को जानने की लालसा की; आचार्यों और इस धर्म के पूर्ण तत्त्वज्ञों, जो धार्मिक अभ्यासों, (ईश्वर के) अवबोध, प्रतिमान और (धार्मिक) अन्तर्ज्ञान में पूर्णता की उच्चतम पराकाष्ठा को पहुँच चुके थे, के साथ, बार-बार सम्पर्क और निरन्तर विचार करके जिस मार्ग में उन्होंने प्रयास किया और सत्य को उपलब्ध किया, उसने (दारा शिकोह ने) परिभाषा भेद के अतिरिक्त कोई भेद नहीं पाया।"

इस्लाम परम्परा में जो 'तौहीद' का स्वरूप मान्य है वह इस्लामी सूफी परम्परा से कुछ भिन्न है। तौहीद या एकेश्वरवाद 'ला इलाह इल्ललाह' पर निर्भर है। जिसका अर्थ है, 'अखिल विश्व में अल्लाह (ईश्वर) के सिवाय कोई एक सत्ता भी ऐसी नहीं है जो 'इलाह' (पूजने योग्य) हो। "केवल वही एक सत्ता अखिल विश्व की मालिक और हाकिम है। सब चीजें उसकी मोहताज़ हैं, सब उससे सहायता पाने पर विवश हैं। उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा सम्भव नहीं और उसकी सत्ता और व्यक्तित्त्व को समझने में बुद्धि दंग है।" क्या यही बात भारतीय परम्परा के एकेश्वरवादियों या ब्रह्मज्ञानियों में नहीं मिलती, जो 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' के द्वारा कही गयी है। इस्लामी सूफ़ी परम्परा में परम सत्ता को विश्वातीत होने की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वव्याप्त और

विश्वात्मक माना गया है। इस आधार पर सूफ़ी को अद्वैतवादी और इस्लाम को द्वैतवादी कहा जाय तो यह भेद केवल बाह्य ही कहा जा सकता है। यदि इसके भीतर तत्त्वतः प्रवेश करके देखा जाये तो यह भेद कोई विशेष सार्थक नहीं लगता।

दारा शिकोह ने इस्लामी सूफ़ियों जैसे मियां मीर आदि तथा भारतीय ब्रह्मज्ञानियों, जैसे सद्गुरू बाबा लाल आदि से सम्पर्क करके दोनों के वक्तव्यों की 'एकवाक्यता' की और तब 'समुद्रसङ्गम' की रचना में प्रवृत्त हुआ। यहां यह बात सूचनीय है कि इस पुस्तक में कहीं भी ऐसा कुछ नहीं, जिससे पवित्र कुरआन या ईश्वर से सन्देशवाहक हज़रत मुहम्मद के प्रति किसी प्रकार की अनास्था व्यक्त हुई हो, प्रत्युत इसके विपरीत 'समुद्रसङ्गम' में जहाँ पवित्र कुरआन को 'अस्मद्वेद' या 'भगवद्वाक्य' कहकर सम्मान दिया गया है वहाँ हज़रत मुहम्मद के लिए 'परम सिद्ध' आदि विशेषण दिये गये हैं।

मूल तत्त्व या 'अनासीर' के प्रकरण में आकाश के तीन भेदों में एक भेद चिदाकाश को सर्वव्यापक और सर्वतः स्थित माना गया है। यह अजन्य भी है, चिदाकाश से 'इश्क' पदार्थ की उत्पत्ति हुई, जिसे वैदिक लोग 'माया' कहते हैं, माया से जीवात्मा (रूहे आज़म) हुआ और इसे ही वैदिक मुनियों ने 'हिरण्यगर्भ; कहा है। वेद और उपनिषद्, दोनों ही 'हिरण्यगर्भ' की चर्चा करते हैं (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे० 10-121, हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्-श्वेताश्वरोप० 3, 4) इसी प्रकरण में, दारा ने लिखा है—"कैश्चिदुक्तं जलस्य प्रथम मुत्पत्तिरिति। जलानन्तरं पृथिवी। इयं पृथिवी जलस्य शरस्यानीया। यथा दुग्धस्याधस्तात् अग्निज्वालये उभे शरो भवति" यह कथन उपनिषद् के इन वचनों से तुलनीय है—आपो वा अर्क स्तदपां शर आसीत् (बृह० उप० 1, 2, 3; तद्यदपां शर आसीत् समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। (बृह० उप० 1, 2, 3,) यहाँ 'शर' का अर्थ 'परत' है। बयाने हवास या इन्द्रिय सम्बन्धी प्रकरण में, "इत्थं सर्वपदार्थप्रपितामहरूपः परमात्मैव एतान्युत्पाद्य एतैरात्मानं बबन्ध। यथाकोशकीटोलालानिर्मितैस्तन्तुभिरात्मानम्।" यहाँ उपनिषद् में मकड़ी और उसके द्वारा सृष्टि की उपमा दी गयी है—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च (मुण्डक० 1.1.7)।

जैसा कि ऊपर 'महादेव' के 'इसराफ़ील' के रूप में दारा द्वारा निर्दिष्ट किये जाने की चर्चा की गयी है उसे परमेश्वर के गुणों की व्याख्या (सिफ़ाते अल्लाहताला) के प्रकरण में और भी स्पष्ट किया गया है। वह इस प्रकार है—"एते (सत्वं रजस्तम इति) त्रयो गुणाः परस्परं संवलित वृत्तयः। एतेषामधिष्ठातारस्त्रिमूर्तिरूपा उच्यन्ते ते च ब्रह्मा-विष्णु-महेशा इति। तानस्मदीया जिब्रईल-मीकाईल-इसराफ़ील इति वदन्ति।" इसमें दारा का उद्देश्य अपने लोगों की सुविधा से अवगत कराने के उद्देश्य से समकक्ष या समरूप सिद्ध करने का प्रयास करना प्रतीत होता है। इस प्रकार आगे भी आत्मा के निरूपण में रूहजूजई और रूह कुली को क्रमशः जीवात्मा और परमात्मा के समरूप निर्देश किया गया है। जगच्चतुष्टय के निरूपण के क्रम में नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत को क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय के समकक्ष कहा है।

'समुद्रसङ्गम' में कुछ ऐसे भी उद्धरण हैं जो फ़ारसी मज़्म-उल-बहरैन में नहीं हैं, जैसे जगच्चतुष्टय के निरूपण में ही 'ब्रह्मज्ञाने पार्वतीसंवादे' कह कर यह पद्य उद्धृत है—

दृष्टिःस्थिरा यस्य विनावलोकनं वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधनम्।

मनःस्थिरं यस्य विनाऽवलम्बनं स एव योगी स गुरूः स सेव्यः।।

ब्रह्मा के अहोरात्र के प्रकरण में वाचस्पति मिश्र की ब्रह्मसूत्रों के शांकर भाष्य पर व्याख्या भामती के प्रारम्भ में इस पद्य को उद्धृत किया गया है—

निःश्वसितमस्य वेदाः वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि।

स्थितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः।।

मुक्ति निरूपण में, कहा गया है कि जिस प्रकार एक पुरुष के अनेक अङ्ग होते हैं व्यक्ति एक होता है उसी प्रकार इस शुद्ध चैतन्य के भी बहुत परिच्छिन्न अङ्ग हैं, परन्तु उसे अनेक नहीं समझा जा सकता है। यह कहते हुए महापुरुष के प्रत्येक अङ्ग का निरूपण किया गया है। यह 'विराट् का विवरण है, जिसके सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत् में भी कल्पना मिलती है। यह यहां उल्लेखनीय है कि दारा के समकालिक विद्वान् रामानन्द पति त्रिपाठी का एक ग्रन्थ 'विराड् विवरणम्' सम्पूर्णानन्द सं० वि० वि०, वाराणसी से 1982 में प्रकाशित हुआ है। इसकी 'पुष्पिका' में लेखक ने सूचित किया है कि लेखक पं० रामानन्द को मुल्ला दाराशिकोह ने (इसके लेखन के लिए) नियुक्त किया था और इसे पं० त्रिपाठी जी ने वि० सं० 1713 (1656 ई०) में लिखकर पूरा किया। हम कह चुके हैं कि मज्म-उल-बहरैन की रचना 1650-1656 में की गयी थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मज्म-उल-बहरैन और समुद्रसङ्गम की रचना में विशेष रूप से उनके मुक्ति निरूपण अध्याय के निर्माण में पं० रामानन्द पति त्रिपाठी का योगदान होना चाहिए, इन्हीं त्रिपाठी जी ने दारा शिकोह की मृत्यु के सम्बन्ध में लिखा था—

दाराशाह विपत्सु हा! कथमहो प्राणा न गच्छन्त्यमी!

सिर्रे अकबर के निर्माण में वाराणसी के जिन पण्डितों तथा संन्यासियों का योगदान है उनमें उक्त त्रिपाठी जी भी अवश्य होंगे।

खेद है कि दारा शिकोह का उपनिषद् भाष्य अब तक हिन्दी में सम्पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आ सका है।

❐

स्वातन्त्र्यश्रीः : अनुशंसा

1. **स्वातन्त्र्यश्रीः** पुस्तक मिली, स्तरीय है अतः प्रसन्नता हुई। आप अध्ययन की दिशा में गम्भीरतया तत्पर हैं, यह जानकर बहुत अच्छा लगा।

—**प्रो० राममूर्ति शर्मा**, कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

2. **स्वातन्त्र्यश्रीः** मिली। बड़े परिश्रम से तुमने इस अङ्क को संवारा है। मुझे खासकर इसलिए अच्छी लगी क्योंकि मैंने एक नहीं, दो-दो स्वतन्त्रता संग्रामों में भाग लिया है। एक बात और बता दूँ, मेरे पिता ने महर्षि दयानन्द से दीक्षा ली थी। तुम्हारी लगन को देख कर मन प्रसन्न होता है। प्रभु तुम्हें सदा सुखी रखे।

—**प्रो० प्रभु दयालु अग्निहोत्री**, कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय

3. **स्वातन्त्र्यश्रीः** को अभी विहंगम दृष्टि से ही देखा है, लेकिन आत्मिकी को पुनः-पुनः सूक्ष्मतम दृष्टि से पढ़ गया। पढ़ने के बाद इस वृद्ध पिता को अपनी गहन चिन्तन वाली विदुषी पुत्री पर गौरवान्वित होते हुए प्रसन्नता के पारावार में निमग्न होना स्वाभाविक है। पुनः-पुनः नैरुज्य कीर्ति कान्ति युक्त तुम्हारे सुदीर्घ जीवन की मङ्गल कामना।

—**आचार्य आद्या चरण झा**, पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा

4. आप द्वारा सम्पादित स्वातन्त्र्यश्रीः—भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम—मिली। धन्यवाद। अच्छा और मूल्यवान् प्रकाशन प्रतीत होता है। स्वतन्त्रता संग्राम की दुर्लभ सूचनाएँ लोगों को पढ़ने को मिलेंगी। लोग इन्हें रुचि से पढ़ेंगे।

—**डॉ० कपिला वात्स्यायन**, निदेशिका, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली

5. **स्वातन्त्र्यश्रीः** की प्रति मिली। तुम्हारी सारस्वत-साधना का निकषभूत है यह ग्रन्थ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम ऐसे अनेक स्मरणीय शैक्षिक दायित्व सम्पन्न कर सकोगी। वस्तुतः तुम प्राध्यापकोचित गरिमा एवं तप

को सार्थक कर रही हो, अन्यथा तो आज का प्राध्यापक वेतनजीवी भृत्यमात्र है।

—**अभिराज प्रो० राजेन्द्र मिश्र**, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

6. **स्वातन्त्र्यश्रीः** प्राप्त हुई। सच ही आपने बहुत परिश्रम किया है। इसे देख-पढ़ कर 'चाँद के फाँसी' अङ्क का आभास होता है। सभी लेख साध्यवसाय प्रणीत और सम्पादित हैं। मुद्रण और साज-सज्जा भी अत्युत्तम है। निश्चित ही यह कृति एक सन्दर्भ ग्रन्थ की भूमिका भविष्य में निभायेगी। इस स्पृहणीय उपलब्धि पर मेरा साधुवाद और वर्धापन स्वीकार कीजिए।

—**डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय**, विज़िटिंग प्रोफेसर, सो० जू० यूनिवर्सिटी, पेरिस

7. I received your **Swātantryaśrīḥ**. It has been nicely produced. Accept my felicitations on the painstaking and accurate work, you have done. The only comment that I have to make is : Relegate the footnotes to the relevant pages for immediate refrences by the reader.

—**Prof. K. V. Sarma,** Ex. Director, V.V.R.I. Hoshiarpur, Prof., Sanskrit Deptt. Adyar Library and Research Centre, Adyar, Madras

8. Thanks for the volume **Swātantryaśrīḥ**. I have glanced through it and congratulate you for the effort you have put in preparation of the same. I liked your editorial in the form of आत्मिकी।

—**Prof. Shashi Prabha Kumar,** Philosophy Deptt., University of Delhi (South Campus) Delhi.

9. **स्वातन्त्र्यश्रीः** की प्रति पाकर हर्ष हुआ। इस उत्कृष्ट कार्य के लिए अनेकशः बधाइयाँ। वस्तुतः यह कार्य अच्छा हुआ है। पूरी यात्रा में ग्रन्थ को देख डाला। कुछ सहयात्रियों ने भी देखा। पिता जी के विषय में आपका लेख पढ़कर रोमाञ्च हो आया, उनके विषय में इतना विस्तार से मुझे भी नहीं मालूम था।

—**प्रो० चन्द्रकान्त शुक्ल**, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राँची कालेज, राँची

10. तुम्हारी **स्वातन्त्र्यश्रीः** पुस्तक प्राप्त हो गई। पुस्तक प्रकाशन देख कर अत्यन्त हर्ष हुआ और आत्म सन्तोष भी कि कम से कम तुम अपने ज्ञानार्जन का सही मार्ग में सदुपयोग करने में सतत प्रयत्नशील और

सफल हो, हमारा आशीर्वाद सर्वथा, सर्वदा तुम्हारे साथ है।

—**डॉ० मोती लाल रस्तोगी**, पूर्व रीडर संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (भू०पू०)

11. Received last evening your nicely printed **Swātantryaśrīḥ**. I am glad to see that there are many informative papers. I thank you for this excellent editing job and do hope that in future you will reach higher in your intellectual pursuits.

—**Siddharth Y. Wakankar,** Dy. Director, Oriental Institute, Baroda

12. आपने अपनी पुस्तक **स्वातन्त्र्यश्रीः** मेरे पास भेजी है, बहुत प्रसन्नता हुई। परमात्मा तुमको इसी प्रकार सुन्दर कामों में सदा व्यस्त रखें। तुम मानव समाज की बहुत ही सेवा कर रही हो। खूब यशस्वी बनो।

—**मोहन लाल मोहित**, पोर्ट लुई, मॉरिशस

13. आप द्वारा सम्पादित '**स्वातन्त्र्यश्रीः**' पुस्तक प्राप्त हुई। आपकी इस सुन्दर भेंट के लिए हृदय से आभारी हूँ। भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के इतिहास पर इसमें अनेक खोजपूर्ण लेख व नवीन सामग्री पढ़ने को मिली। भारतीय इतिहास में यह पुस्तक एक अमूल्य ग्रन्थ के रूप में जानी जाएगी।

—**कैप्टेन देवरत्न आर्य**, विशेष कार्यकारी अधिकारी, महाराष्ट्र सरकार, मुम्बई

14. आपका पत्र और पुस्तक मिली, धन्यवाद। पुस्तक तैयार करने में काफी परिश्रम लगा है, यह स्पष्ट है। इसकी सामग्री रोचक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी है।

—**बिशन टंडन**, निदेशक, के० के० बिड़ला फाउन्डेशन, दिल्ली

15. ग्रन्थ देखकर मन ने कहा—आद्योपान्त देखे बगैर टिप्पणी लिखना उचित नहीं। निस्सन्देह आपने भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम को एक जीवन्त दस्तावेज़ बना दिया है। **स्वातन्त्र्यश्रीः** बेहद खूबसूरत सम्पादन-संयोजन एवं चयन-सञ्चयन है। आपने आने वाली पीढ़ी के लिए एक मानक सन्दर्भ ग्रन्थ बना दिया है।

—**राजशेखर व्यास**, दूरदर्शन नियन्त्रक, दूरदर्शन महानिदेशालय, दिल्ली

16. **स्वातन्त्र्यश्रीः** पुस्तक मिली। पुस्तक देख कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। अभी पूरी तो नहीं पढ़ी, कुछ लेख देखे हैं। तुमने इसके लिए कितनी मेहनत की है! मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।

—**रामनाथ सहगल**, मन्त्री, आर्यसमाज (अनारकली) मन्दिर मार्ग, दिल्ली

17. आपको कोटि-कोटि धन्यवाद कि आपने इस किताब में मुझे भी याद किया। प्रभु से प्रार्थना है कि आपको हर कार्य में सफलता प्राप्त हो। शिक्षा के क्षेत्र में आपको सबसे ऊँची श्रेणी प्राप्त हो। आप अपने ज्ञान व परिश्रम से युवावर्ग को राष्ट्रीयता की शिक्षा भी प्रदान करें जिसकी आज देश को ज़रूरत है।

—**कैप्टेन रामसिंह,** सिंगिंग सोल्जर, आज़ाद हिन्द फौज, आजीवन सलाहकार-संगीत, उत्तर प्रदेश पुलिस, पी० ए० सी० लखनऊ

18. I am grateful to you for presenting a copy of **Swātantryaśrīḥ**. You deserve the highest thanks and congratulations for doing it so earnestly in a faultless fashion though an strenuous work. I was particularly delighted to see that you have brought in lime light the immense contribution towards freedom by Maharshi Dayanand Sarasvati followed by Arya Samaj.

—**Soti Virendra Chandra,** Ex. Registrar, College of Fine Arts and Crafts, Lucknow University, Lucknow.

19. **स्वातन्त्र्यश्रीः** पुस्तक की संयोजना को साकार कर तुमने स्वतन्त्रता की पचासवीं वर्षगाँठ को साकार कर दिया। शहीदों के सम्मान में यह लेख गुच्छ अद्भुत है, रोचक है, उत्साहवर्धक है। तुम दिन-दिन और प्रतिभावान् तथा यशस्वी बनो।

—**प्रो० सुषमा कुलश्रेष्ठ,** निदेशिका, कालिदास संस्कृत संगीत कला ऐकेडमी, दिल्ली

20. पुस्तक मिली, पढ़ कर हर्ष हुआ। बहन! तुम इसी प्रकार सफलता के सोपानों को पार कर ऊँचाइयों को छू लो, यही ईश्वर से कामना है। पुस्तक की एक प्रति हमारे पुस्तकालय को भेज देना। ऐसी पुस्तकों से पुस्तकालय गौरवान्वित होता है।

—**डॉ० वेदवती वैदिक,** रीडर, संस्कृत विभाग, श्री अरविन्द महाविद्यालय, दिल्ली

21. **स्वातन्त्र्यश्रीः** कृति प्राप्त हुई। जानकारी से भरपूर सन्दर और आकर्षक ग्रन्थ तैयार करने के लिए बधाई। तुम आगे भी इसी प्रकार कर्मठता से कार्य करती रहो—ईश्वर से यही प्रार्थना है। तुम पर बहुत स्नेह और आशीष देने का मन हो रहा है।

—**डॉ० शशि तिवारी,** रीडर संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली

22. **स्वातन्त्र्यश्रीः** यथासमय मिली। देख-पढ़ कर हृदय गद्गद् हो गया। आपकी योग्यता, लगन और परिश्रम निश्चय ही प्रशंसनीय है। इतने सुन्दर, शुद्ध और स्तरीय प्रकाशन के लिए साधुवाद देती हूँ। सचमुच मैं तो विस्मय विमुग्ध हूँ।

—**प्रो० इला घोष**, रीडर, संस्कृत विभाग, राजकीय महाकोशल आर्ट्स एवं कॉमर्स कॉलेज, जबलपुर

23. **स्वातन्त्र्यश्रीः** विशेषाङ्क प्राप्त हुआ। तथ्यगर्भित लेखों के संग्रह तथा प्रकाशन के द्वारा आपने संस्कृत और संस्कृति की नैष्ठिक सेविका के रूप में सराहनीय योगदान दिया है। अनूठी पुस्तक के लिए धन्यवाद।

—**डॉ० प्रीति सिन्हा**, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

24. **स्वातन्त्र्यश्रीः** के लिए मेरी बधाई और आशीर्वाद। आशा है तुम्हारी लेखनी साहित्य के सृजन में लगातार अग्रसर रहेगी। आर्य कन्या महाविद्यालय की कीर्ति इससे निश्चित रूप से बढ़ी है।

—**खजान सिंह**, पूर्व प्रबन्धक,आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

❐

Contributors

1. **Acharya Ramnath Vedalankar**
'Vedamandir' Jwalalpur
Haridwar—249 407 (U.P.)
Phone : (0133)

2. **Acharya Sudyumna**
Harpur, Nai Basti
Ballia—485 001 (U.P.)
Phone :

3. **Agnihotri, Prabhu Dayalu**
E-2/73, Mahavir Nagar
Bhopal—426 016 (M.P.)
Phone : (0755) 565240

4. **Awasthi, Mool Chand**
68-A, Chak, Zero Road
Allahabad—211 003 (U.P.)
Phone (0532) 653217

5. **Bapat, Shailaja S.**
D-1/24, Rakshalekha Society
554 Parvati, Gajendra Nagar
Duttawadi
Pune—411 030 (Maharashtra)
Phone : (020) 4321938

6. **Bhartiya, Bhawani Lal 'Ratnakar'**
8/243, Nandanvan
Chaupasani Avasan Mandal
Jodhpur—342 008 (Rajasthan)
Phone : (0291) 628 383

7. **Chattopadhyaya, Gauri**
192 B, Allenganj
Allahabad—211 002 (U.P.)
Phone : (0532) 466624

8. **Choudhary, Indra Kumar**
15/12] University Colony
Ranchi, Bihar
Phone : (0651) 541561

9. **Dixit, Pushpa**
Paniniya Shodha Sansthan
Telipara
Bilaspur—495 001 (M.P.)
Phones : (0775) 69995, 7815

10. **Dubey, D. P.**
4A/2/1, Muirabad
Allahabad—211 002 (U.P.)
Phone : (0532) 641169

11. **Dwivedi, Kapil Dev**
'Shanti Niketan'
Gyanpur—221 304
Bhadohi (U.P.)
Phone : (05418) 37250

12. **Ghosh, Ila**
21, Aditya Colony
Narmada Road
Jabalpur—284 001 (M.P.)
Phone : (0761) 312524

13. **Gupta, Ranjana**
Mahajan Toli, Hajipur
Vaishali—844 101 (Bihar)
Phones : (06224) 72122

14. **Jani, Jayadev**
C—1 Dr. C. S. Patel Enclave
3 Pratapganj
Vadodara—390 002 (Gujrat)
Phone : (0265) 329334

15. **Jha, Acharya Adya Charan**
20, Ashiana Road
Patana—800 014 (Bihar)
Phones : (0612) 286792, 22509

16. **Jha, Indranath**
Sarvaseema, Naruar
Madhubani—847 407 (Bihar)
Phone : (06272) 25364

17. **Joshi, Veenamadhava Shastri**
Bendre Marg
Sadhankeri
Dharawad—580 008 (Karnataka)
Phone : (0836) 46788

18. **Kaluekar Shweta S.**
6 A, Shankar Park
Opp. Shivsagar Society
Nizampura
Vadodara—390 002 (Gujarat)
Phone : (0265) 791716

19. **Kane, Anil Sridhar**
15-A, Sahayoga, Gorwa
Vadodara—390 015 (Gujarat)
Phones : (0265) 387034, 387330

20. **Kantawala, S. G.**
Mahadev's Pole
Baijwada
Vadodara—390 001 (Gujarat)
Phones : (0265) 329334

21. **Kulshreshtha, Sushma**
KC/12-B, Ashok Vihar
Delhi—110 052
Phones : (011) 712087, 7466139

22. **Kumari, Kiran**
Yarapur
Patana—800 001 (Bihar)
Phone : (0612) 223203

23. **Mahajan, Arvind**
25, Raghuvansh Apartments
Shastri Nagar
Patna—800 023 (Bihar)
Phone : (0612) 290367

24. **Mahato, Damodar**
Professor's Colony, Patel Nagar
Post—T.N.B. College
Bhagalpur—812 007 (Bihar)
Phone : (0641) 423 866

25. **Malviya, Maya**
152/1, Silakhana
Teliyarganj
Allahabad—211 004 (U.P.)
Phone : (0532) 640152

26. **Merh, Kusum P.**
C-238, Samabh Flats
P.O. T.B. Sanetorium
Vadodara—390 021 (Gujarat)
Phone : (0265) 399320

27. **Mishra, Abhiraja Rajendra**
114, Teacher's Hostel
Summer Hill
Shimala—171 005 (H.P.)
Phone : (0177) 231407

28. **N. Gangadharan**
15, Devan Colony
Muthalamman Koil Street
Chennai—600 003 (Tamilnadu)
Phone : (044) 4825153

29. **Pandeya, Om Prakash**
4-B, Milani Park, University Campus
Badashah Bagh
Lucknow—226 007 (U.P.)
Phone : (0522) 332491

30. **Pandey, Prakash**
Satveera Makh
Bagdola, Sector-8
Dwarika, New Delhi—110 0
Phone : (011)

31. **Pandey, Shailaja**
116 H/ID, Radha Nagar Colony
Daraganj
Allahabad—211 006 (U.P.)
Phone : (0532) 500503

32. **Patel, Gautam**
`Valam', L-III
Swatantrya Senani Nagar
Nava Wadaj
Ahmedabad—380 013 (Gujarat)
Phone : (079) 7479610

33. **Pathak, Jagannath**
3/14, M.I.G. Jhunsi
Allahabad—211 019 (U.P.)
Phone : (0532) 668140

34. **Premachand Shridhar**
E/36 Ranjeet Singh Marg
Adarsh Nagar
Delhi—110 033
Phone : (011) 7242431, 7114442

35. **Raghuveer Vedalankar**
B 266, Sarasvati Vihar
Delhi—110 034
Phone : (011) 7011317

36. **Rajendra Jigyasu, Pradhyapak**
Veda Sadan
Nai Suraj Nagari
Abohar—152 116 (Punjab)
Phone : (01634) 26403

37. **Rastogi, Savita**
I/24 Gandhi Nagar
Gwalior—474 002 (M.P.)
Phone : (0752) 332616

38. **Ray, Bidyut Lata**
Debottar Colony
Nayagarh—752 069 (Orissa)
Phone : (06753) 52436

39. **Sachdeva, Subhash Chandra**
758, Sector—15
Sonipat—131 001 (Haryana)
Phone : (01264) 53658

40. **Sahagal, Ram Nath**
A-419, Defence Colony
New Delhi—110 024
Phones : (011) 461595, 4693607

41. **Saxena, Pravesh**
A.N. 7 B, Shalimar Bagh
Delhi—110 052
Phone : (011) 7244823

42. **Shah, Urmi Samir**
7, Shantiniketan Society
Ellis Bridge
Ahmedabad—380 006 (Gujarat)
Phone : (079) 6564251

43. **Sharma, Chiranjivi**
'Veda Bhavan' Shringeri Math
Alopi Bagh
Allahabad—211 006 (U.P.)
Phone : (0532)

44. **Sharma, Meera**
18/391, Mai Than
Agra—3 (U.P.)
Phone : (0562) 250491

45. **Sharma, Raman Kumar**
Flat No. 30, Pocket B11
Sector 18, Rohini
Delhi—110 085
Phone : (011) 7296624

46. **Sharma, Shyam Sanehi Lal**
'Vidya Vihar' Kushwaha Colony
Etawa Road, Nai Zamee
Bhind—477 105 (M.P.)
Phone : (07534) 44106

47. **Shashi Prabha Kumar**
295, Sector 15-A
Noida—201 301 (U.P.)
Phones : (91) 511742, 512889

48. **Shukla, Bhavana**
C-89, Govindpuri
University Campus
Gwalior—474 011 (M.P.)
Phone : (0751) 341656

49. **Shukla, Chandrakant**
16, Shivam Apartments
Karam Dahar, Bariyatu Road
Ranchi—834 008 (Bihar)
Phone : (0651) 541608

50. **Shukla, Luxmi**
C-89, Govind Puri
University Campus
Gwalior—474011 (M.P.)
Phone : (0751) 341656

51. **Shukla, Meena**
16, Shivam Apartments
Karam Dahar, Bariyatu Road
Ranchi—834 008 (Bihar)
Phone : (0651) 541608

52. **Soti Virendra Chandra**
D-7, Sector K, Aliganj
Lucknow—226 024 (U.P.)
Phone : (0522) 763368

53. **Srivastava, Urmila**
C-632, G.T.B. Nagar Kareli
Allahabad—211 016 (U.P.)
Phones : (0532) 655728, 550638

54. **Swami Vidyanand Saraswati**
D/14-16, Model Town
Delhi—110 009
Phone : (011) 7127928

55. **Tandon, Kiran**
Parvak Lodge
Raj Bhavan Marg
Nainital—1 (U.P.)
Phone : (05942) 37535

56. **Thakur, Chhaya**
P-7, Professor's Colony
South Civil Lines, Panchperhi
Jabalpur—482 001 (M.P.)
Phone : (0761) 327072

57. **Thite, Ganesh Umakant**
21, Erandvana Gavathan
Pune—411 004 (Maharashtra)
Phone : (0212) 356061

58. **Tiwari, Shashi**
54, Sakshar Apartments
A-3, Pashchim Vihar
New Delhi—110 063
Phone : (011) 5585237

59. **Varma, Shyam Bahadur**
154, Sahayoga Apartments
Mayur Vihar—1
Delhi—110 091
Phones : (011) 2256673, 2492076

60. **Vedavati Vaidic**
A-19, Press Enclave
Saket
New Delhi—110 017
Phones : (011) 6867700, 6517295

61. **Vyas, Rajshekhar**
E-607, Karzan Road Apartments
New Delhi—110 001
Phone : (011) 3385767

62. **Wadekar, Mukund Lal Ji**
5/3, Shreeram Complex
Mangal Bajar
Vadodara—390 001 (Gujarat)
Phones : (0265) 431035